ॐ तत्सत् ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

पञ्चम खण्ड ।

Sri Dharma Kalpadruma

Vol.-V.

AN EXPOSITION OF SANATAN DHARMA

As the Basis of

All Religion and Philosophy.

श्रीस्वामी दयानन्द विरचित ।

श्रीभारतधर्म महामण्डल प्रधान कार्यालयके
शास्त्रप्रकाश विभाग द्वारा प्रकाशित ।

काशी

प्रथम संस्करण ।

Printed by G. K. Gurjar at the Shri Lakshmi
Narayan Press, Benares City.

1918.

मूल्य २) दो रुपया ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल ।

हिन्दूजातिकी यह भारतवर्षव्यापी महासभा है। सनातनधर्म-के प्रधान प्रधान धर्म्माचार्य और हिन्दू स्वाधीन नरपतिगण इसके संरक्षक हैं। इसके कई श्रेणिके सभ्य तथा अनेक शाखासभाएँ हैं। हिन्दू नर-नारी मात्र इसके साधारण सभ्य हो सक्ते हैं। साधारण सभ्योंको केवल दो रुपया वार्षिक चन्दा देना होता है। उनको मासिकपत्र विना मूल्य मिलता है और इसके अतिरिक्त इन साधारण सभ्य महोदयोंके वारिसोंको भी समाज-हितकारी-कोषसे सहायता प्राप्त होती है। पत्रव्यवहारका पता यह है:—

जनरल सेक्रेटरी
श्रीभारतधर्म्म महामण्डल,
प्रधान कार्य्यालय,
जगत्‌गंज, बनारस।

श्रीविश्वनाथो जयति ।

श्रीधर्मकल्पद्रुम ।

(पञ्चमखण्ड सम्बन्धीय विज्ञापन)

श्रीविश्वनाथकी कृपासे इस बृहत् ग्रन्थरत्नका पञ्चमखण्ड प्रकाशित हुआ। धर्मकार्यमें अनेक बाधा रहने पर भी ग्रन्थप्रणेताके साधु उद्देश्य और सत्पुरुषार्थके फलसे ही इतना शीघ्र यह खण्ड प्रकाशित हो सका। इस खण्डमें केवल चार अध्याय ही प्रकाशित हो सके हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि विषय बड़े गम्भीर और विस्तृत हैं। आगेके अध्याय भी प्रस्तुत हैं और छठवें खण्डका छपना भी प्रारम्भ हो चुका है।

विशेष आशाजनक विषय यह है कि क्या संस्कृत शिक्षित अध्यापक मण्डली, क्या अङ्गरेजी शिक्षित विद्वान्‌गण, क्या धर्मानुरागी सर्वसाधारण सज्जनगण और क्या हिन्दीप्रेमी स्वदेशहितैषिगण सभी एकवाक्य होकर इस बृहत् ग्रन्थरत्नकी प्रशंसा करते हैं। और साथ ही साथ सभी इस ग्रन्थरत्नके पूर्णावयवमें प्रकाशित होनेकी इच्छा प्रकट करते हैं। बहुतसे विद्वानोंने जो अपनी अपनी अलग सम्मतियां भेजी हैं उनके अनुसार अध्यायोंके न्यूनाधिक करने और विषयोंके बढ़ानेमें भी सहमत होना पड़ा है। और समुल्लासोंके क्रममें भी कुछ हेरफेर करना पड़ा है। अब तत्त्व सम्बन्धीय समुल्लासके अनन्तर ही समीक्षा सम्बन्धीय समुल्लास प्रकाशित किया जायगा। और विभिन्न अध्याय समूह अन्तिम दो समुल्लासोंमें प्रकाशित किये जायँगे। बहुतसे बहुदर्शी सज्जनोंकी यह भी सम्मति है कि अन्तमें एक या दो खण्ड और बढ़ा कर आध्यात्मिक कोष भी इसी महान् ग्रन्थके साथ प्रकाशित किया जाय। उनकी यह भी सम्मति है कि हिन्दीके सब साधारण शब्द उस कोषमें दिये जांय और जिन जिन आध्यात्मिक शब्दोंके वर्णन इस बृहत् ग्रन्थमें आ चुके हैं और आवेंगे उनका केवल हवाला और पृष्ठाङ्क इत्यादि उन आध्यात्मिक शब्दोंके सामने दिया जांय और बाकी आध्यात्मिक शब्दोंका विस्तारित वर्णन भी उक्त कोषके खण्डोंमें दिया जाय और अवशिष्ट शब्दोंका साधारण वर्णन किया जाय। अतः वैसे कोषका भी अन्तिम खण्डोंमें समावेश करनेका विचार हो रहा है। ऐसा

होने पर यह धर्मकल्पद्रुम वास्तवमें हिन्दीभाषामें धर्मकल्पद्रुम ही बन कर मातृभाषाकी पुष्टि और जगत्‌में सनातन धर्मकी ज्योतिके जगानेमें पूरा सहायक बन सकेगा।

इस महान् ग्रन्थके प्रथम दो खण्डके प्रकाशित करनेमें तथा उनके छापनेके अनन्तर जो जो असुविधाएं और धनक्लेश हुए हैं सो दूसरे खण्डके विज्ञापनमें प्रकाशित हो चुका है। तीसरे खण्डके प्रकाशित करनेमें सुगमता श्रीमती बड़ी महारानी साहेबा बलरामपुरकी उदारतासे रही जिसका वर्णन उक्त खण्डके विज्ञापनमें कृतज्ञता पूर्वक प्रकाशित हो चुका है। साथ ही साथ चतुर्थ खण्डके प्रकाशित करनेका भार श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णा दान भाण्डार पर ही पड़ा था। अतः इस खण्डका प्रकाशित होना इतना शीघ्र सम्भव नहीं था। परन्तु श्रीविश्वनाथकी कृपासे परमधार्मिका भारतधर्म लक्ष्मी खैरीगढ़ राज्येश्वरी श्रीमती महारानी सुरथ कुमारी देवी (O. B. E. K. H. Gold-medalist) की असीम उदारतासे यह खण्ड प्रकाशित हुआ, जिसके लिये वे हिन्दूजातिके निकट धन्यवादार्ह हैं। श्री विश्वनाथ श्रीमती धार्मिका महाराणीको दीर्घायु करें और उनको राजकुल महिलाओंमें आदर्श बनावें यही प्रार्थना है।

पूर्व नियमानुसार इस खण्डका भी स्वत्वाधिकार श्रीभारतधर्म महामण्डलके प्रधान सञ्चालक पूज्यपाद श्रीगुरुदेवकी आज्ञासे दरिद्रोंकी सहायताके अर्थ श्रीविश्वनाथ अन्नपूर्णादान भण्डारको अर्पण किया जाता है।

काशीधाम आश्विन शुक्ला
विजया दशमी
सं० १९७५ वि०

स्वामी विवेकानन्द—
अध्यक्ष शास्त्रप्रकाश विभाग,
श्रीभारतधर्म महामण्डल।

श्रीधर्मकल्पद्रुम।

पञ्चम खण्डकी विषय सूची।

पञ्चम समुल्लास।

विषय. पृष्ठ.

विषय. पृष्ठ.

ओंतत्सत्।

श्रीधर्म्मकल्पद्रुम।

पञ्चम खण्ड।

पञ्चम समुल्लास।

प्राण और पीठतत्त्व।

आत्मा और जीवतत्त्वका वर्णन करके जिस सूक्ष्मशक्तिके प्रतापसे दृश्य जगत्में आत्मा और जीवभावका विकाश देखनेमें आता है उसका तत्त्व निर्णय किया जाता है। इस सूक्ष्म शक्तिका नाम प्राण है और जहाँ दैवी प्राणका विकाश होता है उसको पीठ कहते हैं। 'प्राण' शब्दके कहनेसे सामान्यतः जो पञ्च स्थूल वायुओंमेंसे प्राणवायु है, वही प्राण है ऐसा विचार होने लगता है, सो ठीक नहीं है, क्योंकि प्राण नामक सूक्ष्म शक्ति स्थूलप्राण, अपान, समान, उदान और व्यान नामक पञ्चवायु और उनके विकाररूप धनञ्जय कृकरादि सब स्थूलवायुओं की सञ्चालक है, वह स्वयं स्थूल पदार्थ नहीं है; अति सूक्ष्म शक्ति मात्र है। स्थूलप्राण पाञ्चभौतिक स्थूलशरीरका उपादान है और प्रत्येक शरीरमें सञ्चालकरूपसे अवस्थित सूक्ष्म प्राण सूक्ष्मशरीरका उपादान है। यह अपञ्चीकृत पञ्चतत्त्वोंके मिलित रजोंऽशसे उत्पन्न हुआ है, यही वेदान्तशास्त्रका सिद्धान्त है। यथा—

"एतेषां समष्टिराजसांशात्प्राणादिपञ्चवायवः सम्भूताः"

सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंके समष्टिराजसांशसे पञ्च प्राणकी उत्पत्ति होती है। एक

ही प्राणशक्तिको पञ्चप्राण इसलिये कहा जाता है कि हृदय, नाभि, कण्ठ आदि पञ्चदेशमें अवस्थित पञ्च स्थूल प्राण अपानादि वायुओंको सञ्चालित करनेके लिये एक सूक्ष्मशक्ति प्राण भी पञ्चधा विभक्त होकर प्राणशक्ति, अपानशक्ति आदि नामसे हृदय, नाभि आदि पाँच स्थानों पर प्रतिष्ठित है। यथा श्रुतिः—

"अहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्य एतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि"

प्राण ही अपनेको पञ्चधा विभक्त करके प्राणापानादि स्थूल वायुओंके नियमन द्वारा शरीरको धारण करता है। यही सूक्ष्मशरीरके उपादानरूप स्थूल पञ्चवायुसञ्चालनकारी व्यष्टिदेहावच्छिन्न प्राणका स्वरूप है। अब इस व्यष्टिदेहगत प्राणशक्तिका उत्पत्तिनिदान तथा समष्टिशरीरके साथ इसका क्या सम्बन्ध है और समष्टिव्यष्टि प्राण द्वारा समष्टिव्यष्टि जगत्की परिचालना किस किस प्रकारसे सम्पादित होती है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

प्राणकी धराधारिका सूक्ष्मशक्तिके विशेषस्वरूपज्ञानमें असमर्थ होनेपर भी अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने स्थूलजगत्के सञ्चालनमूलमें जो एक सर्वव्यापिनी सूक्ष्मशक्तिका समावेश और उसी सूक्ष्मशक्तिके घनीभाव द्वारा ही स्थूलजगत्की सृष्टिका क्रम माना है सो उल्लिखित सूक्ष्म प्राणशक्तिका ही आधिभौतिक विकाशमात्र है अर्थात् पाश्चात्य दर्शनशास्त्रसमूह केवल प्राणमयी सूक्ष्मजगत्की शक्तिविशेषतक अनुभव कर सके हैं; आगे नहीं जा सके हैं। पाश्चात्य विज्ञानके अनुसार परमाणु संघातसे सृष्टि और परमाणुओंके विश्लेषणसे मूर्त्त वस्तुओंका ध्वस होकर प्रलय— ये दोनों परिणाम ही उल्लिखित स्थूलपदार्थान्तर्गत सूक्ष्मशक्तिके आविर्भाव तिरोभावके अधीन हैं। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य पण्डित हर्बर्ट स्पेन्सरने उसी सूक्ष्मशक्तिके दो रूप वर्णन किये हैं। एक जड़ रूप और दूसरा जड़रूपके आश्रयसे विविध क्रियाकारी जड़ान्तर्गत सूक्ष्मरूप। पाश्चात्य वैज्ञानिक पण्डितोंके मतानुसार समस्त स्थूल जड़वस्तु ही सूक्ष्मशक्तिका रूपान्तरमात्र है। उनके मतमें स्पन्दनात्मिका सूक्ष्मशक्ति ही स्पन्दित होती होती घनीभावको धारण करके स्थूल होजाती है। लार्ड केल्विन् आदि कई एक आधुनिक पाश्चात्य विज्ञानवित् पण्डितोंका यह सिद्धान्त है कि मूर्त्त पदार्थोंके उपादानभूत परमाणुसमूह सर्वव्यापी तरल पदार्थ 'ईथर' (Ether) का ही आवर्त्तनपरिणाम मात्र है और इसी ईथर सम्बन्धीय विज्ञानको सूक्ष्मतर दृष्टिसे देखकर हर्बर्ट स्पेन्सर, स्टैलो आदि कई एक पण्डितोंने यह सिद्धान्त किया है कि वही शक्ति जो सूक्ष्मा-

वस्थामें दृष्टिपथमें नहीं आतीहै, स्थूलावस्थामें देखनेमें आजाती है और अमूर्त्त अवस्थामें जो शक्ति केवल क्रियात्मिकारूपसे अनुमान की जाती है, वही शक्ति मूर्त्तावस्थाको प्राप्त होकर क्रियात्मक और जडात्मक दोनों ही भावोंमें उपलब्ध हो जाती है—यह सब उल्लिखित घनीभाव विज्ञानका ही फलमात्र है। प्रत्येक स्थूल वस्तुको ही हम लोग करणात्मक और कार्यात्मक दोनों भावोंमें सम्मिलित देखते हैं। अग्नि, विद्युत् आदि स्थूल पदार्थोंमें करणात्मक अंशका प्राधान्य तथा जलीय और पार्थिव पदार्थोंमें कार्यात्मक या जडभावका प्राधान्य है। सूक्ष्मावस्थासे स्थूलभावमें आते समय शक्ति और शक्तिके आश्रय रूप जडांशका घनीभाव होना आवश्यक है। इसलिये प्रत्यक्ष शक्तिको हम जडोपादानके आश्रयसे ही कार्य करती देखते हैं, परन्तु जिसको जड़ोपादान कहते हैं वह भी सूक्ष्मशक्तिका ही आकारभेदमात्र है। पाश्चात्य पण्डित स्टैलो साहबका यह सिद्धान्त है कि कार्यकारिणी शक्ति क्रियारहित दशामें प्रसुप्तभावसे (Dormant) रहती है और यही प्रसुप्ता शक्ति कार्यदशामें स्पंदिता होकर प्रत्यक्ष वस्तुरूपमें परिणत हो जाती है, उस समय शक्तिकी करणात्मक और कार्यात्मक दो दशाएँ हो जाती हैं। इसी शक्तिको किसी किसी पाश्चात्य पण्डितने दिव्याग्नि (Divine fire) कह कर इसीसे स्थूलजगत्की उत्पत्ति बताई है। नैहारिक सिद्धान्त (Nebulus theory) जिसका वर्णन सृष्टितत्त्व नामक आगेके अध्यायमें किया जायगा, उसके अनुसार जिस स्पन्दनात्मिका शक्तिके प्रभावसे नैहारिक अवस्थागत अणुसमूह सङ्घातको प्राप्त होकर स्थूल दृश्य संसारके उपादान बनते हैं वह स्पन्दनात्मिका शक्ति इसी दिव्यशक्तिका नामान्तरमात्र है ऐसा पाश्चात्य पण्डितोंने कहा है। उस सिद्धान्तके अनुसार जब समस्त नीहार अव्यक्त अवस्थासे व्यक्तावस्थामें आते हैं उस समय उनमें अणु-परमाणुओंका सामञ्जस्यके अनुसार सन्निवेश, पूर्वकल्पके अनुसार सौरजगत्के अन्तर्गत विविध ग्रहोपग्रहोंका निज निज निर्दिष्ट कक्षाओंमें स्थापन इत्यादि धराधारिणी, समताविधायिनी समस्त क्रियाएँ ही उल्लिखित सूक्ष्मशक्तिके नियमित स्पन्दनकी फलरूप हैं। इस प्रकारसे समस्त स्थूलजगत्के सञ्चालनमूलमें सूक्ष्मशक्तिकी क्रियाकारिताके रहस्यको पाश्चात्य पण्डितोंने भी अनुमान कर लिया है।

इससे आगे पाश्चात्य पण्डित हल्मन् साहबने यह भी अनुमान किया है कि समष्टि और व्यष्टि जगत्में जितनी कार्यकारिणीशक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं वे

सभी एक मौलिक महाशक्तिकी रूपान्तरमात्र हैं। उनके मतानुसार क्रियमाण प्रवृत्तिशक्ति, माध्याकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, स्थितिस्थापक प्रवृत्तिशक्ति, आणविक आकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, रासायनिक प्रवृत्तिशक्ति, ताडित् प्रवृत्तिशक्ति, चौम्बकाकर्षण प्रवृत्तिशक्ति, समन्तात् प्रसरणशील प्रवृत्तिशक्ति ये सभी एक मौलिक महाशक्तिको भिन्न भिन्न प्रकारके स्पन्दन द्वारा भिन्न भिन्न भावमें विकाशमात्र हैं। हर्बर्ट स्पेन्सरने शक्तिकी क्रियाकारिणी और प्रसुप्तावस्थाके भेद बताते समय इसी विश्वव्यापिनी मौलिक महाशक्तिका उल्लेख करके अन्तमें कहा है कि 'समस्त दृश्य विकारके मूलमें इस प्रकारकी एक महाशक्तिका होना निश्चय है किन्तु वह महाशक्ति इन्द्रियातीत और परमसूक्ष्म होनेसे जानी नहीं जा सकती है।' प्राचीन पूज्यपाद महर्षिगण-प्रणीत आर्यशास्त्रोंकी यही महिमा है कि हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे धीशक्तिसम्पन्न, गवेषणापरायण पण्डितोंने अप्राप्य कहकर जहाँ पर छोड़ दिया है वहींसे प्रारम्भ करके ऋतम्भरा प्रज्ञा द्वारा विश्वव्यापिनी विश्वनियन्त्री उसी महाशक्तिका पूरा पता लगाकर मुमुक्षुजनोंके लिये उन्होंने उसे करतलामलकवत् बता दिया है जिसका वर्णन आगे किया जायगा। प्रोफेसर वार्थेजने भी स्थूल शारीरिक और रासायनिक शक्तियोंसे इस सूक्ष्मशक्तिका भेद बताकर हर्बर्ट स्पेन्सरके द्वारा आविष्कृत विज्ञानकी प्रतिध्वनि की है। पाश्चात्य पण्डित वायकाट् साहबने अनुसन्धान द्वारा निर्द्धारित किया है कि वही शक्ति 'जीवनीशक्ति' के नामसे जीवोंकी पेशियोंमें रहती है और पण्डित लियोनेल साहबने जीवोंकी उत्पत्तिके उपादानस्वरूप प्रोटोप्लाजम् (Protoplasm) विज्ञानकेसाथ इसी जीवनीशक्तिका सम्बन्ध बताया है। इस प्रकार विचारके सूत्रको आश्रय करके अन्तमें आस्तिक पाश्चात्य पण्डित वालेस साहबने 'जगत्सञ्चालिनी समस्त सूक्ष्मशक्तिके मूलमें श्रीभगवान्की इच्छाशक्ति ही विद्यमान होगी' ऐसा अनुमान करके आस्तिकताका परिचय प्रदान किया है। उन्होंने कहा है—"यदि यह बात ठीक है कि शक्ति ही स्थूलजगत्में अन्तर्निहित होकर समस्त कार्यको कर रही है तो प्रश्न यह होता है कि वह शक्ति क्या वस्तु है? इस प्रकारके प्रश्नके उत्तरमें कहना पड़ेगा कि मौलिकरूपसे अभिन्नताप्राप्त दो शक्तियां संसारमें विद्यमान हैं। उनमेंसे एक शक्ति आकर्षण, विकर्षण, माध्याकर्षण, तडित् आदि रूपसे दृश्य संसारमें प्रकाशमान है और दूसरी शक्तिके विषयमें विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि सबकी मूलभूत वह भगवान्की इच्छाशक्ति ही है।"

इस प्रकारसे अनुमान द्वारा अनेक पाश्चात्य पण्डितोंने स्थूल और सूक्ष्मशक्ति पर विचार किया है परन्तु किसी के द्वारा भी इस महाशक्तिका अनुभव ठीक ठीक निश्चित नहीं हुआ है। हर्वर्ट स्पेन्सर आदि पण्डितोंने तो उसे 'अनधिगम्य' (incomprehensible) कह कर छोड़ ही दिया है और वालेस' आदिने कुछ कुछ आस्तिकतामूलक अनुमान करनेपर भी उसके अस्तित्वके विषयमें 'यदि' ही रक्खा है। अतः उल्लिखित प्रमाणोंके द्वारा यह विषय सिद्ध होता है कि पाश्चात्य पण्डितोंने 'शक्तिविज्ञान'के विषयमें अनेक गवेषणाका परिचय देने- पर भी उनमें योगसुलभ ऋतम्भरा प्रज्ञाका अभाव होनेसे उनकी सारी गवेषणाएँ अनुमानमूलिका और संशयात्मिका हैं। अब नीचे अतीन्द्रियतत्त्ववेत्ता पूज्यपाद महर्षियोंने इस प्राणशक्तिके विषयमें स्वकीय अनुभवोंके द्वारा क्या क्या सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं सो क्रमशः बताये जाते हैं।

पूज्यपाद महर्षियोंके विस्तृत मतोंका वर्णन करनेके पहले हमारे शास्त्रोक्त स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीयरूपी चतुर्विध शक्तिका जो विस्तारित वर्णन हम तन्त्रशास्त्र नामक अध्यायमें कर आये हैं उस शक्ति-विज्ञानकी ओर पाठकका ध्यान दिलाया जाता है। उन्हीं स्थूलशक्ति, सूक्ष्मशक्ति, कारणशक्ति और तुरीय- शक्तिरूपिणी विश्वजननी महाशक्तिके चतुर्विध अङ्गोंमेंसे केवल स्थूलशक्ति और सूक्ष्मशक्ति इन दोनों विभागोंको ही पश्चिमी दार्शनिकगण समझ सके हैं और कारणशक्ति तथा तुरीयशक्तिका वे कुछ भी पता अभी तक नहीं लगा सके हैं यह स्वतः ही सिद्ध होता है। इस अध्यायमें जो प्राणतत्त्व और पीठतत्त्वका वर्णन किया जायगा उसका भी सम्बन्ध केवल प्राणमय कोषसे ही है अर्थात् इस अध्यायका सब विषय सूक्ष्मशक्ति और स्थूलशक्तिसेही सम्बन्ध रखता है। इस सिद्धान्तपर ध्यान रखकर पाठकोंको प्राणतत्त्व और पीठतत्त्वका रहस्य समझना उचित होगा। यहाँ यहभी समझने योग्य है कि प्रपञ्चमयी सृष्टिके जो पांच कोष हैं, यथा-अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष, इन पांचों कोषोंमेंसे केवल अन्नमय कोष और प्राणमय कोषकी जो शक्तियाँ हैं उन्हींको केवल पाश्चात्य विद्वान्‌गण देख सके हैं।

प्रथमतः हर्वर्ट स्पेन्सर आदि पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने प्राणशक्तिको दो भागोंमें विभक्त करके 'घनीभूत बाह्यप्राण ही जड़ वस्तु है और तदन्तर्गत सूक्ष्म प्राण उसका सञ्चालक है' ऐसा जो कहा है उसीके अनुरूप आर्यशास्त्रमें भी प्रमाण मिलता है। सृष्टितत्त्वके विज्ञानपर संयम करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि

आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी इस प्रकारसे क्रमानुसार तत्त्वोंका आविर्भाव सूक्ष्मशक्तिके घनीभाव द्वारा स्थूलता-प्राप्तिका ही परिचायक है। परमात्माकी शक्तिरूपसे जो प्रकृति प्रकट होती है वह अव्यक्तावस्थामें अतिसूक्ष्म शक्तिरूपा है। परन्तु परिणामविधिके अनुसार वही सूक्ष्मशक्ति क्रमशः पञ्चीकरण द्वारा घनीभाव को प्राप्त होकर स्थूलविश्वके आकारको धारण कर लेती है और उसी स्थूलविश्वके मध्यमें भी संञ्चालिनी सूक्ष्मशक्तिरूपसे उसी शक्तिका एक भाग विराजमान रहता है। इस प्रकारसे आर्य्यशास्त्रानुमोदित समस्त सृष्टि क्रिया ही शक्तिका विलासमात्र है। श्रुतिमें:-

'अग्निसोममयं जगत्'

समस्त संसार शक्ति और अन्नमय है ऐसा कहकर उल्लिखित विज्ञानको ही स्पष्ट किया है। श्रीभगवान् शंकराचार्यने इसी शक्तिविज्ञानको परिस्फुट करनेके लिये वृहदारण्यकभाष्यमें लिखा है:—

"सर्व एव द्विप्रकारः। अन्तःप्राण उपष्टम्भको गृहस्येव स्तम्भादिलक्षणः प्रकाशकोऽमृतः बाह्यश्च कार्यलक्षणोऽप्रकाशकः उपजनापायधर्मकस्तृणकुशमृत्तिकासमो गृहस्येवासत्यशब्दवाच्यो मर्त्यः। तेनामृतशब्दवाच्यः प्राणश्छन्नः। स एव च प्राणो बाह्याधारभेदेषु अनेकधा विस्तृतः।"

विश्वसंसारके समस्त पदार्थ दो तरहके होते हैं। एक अन्तरांश और दूसरा बाह्यांश। अन्तरांशका नाम प्राण है और बाह्यांशका नाम जड़ है। प्राणांश गृहके स्तम्भादिकोंकी तरह बाह्यांशका धारक है, वह प्रकाशक अमृत और अविनाशी है, जड़ बाह्यांश कार्यलक्षण, प्रकाशहीन और उत्पत्तिविनाशशील है। वह गृहके तृणमृत्तिकादिकी तरह असत्पदवाच्य और भौतिक है। इसी भौतिक जडांशके द्वारा सूक्ष्म प्राणांश आच्छन्न रहता है। सूक्ष्म प्राणांश पुनः बहिराधारोंके भेदसे अनेकधा विस्तृत है। प्राणांश करणात्मक और जडांश कार्यात्मक है। अन्यपक्षमें "अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्" अर्थात् रथनाभिमें अरा (आरा) की तरह प्राणके द्वारा ही समस्त अन्नमय स्थूलजगत्-की प्रतिष्ठा है, ऐसा कहकर श्रुतिने प्राणके द्वारा भी अन्नका पोषण होता है, यह विज्ञान सिद्ध किया है। अतः सिद्धान्त यह निकला कि अग्नि और सोम या प्राणांश और जडांशमें परस्परापेक्षित्व विद्यमान है। सम्भव है कि पाश्चात्य

दर्शनोंमें स्थूलपदार्थको मैटर (Matter) और प्राणको फोर्स (Force) कह कर इसी प्रकारसे दोनोंके परस्परापेक्षित्व सम्बन्धका अनुमान किया है और इसी फोर्सके आविर्भाव तिरोभावके अनुसार स्थूलपदार्थगत आणविक आकर्षण-विकर्षणका तारतम्य निर्द्धारित किया है। श्रीभगवान् शंकराचार्यने भी बृहदारण्यकभाष्यमें इस विज्ञानको प्रतिपादित करके कहा है:—

"कार्यात्मके नामरूपे शरीरावस्थे
क्रियात्मकस्तु प्राणस्तयोरुपष्टम्भकः"

कार्यात्मक जड़ पदार्थ नाम और रूपके द्वारा स्थूल शरीरको आश्रय करता है और करणात्मक सूक्ष्मप्राण उसका धारक है। अतः प्राच्य और प्रतीच्य दर्शनोंके सम्मिलित मतानुसार यह सिद्धान्त निर्णय हुआ कि जड़ पदार्थ सूक्ष्मशक्तिका ही घनीभावमात्र है और सूक्ष्म प्राणशक्ति इसी घनीभूत जडपदार्थको आधार बनाकर उसीके बीचमें प्रच्छन्न रहकर समस्त जड़जगत्की परिचालना किया करती है। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने अपनी योगशक्तिके द्वारा सूक्ष्मजगत्के प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंका जो विस्तृत स्वरूप वर्णन किया है उनमेंसे प्राणमय कोषका कुछ स्वरूप इस तरहसे पश्चिमी दार्शनिक पण्डितगण अनुभव करनेमें समर्थ हुए हैं।

अब परमात्माकी इच्छाशक्तिसे समष्टि और व्यष्टिगत विश्वविधात्री प्राणशक्तिकी उत्पत्तिका विज्ञान प्रतिपादित किया जाता है। छान्दोग्यश्रुतिमें लिखा है, यह विश्व संसार सङ्कल्पका ही परिणाम मात्र है। यथा:—

"तानि है वैतानि सङ्कल्पैकायनानि संकल्पात्मकानि सङ्कल्पे प्रतिष्ठितानि समक्लृप्तां द्यावापृथिवी समकल्पेतां वायुश्चाकाशश्च समकल्पतामापश्च तेजश्च"

समस्त दृश्य जगत् सङ्कल्प अर्थात् परमात्माकी इच्छाशक्तिके द्वारा ही उत्पन्न होता है। द्युलोक, पृथ्वीलोक, वायु, आकाश, अग्नि, जल आदि समस्त ही उनकी सङ्कल्पमूलक इच्छाशक्तिके द्वारा प्रकट हुए हैं।

'सोऽकामयत एकोऽहं बहु स्याम्' 'कामस्तदग्रे समवर्त्तत'

इत्यादि श्रुतिओंके द्वारा भी दृश्य प्रपञ्चका विस्तार परमात्माकी इच्छाशक्तिसे ही होता है, ऐसा सिद्ध होता है। महाप्रलयानन्तर सृष्टिके प्राकालमें पूर्वकल्पानुसार इस प्रकारसे सृष्टिकी स्वतः इच्छा उत्पन्न होनेसे ही प्राणशक्ति-

का विकाश होता है, जिसके अनन्तर पाञ्चभौतिक स्थूल सृष्टिका परिणाम होता है। अतः यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि समष्टिदृश्य संसारके विकाशके मूलमें प्राणशक्ति ही कारणरूप है जिसकी उत्पत्ति परमात्माके सिसृक्षासंकल्प द्वारा होती है। विशेषतः स्थूलशरीर और सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध प्राणमय कोष-के द्वारा ही होता है, यह तो स्वतः सिद्ध है। इसीलिये श्रुतिमें प्राणके साथ परमात्माका घनिष्ठ सम्बन्ध बतानेके लिये कहा गया है:—

"स ईक्षांचक्रे कस्मिन्नहमुत्क्रान्ते उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन् वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजत"

'किसके रहनेसे मैं रह सकता हूँ और किसके निकल जानेसे मैं निकल जाऊँगा' ऐसा सोचकर परमात्माने प्राणकी सृष्टि की। अतः परमात्माके साथ प्राणका अति घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह सिद्ध हुआ। श्रीभगवान्‌के सङ्कल्पसे उत्पन्न इसी ब्रह्माण्डव्यापिनी सूक्ष्मप्राणशक्तिके प्रतापसे सृष्टिदशामें पञ्चीकरणविधिके अनुसार पृथिवी, जल, अग्नि आदि स्थूल पञ्च महाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। इसी सूक्ष्म समष्टिप्राणशक्तिकी प्रेरणासे अणु-परमाणुके अन्तर्गत आकर्षणशक्तिके प्रबल होनेसे सृष्टिकालमें परमाणुसंघात द्वारा स्थूल पदार्थोंकी उत्पत्ति होती है और इसी सूक्ष्म समष्टिप्राणशक्तिकी प्रेरणासे अणु परमाणुओंके अन्तर्गत आकर्षण और विकर्षण शक्तिके सामञ्जस्य द्वारा ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें सूर्य-चन्द्रसे लेकर समस्त ग्रह उपग्रह आदियोंकी निज निज कक्षामें नियमित स्थिति और आवर्त्तन क्रियाकी परिचालना होती है और समस्त जड पदार्थ कठिन, तरल अथवा वायवीय रूपमें निज निज प्रकृतिके अनुसार अवस्थित रह सकते हैं। इस प्रकारसे समष्टिब्रह्माण्डकी सृष्टि तथा स्थितिक्रियाके मूलमें सूक्ष्म प्राणशक्ति निहित है और उसीकी नियामिका शक्तिके प्रभावसे सुजला, सुफला, शस्यश्यामला वसुन्धरा नयनाभिरामा होकर ब्रह्माण्डनियन्ता श्रीभगवान् परमात्माकी अलौकिक महिमाको प्रकट कर रही है। दृश्यप्रपञ्चके व्यष्टिभावमें विकाशके साथ साथ यही समष्टि-प्राणशक्ति पञ्चप्राणरूपमें प्रत्येक जीवके शरीरमें विस्तारको प्राप्त हो जाती है और क्रियाभेद तथा स्थानभेदानुसार प्राण, अपान, समान आदि नामोंको धारण करके समस्त स्थूलशरीरोंकी रक्षा और परिचालना करती है और यही सूक्ष्म प्राणशक्ति विविध परिणामको प्राप्त होकर विश्वके भीतर अन्तर्निगूढ़ नाना तेजरूपमें प्रकाशित होती है। यथा ऋग्वेदमें:—

अग्ने यत्ते दिवि वर्चः पृथिव्यां यदोषधीष्वप्स्वायजत्र ।
येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थत्वेषः स भानुरर्णवो नृचक्षाः ॥

द्युलोकमें जो तेज है, पृथिवीमें जो तेज है, ओषधिसमूहमें जो तेज है, अरणिकाष्ठ तथा वनस्पति आदिमें जो तेज विद्यमान है, जलमें जो उव नामक तेज है और अन्तरीक्षमें जो तेज व्याप्त है ये सभी परमात्मासे उत्पन्न शक्ति के विविध विकाश मात्र हैं। और भी ऋग्वेदमें:—

"अप्स्वग्ने सधिष्टरसौषधीरनुरुध्यसे, गर्भे सञ्जायसे पुनः।"

जो शक्ति जलमें प्रवेश करती है, वही पुनः ओषधिके भीतर समाविष्ट होती है और वही पुनः गर्भमें उत्पन्न होती है। इन सब शक्तियोंका मूलकारण क्या है इसके उत्तरमें प्रश्नोपनिषद्में कहा है:—

" भगवन् कुत एष प्राणो जायते ? आत्मन एष प्राणो जायते। "

परमात्मासे ही प्राणशक्तिकी उत्पत्ति होती है जो स्थूल सूक्ष्म समस्त संसारमें उल्लिखित रूपसे विस्तृत हो जाती है। और भी केनोपनिषद्में—

" स उ प्राणस्य प्राणः "

वे प्राणके भी प्राण हैं क्योंकि प्राणकी उत्पत्ति उन्हींसे होती है। और भी प्रश्नोपनिषद्में—

प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा मिथुन-मुत्पादयते रयिंच प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति।

प्रजाकी इच्छा करके प्रजापतिने तप किया जिससे द्वान्द्वसृष्टि उत्पन्न हुई—एक रयि, दूसरा प्राण। इन दोनोंके सम्मेलनसे समस्त प्रजा उत्पन्न हुई। अतः यह बात सिद्ध हुई कि रयि अर्थात् जड वस्तु (Matter) और प्राण अर्थात् सूक्ष्म शक्ति (Force) दोनों ही की उत्पत्ति प्राणसे होती है। श्रुतिमें अधिष्ठातृत्वभेदसे रयि और प्राणके साथ चन्द्रमा और सूर्यका सम्बन्ध बताया है। यथा—प्रश्नोपनिषद्में—

" आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एतत्सर्वं यन्मूर्त्तं चामूर्त्तं च तस्मान्मूर्त्तिरेव रयिः। "

सूर्य शक्तिके अधिष्ठाता होनेसे प्राणरूप हैं और चन्द्र अन्नके पोषक होनेसे रयिरूप हैं। संसारमें मूर्त्त अमूर्त्त समस्त वस्तु ही रयि है अर्थात

जड़ पदार्थके अन्तर्गत है। इस प्रकार कह कर अन्तमें यह सिद्धान्त श्रुतिने निकाला है कि जड़चेतनात्मक समस्त संसारको अनुप्राणित करनेके लिये जो कुछ प्राणशक्तिकी आवश्यकता होती है सो श्रीभगवान्से उत्पन्न होकर प्राणके आधाररूप सूर्यके द्वारा ही दशदिशामें विकीर्ण होती है। यथा—प्रश्नोपनिषदमें—

"अथादित्य उदयन् यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते । यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान् प्राणान् रश्मिषु सन्निधत्ते । स एष वैश्वानरो विश्वरूपो प्राणोऽग्निरुदयते । विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योतिरेकं तपन्तं, सहस्र-रश्मिः शतधा वर्त्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ।"

प्रातःकाल जिस समय सूर्यदेव पूर्व दिशाको निज किरण जालसे आच्छन्न करते हैं उस समय उक्त दिशामें प्राणप्रवाह उनकी रश्मिके द्वारा विकीर्ण होता है। उस प्रकार क्रमशः जब सूर्यदेव दश दिशाओंको किरण जालसे परिपूर्ण करते हैं तो समस्त संसारमें उनकी प्रखर रश्मिके द्वारा प्राण-प्रवाह तीव्र वेगसे प्रवाहित होने लगता है। इस प्रकारसे वैश्वानर, विश्वरूप, किरण-माली, जातप्रज्ञ, सर्वाधार, ज्योतिःस्वरूप, तापप्रवहणशील, दिवाकर, स्वकीय सहस्र सहस्र किरण जालको सर्वत्र विस्फारित करके जगज्जीवोंके प्राणरूपसे आकाशमें उदित होते हैं। सूर्यके साथ इस प्रकारसे समष्टि प्राणका सम्बन्ध होनेसे ऋतुओंका परिवर्त्तन, शस्य-समृद्धिका विस्तार, विश्वसंसारकी रक्षा तथा विलय सभी समष्टि प्राणकी शक्तिसे ही होता है इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसीलिये श्रुतिमें कहा है—

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥
यदा त्वमभिवर्षसि अथेमाः प्राणते प्रजाः ।
आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति कामायान्नं भविष्यति ॥
प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् ।
मातेव पुत्रान् रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि नः ॥

हे प्राणरूप परमात्मा, तुम निज तेजसे रुद्ररूप होकर संसारका नाश करते हो, पुनः सौम्यरूप धारण करके संसारकी रक्षा भी करते हो। तुम ही ज्योतिःपति सूर्यरूपसे अन्तरीक्षमें विचरण करते हो। तुम्हारी कृपासे संसारमें मेघ वर्षण करता है जिससे इच्छानुसार अन्न उत्पन्न होकर प्रजाओंका आनन्द-वर्द्धन होता है। इहलोक तथा स्वर्गलोकमें जो कुछ है सभी प्राणकी शक्तिके वश और उसीके द्वारा उत्पन्न होते हैं। इसीलिये प्राणसे यही प्रार्थना होती है कि जिस प्रकार स्नेहमयी जननी सन्तानोंकी रक्षा करती है उस प्रकारसे प्राण भी संसारकी रक्षा करें और जीवोंको ब्राह्म क्षात्रादि समस्तश्री तथा प्रज्ञाका प्रदान करें।

प्रकृति और पुरुष दोनोंके सम्बन्धसे सृष्टि प्रकट होती है। जिनमेंसे पुरुषको निर्लिप्त, निःसङ्ग और निष्क्रिय कहा है और प्रकृति ही परि-णामिनी और जगत्की सृष्टिस्थितिलय करनेवाली है ऐसा कहा है। प्रकृति जब पुरुष अथवा ब्रह्ममें विलीन रहती है वही प्रकृतिकी तुरीयावस्था है। उस अवस्थाके विषयके साथ प्रकृत विषयका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी कारण प्रकृतिकी तुरीयावस्था साम्यावस्था भी कहाती है। आनन्दमय, विज्ञानमय, मनोमय, प्राणमय और अन्नमय इन पांच कोषोंमेंसे अन्नमय कोषका सम्बन्ध रयि अर्थात् मूर्त्त पदार्थोंके साथ है। दूसरी ओर आनन्दमय कोष, विज्ञानमय कोष और मनोमय कोषोंका सम्बन्ध क्रियाशील अवस्थासे अतीत है और केवल प्राणमय कोष ही क्रियाशील होनेसे उसीके साथ प्राणका सम्बन्ध है। इस विषयको और भी दूसरी तरहसे समझा जा सकता है कि शक्तिके चार भेद जो पहले कहे गये हैं उनमेंसे तुरीयशक्तिका सम्बन्ध पुरुषके अर्थात् ब्रह्मके साथ और स्थूलशक्तिका सम्बन्ध अन्नमय कोषके साथ है। कारण शक्तिका सम्बन्ध आनन्दमय कोष, विज्ञानमय कोष और मनोमय कोषके साथ है। केवल सूक्ष्मशक्तिका ही सम्बन्ध प्राणमयकोषके साथ है। प्राणमयकोषकी प्राणशक्ति ही सूक्ष्मजगत् और स्थूलजगत्का सम्बन्ध मिलाती है। समष्टि और व्यष्टि प्राण ही सूक्ष्म दैवराज्य और स्थूल स्थावरजङ्गमात्मिका सृष्टिकी रक्षा करता है और उसका सब कार्य यथावत् चलाता है। प्राणमयकोषकी सहायतासे ही जीव जन्म लेता है और जीवित रहता है तथा मृत्युको प्राप्त होकर नाना प्रकारके लोकोंमें जाकर सदसत् फल भोग करता है। क्रियाका जितना सम्बन्ध है सो सब प्राणमयकोषमें ही है ऐसा कहा जा सकता है। प्राण ही शक्तिका

प्रधान विकाशस्थल है। प्राणकी इस प्रकार धराधारिणी शक्तिके विषयमें छान्दोग्य श्रुतिमें भी लिखा है—

"यथा वा अरा नाभौ समर्पिता एवमस्मिन् प्राणे सर्वं समर्पितं प्राणः प्राणेन याति प्राणः प्राणं ददाति प्राणाय ददाति प्राणो ह पिता प्राणो माता प्राणो भ्राता प्राणः स्वसा प्राण आचार्यः प्राणो ब्राह्मणः।"

जिस प्रकार रथचक्रकी नाभिके ऊपर समस्त चक्रदण्ड (आरा) स्थित रहते हैं उसी प्रकार प्राणके ऊपर ही समस्त विश्व संस्थापित रहता है, प्राणके आश्रयसे ही संसारमें प्राणक्रिया होती है, प्राणका आदान प्रदान प्राणशक्तिके ही प्रभावसे होता है, प्राण ही पिताकी तरह विश्वजनक, माताकी तरह विश्व-पालक, भ्राताकी तरह विश्वकी समता विधानकारी, भगिनीकी तरह विश्वके भीतर स्नेहसञ्चारकारी, आचार्यकी तरह विश्वनियन्ता और ब्राह्मणकी तरह विश्वपवित्रकर है। यही सब श्रुतिकथित प्राणशक्तिकी परम महिमा है। जिस प्रकार सम्राट्की राजशक्ति समस्त साम्राज्यके भीतर विविधरूपसे विकाशको प्राप्त होकर साम्राज्यकी रक्षा करती है, उसी प्रकार समष्टि प्राणकी महाशक्ति भी समस्त जीव शरीरमें व्याप्त होकर जीवशरीरका स्वास्थ्य विधान और यथाकर्म गतिविधान करती है। यथा—

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान् ग्रामानेतान् ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान् प्राणान् पृथक् पृथगेव सन्निधत्ते।

पायूपस्थेऽपानं चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति।

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्या द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भव-न्त्यासु व्यानश्चरति।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति पापेन पाप-मुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम्।

जिस प्रकार सम्राट् निज अधीनस्थ कर्मचारियोंको भिन्न भिन्न ग्राम या नगरोंमें प्रतिष्ठापित करके उनके द्वारा तत्तत्स्थानोंका शासन कार्य सम्पादन कराते हैं उसी प्रकार समष्टि प्राण भी अपने अंशसे उत्पन्न इतर प्राणोंको जीव शरीरके भिन्न भिन्न स्थानोंमें प्रतिष्ठापित करके जीव देहके आवश्यकीय विविध कार्योंका परिचालन कराते हैं। अपान पायु और उपस्थदेशमें रहकर कार्य करता है, प्राण चक्षु श्रोत्र और मुखनासिकामें रहकर दर्शन श्रवणादि कार्य करता है, समान नाभिदेशमें रहकर भुक्त अन्नोंका समताविधान करता है, इस प्रकार सप्तज्वालामें व्याप्त होकर प्राण ही भिन्न भिन्न रूपसे समस्त कार्य करते हैं। हृत्पुण्डरीकमें आत्माका स्थान है। वहांपर १०१ प्रधान नाडियां (Minute nerves) हैं। इन प्रधान नाडियोंमें प्रत्येकके पुनः सौ सौ भेद हैं। पुनः उनके ७२००० भेद हैं। इस प्रकारसे हृदय देशसे हजारों नाडियां समस्त शरीरमें व्याप्त हैं। इन सभोंमें सूर्यसे रश्मियोंकी तरह व्यानका सञ्चार रहता है। सन्धिस्थान, स्कन्धदेश, मर्मस्थान और विशेषतः प्राणापान वृत्तिके बीचमें व्यानका विशेष कार्य रहता है। इन सब नाडियोंमेंसे जो ऊर्द्ध्वगामी सुषुम्ना नाडी है उसके द्वारा ऊँचा होकर उदान पादतलसे मस्तक पर्यन्त विस्तृत होकर जीवोंको पुण्यकर्मानुसार स्वर्गादि पुण्यलोकोंमें पापकर्मानुसार नरकादि पाप लोकोंमें और समभावापन्न कर्मानुसार मनुष्य लोकमें ले जाता है। इस प्रकारसे समष्टि और व्यष्टि समस्त जगत्में प्राणकी धराधारिका शक्ति कार्य करती है जिसके प्रभावसे अनादि अनन्त विश्वसंसारकी सर्गस्थिति-क्रिया यथानियम समष्टि कर्मानुसार सञ्चालित हुआ करती है।

अब इस प्राणशक्तिकी प्रसुप्ति, विलय तथा विषमताके द्वारा समष्टि ब्रह्माण्डमें क्या क्या परिणाम प्रकट होता है सो बताया जाता है। समष्टि प्राणकी प्रेरणा द्वारा ही सृष्टि क्रियाका सञ्चालन होनेसे सहस्र युगान्तमें जब ब्रह्मदिवाका अवसान होकर ब्रह्मरात्रि आजाती है, उस समय समष्टि अन्तः-करणरूपी ब्रह्माजीके शरीरकी प्रसुप्तिके साथ साथ सूक्ष्म समष्टि प्राणकी भी प्रसुप्ति हो जाती है। इसलिये उस समय क्रियाकारिणी शक्तिके अभावसे समष्टि ब्रह्माण्डमें समस्त स्पन्दन बन्द होकर नैमित्तिक प्रलय अर्थात् खण्ड-प्रलयका उदय होता है जिसका वर्णन समस्त शास्त्रमें पाया जाता है। इसी प्रकारसे ब्रह्माजीकी शतवर्षकी आयु समाप्त होनेपर जब ब्रह्मा जगत् कारण ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं उस समय उनके सूक्ष्म समष्टि प्राण भी ब्रह्ममें विलीन

हो जाते हैं जिससे समष्टि ब्रह्माण्डका समस्त दृश्य नष्ट होकर प्राकृतिक प्रलय अर्थात् महाप्रलयका उदय होता है। इसी समष्टि प्राणशक्तिके नियत स्पन्दन-का ही अवश्यम्भावी परिणाम है कि, अणु परमाणुमें नित्य परिवर्तनरूप नित्य-प्रलय सदा ही संसारमें संघटित हो रहा है। इस प्रकारसे नित्यप्रलय, नैमित्तिक प्रलय तथा प्राकृतिक प्रलय ब्रह्माण्ड प्रकृतिके अन्तर्गत तीनों प्रलयोंके साथ समष्टि प्राणशक्तिकी अमोघ क्रियाकारिताका घनिष्ठ सम्बन्ध विद्यमान है। केवल इतना ही नहीं है अधिकन्तु आत्यन्तिक प्रलय अर्थात् मुक्तिके सम्पादनमें भी प्राणशक्ति सर्वथा कार्यकारिणी होती है। प्रश्न श्रुतिमें लिखा है—

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः।
सहात्मना यथासङ्कल्पितं लोकं नयति ॥

मृत्युकालमें अन्तःकरण और इन्द्रियवृत्ति दुर्वल हो जानेके कारण जीव प्राणको ही आश्रय करता है और प्राण उदानशक्तिके द्वारा युक्त होकर कर्मा-नुसार जीवको भिन्न भिन्न योनिमें ले जाता है। जीवकी ऊर्द्ध्वगतिके विषयमें प्राणशक्तिकी कार्यकारिता क्या है इसके लिये श्रुति कहती है—

"तस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति"
"शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्द्धानमभिनिःसृतैका तयोर्द्ध्वमायन्नमृतत्वमेति"।

पुण्यात्मा पुरुषकी मृत्युके समय उनका हृदयाग्रदेश प्राणशक्तिके प्रभाव-से दीप्तिमान् हो उठता है और उसी दीप्तिके साथ उनका आत्मा निकलता है। हृदयमें जो १०१ प्रधान नाड़ियां हैं उनमेंसे ऊर्द्ध्वगामिनी सुषुम्ना नाडीको आश्रय करके प्राणशक्ति ही पुरुषको अमृतमय ऊर्द्ध्वलोकमें ले जाती है। इस तरह प्राणके प्रभावसे पुण्यात्मा पुरुष उत्तरायण गति द्वारा ऊर्द्ध्वलोगमें जा कर अन्तमें दुर्लभ मुक्ति पदको प्राप्त करते हैं। जिस समय जीव अपने प्राणके साथ विश्वप्राणका सम्बन्ध तथा एकतानताको समझकर अपने व्यष्टि प्राणको समष्टि प्राणमें लवलीन कर सकता है, जिस समय समष्टि प्राणकी गम्भीर सृष्टि स्थिति विधायिनी अलौकिकी लीलाको जीव अनुभव कर लेता है उसी समय जीवको अमृतत्व प्राप्ति होजाती है जिसके लिये प्रश्नोपनिषद्में लिखा है—

य एवं विद्वान् प्राणं वेद न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतमश्नुते ॥

उल्लिखित रूपसे प्राणके स्वरूपको जो विद्वान् जान लेते हैं इहलोकमें उनकी प्राणहानि नहीं होती है और शरीर नाशके अनन्तर उनको अमृतत्व प्राप्ति होती है। प्राणकी उत्पत्ति, आगमन, प्राणापानादि रूपसे सर्वत्र व्यापकता और अध्यात्म स्वरूपको जानकर जीव शिवत्वको प्राप्त करता है। उस समय जीवकी समस्त व्यष्टि सत्ता समष्टि सत्तामें मिलकर ब्रह्मीभूत हो जाती है और इसीलिये विविधविलासप्राप्त व्यष्टि प्राण भी अनन्ताकाशविहारी जगचक्रके जीवनरूप समष्टिप्राणमें उस समय विलीनताको प्राप्त हो जाता है। यथा मुण्डकश्रुतिमें—

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व एकीभवन्ति ॥

विदेह मुक्तिके समय पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय और पञ्चप्राण तत्तत्समष्टि सत्तामें, इन्द्रियाधिष्ठात्री देवतागण तत्तत्समष्टि देवसत्ताओंमें, व्यष्टि कर्म महाकाशास्थित समष्टि कर्ममें और जीवात्मा अव्यय परब्रह्ममें लय होकर एकीभावको प्राप्त होजाते हैं। यही सूक्ष्म प्राणशक्तिके साथ नित्य, नैमित्तिक, प्राकृतिक और आत्यन्तिक नामक चतुर्विध प्रलयका अमोघ सम्बन्ध है। यह बात मन्त्रयोग नामक प्रबन्धमें पहिलेही प्रतिपादित की गई है कि–स्थूल प्रकृतिमें नियमानुसार विभक्त पञ्चभूतोंके सामञ्जस्य (Balance of elements) के द्वारा ही स्थूल संसारमें स्वास्थ्यरक्षा, ऋतुओंका ठीक ठीक परिवर्त्तन, महामारी आदि उपद्रवोंका अभाव और शस्यसमृद्धिकी भी वृद्धि हुआ करती है और जिस प्रकार जीव शरीरके अन्तर्गत पञ्चतत्त्वोंहीमें वैषम्य उत्पन्न होने पर जीव शरीरका स्वास्थ्य बिगड़ कर उसमें रोग उत्पन्न होता है ठीक उसी प्रकार समष्टि शरीरके अन्तर्गत पञ्चतत्त्वोंमें वैषम्य उत्पन्न होनेपर उसका भी स्वास्थ्य बिगड़कर समष्टि शरीरमें नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। जब सूक्ष्म प्राणही स्थूल पञ्चभूतोंके सञ्चालक हैं तो यह बात स्वतः सिद्ध है कि जिस प्रकार व्यष्टि शरीरके पञ्चभूतोंमें विषमता उत्पन्न होने पर तत्सञ्चालक व्यष्टि प्राणमें भी विकार उत्पन्न होता है उसी प्रकार समष्टि शरीरके अन्तर्गत पञ्चभूतोंमें भी विषमता उत्पन्न होनेपर उनके सञ्चालक सूक्ष्म समष्टि प्राणमें भी

विकार उत्पन्न होगा। प्राण ही जब शरीरका मूलाधार है तो पापाचार, अनाचार आदि द्वारा प्राणमें विकार उत्पन्न होनेसे वीर्यभङ्ग, स्वास्थ्यभङ्ग, वातपित्त कफमें विषम प्रकोप और तज्जनित अनेक रोग शरीरमें उत्पन्न हो जायँगे इसमें सन्देह ही क्या है ? ठीक उसी प्रकार अप्राकृतिक विज्ञानोन्नति, समष्टि जीवोंमें महापाप आदि द्वारा संसारमें कभी कभी जब समष्टि प्राणका विकार होजाता है तभी अतिवृष्टि, अनावृष्टि, दुर्भिक्ष, महामारी और संग्राम आदि सृष्टिनाश-कारी दुर्घटनाएँ संघटित होने लगती हैं जिसके लिये महर्षि वशिष्ठजीने कहा है:—

" विराड् धातुविकारेण विषमस्पन्दनादिना ।
तदंगसम्भवस्यास्य जनजालस्य वैषमम् ॥
दुर्भिक्षावग्रहोत्पातमानयाति । "

विश्वव्यापी समष्टि प्राणमें विकार उत्पन्न होनेपर उसके विषम स्पन्दन द्वारा विश्ववासी जीवोंके भीतर भी विषमता उत्पन्न होजाती है जिसके परिणाम रूपमें दुर्भिक्ष, धूमकेतु आदिका उदय और महामारी, संग्राम आदि उपद्रव देखनेमें आते हैं। राजाके कर्मके साथ प्रजाके भाग्यका विशेष घनिष्ठ सम्बन्ध होने से राजाके पापके द्वारा भी समष्टि प्राण अर्थात् हिरण्य-गर्भके हृदयमें विषमताजनित पीडा उत्पन्न होकर समस्त राष्ट्रके भीतर अति-वृष्टि, अनावृष्टि, ऋतुविपर्यय, महामारी, दुर्भिक्ष, प्लेग, महासंग्राम आदि अनेक प्रजा नाशकारी दुर्घटनाओंकी उत्पत्ति होजाती है, जिसके विषयमें अनेक प्रमाण 'राजा और प्रजाधर्म' नामक प्रबन्धमें पहिले ही दिये जा चुके है । प्राणकी सहायतासे ही देवलोकमें अगणित देवतागण अपना अपना कार्य सम्पादन करते हैं। प्राणकी सहायतासे ही देवतागण ब्रह्माण्ड और पिण्डमें एकतान सम्बन्ध रखकर ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंकी क्रियायें ठीक ठीक चलाते हैं। दैवी जगत्में प्राणमें विकार उत्पन्न होनेसे ही देवासुर संग्राम संघटित हुआ करता है और प्राणकी समता रहनेसे देवताओंका प्राबल्य बना रहता है और दैव कार्योंमें बाधा नहीं होने पाती है। इसी प्रकारसे सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की अलौकिकी इच्छाशक्तिसे अखिल विश्वमें विकाश प्राप्त सूक्ष्म समष्टि प्राणकी धराधारिणी मधुर लीला साधकजनोंके ज्ञाननेत्रमें प्रतिभासित हुआ करती है ।

अब जीवशरीरमें पञ्चधा विभक्त इस समष्टि प्राणकी व्यष्टिशरीरगत कार्यकारिताका वर्णन किया जाता है। व्यष्टिशरीरमें प्राणकी परमश्रेष्ठताके विषयमें एक सुन्दर आख्यायिका छान्दोग्योपनिषद्‌में मिलती है। यथा—

"ते ह प्राणाः प्रजापतिं पितरं एत्योचुर्भगवन् को नः श्रेष्ठ इति तान् होवाच 'यस्मिन् व उत्क्रान्ते शरीरं पापिष्ठतरमिव दृश्यते स वः श्रेष्ठ इति। सा ह वागुच्चक्राम सा संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा कला अवदन्तः प्राणन्तः प्राणेन पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह वाक्। चक्षुर्होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथाऽन्धा अपश्यन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा शृण्वन्तः श्रोत्रेण ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह चक्षुः। श्रोत्रं होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बधिरा अशृण्वन्तः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा ध्यायन्तो मनसैवमिति प्रविवेश ह श्रोत्रम्। मनो होच्चक्राम तत्संवत्सरं प्रोष्य पर्येत्योवाच कथमशकतर्त्ते मज्जीवितुमिति यथा बाला अमनसः प्राणन्तः प्राणेन वदन्तो वाचा पश्यन्तश्चक्षुषा शृण्वन्तः श्रोत्रेणैवमिति प्रविवेश ह मनः। अथ ह प्राण उच्चिक्रमिषन्स यथा सुहयः पड्वीशशंकून् संखिदेदेवमितरान् प्राणान् समखिदत्तंहाभि समेत्योचुर्भगवन्नेधि त्वन्नः श्रेष्ठोऽसि मोत्क्रमीरिति। अथ हैनं वागुवाच यदहं वसिष्ठाऽस्मि त्वं तद्वसिष्ठोऽसीत्यथ हैनं चक्षुरुवाच यदहं प्रतिष्ठाऽस्मि त्वं तत्प्रतिष्ठोऽसीति। अथ हैनं श्रोत्रमुवाच यदहं सम्पदस्मि त्वं तत्सम्पदसीत्यथ हैनं मन उवाच यदहमायतनमस्मि त्वं तदायतनमसीति। न वै वाचो न चक्षूंषि न श्रोत्राणि न मनांसीत्याचक्षते प्राणा इत्येवाचक्षते प्राणो ह्येवैतानि सर्वाणि भवन्ति।"

किसी समय प्राणके साथ इन्द्रियोंका श्रेष्ठत्वके विषयमें विवाद हुआ था। प्राण और इन्द्रियोंने प्रजापतिके समीप जाकर पूछा "भगवन्! हममेंसे सर्व-श्रेष्ठ कौन है ?" प्रजापतिने उत्तर दिया—"तुममेंसे जिसके निकल जाने पर शरीर मृतवत् हो जायगा वही सबसे श्रेष्ठ होगा।" प्रजापतिके ऐसा कहने पर सर्व प्रथम वागिन्द्रिय निकल गई परन्तु एक वर्षके बाद लौटी और आकर देखा कि शरीर जीवित है। आश्चर्य होकर वागिन्द्रियने शरीरसे पूछा "तुम कैसे जीते रहे" उत्तर यह मिला "जैसे मूक लोग बात नहीं कर सकते किन्तु प्राणके द्वारा प्राणन क्रिया, चक्षुके द्वारा दर्शन, श्रोत्रके द्वारा श्रवण और मनके द्वारा चिन्ता करके जीते रहते हैं ऐसा मैं भी जीता रहा।" इससे वागिन्द्रियको पता लगा कि वह सर्वश्रेष्ठ नहीं है और उसने अपने स्थानमें प्रवेश किया। तदनन्तर चक्षुरिन्द्रिय निकली और एक वर्षके बाद आकर देखती है कि शरीर जीता है। पूछने पर उत्तर यह मिला कि जिस प्रकार अन्धे लोग न देख सकने पर भी प्राण द्वारा प्राणन, वागिन्द्रिय द्वारा कथन, श्रोत्र द्वारा श्रवण और मन द्वारा मनन करके जीते रहते हैं ऐसा मैं भी जीता रहा। इससे चक्षुको जान पड़ा कि वह सर्वश्रेष्ठ नहीं है और उसने अपने स्थानको ग्रहण किया। तदनन्तर श्रोत्रेन्द्रिय निकली और एक वर्षके बाद आकर जब देखा कि शरीर जीवित है तो पूछा कि ऐसा कैसे हुआ। उत्तर यह मिला कि जिस प्रकार बधिर लोग कानसे न सुन सकने पर भी प्राणके द्वारा प्राणन, चक्षुके द्वारा दर्शन, वाक्के द्वारा कथन और मनके द्वारा चिन्तन करके जीवित रहते हैं इस प्रकार मैं भी जीता रहा। इससे श्रोत्रेन्द्रियका दर्प चूर्ण हुआ और वह अपने स्थान पर प्रवेश कर गई। तदनन्तर मन निकला और एक वर्ष घूम घामकर आ देखा कि उसके अभावसे भी शरीर जीता है। विस्मित होकर पूछा कि ऐसा किस तरहसे हुआ। उत्तर मिला कि जिस प्रकार अमनस्क बालक सङ्कल्प आदि न करने पर भी प्राणके द्वारा प्राणन, चक्षुके द्वारा दर्शन, श्रोत्र द्वारा श्रवण और वाक्के द्वारा कथन करके जीवित रहता है उस प्रकार मैं भी जीवित रहा। इससे मनका भी अभिमान टूट गया और वह अपने स्थल पर जा घुसा। तदनन्तर प्राणने निकलनेकी चेष्टा की। प्राणोत्क्रमणकी चेष्टामात्रसे ही समस्त इन्द्रियोंमें विकलता आ गई और शरीर मृत होने लगा। इसपर सब इन्द्रियोंने मिलकर प्राणको कहा "भगवन्! आप ही सबसे श्रेष्ठ हैं; आप न निकलिये।" तदनन्तर पृथक् पृथक् इन्द्रियोंने प्राणकी स्तुति की। वागिन्द्रियने कहा "भगवन्! मेरी जो कुछ

श्रेष्ठता है सो आप ही की है।" चक्षुने कहा "मेरी जो कुछ प्रतिष्ठा है सो भी आप ही की है।" श्रवणने कहा "मेरी जो कुछ सम्पत् है सो आप ही की है।" मनने कहा "मेरा जो कुछ विस्तार है सो आपहीका है।" वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन आदि किसीमें कोई शक्ति नहीं है। सब प्राणकी ही परमशक्तिसे शक्तिमान् और कार्यकारी हैं। प्राण ही सब कुछ हैं। इस प्रकारसे श्रुतिने व्यष्टिशरीरगत प्राणकी सर्वश्रेष्ठता और परममहिमा प्रकट की है। इसी श्रुतिके रहस्यको लेकर प्रश्नोपनिषद्में पुनः प्राणकी स्तुति की गई है। यथा—

"तान् वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाहमेवैतत्पञ्चधात्मानं प्रविभज्यैतद् बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः । सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रामत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्त । तद्यथा मक्षिका मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ।"

अभिमानग्रस्तइन्द्रियोंको वरिष्ठ प्राणने कहा कि "इस प्रकारसे अहङ्कार-मुग्ध मत हो। मैं ही अपनी सत्ताको पञ्चधा विभक्त करके समस्त शरीरमें व्याप्त होकर शरीरकी रक्षा करता हूँ।" अपनी ओर इतर इन्द्रियोंकी उपेक्षा देखकर जब प्राणने उनको यथोचित शिक्षा देनेके अर्थ शरीर परित्याग करना चाहा तो सब इन्द्रियां उसके साथ साथ विवश होकर निकलने लग पड़ीं और उसके स्थिर होने पर स्थिर हो गईं। जिस प्रकार मधुकरराजके निकलने के साथ ही साथ अन्यान्य समस्त मधुकर निकल जाते हैं और उनके प्रतिष्ठित रहने पर ठहरे रहते हैं, इसी प्रकारसे समस्त इन्द्रियोंने प्राणकी सत्ताके साथ अपनी अपनी सत्ताओंका अधीनतामूलक सम्बन्ध जान कर प्रीत हो प्राणकी स्तुति की। अतः यह सिद्धान्त निश्चय हुआ कि पञ्चतत्त्वात्मक व्यष्टि शरीरमें प्राणही सर्वश्रेष्ठ है। व्यष्टि प्राणके साथ व्यष्टिशरीर रक्षाका क्या सम्बन्ध है सो समष्टि प्राणके साथ समष्टि ब्रह्माण्डकी रक्षाका सम्बन्ध जाननेसे ही मालूम हो सकता है क्योंकि जिस प्रकार समष्टि ब्रह्माण्डकी स्थूल सूक्ष्म स्थिति केवल समष्टि प्राण पर ही निर्भर करती है ठीक उसी प्रकार व्यष्टि शरीरकी

स्थूल सूक्ष्म स्थिति भी केवल व्यष्टि प्राण पर ही निर्भर करती है। अणु परमाणुओंमें आकर्षण विकर्षणका प्राक्तनानुसार जिस प्रकार सामञ्जस्य है और उसके द्वारा तरह तरहके पिण्ड शरीर संसारमें देखनेमें आते हैं उस आकर्षण विकर्षणके समताविधानके मूलमें व्यष्टिप्राण शक्ति ही कार्य्यकारिणी होती है। प्राण ही हृदयमें रहकर जीवकी श्वास प्रश्वास क्रियाका सञ्चालन करता है, अधोदेशमें रहकर पायु और उपस्थेन्द्रिय सम्बन्धीय समस्त व्यापारोंका यथावत् विधान करता है, नाभिमें रहकर परिभुक्त अन्नकी समताका सम्पादन करता है, कण्ठ देशमें रहकर स्वरादिका प्रकाश करता है और समस्त शरीरमें व्यानरूपमें विस्तृत होकर रक्त, मांस, मज्जा, अस्थि, पेशी, स्नायु आदिओंके यथावत् सन्निवेश द्वारा शरीरकी समता रक्षा करता है। प्राणके विकारसे ही शरीरमें सकल प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं और उदरामय, धातु रोग, पक्षाघात, वातव्याधि, धनुष्टङ्कार, शिरःपीड़ा, स्वरभङ्ग, क्षयरोग, यक्ष्मा, मिरगी, अस्थिपेशी आदिका अपने अपने स्थानसे हट जाना आदि कठिन कठिन व्याधियोंके द्वारा जीव शरीर ग्रस्त होकर मृत्यु ग्रासमें पतित होता है। यहां तक कि प्राण ही वायुरूपसे पित्त और रक्तके मध्यवर्ती होनेके कारण जिस प्रकार रजोगुण ही सत्त्वगुण और तमोगुणके क्रिया सम्पादनमें सहायक होता है उसी प्रकार प्राणरूपी वायु, पित्त और कफकी क्रियाओंका समताविधान करता है। शरीरस्थ वायु पित्त कफमें वायु ही प्राणरूप है। उद्भिज्ज हो, स्वेदज हो, अण्डज हो, जरायुज हो या मनुष्य हो जिस किसीके जिस अङ्ग या प्रत्यङ्गसे प्राण उत्क्रान्त होता है वही अङ्ग प्रत्यङ्ग शुष्क और मृत हो जाता है यथा श्रुतिमें—

"यस्मात्कस्माच्चाङ्गात्प्राण उत्क्रामति तदेतच्छुष्यति"

जिस किसी अङ्गसे प्राण निकल जाता है वही अङ्ग शुष्क हो जाता है। केवल अङ्ग ही क्यों प्राणशक्तिके रहनेके कारण ही जीवशरीर जीवित रह सकता है। शरीरमें प्राणके रहनेसे ही आत्मा रह सकता है अन्यथा आत्माको भी शरीरको छोड़ देना पड़ता है। गर्भमें जिस समय मनुष्यशिशु या पशुशावक रहता है उस समय स्थूल श्वास प्रश्वास क्रिया न रहने पर भी प्राण अवश्य गर्भस्थ शिशुके शरीरमें रहता है अन्यथा गर्भमें शरीर सड़ जाता है। जगत् की जाग्रद्दशामें जितने प्रकारकी शक्तिओंका विकाश देखनेमें आता है वे सब प्राणशक्तिके प्रभावसे हैं। वीर पुरुषोंमें वीरताकी शक्ति, मनस्वी जनोंमें मनकी

शक्ति, मेधावी पुरुषोंमें मेधाशक्ति, मस्तिष्कवान् पुरुषोंमें मस्तिष्ककी शक्ति, चिन्ताशील जनोंमें चिन्ताशक्ति, बलवान् पुरुषोंमें स्थूल शरीरकी शक्ति, तेजस्वी पुरुषोंमें तेजकी शक्ति ये सब प्राणशक्तिके ही प्रभावसे प्रकृतिके भिन्न भिन्न विभागके द्वारा विलसित होती हैं। प्राणायाम आदि योगक्रियाओंके द्वारा प्राण शक्तिको ही पुष्ट करके योगिगण अनेक प्रकारकी सिद्धियोंका लाभ, दूसरेका रोगनिवारण तथा विविध चमत्कार दिखानेमें समर्थ हो सकते हैं। मारण, वशीकरण, सम्मोहन, मेस्मेरिजम्, हिप्नोटिजम् आदि क्रियायें भी प्राणकी शक्तिके द्वारा ही की जाती हैं। प्राणकी शक्तिको ही एकाग्र करके पीठ आदिकी साधना, शवसाधना आदि करनेकी विधि तन्त्रशास्त्रमें पाई जाती है, जिसका विस्तारित विवरण आगे किया जायगा। पाषाण आदि आधारके द्वारा विविध दैवीशक्ति तथा भगवच्छक्तिके आकर्षण करनेकी जो विधि 'मन्त्रयोग' प्रबन्धमें बताई गई है उसमें भी श्रद्धाशक्ति, क्रियाशक्ति तथा मन्त्रशक्तिके मूलमें प्राणशक्ति ही निहित है। मन ही प्राणशक्तिके द्वारा प्रेरित होकर उन सब क्रियाओंके सम्पादनमें समर्थ होता है। योगदर्शनके विभूतिपादमें जो परकायाप्रवेश आदि सिद्धियां लिखी गई हैं वे सभी प्राणशक्तिकी सहायतासे ही की जाती हैं। शास्त्रोंमें जो ब्रह्मास्त्र और नाना प्रकारके दिव्यास्त्रोंका वर्णन है वे सभी प्राणशक्तिकी सहायतासे चलाये जाते थे। चञ्चल मनका सर्वत्र परिभ्रमण, निशदिन नाना प्रकार सङ्कल्प विकल्प और बुद्धिका परिणामविचार तथा दूरदर्शितापूर्ण दृष्टि ये सभी प्राणशक्तिके प्रतापसे सिद्ध होते हैं। दुर्बलप्राण व्यक्ति सदाही दुर्बल रहते हैं और सबलप्राण व्यक्ति अतिशय बलवान् रहते हैं। मन, प्राण और वीर्यका अतिघनिष्ठ सम्बन्ध रहने से प्राणके वशीकरण द्वारा मनुष्य मनको भी वश करके श्रीभगवान्के चरणसरोजमें लवलीन हो सकते हैं। प्राणके वशीकरण द्वारा वीर्यधारणपरायण पूर्ण नैष्ठिक ब्रह्मचारी बनकर ब्रह्मलोक प्राप्ति, उपकुर्वाण ब्रह्मचारी बनकर संसारमें सुसन्तानकी उत्पत्ति, इहलोक और परलोक सम्बन्धीय सकल प्रकारकी उन्नति प्राणकी ही महिमाकी प्रकाशक है। ये ही सब जगत् की जाग्रद्दशामें व्यष्टि प्राणके प्रभावसे अनुष्ठेय कार्यकलाप हैं। संसारमें समस्त वेदोंका प्रकाश और वेदगान प्राणके प्रभावसे ही होता है। यथा श्रुति—

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।
ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥

रथनाभिमें अरा (आरा) की तरह प्राणमें सबकी प्रतिष्ठा है। ऋक्, यजु, साम, यज्ञ, क्षत्र और ब्रह्म सभी प्राणके द्वारा ही अवलम्बित हैं। और भी बृहदारण्यकमें—

"एष उ वा उद्गीथः प्राणः" "प्राणेन चोद्गायत्"

प्राण ही उद्गीथ है, प्राणके प्रतापसे ही उच्च वेद गान, सामगान तथा प्रणवगान होता है। केवल वेदगान ही नहीं परन्तु समस्त स्वरोंकी उत्पत्ति प्राणशक्तिके द्वारा ही होती है। शास्त्रमें लिखा है —

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया ।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ॥
मारुतस्तूरसि चरन् मन्द्रं जनयति स्वरम् ॥

आभिमानिक आत्मा किसी विषयको बुद्धिके द्वारा संगृहीत करके मनको उसके प्रकाश करनेके लिये प्रेरणा करता है। तदनन्तर मन कायाग्नि अर्थात् प्राणको आघात करता है। प्राणमें आघात लगने पर प्राण स्पन्दित होकर स्थूल वायुको उत्तेजित करता है और वही स्थूलवायु वक्ष, कण्ठ, तालु आदि स्थानोंमें भ्रमण करके नाना प्रकारके शब्दोंको निःसारण करता है। अतः यह प्रमाणित होता है कि प्राणके द्वारा ही शब्दकी उत्पत्ति होती है। दुर्बलप्राण मनुष्य स्वरका उच्चारण और गान ठीक ठीक नहीं कर सकता है और इसलिये वेदमन्त्रोंका भी उच्चारण उसके द्वारा ठीक ठीक न हो सकनेसे ऐसे मनुष्योंसे यज्ञक्रिया, सामादिगान भी ठीक ठीक नहीं हो सकता है। इसी कारण पूर्वोल्लिखित श्रुतिमें वेद और यज्ञादिका सम्बन्ध प्राणसे माना गया है। इस प्रकारसे समस्त जाग्रदवस्थाके साथ प्राणक्रियाका मौलिक सम्बन्ध विद्यमान है। जाग्रद्दशाकी तरह स्वप्नावस्थामें भी व्यष्टिप्राणकी कार्यकारिता देखनेमें आती है। स्वप्नावस्थामें संस्कारानुसार मन जो इधर उधर दौड़ता और नाना प्रकारकी क्रियाओंको करता रहता है सो व्यष्टि प्राणकी शक्तिसे ही कर सकता है। प्राण ही मनके भीतर विविध स्वप्नराज्य स्थापनके लिये शक्ति प्रदान करता है जिससे उस दशामें जन्मान्ध भी, कमललोचन बन जाता है और चिरभिकारी भी असीमसम्पत्तिसम्पन्न राजराजेश्वर बन जाता है। अतः स्वप्नदशामें भी प्राणकी अपूर्व कार्यशक्ति है इसमें सन्देह नहीं। तदनन्तर सुषुप्ति दशामें जब समस्त इन्द्रियोंके व्यापार निरस्त होकर इन्द्रियशक्ति

अन्तःकरणमें और अन्तःकरण कारण शरीरमें लय हो जाता है और जीवात्मा स्थूल सूक्ष्म शरीरोंके प्रति अभिमानको भूलकर कारणशरीरके साथ ब्रह्ममें लय हो—

"सुषुप्तिकाले सकले विलीने तमोभिभूतः सुखरूपमेति"

इस श्रौतसिद्धान्तानुसार तमोभिभूत भावमें ही ब्रह्मानन्दका उपभोग करता रहता है, उस समय जीवात्मासे लेकर स्थूल शरीर पर्यन्त सभी तमो मोहित (बेहोश) हो जानेपर भी केवल परम करुणामय चिरजितेन्द्रिय प्राण ही जाग्रत् रह कर पिता जिस प्रकार सन्तानकी रक्षा करते हैं उस प्रकारसे समस्त शरीरकी रक्षा करता है। यही सुषुप्ति दशामें प्राणकी अलौकिक कार्य-कारिता है जिसके लिये प्रश्नोपनिषद्में कहा है—

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यति अथैतदस्मिन् शरीरे एतत्सुखं भवति। स यथा सोम्य वयांसि वासो वृक्षं संप्रतिष्ठन्त एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते। प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति।

सुषुप्तिदशामें पित्ताख्य सौरतेजके द्वारा अन्तःकरण अभिभूत होजाने पर उसकी स्वप्नदशा नष्ट हो जाती है। उस समय जिस प्रकार रात्रिकालमें समस्त पक्षी अपने अपने निवास वृक्षमें आश्रय ग्रहण करते हैं उसी प्रकार अन्तःकरण सहित जीवात्मा परमात्मामें आश्रय ग्रहण करते हैं, जिससे अविद्या-सम्वलित होने पर भी आनन्दरूप परमात्मामें विलीनताके कारण सुषुप्ति दशामें जीवको परमानन्द मिलता है। उस समय समस्त इन्द्रियां, समस्त अन्तःकरण और जीवात्मा पर्यन्त गाढ़ सुषुप्तिके परमशान्तिमय अङ्कमें विश्राम-लाभ करते हैं। केवल निरलस गुडाकेश पञ्चरूपधारी प्राण ही प्रहरीकी तरह अपनी पञ्चमूर्त्तिके द्वारा शरीरकी रक्षा करते हैं जिसके लिये उपनिषद्में और भी कहा गया है कि—

"प्राणेन रक्षन्नवरं कुलायम्"

प्राणके ऊपर ही शरीर रक्षाका भार छोड़ कर जीवात्मा सुषुप्तिके समय परमानन्द भोगमें निमग्न हो जाते हैं। इस प्रकारसे सुषुप्तिदशामें व्यष्टिप्राणके द्वारा शरीरकी रक्षा होती है। तदनन्तर साधनशुद्ध, परिपुष्ट, परमतेजीयान् प्राण तुरीय दशामें अपनी सत्ताको विस्तार करते हुए महाप्राणके गाढ आलि-

ज्ञनमें आबद्ध हो कर जीवकी दीन जीवत्वदशाको विदूरित करके उसे किस प्रकार चिदानन्दमय शिवत्वका अधिकारी कर देते हैं सो इससे पूर्व ही वर्णन कर दिया गया है। यही जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय दशामें करुणामयी व्यष्टि प्राणशक्तिकी परम महिमा है।

अब प्राण किस प्रकारसे सूक्ष्म राज्यके साथ स्थूलराज्यका सम्बन्ध स्थापन करता है उसका कुछ विस्तारित विज्ञान कहा जाता है। सूक्ष्मराज्य दैवराज्यको कहते हैं और स्थावर जङ्गमात्मक यह परिदृश्यमान संसार स्थूल-राज्य है। समष्टि जगत्में सूक्ष्मराज्यका विस्तार मनोमय कोषसे आनन्दमय कोष तक है। सर्वोत्तम आनन्दमय कोषके साथही विष्णुलोक शिवलोक आदि उन्नत लोकोंका सम्बन्ध है। अन्नमय कोषही स्थूल संसार है और यह हम पहले ही सिद्ध कर चुके हैं कि प्राणमय कोष ही स्थूल और सूक्ष्मको मिलाने वाला है। स्थूल अन्नमय कोषमें जब सूक्ष्म दैवराज्यका सम्बन्ध स्थापन किया जाता है तब अन्नमय कोषमें जो देवताओंके ठहरनेके उपयोगी आसन या आधार बन जाता है उसको पीठ कहते हैं। पीठ प्राणमय ही है।

प्राणशक्तिकी साधारणतः दो दशा होती हैं। एकको आकर्षणशक्ति कहते हैं और दूसरीको विकर्षणशक्ति। आकर्षणशक्ति अपनी ओर खिंचती है और विकर्षणशक्ति दूसरी ओर हटाती है। जगत्की इन दोनों शक्तियोंको पश्चिमी विद्वानोंने भी अनुभव किया है। पश्चिमी विज्ञानमें इन दोनों शक्तियोंको Attraction एवं Repulsion कहते हैं। समस्त ब्रह्माण्डमें और सब पिण्डों में ये दोनों शक्ति परिव्याप्त हैं। आकर्षण और विकर्षण इन दोनों शक्तियोंके सामञ्जस्यका ही यह फल है कि सब ग्रह नक्षत्र आदि अपने अपने कक्षमें स्थित रहते हैं। इन दोनों शक्तियोंके समानरूपसे स्थापित होनेसे जो आवर्त्त (Circle) बनता है उसीको पीठ कहते हैं। एक ग्रह जब सूर्यके द्वारा आकर्षित और विकर्षित होकर अपने ही आकर्षण और विकर्षणकी सहायतासे आवर्त्त बना लेता है उसी आवर्त्तको उस ग्रहका पीठ समझना उचित है और उस ग्रहके अधिष्ठाता देवताका अधिकार उसी आवर्त्त तक विस्तृत होता है। उदाहरणरूपसे समझ सकते हैं कि बृहस्पति ग्रहने इसी आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी सहायतासे जो एक कक्ष बना लिया है जितनी दूरमें वह कक्ष विस्तारको प्राप्त हुआ है वहां तक बृहस्पति देवका पीठ समझा जायगा। जिस प्रकार मनुष्य विना पृथ्वीरूपी आधारके न बैठ सकता है और न खड़ा रह सकता

है, उसी प्रकार सूक्ष्म राज्यस्थित देवतागण विना पीठके ठहर नहीं सकते। इसी सिद्धान्तके अनुसार मन, मन्त्र आदिकी सहायतासे सोलह प्रकार दिव्यदेशोंमें समष्टि आकर्षण और विकर्षण शक्तिकी सहायतासे पीठ स्थापनपूर्वक देवताओंका आह्वान किया जाता है। सोलह प्रकारके दिव्यदेश क्या हैं सो मन्त्रयोग नामक अध्यायमें पहले ही बताया गया है। पीठ जितना पवित्र और प्रबल होता है उसी प्रकारके उन्नत देवता उस पीठमें आह्वान किये जा सकते हैं और जबतक मूर्त्ति आदिमें उक्त प्रकार पीठ वर्त्तमान रहता है तबतक दैवजगत्की कला भी उक्त मूर्त्ति आदि दिव्यदेशमें प्रकाशित रहती है। इस प्राणावर्त्तरूपी पीठके समझनेके लिये इस प्रकारका उदाहरण देना ठीक होगा कि यदि दो पदार्थ ऐसे आमने सामने रक्खे जायँ कि दोनोंमें आकर्षण और विकर्षण शक्ति विद्यमान हो तो एकका आकर्षण दूसरेको खींचेगा और दोनोंकी विकर्षणशक्ति दोनोंको धक्का देगी। इस प्रकारसे दोनोंकी आकर्षणशक्ति और दोनोंकी विकर्षणशक्ति परस्परमें मिलकर एक चक्राकार आवर्त्त (circle) प्राणमय कोषमें बन जायगा। उसी प्राणावर्त्तको पीठ कहते हैं और वह आवर्त्त अर्थात् पीठ देवताओंके ठहरनेका स्थान होगा। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तकी सहायतासे नित्य और नैमित्तिक देवताओंका पीठ बनाकर उनकी स्थापना की जाती है। इसी वैज्ञानिक सिद्धान्तके अनुसार पृथिवी भरमें नाना पीठस्थान और तीर्थादिका आविर्भाव आर्यशास्त्रोंमें माना गया है। तीर्थोंका रहस्य विस्तारितरूपसे और किसी अध्यायमें कहा जायगा।

इस प्रकारके दैवी पीठकी सहायतासे इस संसारमें सब दैवकार्य सम्पादित होते हैं। स्त्री पुरुषके सम्बन्धसे जो गर्भाधान होकर स्त्रीके गर्भमें एक दूसरे जीवकी उत्पत्ति होती है, वह भी इसी प्रकारके दैवी पीठकी सहायतासे ही हुआ करता है। जगदुत्पादक कामकी स्वाभाविक प्रेरणा द्वारा मैथुनकालमें स्त्री और पुरुषके अन्तःकरणमें तन्मयता आजाती है और इस प्रकारसे उभयके शरीरकी आकर्षण और विकर्षण शक्ति द्वारा प्रथम तो दोनोंके शरीरव्यापी पीठकी उत्पत्ति होती है और पुनः पुरुषकी आकर्षणशक्ति परास्त हो जानेपर स्त्री गर्भमें पीठकी स्थापना हो जाती है। इसी कारणसे सनातनधर्मशास्त्रमें स्त्री सम्बन्धको अति पवित्र कार्य करके वर्णन किया गया है और सन्तानोत्पत्तिके अतिरिक्त वृथा मैथुनको पापजनक करके सिद्ध किया गया है। इसी कारण श्रीभगवान्ने गीतामें कहा है—

"धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ ।"

हे अर्जुन ! धर्मसे अविरुद्ध अर्थात् धर्मसाधनके लक्ष्यसे स्त्री सम्बन्धरूपी जो काम है सो मैं हूँ । इस दशाके होते ही दम्पतिके शरीरमें पीठका आविर्भाव हो जाता है । पीठका आविर्भाव होते ही देवतागण और जन्म लेनेकी उपयोगी आत्माएँ वहां खिंची आती हैं । देवतागण उन आत्माओंके प्रेरक होते हैं । अनेक स्थानमें देवतागण पीठकी पवित्रताके कारण स्वाभाविकरूपसे आकृष्ट होते हैं क्योंकि पीठ देवताओंके विश्रामका स्थान होनेसे इस प्रकारका आकर्षण स्वतः सिद्ध है । प्रत्येक स्त्रीपुरुष-सम्बन्धजनित पीठमें अनेक आत्माएँ खिंचती हैं परन्तु जिस आत्माके कर्मके साथ उक्त सङ्गमयुक्त नारीके गर्भका कर्मसम्बन्ध है वोही आत्माएँ उस नारीगर्भमें ठहर जातीं हैं और बाकी आत्माएँ तथा देवतागण स्व स्व स्थानपर लौट जाते हैं । यही कारण है कि हमारे शास्त्रमें गर्भाधान संस्कार एक सबसे आदि और उत्तम संस्कार माना गया है और यही कारण है कि पूज्यपाद महर्षियोंने धर्मविरुद्ध मैथुनका सर्वथा निषेध किया है ।

जिस प्रकार देवता आदियोंके आविर्भाव करनेके लिये शास्त्रोक्त मन्त्र आदिकी सहायतासे उपासक और देवताके अन्तरात्माकी आकर्षण और विकर्षणशक्तिके समन्वय द्वारा सोलह दिव्यदेशोंमें दैवी पीठकी उत्पत्ति होकर देवताओंका उस पीठमें आविर्भाव हो जाता है उसी प्रकार और भी अनेक प्रकारसे पीठकी उत्पत्ति होती है । भेद इतना ही है कि यदि पीठकी पवित्रताकी रक्षा न की जाय तो पीठमें निम्नश्रेणीके देवता या प्रेत आदि उपदेवताके सम्बन्ध हो जानेसे पीठकी कार्यकारिता नष्ट हो जाती है । यही कारण है कि यज्ञादि कर्मकाण्डोंमें और उपासनाके विभिन्न साधनोंमें दिक्बन्धकी आवश्यकता होती है अर्थात् इसी भयसे यज्ञभूमिकी दसों दिशाओंमें दैवी रक्षकोंका आविर्भाव करके पीठकी सुरक्षाके लिये दिक्बन्ध किया जाता है । दिक्बन्ध करनेसे उक्त प्रकारके क्षुद्र देवता या उपदेवता अपने क्षुद्र स्वभावके अनुसार यज्ञादिमें विघ्न नहीं डाल सकते हैं ।

क्रियाका प्रधान स्थान प्राणमय कोष है तौ भी क्रियाकी उत्पत्ति करनेकी विभिन्नता रहनेके कारण प्राणमय क्रियाकी शैली भी अनेक प्रकारकी है । बुद्धिका कार्य भी कार्य है, मनका कार्य भी कार्य है परन्तु प्राणके

कार्यके साथ क्रियाका अति स्थूल सम्बन्ध विद्यमान है। अन्नमय कोषमें जो कार्य होता है वह भी प्राणमय कोषकी सहायतासे ही होता है। इस कारण क्रियाशक्तिके विचारसे प्राणमयकोष ही सर्वप्रधान है। इसी कारण शास्त्रोंमें इस प्रकारका प्रमाण मिलता है कि प्राणके निरोध होनेसे केवल व्यष्टि केन्द्रमें ही नहीं अधिकन्तु समष्टि केन्द्रमें भी क्रिया निरुद्ध हो जाती है। यथा—श्रीमद्भागवतमें—

> तस्मिन्नभिध्यायति विश्वमात्मनो
> द्वारं निरुध्यासुमनन्यया धिया।
> लोका निरुच्छासनिपीडिता भृशं
> सलोकपालाः शरणं ययुर्हरिम्॥
> नैवं विदामो भगवन् प्राणरोधं
> चराचरस्याखिलसत्त्वधाम्नः।
> विधेहि तन्नो वृजिनाद्विमोक्षं
> प्राप्ता वयं त्वां शरणं शरण्यम्॥
> मा भैष्ट बालं तपसो दुरत्यया—
> न्निवर्त्तयिष्ये प्रतियात स्वधाम।
> यतो हि वः प्राणनिरोध आसी—
> दौत्तानपादिर्मयि सङ्गतात्मा॥

परम भागवत ध्रुवने श्रीविष्णुध्यानपरायण होकर समस्त विश्वको अपने भीतर एकाग्र करके जिस समय प्राण निरोध किया उस समय उनके प्राण निरोधसे समस्त संसारका श्वास निरुद्ध होकर संसार की क्रिया बन्द होने लगी जिससे देवताओंने व्याकुल हो श्रीविष्णुकी शरण ली और उनसे प्रार्थना की कि "हे भगवन्! हम लोगोंको पता नहीं लगता कि क्यों समस्त विश्वका प्राण निरोध होकर क्रियाशक्ति बन्द हो रही है। आप इस दुःखसे संसारको मुक्त करें।" इस प्रकार प्रार्थना करनेपर श्रीविष्णु भगवान्ने देवताओंसे कहा कि परम तपस्वी ध्रुवने श्वास निरोध द्वारा समस्त विश्वकी प्राणशक्तिको अपने भीतर आकर्षण कर लिया है, इसीसे समस्त जीवोंको भीषण

कष्ट और विश्व संसारकी क्रियाशक्ति नष्ट हो रही है। यही प्राणके साथ क्रियाका अवश्यम्भावी मौलिक सम्बन्ध है।

जिस प्रकार बुद्धितत्त्वमें प्रधानतः दो प्रकारकी क्रिया होती है—एक मनके अवलम्बनसे बुद्धिका कार्य और दूसरा केवल बुद्धिके प्राधान्यसे बुद्धिका कार्य; इसी कारण बुद्धिके दो भेद कहे गये हैं—एकका नाम धारणा और दूसरेका नाम प्रतिभा और जिस प्रकार मनमें भी दो प्रकारकी क्रिया प्रधानरूपसे होती है—एक प्राणमयकोषको सङ्गमें लेकर और दूसरी केवल मन-की सहायतासे। उसी मनोमय कोषके सम्बन्धसे जो प्राणकी क्रिया किसी जीव पिण्डमें हो अर्थात् एकके मनोमय कोषका प्रतिबिम्ब दूसरे शरीरके मनोमय कोषपर पड़कर उसको आच्छन्न करे और ईश्वरकी इच्छाके अनुसार उधरके प्राणमय कोषमें क्रिया उत्पन्न करे उसको योगशास्त्रमें सम्मोहन (hypnotism) कहते हैं। पूर्व कहे हुए विज्ञानके अनुसार प्रधानतः जैसे मनकी क्रियाके दो भेद हैं और बुद्धिकी क्रियाके दो भेद हैं, उसी प्रकार अन्नमय कोषके भी दो भेद कहे जा सकते हैं। जब कहीं पीठकी उत्पत्ति हो वहां पर जब पीठ-कर्त्ताके मानसिक संस्कारके अनुसार कार्य हो वह एक प्रकार की दशा है और जब वहां पीठकी स्वाधीनताके अनुसार कार्य हो वह दूसरे प्रकारकी दशा है। भेद इतना ही है कि पीठकर्त्ताकी इच्छाशक्तिके अधीन पीठ रहनेसे उसमें दैवी शक्तिका आविर्भाव नहीं होने पाता है और पीठकर्त्ता जब अपनी इच्छाशक्तिके अधीन पीठको नहीं रखता है और पीठ स्वाधीन रहता है, तब उक्त पीठमें दैवी शक्तिका आविर्भाव हो सकता है। पीठमें जब पीठकर्त्ताकी इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति दोनों काम करती हो तो स्वतः ही उसमें बाहरसे किसी दैवी शक्तिके आजानेका कोई अवसर नहीं रहता और पीठकर्त्ता अपने मनोमय और प्राणमय कोषकी सहायतासे उक्त पीठमें जैसा चाहे वैसा कार्य कर सकता है। यहां तक कि दैवी जगत्के सञ्चालक देवतागणकी क्रियामें भी इस प्रकारसे बलात्कार किया जा सकता है। तन्त्रशास्त्रमें तथा अथर्ववेदमें इसी विज्ञान को अवलम्बन करके मारण, वशीकरण, मोहन, उच्चाटन आदि अनेक क्षुद्र सिद्धियोंका वर्णन किया गया है। उक्त क्षुद्र सिद्धियोंके मूलमें भी यही पीठ विज्ञान विद्यमान है। यद्यपि उक्त सिद्धियोंके प्राप्त करनेके जो साधन हैं उनमें इस पीठ विज्ञानका वर्णन कुछभी नहीं पाया जाता है, परन्तु उस प्रकारके साधनमें जो जो क्रियाएँ वर्णित हैं उनसे इस प्रकारके पीठोंकी उत्पत्ति होजाती

है और इसी प्रकारसे एक केन्द्रसे दूसरे केन्द्रमें जाकर मारण, वशीकरण आदि क्रिया प्रकट होजाती है। वास्तवमें प्राणशक्तिके द्वारा ही ये सब कार्य हुआ करते हैं। पश्चिमी देशोंमें जो सम्मोहन (hypnotism) विद्या नई निकली है, किसी किसी पाश्चात्य देशमें इस विद्याके सिखानेके लिये शिक्षालय भी स्थापित किया गया है, सो इन सब पश्चिमी विद्याओंके साथ आध्यात्मिक उन्नतिका कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे भी ये लौकिक सिद्धिप्रद विद्याएँ इस पीठोत्पत्ति विज्ञानसे ही सम्बन्ध रखती हैं। इस सम्मोहन विद्याके द्वारा ऐसे अलौकिक कार्यसमूह होते हैं कि जिन असम्भव कार्योंको देखकर अति आश्चर्यान्वित होना पड़ता है। उदाहरण रूपसे कहा जाता है कि ऐसा बालक कि जो वृक्षपर चढ़ना कभी नहीं जानता है इस विद्याके प्रयोग द्वारा अति उच्च वृक्षपर चढ़ जाता है और अलौकिक कार्यसमूह भी करता है ऐसा देखा गया है। अदालतमें झूठी गवाही दिलानेका उदाहरण तो इस विद्याके द्वारा अनेक पाये गये हैं, जिनके अनेक मुकद्दमें अदालत में मौजूद हैं।

प्राणविनिमय (Mesmerism) क्रिया एक अद्भुत रहस्यपूर्ण क्रिया है जिसकी शक्तियोंको देखकर दैवराज्यमें विश्वासरहित पश्चिमी विद्वान्गण भी चकित हुए हैं। इस विद्याके अनुसार पीठकर्त्ताको किसी दूसरे मनुष्यके मन और प्राणको अपनी ओर आकर्षित करना पड़ता है। सुकौशलपूर्ण क्रिया द्वारा यह कार्य किया जाता है। हस्तचालन द्वारा प्राणशक्ति प्रयोग करके और मन्त्रोंकी सहायतासे प्राणशक्ति प्रयोग करकेयह साधन किया जाता है और ईस प्रकारके प्रयोगसे पीठकर्त्ता पीठोपयोगी पात्र या पात्री (medium) के शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है। पीठोत्पत्तिकी इस दशामें पूर्व कथित दो प्रकारके भेदके अनुसार दो प्रकारके कार्य प्रायः देखनेमें आते हैं। पीठदशाप्राप्त पात्रमें या तो केवल वही क्रिया होती है जो पीठकर्त्ता इच्छा करे। इस दशामें वह पीठस्थ पात्र (medium) किसी प्रकारके देवता या उपदेवताके आवेशसे रहित रहता है। परन्तु यदि पीठकर्त्ता अपनी इच्छा शक्तिको उस प्रकारसे प्रयोग न करे तो पीठदशाप्राप्त पात्रमें आह्वान करनेसे परलोकगत आत्मा अथवा देवताओंका आवेश हो सकता है। परन्तु इस दशामें भय अनेक हैं। सनातनधर्मके याज्ञिक विज्ञानके अनुसार दिग्बन्ध द्वारा उस पीठकी सुरक्षा न होनेसे पीठकी इस स्वाधीन दशामें निम्न श्रेणीके देवता अथवा उपदेवता (प्रेत) आदिका आवेश उस पात्रपर होजाना सर्वथा

सम्भव है। इसी शैलीके रूपान्तरमें भारतवर्षकी अनेक शूद्र जातियोंमें प्रेत और क्षुद्र देवताओंके आवेश नर या नारियोंके देहमें करानेकी रीति भारतवर्षके अनेक देशोंमें अबभी प्रचलित है। यही कारण है कि इस प्राणविनिमय योगमें प्रथमतः सफलता दिखाई देनेपर भी फलतः अधिक कार्य्य होना प्रायः देखनेमें नहीं आता है। पश्चिमी विद्वानोंने इस विद्याकी विशेष चर्चा की है और उन्होंने बहुतसे साधनोंके द्वारा प्रेतलोकके साथ अपना सम्बन्ध कर दिखाया है। परन्तु मन्त्रशास्त्रका अभाव, योगके आध्यात्मिक लक्ष्यका अभाव और दिग्बन्ध द्वारा पीठकी सुरक्षाकी शैलीका अभाव होनेसे इस विद्याके द्वारा दैवराज्यके साथ वे सम्बन्ध स्थापन करनेमें असमर्थ हुए हैं। तन्त्रशास्त्रमें जो इस विद्याका रहस्य बहुधा पाया जाता है सो बहुत ही उत्तम शैलीसे पूर्ण देखनेमें आया है। बटुक, कुमारी, योग्य शिष्य या शिष्याके शरीरमें मन्त्रयोगकी सहायतासे पीठस्थापन करनेकी रीतियाँ तन्त्रोंमें वर्णित हैं। वे सब इसी पीठ विज्ञानके अन्तर्गत हैं। भेद इतनाही है कि पश्चिमी विद्या अमन्त्रक और अध्यात्म विज्ञानसे रहित है और तन्त्रोक्त यह शैली समन्त्रक, अध्यात्मभावयुक्त और योगमार्गके क्रियासिद्धांशके अनुकूल है। इसी कारण शास्त्रोक्त साधनों में विघ्नकी सम्भावना कम है।

आर्य्यशास्त्रोक्त शवसाधन और चितासाधन आदिकी जो साधन प्रणाली है सो भी इसी पीठ विद्याके अन्तर्गत है। उसकी साधारण विधि यह है कि विशेष लक्षणयुक्त और विशेष जातिका शव जो विशेष काममें और विशेष रीतिसे मृत हुआ हो, ऐसे अखण्डित शवको स्थान विशेषमें ले जाकर दिग्बन्धादिसे दस दिशाओंकी रक्षा करते हुए शवमें विशेष क्रियाके द्वारा पीठोत्पत्ति की जाती है। प्राणमय कोषकी अतुलनीय शक्तिके द्वारा जब वह शव पीठरूपमें परिणत होजाता है तब उस शवरूपी पीठमें साधक अपने इष्टदेव अथवा अन्य किसी उपास्य देवके आविर्भावका प्रयत्न करता है। अखण्डित और सद्योमृत शवके सब यन्त्रादि अवयव (organs) पूर्ण रहनेके कारण वह शव पीठ बनते ही जीवित मनुष्य की नाईं क्रिया करने लगता है। उसके मुखसे वार्त्तालाप द्वारा अनेक दैवरहस्य प्रकट हुआ करते हैं और साधकको अनेक सिद्धि भी प्राप्त हो सकती है। यह साधन प्रणाली बहुत ही उत्तम होने पर भी इसमें भी विघ्न अनेक हो सकते हैं। यदि दिग्बन्ध ठीक न हो, यदि साधक आध्यात्मिक शक्तिके विचारसे

दुर्बल हो, यदि साधक भयभीत हो जाय अथवा साधनका क्रियासिद्धांश असम्पूर्ण हो तो उस शवमें प्रेतादि उपदेवताका आवेश होना सम्भव है। शव में पीठकी उत्पत्ति तो हो जायगी, परन्तु पीठकी सुरक्षा न होनेसे और साधक में योग्यताकी कमी रहनेसे वह पीठ प्रेतोंके द्वारा आक्रान्त हो जायगा। जैसे कोई उत्तम स्थान होनेसे नागरिकगण वहां स्वयं उपस्थित होते हैं, ऐसे ही पीठकी उत्पत्ति होते ही पहले प्रेतादि उसमें आकृष्ट होते हैं। प्रेतोंमें विषय-वासनाकी तीव्रता रहनेके कारण उनमें मनुष्योंके साथ सम्बन्ध स्थापन करनेकी स्वाभाविक इच्छा रहती है। यही कारण है कि पीठोंकी यदि सुरक्षा न हो तो उसमें प्रेतोंका आवेश होना स्वतःसिद्ध है। विशेषतः मनुष्यलोकके साथ ही प्रेतलोकका निकट सम्बन्ध रहनेके कारण उनका शीघ्र ही पीठमें आ जाना सुगम है जिसका विस्तारित विवरण 'श्राद्ध और प्रेततत्त्व' नामक अध्यायमें किया जायगा। किसी स्थानमें यदि चण्डाल आदिका निवास हो वहां जिस प्रकार ब्राह्मणादि श्रेष्ठ मनुष्य जानेकी इच्छा नहीं करते हैं उसी प्रकार प्रेतादि द्वारा आक्रान्त पीठमें देवताओंका आना असम्भव है। जब प्रेत पीठमें आ जाता है तो नाना उपद्रव, मिथ्या जल्पना कल्पना आदि उस पीठ द्वारा हुआ करती है। परन्तु शास्त्रोक्त विधिके अनुसार पीठकी शुद्धि और पीठ स्थानकी सुरक्षा होनेपर और साधककी साधनप्रणालीकी योग्यता रहने पर उस शवरूपी पीठमें दैवीशक्तिका आवेश हो जाता है इसमें सन्देह नहीं है। इस विषयमें शास्त्रीय प्रमाण। यथा—भावचूड़ामणिमें:—

शून्यागारे नदीतीरे पर्वते निर्जनेऽपि वा।
बिल्वमूले श्मशाने वा तत्समीपे वनस्थले॥
अष्टम्याञ्च चतुर्दश्यां पक्षयोरुभयोरपि।
भौमवारे तमिस्रायां साधयेत् सिद्धिमुत्तमाम्॥
माषभक्तञ्च बल्यर्थं धूपदीपादिकं तथा।
तिलाः कुशाः सर्षपाश्च स्थापनीयाः प्रयत्नतः॥
यष्टिविद्धं शूलविद्धं खड्गविद्धं जले मृतम्।
वज्रविद्धं सर्पदष्टं चाण्डालश्वाभिभूतकम्॥
तरुणं सुन्दरं शूरं रणे नष्टं समुज्ज्वलम्।

पलायनविशून्यन्तु संमुखे रणवर्त्तिनाम् ॥
धूपेन धूपितं कृत्वा गंधादिना विलिप्य च ।
कुशशय्यां परिष्कृत्य तत्र संस्थापयेच्छवम् ॥
द्वादशांगुलमानानि यज्ञकाष्ठानि दिक्षु च ।
संस्थाप्य पूजयेत्तत्र क्रमादिन्द्रादिदेवताः ॥
चलच्छवाद्भयं नास्ति भये जाते वदेत्ततः ।
यत्प्रार्थ्य बलित्वेन दातव्यं कुञ्जरादिकम् ॥
दिनान्तरे च दास्यामि स्वनाम कथयस्व मे ।
इत्युक्त्वा संस्मृतेनैव निर्भयश्च पुनर्जपेत् ॥
ततश्चेन्मधुरं वक्ति वक्तव्यं मधुरं ततः ।
ततः सत्यं कारयित्वा वरञ्च प्रार्थयेत्ततः ॥

शून्यगृह, नदीतीर, पर्वत, निर्जनस्थान, बिल्वमूल, श्मशान अथवा श्मशान समीपस्थ वनप्रदेशमें शवसाधन करना चाहिये। कृष्ण अथवा शुक्ल-पक्षीय अष्टमी और चतुर्दशी तिथिमें मङ्गलवारकी रात्रिको शवसाधन करनेसे उत्तमा सिद्धि प्राप्त होती है। बलिके लिये माषभक्त और पूजाके लिये धूप, दीप, तिल, कुश और सर्षप रखना चाहिये। लाठी त्रिशूल अथवा खड्गके आघातसे जिसका प्राण छूटा हो, जलमें डूबकर वज्रपातसे अथवा सर्पदंशनसे जिसकी मृत्यु हुई हो इस प्रकारके चण्डालजातीय मनुष्यका शव साधनमें प्रशस्त है। शव तरुणवयस्क और सुन्दराङ्ग होना चाहिये। सम्मुख संग्राममें पलायन न करके जिसने प्राण दिया है ऐसा शव भी साधन कार्यमें प्रशस्त है। शवको धूपसे धूपित और गन्धादिकोंसे सुगन्धित करके कुशासन बिछाकर उसपर पूर्वकी ओर सिर करके स्थापन करना चाहिये। तदनन्तर जपस्थानकी दस दिशाओंमें द्वादश अङ्गुलिपरिमित अश्वत्थादि यज्ञीयकाष्ठ प्रोथित करके पूर्वादि क्रमसे इन्द्रादि दशदिक्पालोंकी पूजा करनी चाहिये। शवके हिलने पर डरना नहीं चाहिये, यदि डर हो तो उसको कहना चाहिये कि "दिनान्तरमें कुञ्जरादि ईप्सित बलिप्रदान किया जायगा, अब अपना नाम कहो।" ऐसा कहकर निर्भय हो पुनः जप करना चाहिये। तदनन्तर यदि मधुर शब्दसे शव बोलने लगे तो स्वयं भी मधुर शब्दसे बोलकर उसको प्रतिज्ञाबद्ध कराके पश्चात् वर प्रार्थना

करनी चाहिये। इस प्रकारसे गुरूपदिष्ट प्रक्रिया द्वारा शवसाधनामें पीठकी उत्पत्ति की जाती है।

पीठोत्पत्तिके अन्य कई एक उपाय कई एक सम्प्रदायोंमें प्रचलित हैं जिनको पीठासन नामसे अभिहित कर सकते हैं। वर्त्तमान पाश्चात्य विद्वज्जनोंमें एक अमन्त्रक पीठासनकी शैली प्रचलित है जिसको अङ्गरेजी भाषामें (Table rapping) कहते हैं। इस साधनकी प्रक्रिया यह है कि, दो तीन पांच अथवा ततोधिक व्यक्ति किसी पवित्र स्थानमें बैठकर एक त्रिपदयुक्त टेबल्के चारों ओर गोलाकारमें स्थित हो टेबल् पर अपने हाथ रखते हुए परस्परके हाथ स्पर्श करके एक ही ध्यानमें मग्न हो जाते हैं। तदनन्तर उस पीठासनमें चेतन-शक्तिका आविर्भाव होकर उसमें स्वतः ही क्रियाकी उत्पत्ति हो जाती है और सङ्केतके द्वारा प्रश्नोत्तरका कार्य भी होने लगता है। इस साधनशैलीके द्वारा यूरोपके विद्वान्गण अनेक अलौकिक रहस्योंका आविष्कार कर रहे हैं। यूरोपके विद्वानोंमें यह विश्वास है कि, इस शैलीके द्वारा पीठ उत्पन्न करके प्रेत तथा परलोकगत सब प्रकारके आत्माओंको उस पीठमें बुलाया जा सकता है। इस प्रकारकी शैलीसे सफलता अति सुगम उपायके द्वारा ही देखनेमें आती है। तिपाईमें परिणत पीठके द्वारा तिपाई अपने आप हिलने लगती है और प्रश्न करने पर सङ्केतके द्वारा उत्तर भी प्रकट होने लगता है। यहांतक चमत्कार होता है कि, उस पीठका स्पर्श किये हुए मनुष्योंमेंसे कोई मनमें यदि प्रश्न करे तो, उसका भी उत्तर मिलता है। पीठको स्पर्श करके बैठे हुए मनुष्योंको छूकर यदि कोई अन्य व्यक्ति मनमें प्रश्न करे तो उसका भी उत्तर मिलता है। तिपाई इधरसे उधर चलने भी लगती है। यूरोपीय इस शैलीके अनुसार और भी कई प्रकारके यन्त्र देखनेमें आते हैं जिनमें से एक प्रकारके यन्त्रका नाम (planchet) है। ऐसे यन्त्रोंमें भी इसी शैलीके अनुसार प्राणमय क्रियाका प्रकट होना देख पड़ता है और उसमें भी पूर्वोल्लिखित सब कार्य होने लगते हैं। परन्तु भेद इतना ही है, कि इन सब अमन्त्रक कार्योंमें शास्त्रीय उपासनाविधिके अनुसार अथवा कर्मकाण्डकी शैलीके अनुसार पवित्रता सम्पादन और दिक्-बन्ध आदिकी रीति न रहनेसे पीठकी पवित्रताका अभाव हो जाता है और पवित्रताके अभावसे और पीठकी सुरक्षाके अभावसे ऐसे पीठोंमें दैवीशक्तियों-का आविर्भाव होना सुसाध्य नहीं है। यहांतक कि, ऐसे अमन्त्रक पीठोंमें केवल प्रेतादिकका आना ही प्रायः सम्भव है। यह शैली यूरोपकी भारतवर्षके लिये

कोई नवीन नहीं है। इसी ढङ्गकी शैलियां भारतवर्षकी अशिक्षित प्रजामें अनेक रूपान्तरमें प्रचलित थीं और अब भी हैं। उदाहरणरूपसे कहा जाता है कि, अब भी मारवाड़-प्रदेशकी स्त्रियोंमें एक ऐसी ही पीठोत्पत्तिकी शैली प्रचलित देखनेमें आती है। दो स्त्रियां परस्परके हाथोंको आड़े-टेढ़े (cross) ढङ्गसे परस्परमें पकड़ कर चारों हाथोंके बीचमें एक छोटा कुम्भ जलसे भर कर स्थापन करती हैं और पीठोत्पत्तिकारिणी दोनों स्त्रियोंके ध्यानस्थ हो बैठी रहने पर कुछ देरके बाद चारों हाथोंके साथ कुम्भका हिलना अनुभव करने लगती हैं और तदनन्तर हिलावके इशारेसे प्रश्नका उत्तर प्राप्त किया करती हैं। यूरोपके (table-rapping) के साथ इस प्रणालीकी समानता है। इन सब शैलियोंको पीठासनकी शैली कह सकते हैं। ये सभी क्रियाएँ प्राणमय कोषकी सहायतासे ही प्रकट होती हैं।

यूरोप आदि पाश्चात्य देशोंकी पीठोत्पन्नकारी शैलियोंमेंसे एक शैली ऐसी है कि, जिसमें चार पांच या ततोधिक मनुष्य चक्राकार होकर बैठते हुए आपसमें एक दूसरेका हाथ पकड़ते हुए एक ही ध्यानमें मग्न रहते हैं। ऐसा करने पर कुछ देरके अनन्तर उक्त बैठे हुए मनुष्योंमेंसे एक व्यक्ति ज्ञानरहित हो जाता है और उस व्यक्तिमें किसी आत्माका आवेश हो जाता है। आवेश-प्राप्त वह व्यक्ति बहिर्ज्ञानशून्य होकर बोलने लगता है। ऐसी शैलीके भी अमन्त्रक शैली होनेसे ऐसी प्रणालीके द्वारा प्रेतादिकोंका आवेश होना अधिक सम्भव है। यूरोपकी यह शैली नवीन नहीं है। इसी प्रकारकी रूपान्तरित चक्रकी शैली यूरोपीय फ्री मेशन आदि सम्प्रदायोंमें अति प्राचीनकालसे प्रचलित है। हिन्दू-जातिमें इस प्रकारकी समन्त्रक अधिदैवभावसे भावित शैली तान्त्रिक सम्प्रदायमें चिरकालसे प्रचलित देखनेमें आती है। शक्ति-उपासकगणकी वामाचार उपासना-पद्धतिमें जो भैरवीचक्र, श्रीचक्र, ब्रह्मचक्र आदि सात प्रकारके चक्रकी विधि तन्त्रशास्त्रमें देखनेमें आती है सो इसी प्रकारके विज्ञानकी पोषक है। यूरोपीय शैलीसे यह तान्त्रिक शैली सर्व प्रकारसे अधिक उपकारी, अधिक भयरहित और आस्तिकतापूर्ण है इसमें सन्देह नहीं। परन्तु कालप्रभावसे तन्त्रोक्त ये चक्रकी शैलियां अब लक्ष्यभ्रंष्ट होकर बिगड़ गयी हैं।

तन्त्रोक्त इस विज्ञानको कुछ स्पष्ट करनेके लिये कहा जा सकता है कि इस प्रकारके तान्त्रिक उपासना-चक्रका एक अधीश्वर होता है जिसको चक्रेश्वर कहते हैं। उसी चक्रेश्वरके अधीन होकर तान्त्रिकगण एक उपासनाके उप-

योगी स्थानमें उपस्थित रहकर साधन करते हैं। सप्त प्रकार के चक्रोंमेंसे किसी किसीमें केवल पुरुष और किसी किसी चक्रमें स्त्री-पुरुष—उभयका समावेश रहता है। चक्रदीक्षासे दीक्षित पुरुष अथवा स्त्री-पुरुषगण चक्रेश्वरके अधीन रहकर एक ही उपास्य देवताकी उपासनामें तत्पर होते हैं। चक्रके समयमें चक्रकी सब क्रियाएँ उपासनाकी अङ्ग समझी जाती हैं। चक्रमें प्रवृत्त सब व्यक्ति अपने अपने मनको केवल अपने उपास्य देवताके चरणोंमें संलग्न रखते हैं। ऐसी दशामें वह चक्र वास्तवमें अधिदैव चक्ररूपमें परिणत हो जायगा, इसमें सन्देह ही क्या है? ऐसे चक्रोंमें चक्राविष्ट देवताकी इच्छा अथवा आज्ञा प्रकट होनेकी दो शैलियाँ प्रायः शास्त्रमें पायी जाती हैं। यदि चक्रेश्वर उन्नत अधिकारका व्यक्ति हो तो वह स्वयं चक्रके लक्षणोंको देखकर ही फलाफल कह सकता है। दूसरी शैली यह है कि, चक्रमें प्रविष्ट यदि किसी स्त्री-पुरुषमेंसे कोई आवेशको प्राप्त हो तो उससे प्रत्यक्षरूपसे जिज्ञासा द्वारा फलाफल निर्णय हो सकता है। ये सब शैलियां पीठ-विज्ञान के अनुसार प्राणमय कोषकी सहायतासे सुसम्पन्न हुआ करती हैं। तन्त्रशास्त्रोक्त इस चक्रकी शैली यदि यथाविधि अनुष्ठित की जाय तो इसमें प्रेतादिकोंका आवेश होना सम्भव नहीं है। हां, यदि काम-लोभादिके वशीभूत होकर ऐसी शास्त्रोक्त शैलीको अविधिपूर्वक करके साधकगण स्वयं ही निरङ्कुश होकर प्रेत-सदृश बन जाय तो, प्रेतावेश होना सम्भव ही है।

पीठ उत्पन्न करनेकी जितने प्रकारकी शैलियाँ हैं या हो सकती हैं उन सब शैलियोंमेंसे अपने अन्तःकरणके बलसे अपने ही शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेकी प्रणाली सबसे भयरहित, सबसे अधिक उपयोगी और सर्वाङ्ग-सम्पूर्ण है। यूरोपके विद्वान्गण यद्यपि इस प्रणालीकी पूर्णताको ठीक ठीक समझ नहीं सके हैं, परन्तु वहांके जो उच्चाधिकारी हैं वे इसको Self Mesmerism कहते हैं और इस प्रणालीकी प्रशंसा करते हैं। यूरोपीय प्राण-विनिमय-शास्त्रके विद्वानों-मेंसे कोई कोई उच्चाधिकारी इसका कुछ थोड़ासा रहस्य कुछ कुछ अनुभव करके अपने शरीरपर कुछ कुछ क्रिया प्रकट कर सकते हैं—ऐसा उनके ग्रन्थोंसे प्रमाण मिलता भी है। परन्तु यूरोपीय विद्वान्गण न तो हमारे दार्शनिक तत्त्वोंसे परिचित हैं और न हमारे अधिदैव-राज्यसे सुपरिचित हैं; इस कारण इस सर्वोत्तम शैलीकी पूर्णताको वे हृदयङ्गम करनेमें असमर्थ हैं, इसमें सन्देह नहीं। हमारे आर्यशास्त्रोंमें प्राणायाम द्वारा मनको निर्मल करके तदनन्तर

नाना प्रकारके न्यासोंकी सहायतासे अपने शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेकी जो प्रणाली प्रचलित है; यद्यपि उसका ठीक ठीक रहस्य बहुत थोड़े उपासक ही जानते हैं; परन्तु विशुद्धान्तःकरण, देवताकी कृपा, प्राणायाम और विभिन्न न्यासोंकी सहायतासे जो उपासकके द्वारा अपने शरीरमें पीठ उत्पन्न करनेकी शैली तन्त्रशास्त्र और योगशास्त्रमें कही गई है अथवा जिस क्रियाको उन्नत योगिगण बहुत सुगमतासे कर सकते हैं वह शैली सर्वोत्तम है, इसमें सन्देह नहीं है। इस अधिदैव रहस्यसे पूर्ण पीठ-विज्ञानके मूलमें सर्वव्यापक भगवान्की सर्वव्यापक महाशक्तिकी अधिदैव सत्ता कैसे विद्यमान है सो हम पहले कह चुके हैं। ब्रह्माण्ड और पिण्ड—दोनोंके एकही सम्बन्धसे सम्बद्ध होनेके कारण ब्रह्माण्डकी अधिदैव शक्ति पिण्डमें स्वतः ही सम्बन्धयुक्त रहती है। केवल सर्वव्यापक सूर्यशक्ति, अग्निमय होनेके कारण, वह सूर्यशक्तिकी अग्नि जैसे आतसी कञ्चकी सहायतासे ही केन्द्रीभूत होकर एक विशेष केन्द्रमें दाहिका शक्तिको उत्पन्न करती है ठीक उसी प्रकार अधिदैव-भावमय भगवत्शक्ति उसी मनुष्यदेहमें प्रत्यक्ष कार्य दिखाने लगती है जिस देहमें पीठोत्पत्ति हो जाती है। मनुष्यका अन्तःकरण भाव, वृत्ति, इन्द्रिय और विषयके संयोगसे विषयवत् बना रहता है। इसीको योगिराज पतञ्जलिजीने :—

"वृत्तिसारूप्यमितरत्र।"

इस सूत्रसे वर्णन किया है। इस सूत्रका तात्पर्य यह है कि, साधारण मनुष्योंमें विषयका प्रभाव, इन्द्रिय और वृत्ति की सहायतासे उन जीवोंके अन्तःकरणमें सर्वदा बने रहनेसे, सर्वसाधारण मनुष्योंका अन्तःकरण वैषयिक वृत्तिके रूपमें बना रहता है अर्थात् साधारण वैषयिक मनुष्य वैषयिक वृत्तियोंके पुञ्जरूप हैं इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं। यदि योगसाधनकी सहायतासे विज्ञानमय कोषको अपने स्थानपर स्थित रक्खा जाय तो, मलिन बुद्धि उत्पन्न न होनेसे मलिन बुद्धिके प्रभावसे मनोमय कोषपर जो दबाव पड़ता था सो नहीं पड़ेगा। प्राणायाम आदि साधनसे मनोमय कोषकी विशुद्धता स्थापित होगी। तब मन वृत्तिसारूप्यको छोड़कर निर्मल हो जायगा। दूसरी ओर नानाप्रकारके न्यासोंकी सहायतासे अन्नमय कोषकी पवित्रता बना दी जायगी और साथही साथ प्राणमय कोषको पीठ उत्पन्न करनेके लिये उपयुक्त बना दिया जाय तो उस समय प्रकृति माताकी स्वाभाविक

कृपासे वह योगी अपने प्राणमय कोषको विराट् प्राणमय कोषके साथ एक सम्बन्धसे सम्बद्ध करके अपने शरीरमें पीठ बनानेमें समर्थ हो जायगा। यही अलौकिक पीठ-विज्ञानका सूक्ष्मातिसूक्ष्म विज्ञान है। पीठ-विज्ञानका विस्तारित रहस्य आर्य्यशास्त्रके अनेक स्थलोंमें गुप्त-रूपसे पाया जाता है। इस विषयका कुछ वर्णन श्रीसूर्यगीतासे नीचे उद्धृत किया जाता है। यथा—
सूर्यगीतामें भक्त महर्षियोंके प्रति सगुणब्रह्म सूर्य भगवान्‌की उक्तिः—

पञ्चकोषेषु शक्तिर्मे तथा तिष्ठति नित्यशः।
न पश्यन्ति तु तां शक्तिमज्ञानोपहता नराः॥
यावतीं प्रौढतां याति साधकः साधनाध्वनि।
तावत्स पञ्चकोषानां साह्याय्यान्मां प्रपद्यते॥

मेरी शक्ति पञ्चकोषोंमें प्रकट रहती है। केवल अज्ञानके कारण मेरे सशक्ति रूपका मनुष्यगण अनुभव नहीं कर सकते। साधक साधन-राज्यमें जितना अग्रसर होता जाता है उतना ही वह अपने पञ्च कोषोंकी सहायतासे मेरी शक्तियोंका अनुभव यथाक्रम किया करता है।

सूक्ष्मेण दिव्यलोकेन स्थूललोकस्य देहिनः।
सम्बन्धकारको ज्ञेयः कोषः प्राणमयश्चरः॥
यदि प्राणमये कोषे पीठं स्थापयितुं क्षमः।
कथञ्चित् स च मे शक्तिं दैवीमनुभवत्यसौ॥
पञ्चकोषा अपि व्यष्टिसमष्ट्योर्भेदतः सदा।
ऐक्यमेवाश्रयन्तीति ततः श्रोतुं त्वमर्हसि॥
समष्टिरूपकोषस्य रहस्यं व्यष्टिकोषके।
आविर्भवति नित्यं तन्नात्र कार्या विचारणा॥
यदा कुण्डलिनी शक्तिराविर्भवति साधके।
तदा स पञ्चकोषे मत्तेजोऽनुभवति ध्रुवम्॥

सूक्ष्म दिव्यलोक और स्थूल जीवलोक—दोनोंके मध्यमें सम्बन्ध स्थापन करनेवाला प्राणमय कोष है। यदि साधक प्राणमय कोषमें किसी प्रकारसे पीठ-स्थापन करनेमें समर्थ हो तो, वह मेरी दैवी शक्तियोंका अनुभव करनेमें

समर्थ होता है। पञ्चकोष व्यष्टि और समष्टि-रूपसे एकत्व सम्बन्धसे युक्त हैं। इस कारण मेरे समष्टि पञ्च कोषोंका रहस्य व्यष्टि पञ्च कोषोंमें प्रकट हो जाता है। साधकमें जब कुलकुण्डलिनीरूपिणी मेरी पराशक्तिका अभ्युत्थान होता है तभी वह ज्ञानवान् योगिराज पञ्चकोषोंमें मेरे तेजका प्रत्यक्ष अनुभव कर सकता है।

द्रव्यमन्त्रमनःशुद्ध्या तथा तच्छक्तियोगतः ।
स्थूलेऽपि दिव्यदेशेऽस्मिन् पीठाविर्भूतिरिष्यते ॥
पीठसाहाय्यमाश्रित्य तीर्थ-प्रस्तर-विग्रहे ।
आविर्भवति मे शक्तिर्दैवीत्येतद्धि निश्चितम् ॥
तीर्थानि दिव्य-देशाश्चाप्यनेके परिकीर्त्तिताः ।
कर्मोपास्तिप्रभावेण स्थूललोकेऽपि साधकाः ॥
एवं विधानां पीठानां प्रतिष्ठां कुर्वते सदा ।
उपास्तिः सात्त्विकत्वादिभेदेन त्रिविधा मता ॥
तद्वत्पीठाश्रयं प्राप्य ऋषीन्देवान् पितृंस्तथा ।
असुरान् शक्तिभूतान्मे प्रत्यक्षं वीक्षते मुदा ॥

द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और मनकी शुद्धिसे तथा इन तीनोंकी शक्तिके एकत्र होनेसे स्थूल दिव्य देशोंमें पीठका आविर्भाव हो जाता है। पीठकी सहायतासे ही प्रस्तरादिनिर्मित विग्रह और तीर्थादिकोंमें मेरी दैवी शक्तियोंका आविर्भाव हुआ करता है। दिव्य देशों और तीर्थादिकोंके अनेक भेद हैं। कर्मकाण्ड और उपासनाकाण्डकी सहायतासे स्थूल लोकमें उपासकगण इस प्रकारके पीठ-स्थापन किया करते हैं और उपासनाके सात्त्विक, राजस और तामस भेदसे पीठकी सहायतासे वे मेरी प्रत्यक्ष शक्ति ऋषि, देवता, पितर, असुर और प्रेतादिकोंका दर्शन किया करते हैं।

सत्त्वादिगुणभेदेन साधकस्य समीहया ।
एतासां मम शक्तीनां दर्शनं त्रिसृणां पृथक् ॥
साधकानामथ स्थूललोके पीठप्रतिष्ठया ।
मां द्रष्टुं मद्विभूतीर्वा कुमारीवटुविग्रहाः ॥

मुद्राशवाग्नियन्त्राणि वपुः स्वीयं तथैव च ।
मुख्यावलम्बनान्याहुरष्टैवैतानि सर्वथा ॥
तत्रापि देवरूपाणि तत्त्वानामग्नितत्त्वकम् ।
मुख्यावलम्बनं प्राहुस्तत्त्वमध्यगतं हि तत् ॥
तथा मुद्रा मता लोके स्त्रीपुंस्तदुभया त्रिधा ।
इयं मुद्रा तु बहुभिश्चक्रशब्देन चोच्यते ॥

तीन गुणोंके अनुसार ये तीनों दर्शन साधकको पृथक् पृथक् इच्छाके अनुसार हुआ करते हैं। स्थूल राज्यमें पीठ-स्थापन करके मेरी शक्ति और अन्यान्य मेरी विभूतियोंका दर्शन करनेके लिये कुमारी, बटुक, विग्रह, मुद्रा, शव, अग्नि, यन्त्र और निज शरीर—ये आठ सबसे प्रधान अवलम्बन हैं। देवताओंका मुख्य रूप और पञ्च तत्त्वोंका मध्यतत्त्वरूपी अग्नि अति शुद्ध अवलम्बन है। मुद्राके तीन भेद हैं:—एक केवल स्त्रियोंकी सहायतासे, दूसरा केवल पुरुषोंकी सहायतासे और तीसरा स्त्रीगण और पुरुषगण—उभयकी सहायतासे मुद्राका प्रयोग किया जाता है। मुद्राका दूसरा नाम चक्र भी है।

तस्यापि भेदाः सन्तीति विदुः केचन योगिनः ।
यन्त्राण्यप्यमितान्याहुर्योगिनो यन्त्रवेदिनः ॥
पीठोत्पन्नकरेष्वेषु साधनेष्वष्टकेष्वपि ।
योगिनोन्तर्निजं देहं साधनोत्तममीरितम् ॥
अष्टासु कारणेष्वेषु द्रव्यमन्त्रविशुद्धितः ।
मनसः संयमेनापि कोषे प्राणमये ध्रुवम् ॥
पीठमुत्पद्यते तस्मिन् कोषे तत्र प्रतिष्ठिते ।
आविर्भवन्ति मे सर्वाः शक्तयस्तत्र निश्चितम् ॥
किन्तु द्रव्यमनःशुद्धिमन्त्रशुद्ध्याद्यभावतः ।
तथोपासनया चापि दिग्बन्धादिप्रयत्नतः ॥
पीठस्थानस्य रक्षा चेत्समीचीना भवेन्नहि ।
तथोक्तस्य च यागस्य पवित्रत्वाद्यभावतः ॥
बह्वस्तत्र जायन्तेऽन्तराया असुरैः कृताः ॥

किसी किसी योगिराजने चक्रके सात भेद भी किये हैं। यन्त्र भी अनेक प्रकारके हैं। परन्तु पीठ उत्पन्न करनेके सम्बन्धमें योगी साधकके लिये निज शरीर ही सबसे उत्तम, सहल और सुसाध्य अवलम्बन है। इन आठों अवलम्बनोंमें द्रव्यशुद्धि, मन्त्रशुद्धि और मनकी एकाग्रतासे प्राणमय कोषमें उत्पन्न पीठके स्थापन होनेपर उस पीठमें मेरी शक्तियोंका आविर्भाव हो जाता है। परन्तु त्रिविध शुद्धि न होनेसे अथवा उपासनाकी सहायतासे दिग्बन्ध द्वारा उक्त स्थानकी सुरक्षा और उक्त यज्ञकी पवित्रता सम्पादन न करनेसे अनेक आसुरी विघ्न होनेकी सम्भावना है।

मनःसंयमिनो वच्मि युष्मद्भव्याय साम्प्रतम् ।
नास्त्यस्मात्सुगमः पन्थाः निर्भयश्चाप्ययथोत्तमः ।
योगिनो जगतश्चास्य श्रेयः संपादनेच्छया ॥
पीठं संस्थाप्य मां वापि मच्छक्तीर्द्रष्टुमिच्छतः ।
स्वान्तःकरणमेवास्य साधनं चोत्तमोत्तमम् ॥
तत्त्वज्ञाः पुरतो वोऽहं जगच्छ्रेयोऽभिलाषया ।
अतिगूढं रहस्यं तच्छृणुध्वं यद् ब्रवीम्यहम् ॥

हे मनके जय करने वाले! मैं तुम्हारे कल्याणके लिये कहता हूँ कि, सबसे सुगम, भयरहित और पूर्ण उपाय यही है कि, योगी यदि जगत्कल्याणकी इच्छासे पीठ-स्थापन-पूर्वक मेरा अथवा मेरी शक्तियोंका दर्शन करना चाहे तो अपना अन्तःकरण ही सबसे श्रेष्ठ अवलम्बन है। हे तत्त्वज्ञ! मैं जगत्के कल्याणके लिये तुमसे यह अति गूढ़ रहस्य कह रहा हूँ।

वाङ्मनोऽगोचरा या मे शक्तेर्भेदाः क्रमेण हृ ।
चत्वार ईरिता स्थूलसूक्ष्मकारण-भेदतः ॥
चतुर्थस्तु तुरीयः स्याज्ज्ञानरूपो न संशयः ।
निश्चलो हि ममाङ्गे स सततं तिष्ठति ध्रुवम् ॥
या च कारणरूपा मे तृतीया शक्तिरस्ति सा ।
ब्रह्मविष्णुमहेशानां जनयित्री मता परा ॥
द्वितीयस्याश्च सूक्ष्मायाः साहाय्येन त्रयस्त्विमे ।

ब्रह्माण्डजनिराधानास्थितिनाशङ्करा मता ॥
स्थूलात्तु दृश्यमानेऽत्र संसारेऽनन्तरूपतां ।
कुर्वती चापि वैचित्र्यं व्याप्नोत्यप्यऽखिलं जगत् ॥

मेरी अवाङ्मनसगोचर शक्तिके चार भेद हैं। उनके नाम यह हैं:— स्थूल, सूक्ष्म, कारण और तुरीय। ज्ञानरूपा तुरीयशक्ति सदा निश्चलरूपसे मेरे ही अङ्गमें स्थित रहती है। मेरी कारणरूपा शक्ति ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी जननी है। मेरी सूक्ष्म शक्ति की सहायतासे ब्रह्मा, विष्णु और महेश पृथक् पृथक् रूपसे ब्रह्माण्डके सृष्टि, स्थिति और लयके कार्यको किया करते हैं और मेरी स्थूल शक्ति स्थूलपरिदृश्यमान जगत्में परिव्याप्त रहकर जगत्की अनन्तता और विचित्रताका सम्पादन किया करती है।

इयं तु सप्तधा भिन्ना योगिभिर्दृश्यते सदा।
अस्या एव हि मे शक्तेराधारेष्वष्टसु ध्रुवम् ॥
साहाय्येनैव दिव्यानां पीठानामुद्भवः स्मृतः।
प्रोक्ताः सर्वे इमे भेदाश्चिच्छक्तेरेव मे मताः ॥
पीठसाहाय्यतश्चैवं भक्तिमानुक्तसाधकः ।
सूक्ष्मसम्बन्धितामेत्य दृष्ट्वा शक्तीर्ममाखिलाः ॥
तथा मे शतशो लोके विभूतीः परिदृश्य च।
कृतकृत्यत्वमेवैतीत्येतज्जानीत निश्चितम् ॥
इह यावन्ति तीर्थानि तानि पीठानि संजगुः ।
पीठशक्तियुतान्यत्र सन्ति तीर्थान्यनेकशः ॥

इस स्थूल शक्तिके भी सात भेद हैं जिनका पूर्ण दर्शन योगिगण ही कर सकते हैं। इसी कारण स्थूल शक्तिकी सहायतासे आठ स्थूल अवलम्बनोंमें दिव्य पीठोंका आविर्भाव हुआ करता है। मेरी अद्वितीय चिन्मयी महाशक्तिके ही ये सब भेद हैं। इस प्रकार पीठकी सहायतासे भक्तिमान् उपर्युक्त साधक सूक्ष्म राज्यसे सम्बन्ध स्थापन करके मेरी सब प्रकारकी शक्तियोंका दर्शन और मेरी विभूतियोंका साक्षात्कार करके कृतकृत्य हो सकता है। जितने तीर्थ हैं वे सब पीठ हैं। ऐसे पीठ-शक्तियुक्त तीर्थ अनेक प्रकारके होते हैं।

केषुचित्तीर्थदेशेषु शक्तिर्मे संततं स्थिता ।
केषुचित्तु यथाकालं भक्तिश्रद्धायुता नराः ॥
आराधयन्ति तावद्धि मम शक्तिर्विनिश्चिता ।
कतिचिद्भक्तवश्यानि तीर्थानि तस्य भक्तितः ॥
आविर्भवन्ति तत्रैव तिष्ठन्ति च तदिच्छया ।
यथा सर्वेषु कायेषु गवाँस्तिष्ठति गोरसम् ॥
तथापि गोस्तनादेव स्रवतीति विनिश्चितम् ॥
तथैव मामिका शक्तिर्विद्यमानाऽपि सर्वतः ।
नित्यनैमित्तिकैः पीठैराविर्भवति भूतले ॥

कुछ तीर्थ ऐसे हैं जिनमें मेरी शक्ति नित्यरूपसे विराजमान रहती है। कुछ तीर्थ ऐसे हैं कि, जिनमें श्रद्धावान् उपासकगण जबतक एकत्र होते रहते हैं तबतक उनमें शक्ति विद्यमान रहती है और कुछ तीर्थ ऐसे हैं जो केवल मेरे भक्तोंकी इच्छाशक्तिसे प्रकट होते हैं और उनकी स्थिति भी मेरे भक्तोंके ही अधीन है। जिस प्रकार दुग्ध रसरूपसे गौके सम्पूर्ण-शरीरमें व्याप्त रहनेपर भी स्तन द्वारा क्षरित होता है, उसी प्रकार मेरी पूर्णशक्ति सर्वत्र समानरूपसे व्याप्त रहनेपर भी नित्य और नैमित्तिक पीठोंके द्वारा प्रकाशित होकर जगत्का कल्याण किया करती है। यही सर्वशक्तिमान् परमात्माकी अलौकिकी इच्छा-शक्तिसे समुत्पन्न समष्टिव्यष्टिभावमय प्राण और पीठकी अपार महिमा है जिसके परम गूढ़ तत्त्वको हृदयङ्गम करनेसे साधक अनायासही संसारसिन्धुका अतिक्रमण करके नित्यानन्दमय ब्रह्मपदमें विराजमान हो सकते हैं।

अन्नपानेन्धनमयो रसप्राणविवर्द्धनः ।
यो धारयति भूतानि तस्मै प्राणात्मने नमः ॥

पञ्चम समुल्लासका तृतीय अध्याय समाप्त हुआ।

सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व ।

'तत्त्वज्ञानके विना निःश्रेयसप्राप्ति नहीं होती' इस सिद्धान्तके अनुसार जभी जीव अध्यात्मराज्यमें प्रवेश करनेका कथञ्चित् अधिकारलाभ करता है उसी समयसे उसके अन्तःकरणमें स्वतः ही यह प्रश्न उदय होने लगता है कि, "यह विश्व संसार कहांसे उत्पन्न हुआ, अनन्त शून्यमें इसकी स्थिति स्वाभाविकी तथा नित्या है अथवा किसी कारणवशात् परिच्छिन्न समय तक विद्यमान रहकर पुनः अनन्त शून्यमें यह विलीन होजायगा, विशाल विश्वके विशाल अङ्कमें जीवधाराका अविराम प्रवाह किस प्रकारसे उत्पन्न होता है और किस प्रकारसे सुखदुःखमोहमयी वैचित्र्यपूर्ण स्थितिको प्राप्त होकर पुनः अनन्त शान्तिके सुकोमल अङ्कमें विलीनताको प्राप्त हो जाता है।" इसलिये वर्तमान प्रबन्धमें महाप्रकृतिके गर्भस्थित एक एक ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयका तत्त्व निरूपण किया जायगा। "जीवतत्त्व" नामक पूर्व वर्णित प्रबन्धमें यह विषय विस्तारके साथ बताया गया है कि, अनन्त सृष्टिधाराके बीचमें चिज्जड़ग्रन्थिद्वारा व्यष्टिजीवकी सत्ता किस प्रकारसे उत्पन्न होती है और प्रकृतिके तमोगुणमय अधस्तन स्तरसे उद्भिज्जादिक्रम द्वारा उन्नत होकर अन्तमें सत्त्वगुणकी पूर्णावस्थाको प्राप्त हो प्रकृतिराज्यसे बहिर्विराजमान परब्रह्मसत्तामें लय होजाती है। इसलिये वर्त्तमान प्रबन्धमें व्यष्टि सृष्टिके वर्णन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है। इसमें केवल महाप्रलयानन्तर समष्टिसृष्टि अर्थात् ब्रह्माण्डसृष्टि किस प्रकारसे होती है, इसीका वर्णन किया जायगा। प्रकृतिके स्वाभाविक परिणामधर्मके अनुसार निखिल सृष्टिको तीन भागोंमें विभक्त कर सकते हैं। यथा—आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक। आधिभौतिक सृष्टि पिण्डसृष्टिको कहते हैं, जिसका वर्णन जीवतत्त्वमें आ चुका है। इस कारण अध्यात्मसृष्टिसे उसका कुछ सम्बन्ध नहीं है क्योंकि, अध्यात्मसृष्टि पिण्ड और ब्रह्माण्ड स्वरूप भेदसे रहित है। वह केवल प्रवाहरूप है और अधिदैव-सृष्टिरूपी ब्रह्माण्डसृष्टि अधिभूत-सृष्टिरूपी पिण्डसृष्टिका समष्टिरूप होनेके कारण उसीका विस्तारित वर्णन इस सृष्टिस्थितिप्रलयनामक अध्यायमें हो सकता है। अधिभूत-सृष्टिरूपी पिण्डसृष्टिकी सृष्टि और प्रलय, जन्म और मृत्यु नामसे अभिहित होता है तथा अध्यात्मसृष्टिका तो आदि अन्त है ही

नहीं। इस कारण इस प्रवन्धके प्रकृत विषयके साथ केवल अधिदैव सृष्टिका सम्बन्ध है। श्रीमद्भगवद्गीतामें, "स्वभावोऽध्यात्म उच्यते" इस प्रकार कह कर जिस सृष्टिका वर्णन किया गया है उसीको आध्यात्मिक सृष्टि कहते हैं। दैवीमीमांसादर्शनमें लिखा है:—

"अनाद्यनन्ताऽऽध्यात्मिकी सृष्टिः"

"प्रकृतेश्च तथात्वम्"

आध्यात्मिक सृष्टि अनादि और अनन्त है। प्रकृति भी अनादि अनन्त है। अनादि अनन्त देश काल वस्तुके द्वारा अपरिच्छिन्न महेश्वर परमात्माकी सर्वत्र विराजमान सत्सत्ताको अवलम्बन करके उन्हींकी शक्ति-स्वरूपिणी स्पन्दनधर्मिणी—महाप्रकृतिका उन्हींके ऊपर जो स्वाभाविक विलास है, जिसका आदि भी नहीं है और अन्त भी नहीं हैं, उसीसे अनाद्यनन्त आध्यात्मिक सृष्टि की नित्यसत्ता विराजमान है। यही अनन्तकोटि-ब्रह्माण्ड-समन्वित विराट् पुरुषका विराट् देह है। श्रुतिमें वर्णित है: –

"अस्य ब्रह्माण्डस्य समन्ततः स्थितान्येतादृशान्यनन्तकोटि-ब्रह्माण्डानि सावरणानि ज्वलन्ति। चतुर्मुखपञ्चमुखषण्मुखसप्तमुखाष्टमुखादिसंख्याक्रमेण सहस्रावधिमुखान्तैर्नारायणांशैः रजोगुणप्रधानैरेकैकसृष्टिकर्तृभिरधिष्ठितानि विष्णुमहेश्वराख्यैर्नारायणांशैः सत्त्वतमोगुणप्रधानैरेकैकस्थितिसंहारकर्तृभिरधिष्ठितानि महाजलौघमत्स्यबुद्बुदानन्तसंघवद् भ्रमन्ति।"

इस ब्रह्माण्डकी चतुर्दिशाओंमें इस प्रकार अनन्तकोटि सावरण ब्रह्माण्ड प्रकाशमान हैं। उन सब ब्रह्माण्डोंमें सृष्टिस्थितिसंहारकारी रजःसत्त्वतमः प्रधान ईश्वरांश-स्वरूप चतुर्मुखसे सहस्रमुख पर्यन्त अनन्तकोटि ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र अधिष्ठान करते हैं। जिस प्रकार समुद्रमें अनन्त मत्स्य और बुद्बुद भ्रमण करते हैं उसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड भी अनन्त आकाशमें भ्रमण कर रहे हैं। योगवाशिष्ठमें लिखा है:—

"ससर्वावरणा एते महत्यन्तविवर्जिते।
ब्रह्माण्डा भान्ति दुर्दृष्टेर्व्योम्नि केशोण्ड्रको यथा॥
शुद्धबोधमये तस्मिन् परमालोकवारिधौ।

अजस्रमेत्य गच्छन्ति ब्रह्माण्डाख्यास्तरङ्गकाः ॥
केषाञ्चिदन्तः कल्पान्तः प्रवृत्तो घर्घरारवः ।
न श्रुतोऽन्यैर्न च ज्ञातः स्वभावेन रसाकुलैः ॥
अन्येषां प्रथमारम्भे शुद्धभूषु विजृम्भते ।
सर्गः संसिक्तबीजानां कोषेऽङ्कुरकला यथा ॥
महाप्रलयसम्पत्तौ सूर्यार्चिर्विद्रुतोऽद्रयः ।
प्रवृत्ता गलितुं केचित्तापे हिमकणा इव ॥
केचिद् विचित्र सर्गेशाः केचित्तिर्यङ्मयान्तराः ।
केचिदेकार्णवापूर्णा इतरे जनिवार्जिताः ॥
भीमान्धकारगहने सुमहत्यरण्ये
नृत्यन्त्यदर्शितपरस्परमेव मत्ताः ।
यक्षा यथा प्रवितते परमाम्बरेऽन्त–
रेवं स्फुरन्ति सुबहूनि महाजगन्ति ॥"

आकाशमें केशकणाकी तरह अनन्त शून्यमें अन्तहीन कोटि कोटि सावरण ब्रह्माण्ड विराजमान हैं। शुद्धज्ञानमय ज्योतिर्मय ब्रह्मसमुद्रमें अनन्त ब्रह्माण्ड-रूपी अनन्त तरङ्गोंका उदय और लय हो रहा है। किसीमें कल्पान्तकालीन नाशका समय आनेसे उसकी सूचनारूप घर्घरध्वनि हो रही है जिसको अन्य ब्रह्माण्डके लोग कुछ भी नहीं सुन सकते हैं। कहींपर बीजकोषसे अङ्कुरनि-र्गमनकी तरह अभी सृष्टि प्रारम्भ ही हो रही है। किसी ब्रह्माण्डमें महाप्रलय होनेका समय आ गया है जिससे उत्तापके संयोगसे हिमकणकी तरह पाञ्चभौतिक समस्त पदार्थ गलने लग गये हैं। कहीं पर देव, दानव, यक्ष, गन्धर्व, मनुष्य और पश्वादिसे पूर्ण विचित्र सृष्टि देखनेमें आ रही है, कहींपर केवल तिर्यग्योनिके जीव ही विचरण कर रहे हैं, कहीं समस्त ब्रह्माण्ड जलमग्न हो गया है और कहीं जीवशून्य भूमि दिखाई दे रही है। जिस प्रकार भीषण अन्धकारपूर्ण विशाल गहन अरण्यमें यक्ष वेतालगण प्रमत्त होकर परस्परको न देखते हुए नृत्य करते हैं उसी प्रकार महाशून्यमें पृथक् पृथक् आवरणसे पृथक्भाव-प्राप्त अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड अनन्तकालसे घूम रहे हैं। थोड़े विचार-

से ही ध्यानमें आवेगा कि, अपने ओरकी दशदिशाव्यापी अनन्त आकाश किस प्रकारसे अन्तहीन है। क्या यह कोई कल्पनामें भी ला सकता है कि, दस दिशाओंके आकाशकी कहीं कोई परिधि है ? अस्तु जिस प्रकारसे आधाररूपी आकाशकी सीमाका न किसी दिशामें आदि है न अन्त है उसी प्रकार उसमें भासमान ग्रह, उपग्रह और सूर्य द्वारा परिव्याप्त ब्रह्माण्ड-समूह भी संख्यातीत और अनन्त होंगे, इसमें कोई विचारशील पुरुष भी सन्देह नहीं कर सकता। भावुक विराट् पुरुषकी इस लोकोत्तर मन-बुद्धिसे अगोचर अनादि अनन्त मूर्त्तिका ध्यान करते करते स्तम्भित हो जाते हैं और उनका मन थक कर मूर्च्छित होने लगता है। यही विभु भगवान्की चित्सत्ता तथा सत्सत्ताके आश्रयसे महाप्रकृतिकी स्वाभाविक त्रिगुण-तरङ्गमय लीलाविलासजनित आध्यात्मिक सृष्टिका अनन्त विस्तार है जिसकी न उत्पत्ति है और न नाश है। इसी लिये आध्यात्मिक सृष्टिको 'नित्य-सृष्टि' कहा गया है। यथा विष्णुपुराणमें:—

अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज ! विद्यते ।
अव्युच्छिन्नास्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमाः ॥

काल भगवान् अनादि अनन्त होनेसे महाप्रकृतिमें सृष्टिस्थितिप्रलयका क्रम भी अनन्त है। परन्तु आध्यात्मिक सृष्टि नित्या होनेपर भी आधिदैविक सृष्टि अर्थात् एक ब्रह्माण्डमयी सृष्टि नित्या नहीं है अर्थात् एक ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय हुआ करते हैं। अनन्त महासमुद्रके अनन्त तरङ्ग एकाएक नष्ट नहीं हो सकते; परन्तु उन अनन्त तरङ्गोंमेंसे एक एक तरङ्ग आविर्भाव-तिरोभावको प्राप्त होता रहता है। ठीक उसी प्रकार अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमय आध्यात्मिक सृष्टि नित्य होनेपर भी आधिदैविक सृष्टिके अन्तर्गत एक एक ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति निर्दिष्ट समयतक स्थिति तथा प्रलय हुआ करते हैं। प्रकृत प्रबन्धमें इसी सृष्टिस्थितिप्रलयचक्रभ्रमणका रहस्य निर्णय किया जायगा।

"सृष्टि होती क्यों है, प्रशान्त ब्रह्ममहासमुद्रमें सृष्टिवीचिविक्षोभका कारण क्या है और कर्त्ता कौन है, परमात्माको प्रयोजन क्या था कि, अनन्त सुख-दुःखमय संसारकी उत्पत्ति करके जीवको घटीयन्त्रकी तरह घूमाने लग गये।" इस प्रकारके प्रश्न सृष्टि रहस्यके समझनेके समय मनुष्यके हृदयमें स्वतः ही उत्पन्न हुआ करते हैं; इसलिये ब्रह्माण्ड-सृष्टिका वर्णन करनेके पहले

ऊपर उक्त संशयोंका निराकरण करना अत्यावश्यकीय है। माण्डूक्यकारिकामें गौड़पादाचार्यने लिखा हैः—

"विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः।
स्वप्नमायास्वरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता॥
इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा॥"

सृष्टिके विषयमें कोई कहते हैं कि, परमात्माने अपनी विभूतिको प्रकट करनेके लिये सृष्टि रची है, दूसरेकी उक्ति है कि जिस प्रकार विना विचारे ही स्वप्न अकस्मात् उत्पन्न होजाता है उसी प्रकार जगत् भी अकस्मात् उत्पन्न हुआ है, तीसरा कोई कहता है कि जगत् मायाका विजृम्भण मात्र है, चौथेकी राय है कि परमात्माकी इच्छा ही सृष्टिका कारण है, कालचिन्तनशील अन्य कोई कालसे ही भूतोंकी उत्पत्ति बताते हैं, कोई भोगार्थ और कोई परमात्माके क्रीडार्थ ही सृष्टिकी उत्पत्ति कहते हैं; परन्तु यह सब कल्पनाएँ निर्मूलक हैं; क्योंकि आप्तकाम परमात्माको उक्त कोई भी स्पृहा स्पर्श नहीं कर सकती है, सृष्टि केवल स्वभावसे ही उत्पन्न होती है। इसमें कारण कुछ भी नहीं है। इसी लिये वेदमें कहा हैः—

"यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः सम्भवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाक्षरात् सम्भवतीह विश्वम्॥"

जिस प्रकार ऊर्णनाभ (मकडी) विना प्रयोजन ही तन्तुओंको फैलाता और सिकोड़ता रहता है, जिस प्रकार पृथ्वीमें विना कारण ही ओषधिसमूह उत्पन्न होते रहते हैं और जिस प्रकार जीवित पुरुषके केशलोम स्वतः ही निर्गत होते रहते हैं उसी प्रकार अक्षर पुरुष ब्रह्मसे समस्त विश्व स्वयं ही उत्पन्न होते रहते हैं। विभु परमात्माकी सत्ता सर्वत्र विद्यमान है इसलिये उनकी शक्तिस्वरूपिणी प्रकृति भी सर्वत्र विद्यमान है। प्रकृति स्पन्दन-धर्मिणी है अर्थात् त्रिगुणानुसार स्पन्दित होता रहना प्रकृतिका स्वभाव है और परमात्माकी चित्सत्ताके सर्वव्यापी होनेसे जडप्रकृतिमें इस प्रकारकी स्वाभाविक

स्पन्दन क्रियाके लिये सदा ही अवकाश है। अतः परमात्माकी चित्सत्ताके आश्रयसे स्पन्दनधर्मिणी महाप्रकृतिमें स्वाभाविक स्पन्दनानुसार अनन्त सृष्टिका विकाश होना स्वभाविक ही है, इसमें कारणान्तरकी कोई भी अपेक्षा नहीं होती है। इसीलिये गीतामेंः—

"स्वभावोऽध्यात्म उच्यते"

इस वचनके द्वारा विश्वसृष्टिको स्वाभाविक ही कहा गया है। इसमें परमात्माकी अपनी ओरसे कोई भी इच्छा, प्रेरणा या क्रिया नहीं है। यथा—विष्णुपुराणमेंः—

"निमित्तमात्रमेवासीत् सृज्यानां सर्गकर्मणि ।
प्रधानकारणीभूता यतो वै सृज्यशक्तयः ॥
निमित्तमात्रमुक्त्वैकं नान्यत् किञ्चिदवेक्षते ।
नीयते तपतां श्रेष्ठ ! स्वशक्त्या वस्तु वस्तुताम् ॥"

सृष्टि-क्रियामें परमात्मा निमित्तमात्र है। वस्तुओंकी निज निज प्रकृति ही महाप्रकृति द्वारा उद्बुद्ध होकर सर्गकार्यको सम्पादन करती है। ईश्वरकी निमित्तकारणताके सिवाय इसमें और कोई भी अपेक्षा नहीं है और महाप्रलयानन्तर ब्रह्माण्डसृष्टिके विषयमें ईश्वरकी जो एकसे बहुत होनेकी इच्छा वेदादिशास्त्रोंमें वर्णित की गई है वह भी उनकी अपनी इच्छा नहीं है। वह केवल प्रलयविलीन समष्टि-जीवोंके समष्टिकर्मानुसार इच्छाअनिच्छारूप स्वतः इच्छामात्र है। अतः क्या आध्यात्मिक, क्या आधिदैविक, क्या आधिभौतिक त्रिविध सृष्टि ही परमात्माकी चित्सत्ताके अवलम्बन-मात्रसे स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिके स्वाभाविक स्पन्दन द्वारा स्वाभाविक विकाश-मात्र है। मायातीत निर्गुण ब्रह्मपदमें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावकी एकरसता होनेसे वहांपर आनन्दभावका विकाश नहीं है। आनन्द सत् और चित्के भीतर व्यापकरूपसे रहता है और इसकी अभिव्यक्ति सत् और चित्के घात-प्रतिघात द्वारा हुआ करती है। अद्वैतमें तीनोंकी ही सत्ता एक दूसरेमें लवलीन रहनेसे सत् और चित्का संघर्षण नहीं है और इसलिये आनन्दका भी उसमें विकाश नहीं है। आनन्द केवल द्वैतावस्थामें सञ्चित संघर्षण द्वारा कभी सत्के आश्रयसे और कभी चित्के आश्रयसे विकाशको प्राप्त होता है। स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिमें इस प्रकारसे आनन्दका विकाश होना स्वाभाविक है; अतः सृष्टि भी स्वाभा-

विक हैं। सत् सत्ता और चित् सत्ताके अवलम्बनसे आनन्दसत्ताके विकाशके लिये ही द्वैतभावमय अनन्त सृष्टिका स्वाभाविक विकाश हुआ है। यथा सूर्यगीता में—

अहमेवास्मि चिद्भावः सद्भावोऽपि भवाम्यहम् ।
आनन्दभावरूपेणाऽप्यहमेवाऽस्मि सत्तमाः ॥
आनन्दो व्यापकत्वेन द्वयोरेवास्ति चित्सतोः।
स्पष्टं प्रमाणमेतस्मिन् प्राज्ञास्तत्त्वबुभुत्सवः ॥
व्यक्तौ विषयसम्बद्ध आनन्दः स्वनुभूयते ।
चितः सतश्चानुभवे न तस्यानुभवो ध्रुवम् ॥
निजचेतनसत्ताया निजास्तित्वस्य च स्वतः ।
स्वस्वचैतन्यसत्तायां दृश्ये त्वनुभवस्तयोः ॥
निर्गुणं ब्रह्म सगुणं निजानन्दाय जायते ।
प्रकाशते च प्रकृतिपुरुषालिङ्गनादयम् ॥

मैं ही चिद्भाव हूं और मैं ही सद्भाव हूं। हे महर्षियो ! आनन्दभाव भी मैं ही हूं। चित् और सत् दोनोंमें आनन्द व्यापकरूपसे स्थित है। इस विज्ञानका स्पष्ट प्रमाण यह है कि प्रत्येक व्यक्तिमें विषयसे सम्बद्ध आनन्दका अनुभव होता है और वह आनन्द केवल सत् और चित्में पृथक् पृथक् अनुभव नहीं होता है। अपनी चेतनसत्ता और अपने अस्तित्वका अनुभव अपने अपने चैतन्य और अस्तित्वके द्वारा दृश्यमें होता है। यथार्थमें निर्गुण ब्रह्म अपने आनन्दके लिये ही सगुण बन जाते हैं और प्रकृति तथा पुरुषके आलिङ्गनसे द्वैतभावमें वह आनन्द प्रकट होता है। इसी आनन्दप्रकाशके लिये ही स्वाभाविकरूपसे द्वैतमयी सृष्टिका विकाश है।

ब्रह्माण्ड सृष्टिके पहले क्या था इस विषयमें वेदादि समस्त शास्त्रोंकी एकवाक्यता है, यथा ऋग्वेदमें—

नासदासीन्नो सदासीत्तदानीं नासीद्रजो नो व्योमापरो यत् ।
किमावरीवः कुहकस्य शर्मन्नम्भः किमासीद् गहनं गभीरम् ॥
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत् प्रकेतः ।
आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्नपरः किं च नास ॥

तम आसीत् तमसा गूढ़मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्।
तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिमा जायतैकम् ॥

सृष्टिके पहले असत् नहीं था, सत् नहीं था, रजोमूलक क्रियाकार्य नहीं था, आकाश नहीं था और उससे परे भी कुछ प्राकृतिक पदार्थ नहीं था। सत् असत् दोनोंका अभाव होनेसे आवरक तथा आवरणयोग्य कोई भी पदार्थ नहीं था। गहन और गंभीर नैमित्तिक प्रलयकालीन जल भी नहीं था। मरण और अमरण दोनों ही नहीं था और रात्रि तथा दिनका ज्ञान भी नहीं था। केवल निजहृदयमें लवलीन मायाके साथ अद्वितीय ब्रह्म एकाकी थे उनके सिवाय और कुछ भी नहीं था। प्रलयकालमें समस्त ब्रह्माण्डमें प्रगाढ़ तम था, अज्ञानमयी अव्याकृत प्रकृति ब्रह्ममें विलीन थी, सर्वत्र तमसे आच्छादित था और कुछ भी नहीं था। तदनन्तर परमात्माके तपकी ही महिमा थी जिससे समस्त संसारका विकाश हुआ है। छान्दोग्योपनिषद्में लिखा है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाऽद्वितीयम्।

सृष्टिके पहले अद्वितीय ब्रह्म एकाकी ही थे। ऐतरेयोपनिषद्में लिखा है-

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीन्नान्यत्किञ्चन मिषत्।"

सृष्टिके पूर्व अद्वितीय आत्मा ही थे, व्यापारवान् और कोई भी वस्तु नहीं थी। मनुसंहितामें लिखा है—

आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः॥

प्रलयदशामें समस्त ब्रह्माण्ड घोर तमोगुणमें आच्छन्न रहता है। वह अवस्था सर्वथा अप्रत्यक्ष, अननुमेय, शब्दके द्वारा भी अप्रकाशनीय, अविज्ञेय तथा क्रियाभावके कारण गाढ़सुषुप्तिसमाच्छन्नकी तरह है। विष्णुपुराणमें लिखा हैः-

नाहो न रात्रिर्न नभो न भूमि-
र्नासीत्तमो ज्योतिरभून्न चान्यत्।
श्रोत्रादिबुद्ध्यानुपलभ्यमेकं
प्राधानिकं ब्रह्म पुमांस्तदासीत्॥

प्रलयावस्थामें दिन, रात्रि, आकाश, भूमि, अन्धकार, प्रकाश या और कुछ भी नहीं था। इन्द्रिय तथा मनबुद्धिसे अगोचर एक मात्र ब्रह्म ही उस

समय विराजमान थे। इसके बाद सृष्टि कैसे हुई इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुतिने कहा है—

सोऽकामयत बहु स्याम् प्रजायेयेति॥ स तपोऽतप्यत॥

यस्य ज्ञानमयं तपः॥ तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते॥

परमात्माने इच्छा की कि मैं एकसे बहुत हो जाऊँ और प्रजाओंकी सृष्टि करूँ, इस प्रकार इच्छा करके परमात्माने तप किया। उनका तप ज्ञानरूप ही है, साधारण तपश्चर्या नहीं है। ज्ञानमय तपके अनन्तर ब्रह्ममें ईश्वरभावका अभिनिवेश हुआ जिससे प्रलयविलीन ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें अव्याकृतसे व्याकृतावस्थाकी सूचना हुई। इस तरहसे अद्वितीय परमात्माकी इच्छासे उनकी शक्तिरूपिणी प्रकृतिका विकाश होता है और तदनन्तर त्रिगुणमयी प्रकृतिके गुणस्पन्दनद्वारा क्रमशः ब्रह्माण्डसृष्टिका विकाश होता है। अब इस विषयमें पाश्चात्य विज्ञानशास्त्रका अबतक निश्चित सिद्धान्त बताकर पश्चात् आर्यशास्त्रीय सिद्धान्तोंका क्रमशः वर्णन किया जायगा।

विज्ञानशास्त्र (Science) के मतानुसार समस्त सृष्टि दो भागमें विभक्त की जा सकती है यथा स्थावर (inorganic) और जङ्गम (organic)। समुद्र, नदी, जल, स्थल, पर्वत आदि सभी स्थावर हैं और पशु, पक्षी, कीट, मनुष्य आदि सभी जङ्गम हैं। विज्ञानशास्त्रके मतानुसार समस्त स्थावर पदार्थ सत्तर मूलभूत (elements) के संयोग और संहनन द्वारा उत्पन्न हैं और समस्त जङ्गम पदार्थको विश्लेषण करनेपर उनके शरीरके उपादान रूपसे कोषाणु (cell) पाये जाते हैं। उन कोषाणुओंको भी विश्लेषण करनेपर उनमें कुछ मूलभूत (elements) प्राप्त होते हैं। अतः सिद्धान्त हुआ कि अनन्त वैचित्र्यमय स्थावरजङ्गमात्मक समस्त जगत् ही उल्लिखित हाईड्रोजेन, अक्सिजेन, कारबन आदि ७० मूलभूतोंके संयोग और संहनन द्वारा उत्पन्न है। बहुत दिनों तक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी यह धारणा थी कि इन सब मूलभूतोंके परमाणु पृथक् पृथक् हैं और नित्य हैं। अर्थात् अक्सिजेनके परमाणु चिर दिन अक्सिजेनके ही रहेंगे, हाईड्रोजेनके परमाणु उसीके रहेंगे इत्यादि और उनमें एक भूतके परमाणुओंके साथ दूसरे भूतके परमाणुओंका कुछ भी मेल नहीं है। परन्तु अब सर उईलियम क्रुक्स साहबने यह प्रमाणित कर दिया है जिसको सभी वैज्ञानिक जगत्ने मान लिया है कि रसायनोक्त वे ७० मूलभूत वास्तवमें चरम मूलभूत नहीं हैं और उनकी नित्यता भी नहीं है।

वे सब प्रोटाईल (Protyle) नामक एक चरम भूतके विकार मात्र हैं। प्रोटाईल ही सृष्टिका निर्विशेष चरम उपादान है, जिसके संयोग और संहननसे समस्त विश्वकी उत्पत्ति हुई है। ७० मूलभूतके सभी परमाणु अद्वितीय प्रोटाईलसे ही उत्पन्न हुए हैं। वे परस्पर मौलिक पृथक्तासे युक्त नहीं हैं परन्तु एक ही के विकार मात्र हैं। इस प्रकारसे अनन्त वैचित्र्यमय स्थूल जगत्के मूलमें अद्वितीय प्रोटाईल की सत्ता प्रमाणित करके पाश्चात्य वैज्ञानिकोंने सांख्यदर्शनोक्त "प्रकृतेः सर्वोपादानता। मूले मूलाभावादमूलं मूलम्।" इस सूत्रका कुछ सार्थक्य अनुमान किया है। स्थूलजगत्के विषयमें इस प्रकार सिद्धान्त करके तदनन्तर पाश्चात्य वैज्ञानिकोंकी दृष्टि शक्तिराज्यकी ओर पड़ी जिससे शक्तिके अनन्त भेदोंका तत्वानुसंधान करते करते उन्होंने यह पता लगाया कि समस्त भौतिक शक्ति ही छः विभाग के अन्तर्गत है। यथा गति (motion), ताप (heat), प्रकाश (light), विद्युत् (electricity) चुम्बकशक्ति (magnetism) और रसायनशक्ति (chemical affinity) इनके सिवाय और भी दो शक्तियाँ हैं यथा प्राणशक्ति (vital force) और जीवशक्ति (psychic force)। बहुत दिनों तक पाश्चात्य वैज्ञानिकोंका यह विश्वास रहा कि ये अष्टविध शक्तियाँ परस्पर विभिन्न और स्वतन्त्र पदार्थ हैं। ये आठ ही एक महाशक्तिकी भावान्तरमात्र हैं ऐसा अनुमान उन लोगोंको नहीं हो सका। तदनन्तर सर उईलियम ग्रोभ नामक एक वैज्ञानिक पण्डितने प्रतिपादन कर दिया कि उल्लिखित ताप आदि छः प्रकारकी शक्ति परस्पर रूपान्तर भावको प्राप्त हो सकती है। अर्थात् विद्युत्से ताप, प्रकाश या चुम्बक शक्ति उत्पन्न हो सकती है, पुनः ताप, प्रकाश आदिको विद्युत् रूपमें परिणत किया जा सकता है इत्यादि। इस प्रक्रियाको उन्होंने शक्तिसमावर्त्तन (correlation of Physical forces) नाम दिया। हेलमहोल्स और मायर साहबने इस तत्त्वको और भी दृढ़मूल किया। अन्तमें प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक हार्बार्ट स्पेन्सरने स्पष्ट प्रमाणित कर दिया कि केवल भौतिक शक्ति ही नहीं, अधिकन्तु प्राणशक्ति तथा जीवशक्ति भी इसी समावर्त्तन विधिके अन्तर्गत है अर्थात् सभी प्रकारकी शक्ति ही एक दूसरेमें रूपान्तरित हो सकती है। वास्तवमें शक्तिका ह्रास या वृद्धि नहीं है, उपचय या अपचय नहीं है, केवल आविर्भाव तिरोभाव तथा रूपान्तर भावान्तर मात्र है। हार्बार्ट स्पेन्सर कहते हैं कि विश्वमें विकाशशील समस्त शक्तियोंके मूलमें कोई अज्ञेय

अचिन्तनीय व्यापक शक्ति है, जिसका कदापि नाश नहीं होता है और जिसके ही रूपान्तर तथा भावान्तर रूपसे तापशक्ति, ताडितशक्ति, चौम्बकशक्ति आदि अनन्त विकारप्राप्त अनन्त शक्तियोंका संसारमें आविर्भाव तिरोभाव होता रहता है। इतना कह कर अन्तमें हार्बार्ट स्पेन्सर तथा वालेस साहबने यह भी कह दिया है कि केवल शक्तिराज्यमें ही नहीं अधिकन्तु स्थूल भौतिक राज्यमें भी उक्त महाशक्तिका समावेश है अर्थात् स्थूल सूक्ष्म समस्त जगत् एक ही अद्वितीय शक्तिका घनीभाव मात्र है। इस प्रकारसे अनेक मनस्वी पाश्चात्य पण्डितोंने स्थूल सूक्ष्म वैचित्र्यपूर्ण सृष्टिके मूलमें अतिमहान् नित्य विभु एक अद्वितीय महाशक्तिके अस्तित्वका अनुमान किया है और उसके विषयमें कुछ भी जाननेकी शक्ति न होनेसे उस महाशक्तिको अज्ञेय, अचिन्तनीय कहकर छोड़ दिया है। यह एक अतीव आनन्द और विस्मयकी बात है कि जहाँपर पाश्चात्य दार्शनिक तथा वैज्ञानिक पण्डितोंने हताश होकर छोड़ दिया है वहींसे हमारे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी, ज्ञानदर्शी, तत्त्वदर्शी महर्षियोंने अपनी गम्भीर गवेशणाको प्रारम्भ करके उस महिमामण्डित महाशक्तिका पूर्ण स्वरूप तथा जडचेतनात्मक समस्त जगत्में अपूर्व लीलाको करतलामलकवत् योग दृष्टि द्वारा प्रत्यक्ष करके जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनोंके लिये निःश्रेयस द्वार को उन्मुक्त कर दिया है। वह कैसे है सो नीचे क्रमशः बताया जाता है।

आर्यशास्त्रमें प्रकृतिको ब्रह्मशक्ति कहकर शक्तिसे शक्तिमान्का अभेद तथा अनन्त विश्वमें विविधरूपमें अभिव्यक्त विविध शक्तियोंका मूलकेन्द्र शक्तिमान् परमात्माको ही माना गया है। यथा श्रुतिमें—

"ब्रह्मणः सकाशान्नानाविचित्रजगन्निर्माणसामर्थ्यबुद्धिरूपा ब्रह्मशक्तिरेव प्रकृतिः।"

जिसमें विचित्रजगन्निर्माण सामर्थ्य है और जो ब्रह्मसे ही उत्पन्न होती है उस ब्रह्मशक्तिको प्रकृति कहते हैं। शक्ति और शक्तिमान्में अभिन्नता प्रतिपादनके लिये विष्णुपुराणमें कहा है:—

स एव क्षोभको ब्रह्मन क्षोभ्यश्च पुरुषोत्तमः।
स सङ्कोचविकाशाभ्यां प्रधानत्वेऽपि च स्थितः॥
शक्तिशक्तिमतोर्भेदं वदन्ति परमार्थतः।
अभेदं चानुपश्यन्ति योगिनस्तत्त्वचिन्तकाः॥

पुरुषोत्तम भगवान् प्रकृतिके सञ्चालक हैं और स्वयं भी क्षोभ्यरूपमें सञ्चालित होते हैं। सृष्टिकालीन सङ्कोचविकाशद्वारा प्रकृतिरूपमें परमात्मा ही अवस्थान करते हैं। लौकिक जन शक्ति और शक्तिमान्में भेद बताते हैं। परमार्थतः दोनोंमें अभेद सम्बन्ध है, जिसको तत्त्वदर्शी योगिगण अनुभव करते हैं। इस प्रकारसे शक्ति और शक्तिमान्की अभिन्नता बताकर शास्त्रमें अभिव्यक्त समस्त शक्तियोंके केन्द्ररूपमें शक्तिमान्को ही माना है। यथा योगवाशिष्ठमें—

चिच्छक्तिर्ब्रह्मणो राम ! शरीरेषूपलभ्यते ।
स्पन्दशक्तिश्च वातेषु दार्ढ्यशक्तिस्तथोपले ॥
द्रवशक्तिस्तथाम्भःसु दाहशक्तिस्तथाऽनले ।
शून्यशक्तिस्तथाकाशे नाशशक्तिर्विनाशिनि॥

जीवशरीरमें चेतनशक्ति, पवनमें स्पन्दशक्ति, प्रस्तरमें काठिन्यशक्ति, जलमें द्रवशक्ति, अग्निमें दाहिकाशक्ति, आकाशमें शून्यशक्ति तथा विनाशीमें नाशशक्ति ये सभी परमात्मासे स्वतः निर्गत मायाके आश्रयसे अभिव्यक्त शक्ति समूह हैं। इसी प्रकार गीतामें भी लिखा है यथा—

यदादित्यगतं तेजो जगद् भासयतेऽखिलम् ।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥

जो तेज सूर्यमें स्थित होकर समस्त संसारको उद्भासित करता है, जो तेज चन्द्रमा तथा अग्निमें स्थित है, वे सभी मेरे तेज हैं। और भी गीतामें—

"तेजश्चास्मि विभावसौ"
"गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा"
"जीवनं सर्वभूतेषु"
"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः"

अग्निमें उत्तापरूपसे जो शक्ति है वह उन्हींकी है। पृथिवीमें जो शक्ति माध्याकर्षण रूपसे समस्त भूतोंको धारण कर रही है वह शक्ति उन्हींकी है। सकल भूतोंमें प्राणशक्ति तथा जीव देहमें स्थित अन्नपाचक वैश्वानर शक्ति उन्हींकी है। अतः यह सिद्धान्त हुआ कि जिस सर्वतोव्यापिनी महाशक्तिको हार्वर्ट स्पेन्सर आदि पाश्चात्य पण्डितोंने अचिन्त्य अज्ञेय कहकर छोड़ दिया था वही हमारी पूजनीया प्रकृति माता है जिनकी कणाकण परिमित बहुधा विस्तृत

शक्तियोंको लेकर समस्त संसार शक्तिमान् हो रहा है। त्रिकालदर्शी महर्षियोंने इसी महाशक्तिमयी प्रकृतिमातासे ही ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति बताई है।

सृष्टितत्त्वके विषयमें अनुसन्धान करनेसे आर्य्यशास्त्रमें प्रधानतः दो प्रकारके मत देखनेमें आते हैं—एक परमात्मासे ही आकाशादि क्रमसे सृष्टि और दूसरा प्रकृतिसे महत्तत्त्वादि क्रमसे सृष्टि। प्रथम प्रकारकी सृष्टिके विषयमें तैत्तिरीय श्रुतिमें लिखा है—

"तस्माद् वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः।
आकाशाद् वायुर्वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवी॥

परमात्मासे आकाशकी उत्पत्ति हुई, आकाशसे वायु, वायुसें अग्नि, अग्निसे जल और जलसे पृथ्वी, इस क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति हुई। द्वितीय प्रकारकी सृष्टिके विषयमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा सांख्यदर्शनमें—

"प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्रा" इत्यादि।

प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंतत्त्व, उससे पञ्चतन्मात्रा इत्यादि क्रमसे सृष्टि होती है। विचारकर देखनेसे स्पष्ट सिद्धान्त होता है कि ये दोनों मत एक ही प्रकारके हैं। केवल ज्ञानभूमिके भेदानुसार प्रथम मत परमात्माके प्राधान्यसे और द्वितीय मत प्रकृतिके प्राधान्यसे माना गया है। वास्तवमें उन दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है क्योंकि शक्तिरूपिणी प्रकृति और शक्तिमान् परमात्मा दोनों अभिन्न हैं। इन भूमिभेदोंका रहस्य तथा अन्यान्य दार्शनिक भूमियोंके अनुसार सृष्टितत्त्वका विशद वर्णन आगे किया जायगा। अब ईश्वरभावके अभिनिवेश द्वारा प्रकृतिके परिणामसे तत्त्वतः ब्रह्माण्डसृष्टिका विकाश क्रमशः किस प्रकारसे होता है सो नीचे बताया जाता है।

महाप्रलयके समय परमात्माके जिस भावमें ब्रह्माण्डप्रकृतिका लय हो जाता है उस भावके साथ प्रकृतिविकारजनित क्रियाका सम्बन्ध न रहने से वह अन्तर्मुखीन आत्मसत्ता ब्रह्मभावयुक्त होती है। इस दशामें परमात्माकी दृष्टि प्रकृतिकी ओर नहीं होकर अपने ही भीतर होती है। इस समय सृष्टिके मूलकारणरूप सत्व, रजः तथा तमोगुणोंमें किसी प्रकारका स्पन्दन नहीं रहता है। तीनों गुण साम्यावस्थामें रहते हैं। अर्थात् उस समय प्रकृतिके तीनों गुण एक भावमें लय होकर अपने मूलके कारण ब्रह्ममें लय हो जाते हैं और उस समय ब्रह्मके अध्यात्म,

अधिदैव , अधिभूत भावत्रय अर्थात् सत् चित् और आनन्दभाव एक अद्वितीय भावमें स्थित हो जाते हैं। इसी दशाको प्रकृतिकी विलीनदशा अथवा पुरुषकी स्वस्वरूपदशा दोनों ही कह सकते हैं। इसी कारण महाप्रलय दशामें ब्रह्माण्डका स्थूलशरीर, सूक्ष्मशरीर कुछ भी नहीं रहता है और ब्रह्माण्डगत समस्त जीवोंके स्थूल सूक्ष्म दोनों शरीर ही नष्ट हो जाते हैं। केवल अविद्याग्रस्त समस्तजीव महाप्रकृतिके गर्भमें प्रच्छन्न रहते हैं और उनका समष्टिकर्म-संस्कार महाकाशमें स्थित रहता है जिसको अप् सलिल तथा कारणवारि करके समस्त शास्त्रमें वर्णन किया गया है। जबतक एक ब्रह्माण्ड जीवित रहता है अर्थात् उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिदेवकी आयु बनी रहती है तबतक वही एक कारण वारिरूपी संस्कार समुद्र ब्रह्मा विष्णु महेशकी योगनिद्रा और योगनिद्रासे जाग्रत होनेका कारण होता रहता है। और जब महाप्रलयमें एक ब्रह्मा विष्णु महेशका लय हो जानेपर दूसरे ब्रह्मा, विष्णु, महेशके सहित कोई दूसरा ब्रह्माण्ड प्रकट होता है तो उस लय प्राप्त ब्रह्माण्डके अथवा कई पूर्वसे लयप्राप्त ब्रह्माण्डोंके तितरे बितरे जीवोंके कारणभूत संस्कार समूह यथा नियम उस नवीन ब्रह्माण्डके कारणवारिके कारण बनते हैं। अब यदि सन्देह हो कि एक महाप्रलयप्राप्त ब्रह्माण्डके जीव दूसरे नवीन ब्रह्माण्डमें कैसे पहुँचते हैं तो इस शंकाका समाधान अति सुगम रीतिसे समझा जा सकता है। यथा—एक जीव जब मुक्त हो जाता है और उसका देह प्राणहीन हो मृत हो जाता है तो उस मृत्युप्राप्त जीवपिण्डके शरीरका जुवां यदि हट कर दूसरे जीवित जीव पिण्डको आश्रय करे तो ऐसा हो ही सकता है। ठीक इसी प्रकार महाप्रलय प्राप्त ब्रह्माण्डके रहे सहे जीव समूह पुनः नूतन ब्रह्माण्डको आश्रय किया करते हैं। जिस प्रकार बीजके भीतर चेतनशक्तिके रहनेसे बीज धीरे धीरे अङ्कुरोन्मुख होता है, उसी प्रकार आगामी ब्रह्माण्डसृष्टिके बीजरूप प्रलयविलीन जीवोंके समष्टि संस्काररूपी कारणवारिके भीतर समष्टि चेतनशक्तिरूप परमात्माके विराजमान रहनेसे वह भी समष्टि संस्कारराशि धीरे धीरे समस्त महाप्रलय काल पर्यन्त उपचय भावको प्राप्त होकर महाप्रलयानन्तर पुनः समष्टिजीवाङ्कुर उद्गमनके लिये प्रस्तुत हो जाती है। उसी समय ब्रह्मकी अन्तर्मुखीन दृष्टि ब्रह्माण्डप्रकृतिकी अभिमुखीन हो जाती है जिसको श्रुतिने—

"तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेय"

परमात्माने प्रकृतिकी ओर ईक्षण किया और एकसे अनेक होनेकी इच्छा की, इस प्रकारसे वर्णन किया है। अतः सिद्धान्त हुआ कि, निष्क्रिय ब्रह्मभावमें प्रकृतिके प्रति कालानुसार स्वतः अभिनिवेश उत्पन्न होना ही ईश्वरका ईक्षण तथा सिसृक्षा है और यह सृष्टिकी इच्छा उनकी अपनी मनोवृत्ति नहीं है; परन्तु प्रलयविलीन समष्टिजीवोंके सञ्चित समष्टि-संस्कारानुसार स्वतः इच्छामात्र है और ब्रह्म जब देखने लगते हैं तभी वे ईश्वर नामसे अभिहित होते हैं। इस प्रकारसे ईश्वरके साथ समष्टिजीवसंस्कारानुसार प्रकृतिका स्वतः सम्बन्ध स्थापित होते ही चेतनशक्तिसमन्वित अव्यक्त या अव्याकृत प्रकृतिमें गुणस्पन्दनकी सूचना हो कर अव्याकृतसे व्याकृतावस्थाकी ओर ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी गति होने लगती है और दूसरी ओर स्वरूपमय अद्वैत सच्चिदानन्द-भावके आनन्द-भावकी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति हो जाती है तब निर्गुणब्रह्म सगुणब्रह्म हो जाते हैं और विलीन साम्यावस्था प्रकृति वैषम्यावस्थाको प्राप्त होकर सृष्टि करने लगती है जिसको समस्त-शास्त्रमें बहुधा वर्णन किया गया है। यथा श्रुतिमें:—

"यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद्ब्रह्म नाम रूपमन्नञ्च जायते॥"

पूर्वकृत सृष्टिविधिके ज्ञानसे युक्त होकर सर्वज्ञ सर्ववित् परमात्मा जब अव्यक्त प्रकृतिके प्रति दृष्टिपात करते हैं तभी उनकी चेतनशक्तिको पाकर प्रकृतिमें स्पन्दन होने लगता है जिससे नाम-रूपमय संसार तथा अन्नकी उत्पत्ति होती है। श्रीमद्भागवत्में लिखा है:—

"भगवानेक आसेदमग्र आत्माऽऽत्मनां विभुः।
आत्मेच्छानुगतावात्माऽनानामत्युपलक्षणः॥
स वा एष तदा द्रष्टा नापश्यद्दृश्यमेकराट्।
मेनेऽसन्तमिवात्मानं सुप्तशक्तिरसुप्तदृक्॥
सा वा एतस्य संद्रष्टुः शक्तिः सदसदात्मिका।
माया नाम महाभाग! ययेदं निर्ममे विभुः॥
कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षजः।
पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान्॥

ततोऽभवन् महत्तत्त्वमव्यक्तात् कालचोदितात् ।
विज्ञानात्मात्मदेहस्थं विश्वं व्यञ्जँस्तमोनुदः ॥"

सृष्टिके पहले सकल जीवोंके आत्मस्वरूप विभु परमात्मा एकाकी थे। उस समय नानात्वका अभाव रहनेसे ईश्वरभावकी उपलक्षक कोई भी वस्तु नहीं थी और समष्टिजीवका संस्कार प्रलय-विलीन रहनेसे परमात्माकी सिसृक्षा भी आत्मगत ही थी, प्रकट नहीं थी। परमात्माके द्रष्टा होनें पर भी उस समय दृश्यके अभावसे उनका द्रष्टृत्व कार्यकारी नहीं था इसलिये वे अपनेमें ही मग्न थे। उनकी शक्तिरूपिणी सदसदात्मिका माया भी उस समय उनमें लीन थी। इसी मायाके द्वारा ही परमात्मा जगत्सृष्टि करते हैं। प्रलयके बाद कालकी प्रेरणासे मायाके त्रिगुणोंमें जब क्षोभ होने लगा तब परमात्माने भी अपना अभिनिवेश मायाके साथ स्थापित करके उसमें अपना चेतनशक्तिरूप वीर्याधान किया। इस प्रकारसे जड़ मायाके भीतर परमात्माकी चेतनशक्तिका समावेश होने पर त्रिगुणमयी माया चेतनवती हो अव्यक्तावस्थासे स्पन्दन-द्वारेण व्यक्तावस्थामें आ गई जिससे महत्तत्त्वादिक्रमसे आधिभौतिक सृष्टिका विकाश हुआ। इस विषयको विष्णुपुराणमें निम्नलिखित-रूपसे वर्णित किया गया है:—

"गुणसाम्ये ततस्तस्मिन् पृथक् पुंसि व्यवस्थिते।
कालस्वरूपरूपं तद् विष्णोर्मैत्रेय ! वर्त्तते ॥
ततस्तत्परमं ब्रह्म परमात्मा जगन्मयः ।
सर्वगः सर्वभूतेशः सर्वात्मा परमेश्वरः ॥
प्रधानं पुरुषञ्चापि प्रविश्यात्मेच्छया हरिः ।
क्षोभयामास सम्प्राप्ते सर्गकाले व्ययाव्ययौ ॥
यथा सन्निधिमात्रेण गन्धः क्षोभाय जायते ।
मनसो नोपकर्त्तृत्वात्तथाऽसौ परमेश्वरः ॥
विकाराणुस्वरूपैश्च ब्रह्मरूपादिभिस्तथा ।
व्यक्तस्वरूपश्च तथा विष्णुः सर्वेश्वरेश्वरः ॥
गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ! ।

गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ! ॥"

महाप्रलयकालमें त्रिगुणोंकी समता रहनेके कारण पुरुष प्रकृतिसे पृथक् होकर निजभावमें ही रहते हैं। उस समय परमात्मामें ब्रह्मभावका अभिनिवेश रहता है। तदनन्तर सृष्टिकालमें विभु सर्वात्मा परमेश्वर अपनी ही इच्छासे प्रकृति और पुरुषके भीतर प्रविष्ट होकर दोनोंको क्षोभित करके सृष्टिक्रियोन्मुख करते हैं। परमात्माकी इस इच्छामें मनकी कोई भी क्रिया नहीं रहती है। परन्तु जिस प्रकार गन्धके निकटवर्त्ती होते ही मनमें चञ्चलता उत्पन्न होती है उसी प्रकार प्रकृतिके गर्भमें विलीन जीवोंके कर्मसंस्कारोंके फलाभिमुखीन होते ही परमात्मामें स्वतः ही सिसृक्षा उत्पन्न होती है। उस समय उन्हींकी सत्सत्ता तथा चित्सत्ताके आश्रयसे वैकारिक अणु तथा ब्रह्मादि-क्रमसे सृष्टिकी उत्पत्ति होने लगती है। यह विकाश निजशक्तिरूपिणी मायाके द्वारा परमात्माका अपना ही विकाश है। तदनन्तर समष्टिभूत क्षेत्रज्ञके अधिष्ठानसे साम्यावस्था प्रकृतिमें गुण-वैषम्य उत्पन्न होकर महत्तत्त्वादिक्रमसे सृष्टिका विकाश होता है।

जीवतत्त्व नामक अध्यायमें भलीभाँति दिखा चुके हैं कि प्रथम ही चिज्जड़ग्रन्थि उत्पन्न होकर चित्भाव सत्भावमें और पुरुष प्रकृतिमें फँसकर कैसा एक स्वतन्त्र केन्द्र वन जाता है और वही स्वतन्त्र जीव कहाता है तथा उसी केन्द्रका आधार पिण्ड कहाता है। उस विज्ञानके द्वारा पिण्डसृष्टि-का रहस्य भलीभाँति प्रतिपादित हुआ है। वही जीव जब मुक्त हो जाता है तो उसमेंका सत्भाव व्यापक सत्भावमें और उसमेंका चित्भाव व्यापक चिद्भावमें अर्थात् उसके अङ्गकी प्रकृति मूलप्रकृतिमें और उसमेंका घटाकाश-वत् चेतनभाव महाकाशवत् ब्रह्मभावमें विलीन हो जाता है। यही जीवकी मुक्ति कहाती है। ब्रह्माण्ड और पिण्ड समष्टि-व्यष्टिरूपसे समसम्वन्धयुक्त हैं। एक ब्रह्माण्ड जव महाप्रलयको प्राप्त होता है तो, उस ब्रह्माण्डके त्रिगु-णात्मक और त्रिभावात्मक अधिदैवरूपी ब्रह्मा, विष्णु, महेश जो पृथक् पृथक् ब्रह्माण्डमें पृथक् पृथक् होते हैं, ब्रह्मभावमें विलीन हो जाते हैं। पिण्डके महा-प्रलयमें जिस प्रकार जीवका जीवत्व ब्रह्मभावमें विलीन हो जाता है ठीक उसी प्रकारसे एक ब्रह्माण्डके भी महाप्रलय होते समय उस ब्रह्माण्डके अभिमानी अधिनायक ब्रह्मा, विष्णु, महेश ब्रह्मसत्तामें विलीन हो जाते हैं। दूसरे और एक पिण्डकी सृष्टि होते समय जिस प्रकार उस पिण्डका अभिमानी जीव

पिण्डकी उत्पत्तिके साथ ही साथ पिण्डमें प्रवेश करता है उसी उदाहरणके अनुसार समझ सकते हैं कि, एक नवीन ब्रह्माण्डकी सृष्टि होते समय जगत्-प्रसविनी ब्रह्मप्रकृति महामायाकी सुव्यवस्थाके अनुसार स्वतन्त्र ब्रह्मा, विष्णु, महेश प्रकट होकर उस नवीन ब्रह्माण्डके अधिनायकत्व-पदको अलङ्कृत करते हैं। और क्या उस ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशा और क्या उसकी खण्डप्रलयदशा इत्यादि सभी दशाओंमें उस ब्रह्माण्डके अभिमानी अधिनायक-पदको अलङ्कृत करते हुए, उस ब्रह्माण्डकी महाप्रलयदशा तक बने रहते हैं तथा उस ब्रह्माण्ड-के महाप्रलयमें सबके मूलकारण ब्रह्मपदमें लय हो जाते हैं। यही पूर्वकथित पिण्डके प्रलयके अनुसार ब्रह्माण्डका प्रलय विज्ञानदृष्टिसे समझने योग्य है और महाप्रलयके अनन्तर जब नवीन देवत्रयके अधिनायकत्वमें ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है तो, उस ब्रह्माण्डको नवीन ब्रह्माण्ड ही कहना चाहिये एवम् एक जीव जैसे जन्म-मृत्युको पाता हुआ अपने पिण्डरूपी स्थूलदेहकी उत्पत्ति और मृत्यु कराया करता है उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिदेव भी खण्डप्रलयमें योगनिद्रा पुनः पुनः प्राप्त करते हुए प्रत्येक ब्रह्माण्डमें खण्डप्रलय और उसकी पुनः पुनः सृष्टि, स्थिति और लय किया करते हैं।

श्रीभगवान् मनुजीने परमात्मासे सृष्टिभाव-विकाशके विषयमें अपनी संहितामें सुन्दर वर्णन किया है, जिससे महाप्रलयानन्तर सृष्टिविकाशका क्रम स्पष्ट अनुभवमें आता है। यथाः—

"ततः स्वयम्भूर्भगवानव्यक्तो व्यञ्जयन्निदम् ।
महाभूतादि-वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः ॥
योऽसावतीन्द्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः ।
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यः स एव स्वयमुद्बभौ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात्सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिन् जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक-पितामहः ॥
यत्तत्कारणमव्यक्तं नित्यं सदसदात्मकम् ।
तद्विसृष्टः स पुरुषो लोके ब्रह्मेति कीर्त्यते ॥

तस्मिन्नण्डे स भगवानुषित्वा परिवत्सरम् ।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा ॥
ताभ्यां स शकलाभ्यां च दिवं भूमिं च निर्ममे ।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्टावपां स्थानं च शाश्वतम् ॥"

महाप्रलयानन्तर इन्द्रियातीत स्वयम्भू परमात्माने महत्तत्त्वादि-क्रमसे सृष्टिविस्तारकी इच्छा करके अव्याकृत प्रकृतिमें गुणस्पन्दनजनित व्याकृताव-स्थाकी प्रेरणा की। जो परमात्मा अतीन्द्रियग्राह्य, सूक्ष्म, अव्यक्त, सनातन, सर्वभूतमय और चिन्तातीत होकर ब्रह्मभावमें निमग्न थे, प्रलयविलीन समष्टि-जीवोंका संस्कार फलोन्मुख होते ही कालकी प्रेरणासे उन्होंने स्वयं ही ईश्व-रभावको प्राप्त किया और अपनी सत्सत्ता तथा चित्सत्ताके विस्तारके द्वारा कार्यब्रह्मरूपमें प्रकट होने लगे। इस प्रकारसे अपने ही भीतरसे विविध जीव-सृष्टि करनेकी इच्छा जब परमात्मामें उत्पन्न हुई तो, प्रथमतः उन्होंने 'अप्' अर्थात् अव्याकृत प्रकृतिकी उत्पत्ति की। सकलजीवोंका आधार अव्याकृत प्रकृति उत्पन्न होनेपर उसमें जब व्याकृतावस्थाकी सूचना हुई तो परमात्माने उस व्याकृतावस्था-प्रकृतिके भीतर अपने चित्शक्तिरूपी बीजको अर्पण किया। जड़प्रकृतिमें इस प्रकार चेतन-बीजका संयोग होते ही समस्त ब्रह्माण्डप्रकृति चेतन-ज्योतिःसंयुक्त होकर ज्योतिर्मय सुवर्णनिर्मित अण्डकी तरह चमकने लगी। इसी चेतनशक्तिसे सम्पन्न व्याकृतावस्था प्रकृतिमें सर्वलोकोत्पत्तिकारी ब्रह्माजी प्रकट होते हैं। इस प्रकारसे महाप्रलयानन्तर ब्रह्माण्डसृष्टि-विकाशके पहले कारणब्रह्म सदसदात्मक परमात्मासे प्रथम पुरुष ब्रह्मा प्रकट होते हैं, जिसके विषयमें श्रुतिने कहा है:—

"ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।"
"हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वम्" "यो वै ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्।"

समस्त दैवी सृष्टिके पहले विश्वकर्त्ता भुवनगोप्ता ब्रह्मा प्रकट हुए। परमात्माने ब्रह्माको ही प्रथमतः प्रकट किया। अतःपर ब्रह्माजीने उसी चेतनशक्तिसे युक्त व्याकृतावस्था प्रकृतिपर अधिष्ठान करके अपनी क्रियाशक्तिके बहुधा संयोग द्वारा उसी अण्डको स्थूल-सूक्ष्मरूपसे द्विधा विभक्त किया जिससे स्वर्गलोक, भूलोक और बीचमें अन्तरीक्ष-लोकादि क्रमसे समस्त ब्रह्माण्डोंका विकाश हुआ। इस प्रकारसे सृष्टिके पहले ब्रह्माजी प्रकट होते हैं। निर्गुण

निष्क्रिय ब्रह्मभावमें प्रकृतिके विलीन रहनेसे महाप्रलयके समय गुणत्रयोंकी साम्यावस्था रहती है। इसलिये उस समय प्राकृतिक किसी गुणके साथ परमात्माका अभिनिवेश नहीं रहता है। यही कारण है कि, प्रलयकालमें त्रिगुणप्रेरक ब्रह्मा, विष्णु तथा रुद्रशक्ति ब्रह्मभावमें विलीन रहती है। परन्तु प्रलयानन्तर जिस समय प्राकृतिक प्रेरणासे ब्रह्मभावमें ईश्वरभावका समावेश होने लगता है उसी समय प्राकृतिक तीनों गुणोंके सम्पर्कसे परमात्मामें युगपत् त्रिशक्तिकी पृथक् पृथक् सत्ता प्रकट होने लगती है जिससे ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र—तीनों ही एक साथ परमात्मासे उत्पन्न हो जाते हैं। क्रिया रजोगुणका धर्म है और सृष्टिके लिये प्रथम क्रियाशक्तिकी अभिव्यक्ति ही प्रयोजनीय है; इसलिये क्रियाशक्तिके केन्द्ररूप ब्रह्माका प्रकट होना प्रथम बताया गया है। परन्तु वास्तवमें ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र—ये तीनों शक्तियाँ ही साथ साथ उत्पन्न होती हैं, क्योंकि उत्पत्तिके साथ ही साथ स्थिति और लयकी क्रिया प्राकृतिक-रूपसे सम्मिलित है। केवल प्रथम दशामें उत्पत्ति क्रियाके ही अभिव्यक्त होनेसे पितामह ब्रह्माका प्रकट होना सर्व-प्रथम कहा गया है। जिस प्रकार शरीरके बीचमें स्थित होनेसे नाभि शरीरके ऊर्द्ध्वभाग तथा अधोभागकी समताका विधान करती है और सृष्टिका भी केन्द्रस्थान है, इसी प्रकार महाविष्णुके नाभिदेशसे उत्पन्न होनेके कारण ही ब्रह्माजीमें सृष्टि करनेकी शक्ति उत्पन्न हुई थी और वे उस अण्डको द्विधा विभक्त करके ब्रह्माण्ड-शरीरके ऊर्द्ध्व भाग तथा अधोभागको ठीक ठीक निर्माण तथा सामञ्जस्ययुक्त कर सके थे। यही नाभिसे ब्रह्माजीके उत्पन्न होनेका रहस्य है। इसी कारण ब्रह्माका ध्यान नाभिपद्ममें ही करनेका विधान महर्षियोंने किया है। इस प्रकारसे ब्रह्माजीने उत्पन्न होकर प्रथमतः महत्तत्त्वादि-क्रमसे स्थूल सूक्ष्म समष्टिभूतोंका निर्माण किया और तदनन्तर प्रजापतियोंके द्वारा समस्त जीवसृष्टि तथा दैवीसृष्टिका विस्तार किया। जैसा कि नीचे क्रमशः बताया जाता है:—

शास्त्रमें स्थूल-सृष्टि-वर्णन करते समय प्रकृतिसे प्रथमतः महत्तत्त्व, द्वितीयतः अहंतत्त्व और तृतीयतः पञ्च तन्मात्राओं या सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्ति मानी गई है। यथा सांख्यदर्शनमें:—

"प्रकृतेर्महान् महतोऽहंकारोऽहंकारात्पंचतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि।"

त्रिगुणसमतारूपिणी प्रकृतिसे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे अहंतत्त्व, अहंतत्त्वसे पञ्चतन्मात्राएँ अर्थात् सूक्ष्मपञ्चतत्त्व तथा एकादश इन्द्रिय और पञ्चतन्मात्राओं-से पृथ्वी आदि स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं।

"अहंकारात्पञ्चतन्मात्राणि पञ्चतन्मात्रेभ्यः पञ्चमहाभूतानि" इत्यादि।

इस प्रकारसे श्रुतिमें भी वर्णन पाया जाता है। अतः ब्रह्माजीकी क्रियाशक्ति-के साथ इसका क्या सम्पर्क है, सो विचार करने योग्य है। परमात्माकी सृष्टि-विषयिणी इच्छाशक्तिके साथ प्रकृतिका सम्पर्क होते ही परवर्त्ती दशामें क्रिया-शक्तिसे सम्पर्क होना स्वाभाविक है। तदनन्तर ज्ञानशक्तिके साथ सम्पर्क होते ही क्रिया और ज्ञानकी सम्मिलित शक्तियोंके द्वारा सृष्टिकी उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। अतः इच्छा, क्रिया तथा ज्ञान—इन त्रिविध शक्तियोंका प्रकृति-के साथ क्रमशः सम्बन्ध होनेसे सृष्टिकी उत्पत्ति होती है, यह सिद्ध हुआ। इच्छाशक्तिके सम्पर्कसे प्रलयविलीन साम्यावस्थायुक्त प्रकृतिमें वैषम्यकी सूचना, क्रियाशक्तिके सम्पर्कसे रजोगुणके अधिष्ठाता ब्रह्माकी उत्पत्ति और ज्ञानशक्तिके सम्पर्कसे समष्टिभूत महत्तत्त्वका विकाश स्वाभाविक है। अतः ब्रह्माजीके अधिष्ठानसे ही अव्यक्तप्रकृतिसे महत्तत्त्वका विकाश जो वेदादि शास्त्रोंमें लिखा है, सो ठीक है। सृष्टिविषयक ज्ञानकी उत्पत्ति होते ही सृष्टिविषयक अहंकार-की भी उत्पत्ति होना स्वाभाविक है। अतः महत्तत्त्वके बाद अहंतत्त्वकी ही उत्पत्ति होनी चाहिये। बाकी समस्त वैकारिक सृष्टिके इसी त्रिगुणमय अहं-कारकाही परिणामरूप जानना चाहिये। अतः सांख्यदर्शनोक्त अहंकारादि-क्रमसे सृष्टिधाराका विस्तार तथा वेदान्तदर्शनोक्त मायाभिमानी आत्मासे आकाशादि-क्रमसे सृष्टिधाराका विस्तार एक ही बात है, इसमें कोई भी सन्देह नहीं है क्योंकि, ईश्वरके साथ मायाका अभिनिवेश सम्बन्ध होते ही पूर्वकृत सृष्टिज्ञानरूपसे महत्तत्व और प्रजासृष्टिकी इच्छा-रूपसे अहंतत्त्वका सम्बन्ध प्रकृतिकी ओरसे ईश्वरमें हो ही जाता है और तदनन्तर सांख्योक्त पञ्चतन्मात्राओं या वेदान्तोक्त आकाशादि सूक्ष्म पञ्च-महाभूतोंका विकाश होना स्वतःसिद्ध और एक ही बात है। ब्रह्माजीकी प्रेरणा-से त्रिगुणोंमें वैषम्य उत्पन्न होकर राजसिक शक्तिका जब प्राधान्य हो जाता है तब सत्त्वगुण और तमोगुण दोनोंमें ही क्रिया होने लगती है। पञ्चतन्मात्राएँ या सूक्ष्म पञ्चतत्त्व इसी त्रिगुणात्मिका क्रियाके फल है। यथा—सत्त्वगुण प्राधान्य-से आकाश, रजःसत्त्वप्राधान्यसे वायु, रजःप्राधान्यसे अग्नि, रजस्तमःप्राधा-

न्यसे जल और तमः प्राधान्यसे पृथ्वी—इस प्रकारसे सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंका विकाश सृष्टिके आदिकालमें आत्मा या प्रकृतिसे होता है। इनके विकाशमें आत्माके त्रिगुणमय अहङ्कारका सम्पर्क रहनेपर भी यह महाभूत-सृष्टि स्थूलताकी ओर क्रम-परिणामको प्राप्त होती है इसलिये इसके साथ अहंतत्त्वके तामसिक विभागका ही सम्पर्क बताया गया है। यथा विष्णुपुराणमें:—

"गुणसाम्यात्ततस्तस्मात् क्षेत्रज्ञाधिष्ठितान्मुने ! ।
गुणव्यञ्जनसम्भूतिः सर्गकाले द्विजोत्तम ! ॥
प्रधानतत्त्वमुद्भूतं महान्तं तत् समावृणोत् ।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च त्रिधा महान् ॥
प्रधानतत्त्वेन समं त्वचा बीजमिवावृतम् ॥
वैकारिकस्तैजसश्च भूतादिश्चैव तामसः ।
त्रिविधोऽयमहंकारो महत्तत्त्वादजायत ॥
भूतेन्द्रियाणां हेतुः स त्रिगुणत्वान्महामुने ! ।
यथा प्रधानेन महान् महता स तथावृतः ॥
भूतादिस्तु विकुर्वाणः शब्दतन्मात्रिकं ततः ।
ससर्ज शब्दतन्मात्रादाकाशं शब्दलक्षणम् ।
शब्दमात्रं तथाकाशं भूतादिः स समावृणोत् ॥
आकाशस्तु विकुर्वाणः स्पर्शमात्रं ससर्ज ह ।
बलवानभवद् वायुस्तस्य स्पर्शो गुणो मतः ॥
आकाशं शब्दमात्रन्तु स्पर्शमात्रं समावृणोत् ।
ततो वायुर्विकुर्वाणो रूपमात्रं ससर्ज ह ॥
ज्योतिरुत्पद्यते वायोस्तद्रूप-गुणमुच्यते ।
स्पर्शमात्रं तु वै वायूरूपमात्रं समावृणोत् ॥
ज्योतिश्चापि विकुर्वाणं रसमात्रं ससर्ज ह ।
सम्भवन्ति ततोऽम्भांसि रसाधाराणि तानि च ॥
रसमात्राणि चाम्भांसि रूपमात्रं समावृणोत् ।

विकुर्वाणानि चाम्भांसि गन्धमात्रं ससर्जिरे ॥
संघातो जायते तस्मात्तस्य गन्धो गुणो मतः ।
तस्मिंस्तस्मिंस्तु तन्मात्रा तेन तन्मात्रता स्मृता ॥
तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्ततो हि ते ।
न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्चाविशेषणाः ॥"

परमात्माके अधिष्ठान द्वारा साम्यस्थ प्रकृतिमें वैषम्य होकर महत्तत्त्व उत्पन्न हुआ। महत्तत्त्व सात्त्विक, राजसिक और तामसिक है। बीज जिस प्रकार त्वक् द्वारा आवृत रहता है उसी प्रकार साम्यस्थ प्रकृति अर्थात् प्रधान-तत्त्वके द्वारा महत्तत्त्व आवृत हो गया। महत्तत्त्वसे अहंतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। अहंतत्त्व भी सात्त्विक, राजसिक, तामसिक भेदसे त्रिविध है। अहंतत्त्वके त्रिगुणात्मक होनेसे ही वह भूतेन्द्रियोंका उत्पत्तिकारण हो सकता है। जिस प्रकार प्रधानके द्वारा महत्तत्त्व आवृत होता है, उसी प्रकार महत्तत्त्वसे भी अहंतत्त्व आवृत हुआ। तामसिक अहंतत्त्वके क्षोभित अर्थात् क्रियोन्मुख होनेसे शब्द-तन्मात्रा और उससे शब्दगुण-विशिष्ट आकाशकी उत्पत्ति होती है। तामस अहंकार द्वारा आकाश आवृत होता है। आकाशके क्षोभित होनेसे स्पर्शतन्मात्रा और उससे स्पर्शगुणयुक्त वायुकी उत्पत्ति होती है। आकाश वायुको आवृत करता है। तदनन्तर वायुके क्षोभसे रूपतन्मात्रा और उससे रूपगुणविशिष्ट अग्निकी उत्पत्ति होती है। वायु अग्निको आवृत करता है। तदनन्तर अग्निके क्षोभसे रसतन्मात्रा और उससे रसगुणयुक्त जलकी उत्पत्ति होती है, अग्नि जलको आवृत करती है। तदनन्तर जलमें क्षोभ होनेसे गन्धतन्मा-त्राकी उत्पत्ति होती है जिससे गन्धगुणयुक्त पृथिवी उत्पन्न होती है जल पृथिवीको आवृत करता है। उल्लिखित पञ्च सूक्ष्म तत्त्वोंमें शब्दादि गुण-मात्रा रहनेसे उन गुणोंका नाम तन्मात्रा हुआ है। ये सभी तन्मात्राएँ तथा सूक्ष्मपञ्चतत्त्व अविशेष हैं जिनमें शान्त, घोर, मूढ़ नामक त्रिगुणसम्भूत कोई भी प्रकाशप्रवृत्तिमोहमूलक विशेषता नहीं है। विशेषता स्थूल पञ्चमहाभूतोंमें आती है, जिसका वर्णन आगे किया जायगा। तदनन्तर राजसिक और सात्त्विक अहंकारके परिणाम द्वारा सृष्टि तथा स्थूलमहाभूत-सृष्टिके विषयमें विष्णु-पुराणमें लिखा है:—

"भूततन्मात्रसर्गोऽयमहंकारात्तु तामसात् ।

तैजसानीन्द्रियाण्याहुर्देवा वैकारिका दश॥
एकादशं मनश्चात्र देवा वैकारिकाः स्मृताः।
त्वक् चक्षुर्नासिका जिह्वा श्रोत्रमत्र च पञ्चमम्॥
शब्दादीनामवाप्त्यर्थं बुद्धियुक्तानि वै द्विज।
पायूपस्थौ करौ पादौ वाक् च मैत्रेय! पञ्चमी॥
विसर्गशिल्पगत्युक्तिः कर्म तेषांच कथ्यते।
आकाशवायुतेजांसि सलिलं पृथिवी तथा॥
शब्दादिभिर्गुणैर्ब्रह्मन् संयुक्तान्युत्तरोत्तरैः।
शान्ता घोराश्च मूढाश्च विशेषास्तेन ते स्मृताः॥"

तामसिक अहंकारसे भूततन्मात्रोंकी उत्पत्ति होती है। राजस अहंकारसे पञ्चकर्मेन्द्रिय और पञ्चज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सात्त्विक अहंकारसे दश इन्द्रियोंके दश देवता, मन तथा मनके देवता उत्पन्न होते हैं। त्वक्, चक्षु, नासिका, जिह्वा और श्रोत्र-ये पञ्चज्ञानेन्द्रिय शब्दादि ग्रहणार्थ बुद्धियुक्त हैं। पायु, उपस्थ, कर, पाद और वाक्-ये पाच कर्मेन्द्रिय हैं जिनके कार्य विसर्ग, शिल्प, गति और उक्ति हैं। ये ही सब राजसिक सात्त्विक अहंकारके परिणाम द्वारा उत्पन्न सृष्टि है। तदनन्तर पञ्चतन्मात्राओं या सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंसे स्थूल पञ्चमहाभूतोंकी उत्पत्ति होती है। उसमें आकाश, वायु, तेज, सलिल, पृथिवी उत्तरोत्तर शब्दादि गुणयुक्त हैं और शान्त, घोर, मूढ़-धर्मी होनेसे इनको विशेष भूत कहते हैं। इनके गुणोंके विषयमें मनुसंहितामें लिखा है:—

"आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवाप्नोति परः परः।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः॥"

पर परके महाभूत पूर्व पूर्वके महाभूतोंसे उनके गुणोंको प्राप्त करते हैं। प्रथम महाभूत एक गुणविशिष्ट, द्वितीय दो गुणविशिष्ट और तृतीय तीन गुण-विशिष्ट इत्यादि रूपसे महाभूतोंके गुण समझने चाहिये। इसी प्रकार श्रुतिमें भी लिखा है:—

"शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः पृथिवीगुणाः॥
शब्दस्पर्शरूपरसा अपां गुणाः॥

शब्दस्पर्शरूपाण्यग्नेर्गुणाः॥
शब्दस्पर्शाविति वायुगुणौ॥
शब्दमेकमाकाशस्य॥"

आकाशका गुण केवल शब्द है, वायुके गुण शब्द और स्पर्श हैं, अग्निके गुण शब्द, स्पर्श और रूप हैं, जलके गुण शब्द, स्पर्श, रूप और रस हैं। पृथ्वीके गुण शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध हैं। श्रीमद्भागवत्में इन सब तत्त्वोंके विषयमें सुन्दर वर्णन मिलता है। यथाः—

"कालाद् गुणव्यतिकरः परिणामः स्वभावतः।
कर्मणो जन्म महतः पुरुषाधिष्ठितादभूत्॥
महतस्तु विकुर्वाणाद् रजः सत्त्वोपबृंहितात्।
तमः प्रधानस्त्वभवद्द्रव्यज्ञानक्रियात्मकः॥
सोऽहंकार इति प्रोक्तो विकुर्वन् समभूत्त्रिधा।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेति यद्भिदा॥
द्रव्यशक्तिः क्रियाशक्तिर्ज्ञानशक्तिरिति प्रभो।
तामसादपि भूतादेर्विकुर्वाणादभून्नभः॥
तस्य मात्रागुणः शब्दो लिङ्गं यद्द्रष्टृदृश्ययोः।
नभसोऽथ विकुर्वाणादभूत् स्पर्शगुणोऽनिलः॥
परान्वयाच्छब्दवाँश्च प्राण ओजः सहोबलम्।
वायोरपि विकुर्वाणात् कालकर्मस्वभावतः॥
उदपद्यत वै तेजो रूपवत् स्पर्शशब्दवत्।
तेजसस्तु विकुर्वाणादासीदम्भो रसात्मकम्॥
रूपवत् स्पर्शवच्चाम्भो घोषवच्च परान्वयात्।
विशेषस्तु विकुर्वाणादम्भसो गन्धवानभूत्॥
परान्वयाद्रसस्पर्श-शब्दरूपगुणान्वितः।
वैकारिकान्मनो जज्ञे देवा वैकारिका दश॥
दिग्वातार्क-प्रचेतोऽश्विवह्नीन्द्रोपेन्द्रमित्रकाः।

तैजसात्तु विकुर्वाणादिन्द्रियाणि दशाभवन् ॥
ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्बुद्धिः प्राणश्च तैजसौ ।
श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वावाग्दोर्मेढ्राङ्घ्रिपायवः ॥"

ईश्वराधिष्ठित कालसे गुणोंका क्षोभ, स्वभावसे परिणाम और कर्मसे महत्तत्त्वकी उत्पत्ति होती है। रजःसत्त्वगुणोंकी वृद्धिसे महत्तत्त्वमें विकार उत्पन्न हो कर तमःप्रधान द्रव्यज्ञानक्रियात्मक अहंतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। अहंतत्त्व तमःप्रधान होने पर भी त्रिगुणमयी प्रकृतिका ही परिणाम होनेके कारण उसमें तीनों गुणोंका सम्बन्ध रहता है। अतः अहंतत्त्वभी सात्त्विक, राजसिक तथा तामसिक भेदसे त्रिधा विभक्त है। सात्त्विक अहंकार ज्ञानशक्ति-प्रधान है, राजसिक अहंकार क्रियाशक्ति-प्रधान है और तामसिक अहंकार द्रव्यशक्ति-प्रधान है। विकारप्राप्त तामसिक अहंकारसे आकाश उत्पन्न होता है, जिसका गुण शब्द है। विकृत आकाशसे स्पर्शगुणात्मक वायुकी उत्पत्ति होती है। आकाशके परवर्त्ती होनेसे वायुमें शब्दगुण भी है। देह धारण और इन्द्रिय, मन तथा शरीरकी पटुता वायुका कार्य है। विकारप्राप्त वायुसे रूपवान् अग्निकी उत्पत्ति होती है। आकाश और वायुके परवर्त्ती होनेसे अग्निमें शब्द और स्पर्श-ये दो गुण भी हैं। विकृत अग्निसे रसात्मक जल उत्पन्न होता है। इसमें पूर्वोक्त तीनों तत्त्वोंके गुण शब्द, स्पर्श और रूप भी हैं। विकारप्राप्त जलसे गन्धगुणयुक्त पृथिवीतत्त्वकी उत्पत्ति होती है। सकलतत्त्वके अन्तिम होनेसे पृथिवीमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये पाँचों गुण विद्यमान हैं। इस तरह से तमःप्रधान अहंतत्त्व द्वारा पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्ति होती है। तत्त्वप्रधान अहंतत्त्वसे अन्तःकरण तथा दशइन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओंकी उत्पत्ति होती है, उनके नाम दिक्, वात, अर्क, प्रचेता, अश्विनीकुमार, वह्नि, इन्द्र, उपेन्द्र, मित्र और प्रजापति हैं। रजःप्रधान अहंतत्त्वसे पांच कर्मेन्द्रियों और पञ्च ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। सांख्यकारिकामें तीन गुणोंके लक्षणके विषयमें कहा हैः—

"सत्त्वं लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भकं चलं रजः, गुरुवरणकमेव तमः।"

सत्त्वगुण लघु और प्रकाशक है, रजोगुण प्रेरक और सक्रिय है, तमोगुण गुरु और आवरणकारी है। इसी कारणसे अहंतत्त्वमें सत्त्वगुणकी प्रधानता द्वारा लघु तथा प्रकाशक अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है, रजोगुण की प्रधानता

द्वारा प्रेरक तथा क्रियाशील इन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है और तमोगुणकी प्रधानता द्वारा परमाणुपुञ्जके समावेशसे गुरु अर्थात् भारी और आवरणशील पञ्चतत्त्वों तथा उनके भी पञ्चीकरणसे पृथिवी, अप्, तेज आदि पञ्चीकृत महाभूतोंकी उत्पत्ति हो कर सर्वत्र परिदृश्यमान स्थूल ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हो जाती है। यही समस्त आर्यशास्त्रके मौलिक सिद्धान्तानुसार भौतिकब्रह्माण्ड-सृष्टि-विस्तारका क्रम है। परमात्माकी इच्छाशक्तिसे उत्पन्न ब्रह्माण्डव्यापी हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा प्राकृतिक रजोगुणपर अधिष्ठान करके तीनों गुणोंको जब प्रेरित तथा क्षोभित करते हैं तब स्पन्दनधर्मिणी प्रकृतिमें स्वाभाविक गुणविकारके द्वारा क्रमशः उल्लिखितरूपसे भौतिक सृष्टिका विस्तार हो जाता है।

अब इस सृष्टितत्त्वको वेदान्तशास्त्रमें किस प्रकारसे बताया गया है सो वर्णन किया जाता है। जिस प्रकार सांख्य शास्त्रमें महत्तत्त्व और अहंतत्त्वके सम्बन्धसे सूक्ष्म तन्मात्राओं तथा पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्ति बताई गई है उसी प्रकार, जैसा कि पहले ही बताया गया है, वेदान्तशास्त्रमें भी परमात्माके साथ प्रकृतिका अभिनिवेश सम्बन्ध बताकर महत्तत्त्व तथा अहंतत्त्वसे आकाशादि-क्रमसे त्रिगुणस्पन्दन द्वारा सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्ति बताई गई है। इस प्रकारसे दोनों शास्त्रोंने ही प्राथमिक पञ्चतत्त्वोंकी उत्पत्ति बताकर सांख्यशास्त्रने अहंकारके सम्पर्कसे इन्द्रियादिकोंकी उत्पत्ति बताई है और वेदान्तशास्त्रने पञ्चतत्त्वोंके सम्पर्कसे इन्द्रियादिकोंकी उत्पत्ति बताई है सो दोनों वर्णन ही परिणामविचारसे एक रूप हैं। वेदान्तशास्त्रमें पञ्चतत्त्वोंके सम्पर्कसे निम्न लिखितरूपसे इन्द्रियादिकोंकी उत्पत्ति बताई है। यथाः—

सत्त्वांशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमाद्धीन्द्रियपञ्चकम्।
श्रोत्रत्वगक्षिरसन-घ्राणाख्यमुपजायते॥
तैरन्तःकरणं सर्वैर्वृत्तिभेदेन तद्द्विधा।
मनोविमर्शरूपं स्याद्बुद्धिः स्यान्निश्चयात्मिका॥
रजोऽशैः पञ्चभिस्तेषां क्रमात् कर्मेन्द्रियाणि तु।
वाक्पाणिपादपायूपस्थाभिधानानि जज्ञिरे॥
तैः सर्वैः सहितैः प्राणो वृत्तिभेदात् स पञ्चधा।
प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च ते पुनः॥"

आकाशादि पञ्च सूक्ष्मभूतोंके पृथक् पृथक् सत्त्वांशसे पञ्चज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है । यथा—आकाशके सत्त्वांशसे श्रवणेन्द्रिय, वायुके सत्त्वांशसे त्वगिन्द्रिय, अग्निके सत्त्वांशसे चक्षुरिन्द्रिय जलके सत्त्वांशसे रसनेन्द्रिय और पृथ्वीके सत्त्वांशसे घ्राणेन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। पञ्च सूक्ष्मतत्त्वोंके मिलित सत्त्वांशसे अन्तःकरणकी उत्पत्ति होती है। उसमें मन सङ्कल्पविकल्पात्मक है, बुद्धि निश्चयात्मिका है, चित्त मनके ही अन्तर्भूत है और अहंकार बुद्धिके अन्तर्भूत है । आकाशादि पञ्च सूक्ष्मतत्वोंके पृथक् पृथक् रजोंऽशसे पञ्चकर्मेन्द्रियोंकी उत्पत्ति होती है। यथा-आकाशके रजोंऽशसे वागिन्द्रियकी उत्पत्ति होती है, वायुके रजोंऽशसे पाणि इन्द्रिय, अग्निके रजोंऽशसे पादेन्द्रिय जलके रजोंऽशसे उपस्थेन्द्रिय और पृथ्वीके रजोंऽशसे पायु इन्द्रियकी उत्पत्ति होती है। पञ्च सूक्ष्मतत्त्वोंके मिलित रजोंऽशसे सूक्ष्म प्राणकी उत्पत्ति होती है जो स्थान तथा कार्यभेदसे प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान—इन पांच रूपोंमें प्रकाशित होता है और प्राणादि स्थूल दस वायुका सञ्चालन करता है। इस प्रकारसे प्रकृतिके रजोगुण सत्त्वगुणके परिणाम द्वारा समष्टि सूक्ष्म शरीरका समस्त उपादान उत्पन्न होनेके अनन्तर प्राकृतिक तमोगुणके प्रभावसे अपञ्चीकृत पञ्च सूक्ष्मतत्त्वोंमें और भी परिवर्त्तन होता है। तमोगुणका स्वभाव गुरु तथा आवरक होनेसे सूक्ष्म पञ्चतत्त्वोंमें तमोगुणका सम्पर्क होते ही उनके सूक्ष्म अणुओंमें पारस्परिक सम्बन्ध होने लगता है जिससे वे अपने अपने सूक्ष्म स्वरूपको छोड़कर स्थूल भाव अर्थात् अनुभवगम्य भावको प्राप्त हो जाते हैं। इसीको वेदान्तशास्त्रमें पञ्चीकरण कहा है। समस्त स्थूल भौतिक दृश्यमान संसार इसी पञ्चीकृत पञ्चमहाभूतोंके सामञ्जस्य द्वारा उत्पन्न हुआ है। अब अपञ्चीकृत पञ्च सूक्ष्मतत्त्वोंसे पञ्चीकृत स्थूल पञ्चमहाभूत कैसे उत्पन्न होते हैं सो बताया जाता है। यथा पैङ्गलोपनिषद्में:—

"तानि पञ्चतन्मात्राणि त्रिगुणानि भवन्ति । स्रष्टुकामो जगद्योनिस्तमोगुणमधिष्ठाय सूक्ष्मतन्मात्राणि भूतानि स्थूलीकर्तुं सोऽकामयत। सृष्टेः परिमितानि भूतान्येकमेकं द्विधा विधाय पुनश्चतुर्धा कृत्वा स्वस्वेतरद्वितीयांशैः पञ्चधा संयोज्य पञ्चीकृतभूतैरनन्तकोटिब्रह्माण्डानि तत्तदण्डोचितचतुर्दशभुवनानि तत्तद्भुवनोचित-

गोलकस्थूलशरीराण्यसृजत् ॥"

इसी प्रकार पञ्चदशीमें भी लिखा है:—

"तद्भोगाय पुनर्भोग्यभोगायतनजन्मने ।
पञ्चीकरोति भगवान् प्रत्येकं वियदादिकम् ॥
द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्द्धा प्रथमं पुनः ।
स्वस्वेतरद्वितीयांशैर्योजनात् पञ्च पञ्च ते ॥
तैरण्डस्तत्र भुवनभोग्यभोगाश्रयोद्भवः ।
हिरण्यगर्भः स्थूलेऽस्मिन् देहे वैश्वानरो भवेत् ॥

सूक्ष्म पञ्चतन्मात्राएँ या पञ्चतत्त्व त्रिगुणमय होते हैं। इसलिये उनसे जीवभोगार्थ स्थूल-पञ्चभूतनिर्माणके समय परमात्मा तमोगुणपर अधिष्ठान करके अपञ्चीकृत महाभूतोंको पञ्चीकरणकी विधि द्वारा स्थूल इन्द्रियगम्य बनाते हैं। वह विधि यह है:—प्रथमतः आकाशादि पञ्च सूक्ष्म भूतोंमेंसे प्रत्येकको समान दो भागमें विभक्त करके तदनन्तर द्विधा विभक्त उस प्रत्येक अंशको भी चतुर्धा विभक्त करना चाहिये। तदनन्तर प्रथमोक्त अर्द्धांशके साथ द्वितीयोक्त चार भागोंके एक एक अंशकी योजना करनेपर पञ्चीकरण हो जाता है। इसमें प्रत्येक पञ्चीकृत महाभूतमें अपने अंशका अर्द्ध और बाकी चार भूतोंमेंसे प्रत्येकका अष्टांशरूपसे मिलित अर्द्धभाग—इस प्रकारसे भाग होता है। यथा, पञ्चीकृत पृथ्वीमें पृथ्वीका अर्द्धांश और बाकी जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन चार भूतोंमेंसे प्रत्येकको अष्टमांश करके मिलित अर्द्धांश रहेगा। इसी प्रकार पञ्चीकृत जलमें जलका अर्द्धांश और बाकी चार भूतोंके मिलित अर्द्धांश होंगे। इसी प्रकार अन्य तीन पञ्चीकृत महाभूतोंका भी उपादान समझ लेना चाहिये। अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंसे लेकर चतुर्दशभुवनमय एक ब्रह्माण्ड तथा एक स्थूलशरीररूपी पिण्डतक सभी इसी पञ्चीकृत पञ्च महाभूतोंके उपादान द्वारा निर्मित हुए हैं। समस्त स्थूल शरीर तथा भोग्यवस्तुएँ पञ्चीकृत महाभूतोंसे ही बनी हुई होती हैं और पञ्चीकृत महाभूतमय इस समष्टि-शरीर पर हिरण्यगर्भ अधिष्ठान करते हैं। यही त्रिगुण परिणाम द्वारा हिरण्यगर्भके अधिष्ठानसे उत्पन्न ब्रह्माण्ड-पिण्डमय भौतिक सृष्टि है जिसके स्थूल, सूक्ष्म और कारणरूप तीन विभाग किये जाते हैं और इन्हीं तीन विभागोंको पञ्चकोश नामसे पांच भागोंमें भी विभक्त किया जाता है। यथा पैङ्गलोपनिषद्में:——

"पृथिव्यादि-महाभूतानां समवायः शरीरम् । यत्कठिनं सा पृथिवी अस्थिचर्मनाडीरोममांसाश्चेति पृथिव्यंशाः । यद्द्रवं तदापः मूत्रश्लेष्मरक्तशुक्रस्वेदा अबंशाः । यदुष्णं तत्तेजः क्षुत्तृष्णाऽऽलस्यमोहमैथुनान्यग्नेः । यत्सञ्चरति स वायुः । प्रचारणविलेखनस्थूलाऽऽद्युन्मेषनिमेषाऽऽदि वायोः । यत्सुषिरं तदाकाशम् । कामक्रोधलोभमोहभयान्याकाशस्य ॥

"एतत्संघातं कर्मणि सञ्चितं त्वगादियुक्तं बाल्याऽऽद्यवस्थाऽभिमानास्पदं बहुदोषाऽऽश्रयं स्थूलशरीरं भवति ।

अन्नरसेनैव भूत्वाऽन्नरसेनाभिवृद्धिं प्राप्याऽन्नरसमयपृथिव्यां यद्विलीयते सोऽन्नमयकोशः । तदेव स्थूलशरीरम् ॥

कर्मेन्द्रियैः सह प्राणादिपञ्चकं प्राणमयकोशः ॥

ज्ञानेन्द्रियैः सह मनो मनोमयकोशः ॥

ज्ञानेन्द्रियैः सह बुद्धिर्विज्ञानमयकोशः ॥

एतत् कोशत्रयं लिङ्गशरीरम् ॥

बुद्धिकर्मेन्द्रियप्राणपञ्चकैर्मनसा धिया ।
शरीरं सप्तदशभिः सूक्ष्मन्तल्लिङ्गमुच्यते ॥

अशनायापिपासाशोकमोहजरामरणानीति षडूर्मयः ॥

"कोशचतुष्टयसंसक्तं स्वकारणाऽज्ञाने वटकर्णिकायामिव वटवृक्षो यदा वर्त्तते तदाऽऽनन्दमयकोशः ॥

"स्वरूपाऽज्ञानमानन्दमयकोशस्तत्कारणशरीरम् ॥"

पृथिवी, अप्, तेज, मरुत्, व्योम—इन पांच पञ्चीकृत महाभूतोंकी समष्टिसे ब्रह्माण्ड तथा पिण्डका स्थूलशरीर बनता है। उसमें जो कठिन अंश है सो पृथिवीका है; जैसा कि पिण्डशरीरमें अस्थि, चर्म, नाडी, रोम और मांस हैं। द्रव अंश अप्का है। यथा-पिण्डदेहमें मूत्र, श्लेष्मा, रक्त, शुक्र और स्वेद। उष्ण अंश तेजका है। यथा-पिण्ड देहमें क्षुधा, तृष्णा, आलस्य, मोद, मैथुन। सञ्चरणशील अंश वायुका है। यथा-पिण्डशरीरमें प्रचारण, विलेखन, उन्मेष,

निमेष आदि। अवकाशयुक्त अंश आकाशका है। यथा-पिण्ड शरीरमें काम, क्रोध, लोभ, मोह, भय आदि। इस प्रकारसे प्राक्तनकर्मोत्पन्न पञ्चभूतमय त्वगादियुक्त बाल्यादि अवस्थाओंके अभिमानका निदान अनेक-दोषाश्रय स्थूल शरीर होता है। अन्नरससे उत्पन्न होकर अन्नरसके द्वारा ही वृद्धि प्राप्त होकर अन्नरस-मयपृथिवीमें ही लय हो जाता है इसलिये पञ्चभूतमय स्थूलशरीरको अन्नमय-कोश कहा गया है। ब्रह्माण्डप्रकृतिमें भी जो पञ्चभूतमय स्थूल विभाग है वह ब्रह्माण्डप्रकृतिका स्थूलशरीर या समष्टि स्थूलशरीर है। इसको समष्टि-अन्नमयकोश भी कहते हैं। पञ्च कर्मेन्द्रिय और पञ्च प्राण मिलकर प्राणमयकोश कहलाता है—यह ब्रह्माण्ड पिण्ड—दोनोंमें ही व्याप्त है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और मन मिलकर मनोमयकोश कहलाता है यह ब्रह्माण्ड पिण्ड दोनोंमें ही व्याप्त है। पञ्चज्ञानेन्द्रिय और बुद्धि मिलकर विज्ञानमयकोश कहलाता है—यह ब्रह्माण्ड और पिण्ड दोनोंमें ही व्याप्त है। प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय इन तीनों कोशोंको मिलाकर लिङ्गशरीर या सूक्ष्मशरीर कहलाता है। पञ्च कर्मेन्द्रिय, पञ्च ज्ञानेन्द्रिय, पञ्चप्राण, मन और बुद्धि ये सप्तदश मिलकर सूक्ष्म-शरीर या लिङ्गशरीर कहलाता है। यह ब्रह्माण्ड पिण्ड दोनोंमें ही व्याप्त है। अशन, पिपासा, शोक, मोह, जरा और मरण पिण्ड और सूक्ष्मशरीरमें ये छः तरङ्ग हैं। पूर्वोक्त चार कोशोंसे संयुक्त वटकर्णिकामें वटवृक्षकी तरह ब्रह्माण्ड-पिण्डसृष्टिका बीजरूप अविद्यामय जो कोश है उसे आनन्दमयकोश कहते हैं। आनन्दमयकोश ही कारणशरीर है जो ब्रह्माण्ड पिण्ड दोनोंमें व्याप्त है। विभु आत्माके साथ सिसृक्षा-सम्बन्धयुक्त विकृतिकी ओर अग्रसर होनेवाली जो समष्टि प्रकृति है वही ब्रह्माण्ड प्रकृतिका कारणशरीर है। इसी कारणशरीरमें ही ईश्वर प्रतिबिम्बित होते हैं जिससे ब्रह्माण्ड सृष्टि प्रारम्भ होने लगती है। इस प्रकारसे ब्रह्माण्डप्रकृति स्थूलसूक्ष्मकारणरूपी त्रिविध शरीर अथवा अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय इन पञ्चकोशोंमें विभक्त है उसके समस्त पिण्डशरीरकी उपादानरूप होनेसे प्रत्येक पिण्डशरीरमें भी ये तीन शरीर अथवा पांच कोश होते हैं। इन सब विभागोंसे युक्त ब्रह्माण्डप्रकृति किस प्रकारसे चेतन जीवोंकी आश्रयदात्री बनती है, इसके विषयमें विष्णु-पुराणमें निम्नलिखित वर्णन है:—

नाना वीर्याः पृथग्भूतास्ततस्ते संहतिं विना।
नाशक्नुवन् प्रजाः स्रष्टुमसमागम्य कृत्स्नशः॥

समेत्यान्योन्यसंयोगं परस्परसमाश्रयाः ।
एकसंघातलक्ष्याश्च सम्प्राप्यैक्यमशेषतः ॥
पुरुषाधिष्ठितत्वाच्च प्रधानानुग्रहेण च ।
महदाद्या विशेषान्ता ह्यण्डमुत्पादयन्ति ते ॥
तत्क्रमेण विवृद्धन्तु जलबुद्बुदवत् समम् ।
भूतेभ्योऽण्डं महाबुद्धे वृहत् तदुदकेशयम् ॥
प्राकृतं ब्रह्मरूपस्य विष्णोः संस्थानमुत्तमम् ।
तत्राव्यक्तस्वरूपोऽसौ व्यक्तरूपी जगत्पतिः ॥
विष्णुर्ब्रह्मस्वरूपेण स्वयमेव व्यवस्थितः ।
मेरुरुल्बमभूत्तस्य जरायुश्च महीधराः ॥
गर्भोदकं समुद्राश्च तस्यासन् सुमहात्मनः ।
साद्रिद्वीपसमुद्रास्तु सज्योतिर्लोकसंग्रहः ॥
तस्मिन्नण्डेऽभवद् विप्र सदेवासुरमानुषः ।
वारिवह्न्यनिलाकाशैस्ततो भूतादिना बहिः ॥
वृतं दशगुणैरण्डं भूतादिर्महता तथा ॥
अव्यक्तेनावृतो ब्रह्मंस्तैः सर्वैः सहितो महान् ॥
एभिरावरणैरण्डं सप्तभिः प्राकृतैर्वृतम् ।
नारिकेलफलस्यान्तर्बीजं बाह्यदलैरिव ॥
जुषन् रजोगुणं तत्र स्वयं विश्वेश्वरो हरिः ।
ब्रह्मा भूत्वास्य जगतो विसृष्टौ सम्प्रवर्त्तते ॥
सृष्टञ्च पात्यनुयुगं यावत् कल्पविकल्पना ।
सत्त्वभुग् भगवान् विष्णुरप्रमेयपराक्रमः ॥
तमोद्रेकी च कल्पान्ते रुद्ररूपी जनार्दनः ।
मैत्रेयाखिल भूतानि भक्षयत्यतिभीषणः ॥

महत्तत्वसे लेकर महाभूत पर्यन्त समस्त तत्त्वोंका विकाश होनेपर भी

वे सब नानावीर्य तथा पृथक् पृथक् रहनेसे उनकी संहतिके बिना प्रजासृष्टि नहीं हो सकी। इसलिये प्रधानका अनुग्रह तथा पुरुषका अधिष्ठान उन सभोंपर हो गया जिससे अन्योन्य संयोग तथा परस्पर समाश्रयजन्य एकता-प्राप्त महदादि विशेषान्त समस्त तत्त्व मिलकर एक अतिवृहत् अण्डरूपमें परिणत हो गया। जलबुद्बुदकी तरह वर्त्तुलाकार, उदकेशय, भूतोंके द्वारा क्रमशः वर्द्धमान वही अण्ड परमात्माके अधिष्ठानका स्थान है, जहाँपर अव्यक्त ब्रह्म व्यक्त ईश्वरभावको प्राप्त होकर विराजमान होते हैं। मेरुपर्वत उनका गर्भवेष्टनचर्म, अन्यान्य महीधर उनका जरायु तथा समुद्र उनका गर्भोदक है। उसी अण्डमें सपर्वत द्वीप-समूह, समुद्र-समूह, देवता, असुर, मनुष्य तथा ज्योतिष्मान् लोकसमूह उत्पन्न होते हैं। अतःपर वह स्थूल अण्ड पूर्वसे दस दस गुण अधिक जल, अग्नि, वायु तथा आकाश द्वारा उत्तरोत्तर बहिर्भागमें आवृत होता है। समष्टि-पञ्चभूत पुनः महत्तत्त्व द्वारा आवृत होता है और महत्तत्त्व अव्यक्त प्रकृति द्वारा आवृत होता है। नारियलके भीतर स्थित बीज जिस प्रकार बाह्य आवरणोंसे आवृत होता है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी उल्लिखित सप्त आवरणसे आवृत है। परमात्मा ईश्वर उस ब्रह्माण्डमें स्थित होकर रजोगुणके आश्रयसे ब्रह्मारूप होकर जीवोंकी सृष्टि करते हैं, सत्त्वगुणके आश्रयसे विष्णुरूप होकर कल्प कल्प तक जीवोंका पालन करते हैं और अन्तमें तमोगुणके आश्रयसे रुद्ररूप हो कर जीवोंको ग्रास करते हैं जिससे समस्त ब्रह्माण्डमें महाप्रलयका उदय होता है। सृष्टिके स्थूल-सूक्ष्म-भाव और ब्रह्माण्ड पिण्ड-सम्बन्धसे शास्त्रकारोंने सृष्टिके चार भेद कहे हैं। यथा–शिवसंहिता, देवीगीता तथा अन्यान्य तन्त्रोंमें:—

सृष्टिश्चतुर्विधा देवि ! प्रकृत्यामनुवर्त्तते ।
अदृष्टाज्जायते सृष्टिः प्रथमे तु वरानने ! ॥
विवर्त्तभावे सम्प्राप्ते मानसी सृष्टिरुच्यते ।
तृतीये विकृतिं प्राप्ते परिणामात्मिका तथा ॥
आरम्भसृष्टिश्च ततः चतुर्थे यौगिकी प्रिये ! ॥

प्रकृतिमें चार प्रकारकी सृष्टि होती है। प्रथम सृष्टि अदृष्टसे उत्पन्न होती है, द्वितीय मानसी सृष्टि विवर्त्तभावसे उत्पन्न होती है, तृतीय सृष्टि

परिणामात्मिका है और चतुर्थ सृष्टि आरम्भ सृष्टि कहलाती है। इनमेंसे अदृष्ट और आरम्भ ये दोनों जीवपिण्डसे सम्बन्ध रखती हैं और विवर्त्त तथा परिणाम ये दोनों ब्रह्माण्डसे सम्बन्ध रखती हैं। अदृष्ट सृष्टि जीवके पूर्वार्जित कर्मों द्वारा होती है जिससे जीवका शरीर उत्पन्न होता है और जिसके लिये जीव पराधीन है। आरम्भ सृष्टि जीवके नवीन कर्म द्वारा होती है जिसके लिये जीव स्वाधीन है। जैसा कि शास्त्रमें कहा है:—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः ।
अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते ॥

पाप अथवा पुण्यकर्म अति उग्र होनेसे इसी जन्ममें तीन वर्ष, तीन मास, तीन पक्ष अथवा तीन दिनमें उसका फल मिलता है। दूसरी ओर विवर्त्त और परिणाम सृष्टि पुरुष और प्रकृतिसे सम्बन्ध रखती है; क्योंकि वह समष्टिरूप ब्रह्माण्डसम्बन्धीय है। आनन्द प्रकाशके लिये जो सृष्टिकी भावना होती है, जिसका वर्णन पहले हो चुका है, वही विवर्त्त सृष्टिका कारण है और त्रिगुणमयी प्रकृतिके स्वाभाविक परिणामके अनुसार सहज कर्मके द्वारा जो चिज्जड-ग्रन्थि बंधकर जीवसृष्टिका प्रवाह ब्रह्माण्डमें चलता रहता है वही परिणाम सृष्टि कहाती है। सृष्टिके ये चार भेद जब पिण्ड और ब्रह्माण्डके साथ मिलाकर देखे जाते हैं तो सृष्टिका स्वरूप स्पष्ट प्रकट हो जाता है। चार प्रकारके लयके साथ इन चारोंका किस प्रकार सम्बन्ध है सो आगे कहा जायगा।

अब ज्योतिःशास्त्रके सिद्धान्तानुसार स्थूल ब्रह्माण्डका कुछ वर्णन किया जाता है। प्रत्येक ब्रह्माण्डकी केन्द्रशक्ति सूर्य है। तदनुसार इस ब्रह्माण्ड-वर्त्ती सूर्य ही इस ब्रह्माण्डका केन्द्रस्थानीय है। समस्त ग्रह उपग्रह उसीकी आकर्षण-विकर्षणशक्तिके प्रभावसे उसीकी चारों ओर अनुक्षण प्रदक्षिण किया करते हैं। समस्त ब्रह्माण्डमें ज्योतिष्मान् कोई भी वस्तु नहीं है। समस्त ज्योतिके आधाररूप सूर्यसे ही ब्रह्माण्डके अन्तर्गत समस्त ग्रह उपग्रहमें ज्योतिका सञ्चार होता है। हमारे सूर्यपरिवारमें अबतक ऐसे २६८ ग्रह उपग्रह देखे गये हैं जो सूर्यकी ज्योतिसे ज्योतिष्मान् होकर सूर्यकी चारों ओर घूमते हैं। ग्रहगण सूर्यको प्रदक्षिण करते हैं और उपग्रहगण ग्रहोंको प्रदक्षिण करते हैं और इन सब ग्रह उपग्रहोंको लेकर सूर्य भी ध्रुवकी चारों ओर प्रदक्षिण करते हैं। समस्त ग्रह-उपग्रहोंका स्थूलशरीर पृथ्वी जल आदि पञ्च-

भूतोंसे बना हुआ है। केवल किसीमें कोई भूत प्रधान है और किसीमें कोई भूत प्रधान है। समस्त ग्रह-उपग्रहोंमें ही नानाप्रकारके जीवोंका वास है। कोई भी जीवशून्य नहीं है। उल्लिखित २६८ ग्रह-उपग्रहोंमेंसे प्रधान ग्रह ८ हैं; क्षुद्र ग्रह २४० हैं और उपग्रह या चन्द्र २० हैं। पृथ्वी ग्रहका एक चन्द्र है, मङ्गलका दो, वृहस्पतिका ४, शनिका ८, यूरेनसका ४ और नेपचुनका एक—इस प्रकारसे २० चन्द्र हैं। आठ प्रधान ग्रहोंमेंसे बुधग्रह सूर्यके सबसे अधिक निकटस्थ है, वह ग्रह सूर्यसे प्रायः ३७००००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट १८०० मीलके हिसाबसे ८८ दिनोंमें एकबार सूर्यको प्रदक्षिण कर लेता है। अतः बुधग्रहवासी जीवोंका सम्वत्सर ८८ दिनोंमें ही पूर्ण होता है। बुधका व्यास ३१४० मील है और उसका आयतन पृथ्वीके एक तृतीयांश-तुल्य है। बुध ग्रहका दिन पृथ्वीके दिनसे बड़ा है और सूर्यज्योति तथा सूर्योत्तापका भी प्रभाव पृथ्वीसे बुधग्रहपर अधिक पड़ता है। बुधग्रहके बाद शुक्रग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे प्रायः ६८००००००० मील दूर पर रहकर प्रति मिनिट १२६० मीलके हिसाबसे २२५ दिनोंमें सूर्यकी चारों ओर प्रदक्षिण करता है। इसका व्यास ७६६० मील है और आयतन पृथ्वीके आयतनके समान ही है। इसका दर्शन पृथ्वीसे सायंकाल तथा प्रातःकाल दोनों समयपर ही होता है, शुक्रग्रह सूर्यालोकसे बड़ा ही उद्भासित होता है। पश्चिम-देशीयशास्त्रमें रूप तथा प्रेमकी अधिष्ठात्री भिनस देवतारूपसे इसकी पूजाका वर्णन पाया जाता है। शुक्रग्रहके बाद पृथ्वी ग्रह है। यह ग्रह सूर्यसे ९२७००००० मील दूर पर रहकर प्रति मिनिटमें प्रायः १०८० मीलके हिसाबसे ३६५¼ दिनोंमें ५८३०००००० मील पथके परिभ्रमण द्वारा एक बार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। पृथ्वीका व्यास ७९१८ मील है और परिधि २४८७७ मील है। बुध और शुक्रग्रहका चन्द्र नहीं है परन्तु पृथ्वीग्रह एक चन्द्रके द्वारा आलोकित होता है। यह चन्द्र पृथ्वीसे २४०००० मील दूरपर रहकर प्रायः २८ दिनोंमें एक बार पृथ्वीको प्रदक्षिण करता है। चन्द्रका व्यास प्रायः २१६० मील है और परिधि प्रायः ६७८५ मील है। चन्द्र पृथ्वीसे बहुत छोटा है और इतना छोटा होनेसे ही पृथ्वी उसको लेकर सूर्यको प्रदक्षिण कर सकती है। पृथ्वीके बाद मङ्गलग्रह है यह ग्रह सूर्यसे प्रायः १४४००००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट ९१६० मीलके हिसाबसे ६८७ दिनोंमें एक बार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। मङ्गल-ग्रहका व्यास पृथ्वीग्रहके व्यासार्द्धसे कुछ बड़ा है।

अतः उसका आयतन पृथ्वीके आयतनसे बहुत ही छोटा है। मङ्गलग्रहका दिन-परिमाण प्रायः पार्थिव दिन परिमाणके समान ही है परन्तु पृथ्वीके दो वर्षमें मङ्गलका एक वर्ष होता है। पृथ्वी अपने कक्षमें जितने वेगके साथ भ्रमण करती है, मङ्गलका भ्रमणवेग प्रायः उसका आधा है क्योंकि वह सूर्यसे कुछ दूरपर है और इसलिये उसपर सूर्यकी आकर्षणशक्तिका प्रभाव भी कुछ कम पड़ता है। ज्योतिर्विद् पण्डितोंने निश्चय किया है कि मङ्गलग्रह ठीक पृथ्वीकी तरह जलस्थलपर्वतादिसे सुशोभित है इसलिये वहाँके निवासी जीव भी मनुष्योंकी तरह होंगे—ऐसा अनुमान बहुत लोग करते हैं। पृथ्वीका जिस प्रकार एक चन्द्र है, उस प्रकार मङ्गलके भी दो चन्द्र हैं। परन्तु उनकी ज्योति चन्द्रज्योतिकी तरह मधुर नहीं है। पाश्चात्य शास्त्रमें मङ्गलको रण-देवता करके वर्णन किया गया है। हिन्दूशास्त्रमें भी मङ्गलग्रहका ध्यान उसी प्रकार किया जाता है। यथाः—

धरणीगर्भसम्भूतं विद्युत्पुञ्जसमप्रभम् ।
कुमारं शक्तिहस्तं च लोहितांगं नमाम्यहम् ॥

बुध और शुक्रग्रह अन्तश्चर ग्रह हैं; क्योंकि सूर्य और पृथिवीके अन्तर्वर्त्ती स्थानोंमें ही वे भ्रमण करते हैं। बाकी मङ्गलसे लेकर सब ग्रह बहिश्चर हैं; क्योंकि इन सभोंका भ्रमणकक्ष पृथिवीके भ्रमणकक्षसे बाहर है। मङ्गलके बाद बृहस्पति ग्रह है। परन्तु इन दोनों ग्रहोंका कक्षमध्यवर्त्ती स्थान ३३८०-००००० मील परिमित है। सौरजगत्का यह मध्यवर्त्ती स्थान २४० छोटे छोटे ग्रहोंका भ्रमण स्थान है और वे सभी अपने अपने कक्षपर भ्रमण करते हुए तेजोनिधान सूर्यदेवको प्रदक्षिण करते हैं। वे सब ग्रह इतने छोटे छोटे हैं कि, इनमेंसे किसी किसीका व्यास ५० मीलसे भी कम है। इन सभोंके बाद बृहस्पतिका भ्रमण-स्थान है। बृहस्पति आर्यशास्त्रमें सुरगुरु कहे जाते हैं। पाश्चात्य शास्त्रमें भी जुपिटर कहकर इनकी पूजा होती है। यह ग्रह सब ग्रहोंसे बृहत् तथा विचित्र-शरीर है। इसका आयतन पृथिवीके आयतनसे प्रायः तेरह सौ गुना बड़ा है। इसका व्यास ८५००० मील है, परिधि २६७०-३६ मील है और जिस कक्षपर यह सूर्यको प्रदक्षिण करता है उसकी परिधि ३०८००००००० मील है, इसका दिन-परिमाण पृथिवीका दस घण्टा है और वर्ष-परिमाण ४३३३ दिन अर्थात् पृथिवी-ग्रहके प्रायः १२ वर्ष हैं। यह ग्रह

सूर्यसे ४८४०००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट ४८० मीलके हिसाबसे प्रायः १२ वर्ष में एक वार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। पृथिवीके एक चन्द्रकी तरह वृहस्पतिके चार चन्द्र हैं, उसका प्रथम चन्द्र एक दिन अठारह घण्टेमें द्वितीय चन्द्र तीन दिन तेरह घण्टेमें, तृतीय चन्द्र सात दिन तीन घण्टेमें और चतुर्थ चन्द्र सोलह दिन सोलह घण्टेमें वृहस्पतिग्रहको प्रदक्षिण करते हैं। वृहस्पतिपर सूर्यालोक विशेषरूपसे प्रतिफलित होता है, इस कारण उन सब स्वल्पज्योतिर्युक्त चन्द्रोंमें भी वृहस्पतिकी किरण पहुंचती है। चन्द्र-चतुष्टय-वेष्टित वृहस्पति ग्रहचतुष्टयवेष्टित सूर्यकी तरह प्रतीत होता है। वृहस्पति-ग्रहके बाद शनैश्चर ग्रह है। यह ग्रह वृहस्पतिसे कुछ छोटा होनेपर भी पृथिवी-ग्रहसे ७२१ गुना बड़ा है। इसका व्यास ७१००० मील है और परिधि २२३००० मील है। यह ग्रह सूर्यसे ८८४०००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट ३५८ मीलके हिसाबसे पार्थिव दिन परिमाणानुसार १०७५६ दिन अथवा साढ़े उनतिस वर्षमें सूर्यको एक वार प्रदक्षिण कर लेता है। शनैश्चर ग्रहका दिन-परिमाण साढ़े दस घण्टा है अर्थात् पृथिवीके दिन-परिमाणके आधेसे भी कम है। दूरवीक्षण यन्त्र-योगसे शनैश्चरकी बड़ी ही शोभमाना मूर्त्ति देखनेमें आती है। इस अपूर्व ग्रहमें अनेक रङ्गका विचित्र समावेश है। यथा—इसके दो प्रान्त अर्थात् उत्तर और दक्षिण मेरुके सन्निहित देश नीलाञ्जन-पुञ्जकी तरह प्रगाढ़ नीलवर्णमय हैं। इसके अन्यान्य स्थानमें तरल पीतवर्ण है। मध्यभाग श्वेतवर्णमय और समस्त शरीर ही पिङ्गल, नील, लोहित तथा रक्तवर्णसे रञ्जित है। पृथिवी-ग्रहको एक चन्द्र सुशोभित करता है; परन्तु शनैश्चरग्रह आठ चन्द्रकी सुशीतल किरणसे प्रफुल्लित रहता है। जिस समय आठ चन्द्र पूर्ण कलासे सुशोभित होकर शनि ग्रहपर अपने अपने किरणजालका विस्तार करते हैं उस समय शनैश्चरकी मूर्त्ति देवदुर्लभसुषमामण्डित हो जाती है। केवल इतनेहीमें शनैश्चरकी शोभासम्पत्ति समाप्त नहीं होती है। उसका चारुचित्रित मनोहर कलेवर परस्पर असंलग्न तीन अपूर्व आलोक-वलयके द्वारा वेष्टित रहता है। ये सब वलय इतने वृहदाकार हैं कि इनमेंसे प्रत्येकमें पृथिवी जैसे शत शत ग्रह पिण्डकी तरह टङ्गे रह सकते हैं। ज्योतिर्विद् पण्डितोंने निर्णय किया है कि ये सब वलय छोटे छोटे असंख्य चन्द्रोंके संयोग द्वारा निर्मित हैं। अष्टचन्द्र-सुशोभित शनैश्चर भी वृहस्पतिकी तरह अष्टग्रहसमन्वित सूर्यवत् प्रतीत होते हैं। शनैश्चरके परवर्ती ग्रहका नाम

यूरेनस है। इसका व्यास ३१७०० मील है और पृथिवीसे यह ग्रह प्रायः चौसठ गुना बड़ा है। यह ग्रह शनैश्चरके कक्षसे ९११६००००० मील और सूर्यसे प्रायः १८०००००००० मील दूरपर रहकर ३०६८७ दिवस अर्थात् मनुष्य-मानके ८४ वर्ष २७ दिनोंमें सूर्यको प्रदक्षिण कर लेता है। अन्यान्य ग्रहोंकी तरह यूरेनस ग्रहके भी चार चन्द्र हैं। यूरेनसके बाद नेपच्युन ग्रह है। इसका व्यास ३४५०० मील है। यह ग्रह पृथिवीसे बहुत बड़ा है और यूरे-नससे भी बड़ा है। इसके पृष्ठसे सूर्य एक समुज्ज्वल तारेकी तरह दिखते हैं। नेपच्युनका अभी तक एक चन्द्र आविष्कृत हुआ है। यह ग्रह यूरेनसके कक्षसे ९८००००००० मील तथा सूर्यसे २७८०००००००० मील दूरपर रहकर प्रति मिनिट १८० मीलके हिसाबसे ६०१२६ दिन अर्थात् पृथिवीके प्रायः एक सौ पैंसठ वर्षोंमें एक बार सूर्यको प्रदक्षिण करता है। नेपच्युनके आगे और कोई भी ग्रह अबतक आविष्कृत नहीं हुआ है। इसलिये यदि नेपच्युनको ही सूर्यमण्डलका सीमाग्रह अर्थात् अन्तिमग्रह कहा जाय तो इस सौर जगत् अर्थात् ब्रह्माण्डका व्यास ५७२०००००००० मील और इसकी परिधि १७००००००-०००० मील होती है। यही अनन्त आकाशमें अविराम भ्रमणशील हमारे ब्रह्माण्डका आनुमानिक परिमाण है, जिसकी केन्द्रशक्ति तथा समस्त प्रकाशके एक मात्र आकर-रूपसे भगवान् भास्करदेव उल्लिखित परिधिके अन्तर्गत २६८ ग्रहोपग्रहमालाओंको स्वकीय अनुपम शक्तिजाल तथा किरणजालके द्वारा उद्भासित करते हुए अपने समस्त परिवार सहित द्रुततम वेगसे महासूर्यरूप ध्रुवकी चारों ओर निशि-दिन नियमित रूपसे प्रदक्षिण कर रहे हैं। सूर्यका व्यास ८५२६०० मील है और परिधि २६७६४७० मील है। अपने परिवार-स्थित समस्त ग्रहउपग्रहोंको साथ लेकर सूर्य भी प्रति सेकण्ड ४ मील अथवा प्रति घण्टा १४४०० मीलके हिसाबसे चक्रभ्रमण कर रहे हैं। यही पञ्चभूतमय स्थूल ब्रह्माण्ड है। ऐसे ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों द्वारा श्रीभगवान्का विराट् स्थूल देह सुशोभित है। यही अनादि अनन्त आध्यात्मिक सृष्टिका मन-वचन-बुद्धिसे अगोचर लोकोत्तरचमत्कार स्वरूप है। अतःपर ब्रह्माण्डमें जीव-सृष्टि तथा दैवीसृष्टिका वर्णन किया जायगा।

परमात्मासे प्रकृति तथा समस्त जड़-चेतनात्मक सृष्टिकी उत्पत्तिके विषयमें श्रुतिने कहा है:—

"यतः प्रसूता जगतः प्रसूतिः"

"मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।
तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत्॥"
"तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि।"
"एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥"

विश्वप्रसविनी प्रकृतिमाता परमात्मासे ही उत्पन्न होती है। प्रकृति माया और परमात्मा उसके प्रेरक मायी हैं। उन्हींके शरीरसे उत्पन्न अगणित जीवोंके द्वारा समस्त जगत् परिव्याप्त है। समस्त देवतागण, साध्यगण, मनुष्यगण तथा पशु पक्षी आदि चराचर समस्त जीव उन्हींसे उत्पन्न हुए हैं। पञ्चप्राण, अन्तःकरण, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, आकाश, वायु, अग्नि, जल और विश्वधात्री पृथिवी सभी उनसे उत्पन्न हुए हैं। महाभूतादि महत्तत्वान्त समस्त तथा आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त सकल प्राणी किस आधारसे नवीन ब्रह्माण्ड-सृष्टिके समय प्रकृतिमें उत्पन्न होते हैं, इसके लिये श्रुति कहती है कि—

"यथापूर्वमकल्पयद्दिवं च पृथिवींश्चान्तरीक्षमथो स्वः"

द्युलोक, पृथिवीलोक, अन्तरीक्षलोक तथा चराचर समस्त जीव पूर्व सृष्टिके अनुसार ही नवीन ब्रह्माण्ड सृष्टिके समय उत्पन्न होते हैं। महाभूतादि तो स्वाभाविकरूपसे पूर्वकी तरह उत्पन्न हो ही जाते हैं; एतदतिरिक्त मनुष्यादि समस्त जीव भी प्रलयके समय जो जिस दशामें जिन जिन कर्मोंके साथ लय हो गये थे, उन्हीं उन्हीं कर्मोंके वेगसे ठीक तदनुसार योनियोंको प्राप्त हो जाते हैं। पूर्व सृष्टिमें जो मनुष्य थे वह मनुष्य ही बनते हैं, जो देवता थे वह देवता ही बनते हैं, जो पशु थे सो पशु ही बनते हैं, जो उन्नत लोकके जीव थे वह उन्नत लोकमें ही उत्पन्न होते हैं, जो अधोलोकके जीव थे वह अधोलोकमें ही उत्पन्न होते हैं, यही श्रुत्युक्त 'यथापूर्व' शब्दका तात्पर्य है। श्रीभगवान् मनुजीने भी अपनी संहितामें लिखा है:—

यं तु कर्माणि यस्मिन्स न्ययुङ्क्त प्रथमं प्रभुः।
स तदेव स्वयं भेजे सृज्यमानः पुनः पुनः॥
हिंस्राहिंस्रे मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद् यस्य सोऽदधात्सर्गे तत्तस्य स्वयमाविशत्॥
यथर्त्तुलिङ्गान्यृतवः स्वयमेवर्त्तुपर्यये।

स्वानि स्वान्यभिपद्यन्ते तथा कर्माणि देहिनः ॥
एवमेतैरिदं सर्वं मन्नियोगान्महात्मभिः ।
यथाकर्म तपोयोगात्सृष्टं स्थावरजङ्गमम् ॥

स्वभावके अनुसार जिस जीवका जो कर्म प्रथम उत्पन्न हुआ था प्रत्येक सृष्टिमें उसीके अनुसार उसकी चेष्टा तथा जन्म होता है। हिंस्र सिंहादि, हिंसाशून्य हरिणादि, मृदुप्रकृति ब्राह्मणादि, क्रूरप्रकृति क्षत्रियादि, धर्म, अधर्म, सत्य, मिथ्या—जिसमें पूर्व सृष्टिमें जो बातें थीं उसीके अनुसार सृष्टि होती है और ऐसी ही प्रकृति तथा प्रवृत्तिको जीव प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार भिन्न भिन्न ऋतुओंके आगमनके समय प्रकृतिमें स्वतः ही तदनुसार वृक्षलतादिकोंका परिवर्त्तन हो जाता है ऐसे ही पूर्वकर्मानुसार स्वतः ही जीवोंका जन्म तथा उनमें भिन्न भिन्न प्रवृत्ति होने लगती है। श्रीभगवान् ब्रह्माकी आज्ञासे मरीचि अत्रि आदि प्रजापतिगण तपोनुष्ठान द्वारा स्थावर जङ्गमात्मक समस्त सृष्टि इसी प्रकारसे समष्टि जीवोंके प्राक्तनानुसार करते हैं। यह सब सृष्टि वैजी है या मानसी, इसके विषयमें आर्यशास्त्र कहता है कि, समस्त प्राथमिक सृष्टि मानसी ही हुआ करती है। श्रुतिमें लिखा है—

"मनसा साधु पश्यति मानसाः प्रजा असृजन्त"

सृष्टिके समय प्रजापति ब्रह्माजीने मनःसंयम द्वारा समष्टि-जीवोंके प्राक्तन कर्मोंको ठीक ठीक देखकर मानसी सृष्टिकी। महाभारतमें लिखा है—

प्रजापतिरिदं सर्वं मनसैवासृजत् प्रभुः ।
तथैव देवानृषयस्तपसा प्रतिपेदिरे ॥
आदिदेवसमुद्भूता ब्रह्ममूलाऽक्षयाऽव्यया ।
सा सृष्टिर्मानसी नाम धर्मतन्त्रपरायणा ॥

प्रजापति ब्रह्माने समस्त जीवों तथा देवताओंकी सृष्टि मनसे ही की थी और महर्षियोंने भी आदि कालमें तपस्याके द्वारा मानसी सृष्टि की थी। आदिदेव ब्रह्मासे जो अक्षय, अव्यय, वेदमूलक, धर्मतन्त्रपरायण सृष्टि हुई थी जो सनक, सनन्दन आदि सिद्ध, मरीचि अत्रि आदि प्रजापति तथा उनसे उत्पन्न आदि पुरुष ब्राह्मणगण थे। ये सब सृष्टि ब्रह्माजीकी मानसी सृष्टि थी। इन सब सृष्टियोंको आर्यशास्त्रमें दस भागोंमें विभक्त किया गया है। यथा श्रीमद्भागवतमें—

आद्यस्तु महतः सर्गो गुणवैषम्यमात्मनः ।
द्वितीयस्त्वहमो यत्र द्रव्यज्ञानक्रियोदयः ॥
भूतसर्गस्तृतीयस्तु तन्मात्रो द्रव्यशक्तिमान् ।
चतुर्थ ऐन्द्रियः सर्गो यस्तु ज्ञानक्रियात्मकः ॥
वैकारिको देवसर्गः पञ्चमो यन्मयं मनः ।
षष्ठस्तु तमसः सर्गो यस्त्वबुद्धिकृतः प्रभोः ॥
षडिमे प्राकृताः सर्गा वैकृतानपि मे शृणु ।
रजोभाजो भगवतो लीलेयं हरिमेधसः ॥
सप्तमो मुख्यसर्गस्तु षड्विधस्तस्थुषां च यः ।
वनस्पत्योषधिलतात्वक्सारा वीरुधो द्रुमाः ॥
उत्स्रोतसस्तमःप्राया अन्तःस्पर्शा विशेषिणः ।
तिरश्चामष्टमः सर्गः सोऽष्टाविंशद्विधो मतः ॥
अविदो भूरितमसो घ्राणज्ञा हृद्यवेदिनः ।
गौरजो महिषः कृष्णः शूकरो गवयो रुरुः ।
द्विशफाः पशवश्चेमे अविरुष्ट्रश्च सत्तम ! ॥
खरोऽश्वोऽश्वतरो गौरः शरभश्चमरी तथा ।
एते चैकशफाः क्षत्तः ! शृणु पञ्चनखान् पशून् ॥
श्वा शृगालो वृको व्याघ्रो मार्जारः शशशल्लकौ ।
सिंहः कपिर्गजः कूर्मो गोधा च मकरादयः ॥
कङ्कगृध्रवकश्येनभासभल्लूकबर्हिणः ।
हंससारसचक्राह्वकाकोलूकादयः खगाः ॥
अर्वाक्स्रोतस्तु नवमः क्षत्तरेकविधो नृणाम् ।
रजोऽधिकाः कर्मपरा दुःखे च सुखमानिनः ॥
वैकृतास्त्रय एवैते देवसर्गश्च सत्तम ! ।
वैकारिकस्तु यः प्रोक्तः कौमारस्तूभयात्मकः ॥
देवसर्गश्चाष्टविधो विबुधाः पितरोऽसुराः ।

गन्धर्वाप्सरसः सिद्धा यक्षरक्षांसि चारणाः ॥
भूतप्रेतपिशाचाश्च विद्याध्राः किन्नरादयः ।
दशैते विदुराख्याताः सर्गास्ते विश्वसृक्कृताः ॥

प्रकृतिके गुणवैषम्यसे प्रथम सृष्टि महत्तत्त्वकी है, द्वितीय सृष्टि अहं-तत्त्वकी है, जो द्रव्यात्मक, क्रियात्मक और ज्ञानात्मक सृष्टिका उत्पन्न करने वाला है। तृतीय सृष्टि सूक्ष्मतत्त्व या सूक्ष्म तन्मात्राकी है जिसमें द्रव्य अर्थात् स्थूल पञ्चमहाभूत उत्पन्न करनेकी शक्ति है। चतुर्थ सृष्टि ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रियकी है। पञ्चम सृष्टि इन्द्रियाधिष्ठात्री देवता तथा मनकी है। षष्ठ-सृष्टि तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्धतामिस्र नामक पञ्चपर्वा अवि-द्याकी है जो अबुद्धिपूर्वक स्वतः उत्पन्न होती है और आवरणविक्षेप धर्मी होती है। ये छः प्रकारकी सृष्टियाँ प्राकृतिक हैं। तदनन्तर विकृतिसे जो सृष्टि उत्पन्न होती है उसका वर्णन है। सप्तम सृष्टि स्थावर उद्भिज्जोंकी है जिसके छः भाग हैं। यथाः—वनस्पति, ओषधि, लता, त्वक्सार, बांस आदि कठिन लतावृक्ष और द्रुम (जिसमें फूलसे फल होता है)। उद्भिज्जोंके साधारण लक्षण ये हैं कि इनमें आहार सञ्चार नीचेसे ऊपरकी ओर होता है, ये अव्यक्तचैतन्य, अन्तःसंज्ञायुक्त और अव्यवस्थित परिणामादि अनेक भेदयुक्त होते हैं। यह सृष्टि ऊर्ध्व-स्रोत है। तदनन्तर तिर्यक्स्रोत जीवोंकी सृष्टि होती है जिसमें स्वेदज, अण्डज और जरायुज पशु अन्तर्निविष्ट हैं। तिर्यक् स्रोत जीव उसे कहते हैं जिसमें आहार सञ्चार वक्र भावसे होता है। इनके अट्ठाइस भेद हैं। अपने स्तनादिकी ज्ञानशून्यता, आहारादिमात्र-निष्ठा, घ्राणसे जान लेनेकी शक्ति और दीर्घानुसन्धानशून्यता—ये सब तिर्यक् स्रोत जीवोंके लक्षण हैं। इनके अट्ठाईस भेद इस प्रकारके हैंः—गौसे लेकर उष्ट्र पर्यन्त दो खुर वाले जीव नौ प्रकारके हैं। गधेसे चमरी तक एक खुर वाले छः प्रकारके जीव हैं। कुत्तेसे लेकर गोधा तक पञ्चनखवाले जीव बारह प्रकारके हैं। ये सत्ताईस भेद हुए। इसके सिवाय अट्ठाईसवेंमें मकरादि अण्डज जलजन्तु, गृध्र कङ्कादि अण्डज, खेचर पक्षी तथा मशक मत्कुणादि स्वेदज समझना चाहिये जिनमें तिर्यक्स्रोतके सब लक्षण मिलते हैं। अण्डज और स्वेदजके विषयमें मनुसंहितामें लिखा हैः—

अण्डजाः पक्षिणः सर्पा नक्रा मत्स्याश्च कच्छपाः।
यानि चैवंप्रकाराणि स्थलजान्यौदकानि च ॥

स्वेदजं दंशमशकं यूकामक्षिकमत्कुणम्।
ऊष्मणश्चोपजायन्ते यच्चान्यत्किंचिदीदृशम्॥

जिसमें पहले अण्ड होकर पीछे जीव उत्पन्न होता है, ऐसे पक्षी, सर्प, मगर, मत्स्य, कच्छप, कृकलास, शङ्ख, शुक्ति आदि स्थलज जलज जीव अण्डज हैं। स्वेद, मैल अथवा उत्तापके कारण जो उत्पन्न हो जाते हैं ऐसे मशक, मक्षिका, मत्कुण आदि जीव स्वेदज कहलाते हैं। इसमें नाना प्रकारके कीटाणु (germs) भी शामिल समझे जायँ। सृष्टिक्रमके अनुसार उद्भिज्ज सृष्टिके बाद स्वेदज सृष्टि, तदनन्तर अण्डज सृष्टि और तदनन्तर पशुओंकी सृष्टि होना ऊपर कथित वर्णनोंसे समझना चाहिये। तदनन्तर नवम सृष्टि मनुष्योंकी है जो अर्वाक्स्रोत अर्थात् अधःस्रोत सृष्टि है। इसमें आहार सञ्चार ऊपरसे नीचेकी ओर होनेसे इसको अर्वाक्स्रोतसृष्टि कहा गया है। रजोगुणका अधिक होना, कर्म-प्रधानता होना तथा दुःखमें सुखज्ञान होना इस सृष्टिका लक्षण है। यही महत्तत्त्वसे लेकर मनुष्य पर्यन्त नवविध सृष्टिका क्रम है। इसके सिवाय एक दशम सृष्टि है जिसको दैवी सृष्टि कहते हैं। महत्तत्त्वादि सृष्टि जो छः भागोंमें विभक्त है सो प्राकृत सृष्टि है। उसके बाद सप्तम, अष्टम, नवम सृष्टि जिसमें उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज पशु और जरायुज मनुष्य हैं ये सब विकृतिसे उत्पन्न वैकृत-सृष्टि हैं। दैवी सृष्टि जो दशम है उसमें कई प्रकार हैं। यथा, इन्द्रियाधिष्ठात्री देवतागण वैकारिक सृष्टिके अन्तर्गत हैं जिसका वर्णन प्राकृत सृष्टिके भीतर पहले ही किया गया है। सनक, सनन्दनादियोंकी सृष्टि वैकारिक वैकृत—उभयात्मक है; क्योंकि, वे सब मनुष्यसृष्टि होनेपर भी देवकोटिके मनुष्य हैं और अन्यान्य देवतागण इन्द्रियाधिष्ठात्री देवताओंसे न्यून होनेसे वैकृत सृष्टिसे ही सम्पर्क रखते हैं। तथापि देवयोनि होनेके कारण इनको वैकारिक सृष्टिके भी अन्तर्गत कर सकते हैं। वैकृत देव-सृष्टि आठ प्रकारकी होती है। यथा, विबुध अर्थात् देवता और ऋषि, पितर और असुर ये तीन प्रकारकी सृष्टि, गन्धर्व और अप्सरा एक प्रकारकी, यक्ष-रक्ष एक प्रकारकी, भूत प्रेत पिशाच एक प्रकारकी, सिद्धचारण विद्याधर एक प्रकारकी और किन्नरादि एक प्रकारकी—इस प्रकारसे देवसृष्टि आठ प्रकार-की कही गई है। इन आठ प्रकारकी दैवीसृष्टियोंमें देवता, ऋषि, पितर और असुर—ये सृष्टियाँ प्रधान हैं। यही ब्रह्माण्डान्तर्गत चेतन-जडात्मिका दशविध सृष्टि है जिसके जीव चतुर्दशभुवनमय ब्रह्माण्डके भीतर निज निज कर्मानुसार

पृथक् पृथक् स्थानमें रहकर नियति-चक्रमें मुक्तिपर्यन्त परिभ्रमण करते रहते हैं। महदादि मनुष्यान्त सृष्टिके क्रमके विषयमें विष्णुपुराणमें निम्नलिखित वर्णन प्राप्त होते हैं। यथा—

सृष्टिं चिन्तयतस्तस्य कल्पादिषु यथा पुरा ।
अबुद्धिपूर्वकः सर्गः प्रादुर्भूतस्तमोमयः ॥
तमो मोहो महामोहस्तामिस्रो ह्यन्धसंज्ञितः ।
अविद्या पञ्चपर्वैषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥
पञ्चधावस्थितः सर्गो ध्यायतोऽप्रतिबोधवान् ।
बहिरन्तोऽप्रकाशश्च संवृतात्मा नगात्मकः ॥
मुख्या नगा यतश्चोक्ता मुख्यसर्गस्ततस्त्वयम् ।
तं दृष्ट्वा साधकं सर्गममन्यदपरं पुनः ॥
तस्याभिध्यायतः सर्गं तिर्यक्स्रोताभ्यवर्त्तत ।
यस्मात्तिर्यक्प्रवृत्तः स तिर्यक्स्रोतास्ततः स्मृतः ॥
पश्वादयस्ते विख्यातास्तमःप्राया ह्यवेदिनः ।
उत्पथग्राहिणश्चैव तेऽज्ञाने ज्ञानमानिनः ॥
अहंकृता अहम्माना अष्टाविंशद्वधात्मकाः ॥
अन्तः प्रकाशास्ते सर्वे आवृताश्च परस्परम् ॥

पूर्वकल्पकृत सृष्टिके विषयमें ब्रह्माके चिन्ता करते करते अबुद्धिपूर्वक तमोमोहादि पञ्चपर्वा सृष्टि प्रकट हुई। तदनन्तर सृष्टिके विषयमें ध्यान करते करते अज्ञानयुक्त, भीतर बाहर प्रकाशहीन, मूढस्वभाव स्थावरसृष्टि पञ्चधा प्रकट हुई। जीव-सृष्टिमें इसलिये स्थावर उद्भिज्जमयी सृष्टि ही मुख्य है। तदनन्तर इस सृष्टिको असम्पूर्ण जानकर ब्रह्माजीने पुनरपि ध्यान किया जिससे तिर्यक्-स्रोत स्वेदज, अण्डज तथा पश्वादिकी सृष्टि प्रकट हुई। यह सृष्टि तमः-प्रधान, ज्ञानलक्ष्य-शून्य, नियमित ऊर्द्धपथगामी, अज्ञानमें अभिमानयुक्त, अहंकृत, अभिमानी, अट्ठाईस प्रकारके वधसे युक्त और ऐसा होनेपर भी अन्तः प्रकाश और परस्परावृत हैं अर्थात् मनुष्यके नीचेकी जितनी सृष्टि है उन सब जीवोंमें पञ्चकोशोंका पूर्णविकाश न होनेसे उनमें आत्माकी कलाका पूर्ण विकाश न होनेपर भी उनके अन्तःकरणमें आत्माकी कला विद्यमान

रहती है। यही अन्तःप्रकाश शब्दका तात्पर्य है और परस्परावृत शब्दका तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें जैसी स्वाधीनता (individuality) आजाती है वह भाव अन्य अन्य जीवोंमें नहीं है और अन्य सब जीवकी श्रेणियां एक एक देवता द्वारा चालित होनेसे आत्मसंघ (Group Soul) विशिष्ट हैं। यही परस्परावृतका तात्पर्य है। तदनन्तर कौन सृष्टि हुई, इसके विषयमें विष्णुपुराणमें लिखा है:—

तमप्यसाधकं मत्वा ध्यायतोऽन्यस्ततोऽभवत् ।
ऊर्द्ध्वस्रोतास्तृतीयस्तु सात्त्विकोर्द्ध्वमवर्त्तत॥
ते सुखप्रीतिबहुला बहिरन्तस्त्वनावृताः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च ऊर्द्ध्वस्रोतोभवाः स्मृताः ॥
तुष्टात्मनस्तृतीयस्तु देवसर्गस्तु स स्मृतः ।
तस्मिन् सर्गेऽभवत् प्रीतिर्निष्पन्ने ब्रह्मणस्तदा ॥
ततोऽन्यं स तदा दध्यौ साधकं सर्गमुत्तमम् ।
असाधकाँस्तु तान् ज्ञात्वा मुख्यसर्गादिसम्भवान् ॥
तथाभिध्यायतस्तस्य सत्याभिध्यायिनस्ततः ।
प्रादुर्बभूव चाव्यक्तादर्वाक्स्रोतस्तु साधकम् ॥
यस्मादर्वाक् प्रवर्त्तन्ते ततोऽर्वाक्स्रोतसस्तु ते ।
ते च प्रकाशबहुलास्तमोद्रिक्ता रजोऽधिकाः ॥
तस्मात्ते दुःखबहुला भूयोभूयश्च कारिणः ।
प्रकाशा बहिरन्तश्च मनुष्याः साधकाश्च ते ॥

पश्वादि सृष्टिको भी असाधक जानकर पुनरपि ब्रह्माजीने ध्यान किया जिससे ऊर्द्ध्ववासी ऊर्द्ध्वस्रोता सात्त्विक सृष्टि प्रकट हुई। यह सृष्टि सुखप्रीतियुक्त बहिरन्तःप्रकाश देव सृष्टि है जिससे ब्रह्माजीको सन्तोष प्राप्त हुआ। तदनन्तर इन सभीको असाधक जानकर एक साधक-सृष्टिके लिये ब्रह्माजीने ध्यान किया। सत्याभिध्यानशील ब्रह्माके ध्यान करनेपर अव्यक्तसे अर्वाक्स्रोत साधक मनुष्योंकी सृष्टि हुई। यह सृष्टि प्रकाशबहुल, तमोद्रिक्त, रजोधिक है। इसलिये मनुष्यगण दुःख-बहुल भूयोभूयः कर्मकारी, बहिरन्तःप्रकाश और साधक होते हैं। इस तरहसे जीव-सृष्टिका क्रम बताकर अन्तमें विष्णुपुराणमें कहा है—

प्रथमो महतः सर्गो विज्ञेयो ब्रह्मणस्तु सः ।
तन्मात्राणां द्वितीयस्तु भूतसर्गस्तु स स्मृतः ॥
वैकारिकस्तृतीयस्तु सर्ग ऐन्द्रियकः स्मृतः ।
इत्येष प्राकृतः सर्गः सम्भूतोऽबुद्धिपूर्वकः ॥
मुख्यसर्गश्चतुर्थस्तु मुख्या वै स्थावराः स्मृताः ।
तिर्यक्स्रोतास्तु यः प्रोक्तस्तैर्यग्योन्यः स उच्यते ॥
ऊर्द्धस्रोतास्ततः षष्ठो देवसर्गस्तु स स्मृतः ।
ततोऽर्वाक्स्रोतसः सर्गः सप्तमः स तु मानुषः ॥
अष्टमोऽनुग्रहः सर्गः सात्त्विकस्तामसश्च सः ।
पञ्चैते वैकृताः सर्गाः प्राकृतास्तु त्रयः स्मृताः ॥
प्राकृतो वैकृतश्चैव कौमारो नवमः स्मृतः ।
इत्येते वै समाख्याता नव सर्गाः प्रजापतेः ॥

प्रथम सृष्टि महत्तत्त्व, द्वितीय सूक्ष्म महाभूत, तृतीय इन्द्रिय-समूह हैं, जिनको प्राकृत सृष्टि कहते हैं और जो अबुद्धिपूर्वक स्वाभाविकरूपसे उत्पन्न होती है। चतुर्थ सृष्टि स्थावरोंकी है जो मुख्यसृष्टि कहलाती है। पञ्चम सृष्टि तिर्यक्-स्रोता पशु पक्षी आदियोंकी है। षष्ठ सृष्टि देवताओंकी है। सप्तम सृष्टि मनुष्योंकी है। अष्टम सृष्टिका नाम अनुग्रह है जो सात्त्विक और तामसिक है। पूर्वोक्त तीन सृष्टि प्राकृत और शेषोक्त पांच वैकृत हैं। सनक सनन्दनादिकी सृष्टि नवम है जो प्राकृत वैकृत-उभयात्मक है। यही नवधा सृष्टिका क्रमपर्याय है। असुर, देवता, पितर आदिके क्रमपर्यायके विषयमें पुनः विष्णुपुराणमें लिखा है:—

कर्मभिर्भाविताः पूर्वैः कुशलाकुशलैस्तु ताः ।
ख्यात्या तया ह्यनिर्मुक्ताः संहारे ह्युपसंहृताः ॥
स्थावरान्ताः सुराद्यास्तु प्रजा ब्रह्मँश्चतुर्विधाः ।
ब्रह्मणः कुर्वतः सृष्टिं जज्ञिरे मानसास्तु ताः ॥
ततो देवासुरपितॄन् मानुषाँश्च चतुष्टयम् ।
सिसृक्षुरम्भांस्येतानि स्वमात्मानमयूयुजत् ॥

युक्तात्मनस्तमोमात्रा उद्रिक्ताभूत् प्रजापतेः ।
सिसृक्षोर्जघनात् पूर्वमसुरा जज्ञिरे ततः ॥
उत्ससर्ज ततस्तान्तु तमोमात्रात्मिकां तनुम् ।
सा तु त्यक्ता ततस्तेन मैत्रेयाभूद् विभावरी ॥
सिसृक्षुरन्यदेहस्थः प्रीतिमाप ततः सुराः ।
सत्त्वोद्रिक्ताः समुद्भूता मुखतो ब्रह्मणो द्विज ॥
त्यक्ता सा तु तनुस्तेन सत्त्वप्रायमभूद्दिनम् ।
ततो हि बलिनो रात्रावसुरा देवता दिवा ॥
सत्त्वमात्रात्मिकामेव ततोऽन्यां जगृहे तनुम् ।
पितृवन्मन्यमानस्य पितरस्तस्य जज्ञिरे ॥
उत्ससर्ज पितॄन् सृष्ट्वा ततस्तामपि स प्रभुः ।
सा चोत्सृष्टाभवत् सन्ध्या दिननक्तान्तरस्थितिः ॥
रजोमात्रात्मिकामन्यां जगृहे स तनुं ततः ।
रजोमात्रोत्कटा जाता मनुष्या द्विजसत्तम ॥

जीव-समूह शुभाशुभ प्राक्तन कर्म द्वारा विजड़ित हैं इसलिये महाप्रलयके समय जीव-समूह प्रलय गर्भमें लवलीन होने पर भी प्राक्तन संस्कार जीवको परित्याग नहीं करता है। अतः सृष्टि-कालमें प्रलयविलीन इन्हीं संस्कारोंके अनुसार पितामह ब्रह्माजी सुरादि स्थावरान्त चतुर्विध प्रजाओंकी उत्पत्ति करते हैं। ये सभी सृष्टि मानसी सृष्टि है अर्थात् ब्रह्माके सङ्कल्प द्वारा ये सब सृष्टियाँ होती हैं, किसी प्रकार मैथुन-सम्बन्ध द्वारा नहीं। ऋषि-देवता, असुर, पितर और मनुष्य-सृष्टिका क्रम यह है कि सिसृक्षु ब्रह्माके सृष्टिकार्यमें शरीरयोजना करनेके समय प्रथमतः तमोमात्राका उद्रेक हुआ इसी कारण ब्रह्माके जघनदेश से प्रथमतः असुरगण उत्पन्न हुए। तदनन्तर उस तमोभावका परित्याग करनेसे, परित्यक्त वह तमोमात्रा रात्रि हो गई। पुनरपि सिसृक्षु ब्रह्माजीने अन्यदेहस्थ तथा सत्त्वभावमें भावित होकर प्रीति प्राप्त की इस कारण उनके मुखसे सत्त्वोद्रिक्त ऋषि और देवगण उत्पन्न हुए और उनके द्वारा परित्यक्त वह शरीर दिन हो गया। इसलिये असुरगण रात्रिमें और देवतागण

दिनमें बलवान् होते हैं। अनन्तर ब्रह्माजीने सत्त्वमात्रमय अन्य शरीर ग्रहण किया जिससे उनके पार्श्व-देशसे पितृगण उत्पन्न हुए। पितरोंकी सृष्टि करके उस तनुको त्याग करने पर परित्यक्त वह शरीर दिवा रात्रिके अन्तर्वर्त्ती सन्ध्या हो गया। इसलिये पितृगण सन्ध्याकालमें बलशाली होते हैं। तदनन्तर ब्रह्माजी ने रजोमात्रात्मक अन्य शरीर ग्रहण किया जिससे रजःप्रधान मनुष्यों-की उत्पत्ति हुई। परित्यक्त वह शरीर प्रातः काल हो गया। इसलिये मनुष्यगण प्रातःकालमें बलशाली होते हैं। इससे मनुष्यसृष्टिकी देवता-सृष्टिसे भी उन्नत दशा सिद्ध हुई क्योंकि मनुष्यसे ही देवता होते हैं और मुक्ति भी मनुष्य-योनिसे ही सम्भव है। यही देवासुर-मनुष्यादि-सृष्टिका शास्त्रोक्त क्रम है। वेदमें भी—

"तत्र कानीयसा देवा ज्यायसाश्चासुराः"

ऐसा वर्णन करके असुरको ज्येष्ठ और देवताओंको कनिष्ठ कहा है, सो पुराणोक्त सृष्टिके अनुकूल है। यही महत्तत्त्वसे लेकर स्थूल पञ्चमहाभूत पर्यन्त जड़सृष्टि और स्थावर उद्भिज्जसे लेकर देवतादि-क्रमसे मनुष्य पर्यन्त चेतन-सृष्टिका यथाक्रम शास्त्रोक्त वर्णन है जिस पर विचार करने से मुमुक्षु साधकको सृष्टि-रहस्यका सम्यक् परिज्ञान हो सकता है।

ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी गति चक्रावर्त्तकी तरह होनेके कारण व्यष्टि-सृष्टिका प्रवाह नीचेसे ऊपरकी ओर अर्थात् तमोगुणसे सत्त्वगुणकी ओर चलता है, परन्तु समष्टि-सृष्टिका प्रवाह ऊपरसे नीचेकी ओर अर्थात् सत्त्वगुणसे तमो-गुणकी ओर चलता है। इसलिये ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें सृष्टिके समय सत्त्वगुणमय सत्ययुग पहले आता है और क्रमशः रजोगुण और तमोगुणकी भी अभिव्यक्ति होकर सत्ययुगके बाद सत्त्वरजःप्रधान त्रेतायुग, तदनन्तर रजस्तमःप्रधान द्वापरयुग और तदनन्तर तमःप्रधान कलियुगका उदय होता है। इसी प्रकार चार युगोंका चक्र लाखों बार चलता रहता है और ब्रह्माण्ड-प्रकृति भी धीरे धीरे गुण-परिणाम द्वारा सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर झुकती जाती है और अन्तमें तमोगुणका पूर्ण प्रभाव तथा रजःसत्त्वगुणकी पूर्ण अभिभूति होजानेसे समस्त ब्रह्माण्डप्रकृति पर घोर तमोगुण परिव्याप्त हो जाता है जिससे समस्त ब्रह्माण्डमय महाप्रलयका उदय होजाता है। यही ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी चक्रावर्त्त-गति है। इससे यह सिद्धान्त निश्चय होता है कि ब्रह्माण्डप्रकृतिमें प्रथमतः सत्त्वगुणका प्रकाश होनेसे सृष्टिकालमें प्रथम मानव पूर्णसत्त्वगुणमय होंगे और

दैवजगत्‌में उससे ठीक विपरीत होगा क्योंकि ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति नीचे-की ओर होनेसे उस गतिके सञ्चालक तामसिक-शक्ति असुर प्रथम उत्पन्न होंगे और तत्पश्चात् सत्त्वगुणके सञ्चालक देवतागण उत्पन्न होंगे। यही कारण है कि दैवसृष्टिमें प्रथम असुर और तत्पश्चात् देवता उत्पन्न होते हैं और मानव-सृष्टिमें प्रथम पूर्ण पुरुष उत्पन्न होकर क्रमशः अधिकार तारतम्यानुसार सृष्टि-प्रवाह नीचेकी ओर चलता है। यथा श्रीमद्भागवतमें—

भगवद्ध्यानपूतेन मनसाऽन्यांस्ततोऽसृजत् ।
सनकञ्च सनन्दञ्च सनातनमथात्मभूः ॥
सनत्कुमारं च मुनीन् निष्क्रियानूर्द्ध्वरेतसः ।
तान् बभाषे स्वभूः पुत्रान् प्रजाः सृजत पुत्रकाः ॥
ते नैच्छन्मोक्षधर्माणो वासुदेवपरायणाः ।

परमात्माके ध्यानसे पवित्रचित्त ब्रह्माजीने मनसे सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार नामक चार पुत्र प्रथमतः उत्पन्न किये। ब्रह्माण्ड-प्रकृति-की प्रथम अभिव्यक्ति होनेसे ये चार पुत्र ऊर्द्ध्वरेता और कर्ममार्गमें पूर्ण अनासक्त थे। इसलिये इनसे ब्रह्माजीने जब प्रजासृष्टि करनेको चाहा तो इन्होंने अस्वीकार किया और मोक्षधर्मपरायण हो परमात्मामें रम गये। यह पूर्ण सात्त्विक प्रथम सृष्टि है। इसके बाद कौन सृष्टि हुई थी, इसके विषयमें भागवतमें लिखा है—

अथाभिध्यायतः सर्गं दश पुत्राः प्रजज्ञिरे ।
भगवच्छक्तियुक्तस्य लोकसन्तान-हेतवः ॥
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृगुर्वशिष्ठो दक्षश्च दशमस्तत्र नारदः ॥
उत्सङ्गान्नारदो जज्ञे दक्षोऽङ्गुष्ठात् स्वयम्भुवः ।
प्राणाद् वशिष्ठः सञ्जातो भृगुस्त्वचि करात् क्रतुः ॥
पुलहो नाभितो जज्ञे पुलस्त्यः कर्णयोर्ऋषिः ।
अङ्गिरा मुखतोऽक्ष्णोऽत्रिर्मरीचिर्मनसोऽभवत् ॥

परमात्माकी शक्तिसे युक्त होकर ब्रह्माजीने जब पुनरपि ध्यान किया तो

प्रजावृद्धि-कर दश पुत्र उत्पन्न हुए। उनके नाम मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृगु, वशिष्ठ, दक्ष और नारद हुए। ब्रह्माजीके अङ्कसे नारद उत्पन्न हुए, अङ्गुष्ठसे दक्ष, प्राणसे वशिष्ठ, त्वक्से भृगु, करसे क्रतु, नाभिसे पुलह, कर्णसे पुलस्त्य, मुखसे अङ्गिरा, चक्षुसे अत्रि और मनसे मरीचि उत्पन्न हुए। ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति निम्नाभिमुखिनी होनेसे इन दस मानस पुत्रोंकी इच्छा सृष्टि करनेकी ओर हुई। ये पूर्वोक्त चार पुत्रोंकी तरह पूर्ण-निष्काम नहीं हुए। इसलिये इनको प्रजापति कहते हैं। इन्होंने ब्रह्माजीकी आज्ञासे उनके द्वारा असृष्ट अनेक मानसी सृष्टि की। यथा-मनुसंहितामें—

एते मनूँस्तु सप्तान्यानसृजन्भूरितेजसः ।
देवान् देवनिकायांश्च महर्षींश्चामितौजसः ॥

इस प्रकारसे दस प्रजापतिओंमें ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके द्वितीय स्तरमें उत्पन्न होनेके कारण शुद्ध सत्त्वगुण न होकर कुछ रजोगुणका भी सम्पर्क हुआ जिससे उनमें सृष्टि करनेकी इच्छा हुई। परन्तु परमतेजस्वी होनेके कारण उनको मैथुनी सृष्टि नहीं करनी पड़ी। उन्होंने मनके ही बलसे प्रलयविलीन जीवोंको प्राक्तन-कर्मानुसार त्रिविध-शरीर-युक्त करके यथादेश-काल संस्थापित कर दिया। उनके द्वारा ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके तृतीय स्तरमें जो मानुषी सृष्टि हुई वह भी पूर्ण ब्राह्मणकी सृष्टि हुई: क्योंकि ब्रह्माण्डप्रकृतिके तृतीय स्तरमें भी सत्त्वगुणका विशेष प्रकाश और रजोगुणका स्वल्प प्रकाश रहनेके कारण सत्त्वगुण-प्रधान ब्राह्मणके लिये ही ब्रह्माण्ड-प्रकृतिका वह देशकाल अनुकूल था इसलिये उस सृष्टिमें ब्राह्मण ही उत्पन्न हुए, जैसा कि महाभारत-में कहा है—

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्राह्ममिदं जगत्"

प्रथम सृष्टिमें चातुर्वर्ण्यकी पृथक्ता नहीं थी, समस्त जगत् ब्राह्मणमय ही था। तदनन्तर ब्रह्माण्ड-प्रकृति जितनी निम्नाभिमुखिनी होती गई उतना ही उसमें रजोगुणका तथा तमोगुणका प्राधान्य और सत्त्वगुणका अप्राधान्य होता गया और तदनुसार एक ही सत्त्वप्रधान ब्राह्मणजातिके स्थानमें रजःसत्त्व-प्रधान क्षत्रियजाति, रजस्तमः-प्रधान वैश्य-जाति और तमःप्रधान शूद्रजाति-इस तरहसे चार जातियाँ बन गईं, जिसका विवरण पहले ही वर्णधर्मके अध्यायमें सविस्तर कहा जा चुका है। इस प्रकारसे एक वर्णसे कर्मवैचित्र्यके कारण

चारवर्ण बन जानेपर भी उनमें वेद-विहित आर्यजातीय आचार बहुत वर्षोंतक बना रहा। पश्चात् प्रकृति जितनी जितनी निम्नाभिमुखिनी होती गई, उतनी उतनी इन चारों वर्णोंमें निज निज आचारके प्रति भी उपेक्षा होती गई जिससे आर्यभावविच्युत म्लेच्छभाव-प्राप्त अनेक जातियाँ इन चारोंमेंसे बन गईं और वे सब भिन्न भिन्न देशमें जाकर हूण, दरद, खश, चीन आदि अनेक जातियाँ बन गईं। यथा महाभारतमें—

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः ।
धर्मो यज्ञक्रिया तेषां नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती ।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥
ब्राह्मणा ब्रह्मतन्त्रस्थास्तपस्तेषां न नश्यति ।
ब्रह्म धारयतां नित्यं व्रतानि नियमांस्तथा ॥
ब्रह्म चैव परं सृष्टं ये न जानन्ति तेऽद्विजाः ।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्र तत्र हि जातयः ॥
पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः ।
प्रनष्टज्ञानविज्ञानाः स्वच्छन्दाचारचेष्टिताः ॥

ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके तृतीय स्तरमें उत्पन्न ब्राह्मणगण क्रमशः हीनवर्ण होकर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णोंमें विभक्त हो गये। तथापि इन चार वर्णोंके धर्मानुकूल आचार तथा यज्ञक्रियादि नष्ट नहीं हुई। वे अपने अपने अधिकारानुसार वैदिक क्रिया-कलापोंका अनुष्ठान करते रहे। परन्तु कुछ वर्षोंके बाद लोभके कारण उनमें भी बहुत अज्ञान फैल गया। उनमेंसे जो ब्राह्मणगण वेदानुसार व्रतनियमादिमें तत्पर रहे वे तो अपने वर्णमें स्थित रहे और जो पीछेसे कुछ लोग उनमें उत्पन्न हुए, वे सब आचारभ्रष्ट, वेदभ्रष्ट, नियमभ्रष्ट होनेके कारण अनेक प्रकारके अनार्य-जातीय बन गये। उन्हींकी पिशाच, राक्षस, म्लेच्छ आदि संज्ञा हुई। वे सब स्वच्छन्द आहार विहार करने वाले, ज्ञान-विज्ञान-शून्य, परमात्मासे विमुख, इन्द्रिय-परतन्त्र, आधिभौतिक सुखको ही सर्वस्व मानने वाले अनार्य अथवा म्लेच्छ-जातिके लोग हैं। जो भारतवर्षसे बाहर भी जाकर पृथ्वीमें सर्वत्र निवास करने लगे।

इनकी उत्पत्तिके विषयमें आर्यजाति नामक प्रबन्धमें पहले ही सविस्तार वर्णन किया गया है । इस प्रकारसे ब्रह्माण्ड-प्रकृति कालानुसार परमात्माके ईक्षण-से स्पन्दन-शालिनी होकर प्रथमतः गुणस्पन्दन द्वारा महदादि महाभूतान्त स्थूल सूक्ष्म दृश्य संसाररूपमें परिणामको प्राप्त हो जाती है और तदनन्तर यथापूर्वकल्प ऋषि, देवता, पितर, मनुष्य तथा मनुष्येतर जीवोंको प्रसव करके श्रीभगवान्‌की मधुर लीलाको प्रकट करती है। यही आर्यशास्त्रानुसार समष्टि ब्रह्माण्डका सृष्टितत्त्व है। ऋषि देवता पितरोंके विषयमें विशेष वर्णन परवर्त्ती स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा।

सृष्टितत्त्वका वर्णन करके अब सृष्टिके विषयमें दार्शनिक मतोंका सामञ्जस्य-विधान किया जाता है। सृष्टिका मूलकारण ब्रह्म, विकाशकारिणी प्रकृति और भौतिक स्थूल उपादान, परमाणु होनेसे सृष्टि विषयमें समस्त मतवाद तीन भागोंमें विभक्त किये गये हैं। यथा आरम्भवाद, परिणामवाद और विवर्त्तवाद। न्यायवैशेषिक-दर्शनोक्त सृष्टि आरम्भवादके अन्तर्गत है। इसमें नित्य परमाणु ही सृष्टिका उपादान है-ऐसा माना गया है। सांख्यपातञ्जल दर्शनोक्त सृष्टि परिणामवादके अन्तर्गत है। इसमें दुग्धसे दधि आदि परिणामकी नाईं प्रकृतिके परिणामसे ही अनन्त वैचित्र्यमयी सृष्टिका विकाश माना गया है। तृतीयतः मीमांसादर्शनोक्त सृष्टि विवर्त्तवादके अन्तर्गत है। इसमें ब्रह्मको ही सृष्टिका मूल कारण मानकर ब्रह्म ही मायाके आश्रयसे जगत्‌रूपमें विवर्त्तित होते हैं, ऐसा कहा गया है। ये तीनों विभाग ही अपनी अपनी भूमियोंके अनुसार ठीक हैं। न्याय-वैशेषिकदर्शन निम्नभूमिके दर्शन होनेके कारण उनमें स्थूल विकृतिके अतिरिक्त सूक्ष्मप्रकृति तथा प्रकृतिके भी निदानभूत ब्रह्मसे सृष्टिका प्रकाश दृष्टिगोचर नहीं हो सकता है। इसलिये प्रकृतिकी तामसिक विकृति द्वारा उत्पन्न पञ्चीकृत महाभूतोंका अविभाज्य अंश जो परमाणु है उसीको नित्य मानकर उसीके कालानुरूप सम्मेलन द्वारा विश्वसंसारकी उत्पत्ति बताई गई है। न्यायवैशेषिकदर्शनोंकी दृष्टि भौतिक जगत्‌की ओर अधिक होनेसे इनमें भूतसंघातकी उत्पत्ति भौतिक दृश्यकी चरमसीमा परमाणुसे ही बताई जानी चाहिये। क्योंकि न्याय और वैशेषिक विज्ञानके अनुसार तत्त्व-ज्ञानी व्यक्ति केवल स्थूलराज्यका स्थूलकारण देख सकता है और उसके द्वारा केवल सूक्ष्म प्रकृतिपुरुष-सम्बन्धयुक्त सृष्टिका अनुमान मात्र कर सकता है तदनन्तर योग और सांख्यरूपी सांख्य-प्रवचनकी ज्ञानभूमिमें तत्त्वज्ञानी स्थूल-

राज्य और सूक्ष्मराज्य--दोनोंको प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ होता है। परन्तु उसकी दृष्टि दोनों ओर ही बनी रहती है। सांख्य-पातञ्जल-दर्शनमें भौतिक विकृतिसे सूक्ष्म प्रकृतिकी ओर दृष्टि उन्नत हो जानेके कारण इसमें विकृतिके चरम परिणामभूत परमाणुको सृष्टिका कारण न मानकर विकृतिसे प्रकृतिकी ओर दृष्टि डालकर विकृतिहीन नित्या सूक्ष्म प्रकृतिको ही जगत्कारण करके माना गया है। इसलिये सांख्यदर्शनमें लिखा है—

"मूले मूलाभावादमूलं मूलम्"

संसारकी मूलकारणरूपिणी प्रकृतिके मूलमें और कोई मूलकारण न रहनेसे अमूला प्रकृति ही सृष्टिका मूलकारण है। सांख्यदर्शनोक्त इस मूल-प्रकृतिमें कोई क्रिया नहीं है; क्योंकि इसमें त्रिगुणोंकी समतावस्था है। इसलिये प्रलयकालमें समस्त दृश्य संसार इसी अव्याकृत सूक्ष्म प्रकृतिमें लय होकर रह जाता है और सृष्टिके समय इसी प्रकृतिके परिणाम द्वारा विलीन जगत्की अभिव्यक्ति होती है। इसके अनन्तर मीमांसा-दर्शनकी भूमि है। मीमांसा-दर्शनकी इस सर्वोच्च ज्ञानभूमिमें तत्त्वज्ञानीकी दृष्टि स्थूल और सूक्ष्म-राज्यसे हटकर एक बार ही कारणकी ओर पहुँच जाती है। उस समय स्थूल और सूक्ष्मका एक अद्वितीय मूलकारण अनुभवमें आजानेसे स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों ही एक ही भावमें प्रतीत होने लगते हैं। इसमें विकृति और प्रकृति, दोनों भूमिसे ही दृष्टि ऊपर होनेके कारण न तो इसमें विकृतिकी चरमदशा-परमाणुसे ही सृष्टि मानी गई है और न प्रकृतिसे सृष्टिका परिणाम ही माना गया है। इसमें विकृति और प्रकृति, दोनों ही जिसमें लय हो जाती है, उस ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति मानी गई है। यथा श्रुतिमें—

"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"

ब्रह्मसे ही सृष्टिकी उत्पत्ति, उसीमें ही स्थिति और उसीमें लय होता है। इसमें न तो परिणाम है और न आरम्भ है, केवल ब्रह्मके ऊपर जगज्जालकी भ्रान्तिमात्र है। शास्त्रमें परिणाम अर्थात् विकार और विवर्त्तका लक्षण इस प्रकारसे किया गया है। यथा--

स तत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः।
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदाहृतः॥

वस्तुके साथ जो अन्यथा प्रथा अर्थात् अन्यरूप ज्ञान है उसको विकार कहते हैं और वस्तुके न रहने पर भी जो अन्यथा प्रथा अर्थात् अन्यरूप ज्ञान है उसको विवर्त्त कहते हैं। परिणाम-वादमें कारण विकृत होकर कार्यरूपमें परिणत होता है। परन्तु विवर्त्त-वादमें कारण अविकृत रहने पर भी कार्यकी प्रतीतिमात्र होती है। दुग्धकी दधिभावप्राप्ति परिणामवादका दृष्टान्त है। और रज्जुमें सर्प-प्रतीति विवर्तवादका दृष्टान्त है। जिस प्रकार सर्प वास्तविक न होने पर भी भ्रान्तिवशात् रज्जुमें सर्प की प्रतीति होती है उसी प्रकार जगत्की सत्ता वास्तवमें न रहने पर भी ब्रह्मके ऊपर अनादि अविद्याकी भ्रान्ति द्वारा जगत्की प्रतीति हो रही है। यही विवर्तवादका लक्षण है। वेदान्तदर्शन अन्तिमभूमिका दर्शन होनेके कारण इसमें प्रकृति ब्रह्ममें विलीन हो जाती है। अतः इस दर्शनमें प्रकृति तथा विकृतिके द्वारा सृष्टि नहीं मानी जा सकती है। इसमें जो नित्य वस्तु ब्रह्म है उसीसे सृष्टि माननी चाहिये और वह भी सृष्टि मिथ्या माननी चाहिये; क्योंकि ब्रह्म-स्वरूपमें सृष्टिकी सत्ता नहीं रह सकती है। इसलिये वेदान्तदर्शनमें ब्रह्मको ही नित्य और सत्य मान कर मायाको भ्रमरूपिणी और अनादि-सान्ता कहा गया है और सृष्टिको भी भ्रमरूपिणी मायासे विवर्तित भ्रमरूप ही मानकर ब्रह्ममें उसका पूरा अभाव माना गया है। न्याय-वैशेषिकमें विकृतिमूलक सृष्टि, सांख्य-पातञ्जलमें प्रकृतिमूलक सृष्टि और मीमांसामें विकृति-प्रकृतिरहित सत्कारणविवर्त्तित सृष्टि-यही भूमित्रयभेदानुसार आरम्भवाद, परिणामवाद तथा विवर्त्तवादका सिद्धान्त है। न्यायवैशेषिक-दर्शन निम्नभूमिके दर्शन होनेके कारण इसमें जीवात्मा परमात्माका लक्षण ठीक ठीक नहीं बताया जा सका है। इसमें आत्माको अन्तःकरणगत सुख दुःखादि धर्मावच्छिन्न बताया गया है और इसमें मन, कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, प्राण आदि सूक्ष्मशरीरके उपादानोंकी भी उत्पत्ति परमाणुके सूक्ष्म अंशके द्वारा ही बताई गई है। परमाणु चाहे कितना ही सूक्ष्म हो, वह पञ्चीकृत महाभूतोंका ही अभिभाज्य अंश है। इसलिये स्थूलभूतसे ही उसकी उत्पत्ति है। उसके सूक्ष्म अंशसे सूक्ष्मशरीरके उपादानोंकी उत्पत्ति बताना स्थूलदृष्टि न्याय-वैशेषिक-दर्शनोंकी भूमियोंके ही अनुकूल हो सकता है। क्योंकि सूक्ष्मशरीर अपञ्चीकृत महाभूतोंके उपादानसे ही उत्पन्न होता है, पञ्चीकृत महाभूतोंके उपादानसे नहीं। पञ्चीकृत महाभूतोंके उपादानसे स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। श्रुतिमें जो कहीं कहीं अन्नसे मनकी उत्पत्ति बताई

गई है उसका मर्मार्थ मनके उपादानकी उत्पत्ति नहीं है परन्तु स्थूलशरीरके साथ सूक्ष्मशरीरका सम्बन्ध रहनेसे अन्नके द्वारा मनकी शक्ति वृद्धि होती है यही तात्पर्य है। न्याय वैशेषिक दर्शनोक्त परमाणुके लक्षणके विषयमें भागवतमें लिखा है—

चरमः सद्विशेषाणामनेकोऽसंयुतः सदा ।
परमाणुः स विज्ञेयो नृणामैक्यभ्रमो यतः ॥

कार्यावस्था तथा समुदायावस्था प्राप्तिके पहले कार्यांशका जो चरम अंश है उसको परमाणु कहते हैं। अर्थात् किसी सावयव पदार्थका अवयव विभाग करते करते जब सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम पर्यन्त विभाग होकर अन्तमें यह दशा हो जाय कि जिसका विभाग ही हो न सके उस अभेद्य, परम सूक्ष्म वस्तुका नाम परमाणु है। न्यायवैशेषिकके मतमें पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इन चारोंके परमाणु तथा आकाश ये पांच द्रव्य नित्य हैं। इसके अतिरिक्त द्व्यणुकादि महाभूत चतुष्टय अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु अनित्य हैं। अनित्य द्रव्यसमूहकी सृष्टि तथा प्रलय निम्नलिखित रूपसे होता है। ब्रह्माके देहविसर्जनकालमें सकलभुवनपति महेश्वरके अन्तःकरणमें संहारकी इच्छा उत्पन्न होती है। उस समय प्रलयहेतुक अदृष्टके द्वारा सृष्टि-स्थितिहेतुक अदृष्ट प्रतिबद्ध हो जाता है जिससे शरीर और इन्द्रियोंके आरम्भक परमाणुओंमें विरुद्ध क्रिया उत्पन्न होकर शरीर और इन्द्रिय समस्त नष्ट हो जाते हैं, केवल तदारम्भक परमाणुमात्र ही अवशिष्ट रहता है। इस प्रकार पृथ्वीके आरम्भक परमाणुओंमें विरुद्ध क्रिया होकर प्रथमतः महापृथ्वी नष्ट हो जाती है। तदनन्तर क्रमशः उसी तरहसे पृथ्वीके बाद जल, जलके बाद तेज और तेज के बाद वायु नष्ट हो जाता है। उस समय चतुर्विध महाभूतोंके चतुर्विध परमाणुमात्र अवस्थान करते हैं और धर्माधर्म, आत्मसमूह तथा आकाशादि नित्य पदार्थसमूह अवस्थान करते हैं। यही न्यायवैशेषिकानुसार प्रलयदशा है। तदनन्तर प्रलयावसानमें प्राणिगणके भोगार्थ महेश्वरके हृदयमें सिसृक्षा उत्पन्न होती है। उस समय प्रलयहेतुक अदृष्टके द्वारा भोगप्रयोजक अदृष्ट निवृत्त नहीं हो सकता है इसलिये सृष्टिकालमें भोगप्रयोजक अदृष्ट फलोन्मुख होता है, उस अदृष्टसे संयुक्त आत्माके संयोगसे प्रथमतः पवनके परमाणुओंमें कर्मकी उत्पत्ति होती है। पवनपरमाणुओंके परस्पर संयोगसे द्व्यणुकादिक्रम द्वारा महान् वायु उत्पन्न होकर आकाशमें अवस्थित होता है। वायु-

सृष्टिके बाद तेजके परमाणुओंमें कर्मकी उत्पत्ति होकर द्व्यणुकादिक्रमसे महान् तेजोराशि उत्पन्न होती है और वायुके वेगसे कम्पित होकर वायुमें अवस्थान करती है। इस प्रकार जल और पृथ्वीकी भी उत्पत्ति होती है। तदनन्तर महेश्वरके सङ्कल्पमात्रसे ब्रह्मा और ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति होती है और ब्रह्माजी उत्पन्न होकर प्राक्तन कर्मानुसार चराचर सकलजीवोंकी सृष्टि करते हैं। सृष्टि-के गूढ़ रहस्य, परमात्माके साथ प्रकृतिका सृष्टिकालीन अपूर्व सम्बन्ध, रहस्य-मय दैवी सृष्टि तथा जीवसृष्टितत्त्वके विषयमें न्याय और वैशेषिक दर्शनमें विशेष वर्णन नहीं आता है क्योंकि इन दर्शनोंकी भूमि भौतिकसृष्टिसमन्वित होनेसे इनमें स्थूलभूतोंकी सृष्टिका ही अधिक वर्णन होना चाहिये। आरम्भवादी न्याय वैशेषिक दर्शनोंने अपनी ज्ञानभूमिके अनुसार असत्कार्य वादको माना है। इनके मतमें जगत्के मूलकारणरूप चतुर्विध परमाणु ही सत् अर्थात् नित्य हैं। द्व्यणुकसे महावयवी पर्यन्त कार्यसमूह साक्षात् या परम्परा सम्बन्धसे सत् परमाणुके द्वारा ही उत्पन्न हैं। अतः कार्यसमूह उत्पत्तिके पहले नहीं थे इस-लिये वे असत् हैं। अतः न्याय वैशेषिक दर्शनभूमियोंके अनुसार सत्कारणसे असत् कार्यकी उत्पत्ति हुई। इसीको असत्कार्यवाद कहा जाता है। स्थूल-दृष्टि न्याय वैशेषिकके लिये इस प्रकार कहना ठीक है क्योंकि सूक्ष्मदृष्टि इस भूमिमें विशेष न होनेके कारण सत्कारणका कार्य दशामें विस्तार इस दर्शनमें नहीं देखनेमें आ सकता है। परन्तु सांख्य पातञ्जलदर्शनकी भूमि इससे ऊंची होनेके कारण इसमें सत्कारणका विस्तार कार्य दशामें भी देखा गया है। अर्थात् कार्य कारण का ही विलास या विकार मात्र है उससे भिन्न कोई असत् पदार्थ नहीं है ऐसा इस भूमिमें देखा जाता है। इसलिये सांख्यदर्शन असत्का-र्यवादको न मानकर सत्कार्यवादको मानता है। सत्कार्यवादमें कार्य कारणसे भिन्न नहीं हैं, केवल कारणकी ही अभिव्यक्त अवस्थामात्र हैं। जो जगत् प्रलयकालमें अव्यक्त रहता है वही सृष्टिकालमें अभिव्यक्त होजाता है। अतः कारण भी सत् है और उसके परिणाम द्वारा उत्पन्न कार्य भी सत् हैं। यही सांख्यीय सत्कार्यवादका सिद्धान्त है। सांख्यदर्शन प्रकृतिवादप्रधान दर्शन है। इसलिये इस दर्शनभूमि की दृष्टि प्रकृतिके चरम परिणामरूप स्थूलभूतोंसे लेकर प्रकृतिकी अतिसूक्ष्म अवस्था विकारहीन त्रिगुणसाम्यदशा तक पहुंची है और इसीलिये उसी विकारहीन प्रधानदशासे त्रिगुणस्पन्दन द्वारा दृश्य संसार की उत्पत्ति सांख्य-दर्शनमें बताई गई हैं। सांख्यदर्शनानुसार प्रमेय पदार्थसमूह 'तत्त्व' नामसे अभि-

हित होते हैं। इसमें तत्त्व पच्चिस प्रकारके हैं यथा—मूलप्रकृति, महत्तत्त्व, अहं-तत्त्व, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चकर्मेन्द्रिय, पञ्चज्ञानेन्द्रिय, मन, पञ्चमहाभूत और पुरुष। इनमेंसे प्रथम चतुर्विंशति तत्त्व जडवर्ग हैं और पुरुष चेतन है। वे सब चार श्रेणीमें विभक्त होते हैं, कोई तत्त्व केवल प्रकृति है, विकृति नहीं है। कोई कोई प्रकृति विकृति उभयात्मक है। कोई कोई केवल विकृति है और कोई अनुभयात्मक है अर्थात् प्रकृति भी नहीं है और विकृति भी नहीं है। प्रकृति शब्दका अर्थ उपादान कारण है, विकृतिका अर्थ कार्य है। मूलप्रकृति या प्रधान जिससे समस्त जगत् की उत्पत्ति होती है उसका कोई कारण नहीं है। क्योंकि मूल-प्रकृतिके कारणजन्य होनेसे, वह भी कारण कारणान्तरजन्य और वह कार-णान्तर भी तृतीय कारणजन्य इस प्रकारसे अनवस्थादोष होजाता है। इसलिये मूलकारण उत्पन्नवस्तु नहीं है, परन्तु स्वतःसिद्ध है ऐसा मानना होगा। अतः सिद्ध हुआ कि मूलप्रकृति केवल ही प्रकृति है किसीकी विकृति नहीं है। महत्तत्त्व, अहंतत्त्व और पञ्चतन्मात्रा ये सात तत्त्व प्रकृति-विकृति उभया-त्मक हैं। महत्तत्त्व मूलप्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण उसकी विकृति है और महतत्त्वसे अहंतत्त्वकी उत्पत्ति होती है इसलिये यह अहंतत्त्वकी प्रकृति है। इस प्रकारसे अहंतत्त्व महत्तत्त्वकी विकृति और पञ्चतन्मात्रा तथा एकादशे-न्द्रियकी प्रकृति है। पञ्चतन्मात्रा भी अहंतत्त्वकी विकृति और स्थूलपञ्चमहा-भूतोंकी प्रकृति है। स्थूलपञ्चमहाभूत और एकादश इन्द्रिय किसी तत्त्वान्तरकी उपादान नहीं हैं। इसलिये वे विकृति हैं, प्रकृति नही हैं। पुरुष प्रकृति भी नहीं है और विकृति भी नहीं है। क्योंकि पुरुष कूटस्थ, अविकारी तथा असङ्ग होने से कारण भी नहीं है, और नित्य होनेसे कार्य भी नहीं है। इस प्रकारसे पुरुष अनुभयात्मक है। कूटस्थ पुरुषके अधिष्ठानमात्रसे ही प्रकृतिमें विकृति उत्पन्न होकर समस्त संसारकी उत्पत्ति होती है जैसा कि सृष्टितत्त्वमें पहले ही विस्ता-रितरूपसे कहा गया है। सांख्यदर्शन प्रकृतिप्रधान दर्शन होनेसे इसमें पुरुष या परमात्मासे सृष्टिका साक्षात् सम्बन्ध नहीं बताया गया है। इसमें सृष्टि-क्रियाके लिये प्रकृतिका ही सर्वकर्तृत्व बताया गया है। और इसी लिये सांख्य-भूमिमें परमात्माकी कूटस्थ सत्ता तथा ज्ञानमय निर्विकार सत्ता स्वीकृत होने पर भी, अद्वितीय विभुभावमय सत्ता स्वीकृत नहीं हो सकी और ईश्वर तथा ब्रह्मभावके साथ प्रकृतिके विकाश तथा विलयका क्या अपूर्व सम्बन्ध है सो भी नहीं बताया जा सका है। यही सांख्यीय सृष्टितत्त्वका निगूढ़ रहस्य है। इसके

वाद मीमांसाकी सर्वोच्च तृतीय भूमि है। इस तृतीयभूमिमें विज्ञानकी सूक्ष्मता-के विचारसे वेदान्तका सिद्धांत ही चरम सिद्धान्त है। इसमें असत्कार्यवाद भी नहीं और सत्कार्यवाद भी नहीं है, परंतु सत्कारणवाद है। इसमें कारणका ही निर्देश है कार्य का नहीं। इसमें कारणरूपी ब्रह्म ही सत् है, कार्यरूपी जगत् मृगमरीचिकावत् भ्रममात्र और कारण पर ही अविद्यामूलक विवर्तमात्र है। वेदांतभूमिके अनुसार सृष्टितत्त्वका वर्णन पहले ही किया गया है। इस भूमिमें प्रकृति लयाभिमुखिनी होनेसे इसमें सृष्टितत्त्वके स्थूल भावोंका विशेष वर्णन नहीं हो सकता है। क्योंकि वेदांत भूमि निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मपर भूमि है, उसमें प्रकृति नित्या, सत्या होकर अपने भावोंका विलास नहीं बता सकती, परन्तु ब्रह्मके निष्क्रिय शुद्धभावमें अपनेहीको लवलीन कर डालती है। इसलिये सांख्यदर्शनमें प्रकृति सत्या नित्या और न्यायदर्शनमें परमाणु नित्य होनेपर भी यहां पर माया अनित्या अर्थात् अनादिसान्त है जो वद्धजीवके लिये विलासमयी रहने पर भी तथा सत्यरूपिणी प्रतीत होने परभी ब्रह्मभावप्राप्त मुक्त पुरुषके लिये विलासशून्या, मिथ्या भ्रमरूपिणी वनकर ब्रह्महीमें लय हो जाती है। इस लिये वेदान्तभूमिमें ब्रह्मकी मुख्यता और मायाकी गौणता है। इसलिये वेदान्तदर्शनमें प्रकृतिसे महत्तत्त्व आदि परिणामक्रमद्वारा सृष्टि न मानकर, आत्मासे ही आकाशादि क्रमसे सृष्टिकी प्रतीति मानी गई और सृष्टिका विकार प्रकृतिसे न मानकर ब्रह्मपर ही विवर्त्त माना गया है। वेदान्तदर्शनमें आत्म-सत्ताकी मुख्यता रहनेके कारण ब्रह्म, ईश्वर तथा जीवभावका स्वरूप विवेचन उसमें सुन्दररूपसे किया गया है और सृष्टिके समय ब्रह्मभावमें ईश्वरभावका अभिनिवेश तथा अविद्या सम्पर्कसे जीवभावका विकाश किस प्रकारसे होता है इसका स्पष्टरूपसे विवेचन किया गया है जो कि अन्यान्य दर्शनभूमिमें नहीं पाया जा सकता है। इस प्रकारसे सप्त दर्शनोंने तीन प्रधान स्तरभेदा-नुसार सृष्टितत्त्वका वर्णन किया है जो अपनी अपनी भूमियोंके विचारसे केवल लौकिकदृष्टिमें भिन्नरूप प्रतीत होने पर भी तात्त्विकविचारसे एक ही रूप हैं। यही सृष्टितत्त्वके विषयमें आर्यदर्शनशास्त्रोक्त मतवादोंका सामंजस्य है। अतःपर सृष्टितत्त्वके विषयमें कुछ पाश्चात्य वैज्ञानिक मत तथा उपधर्मीय मतोंका वर्णन किया जायगा।

ज्ञान भगवान्‌का स्वरूप होनेके कारण चाहे किसी देशकालमें किसी अन्तःकरणके द्वारा वह ज्ञान प्रस्फुरित क्यों न हो उसमें स्फुरणतारतम्या-

नुसार भगवद्भावसम्बन्धीय तत्त्वका प्रकाश अवश्य होता है। इसलिये यद्यपि पूर्णज्ञानसम्पन्न, समाधिस्थ महर्षियोंके द्वारा करतलामलकवत् प्राप्त ज्ञान अपूर्णप्रज्ञ अन्यदेशीय वैज्ञानिक पुरुषोंने नहीं प्राप्त किया है और न अन्यदेशीय उपधर्मोंमें भी इसका पूर्णप्रकाश होसका है तथापि अपने अपने अधिकारके अनुसार उस ज्ञानकी ज्योति थोड़ी बहुत सभीको प्राप्त हुई है। इसलिये सृष्टितत्त्वके विषयमें पाश्चात्य वैज्ञानिक तथा अनेक उपधर्मके आचार्योंने जो कुछ मत प्रकट किये हैं उनमें कहीं कहीं आंशिक सत्यता अवश्य देखनेमें आती है। अब नीचे ऐसे कुछ मतोंका सन्निवेश करके उनमें आंशिक सत्यताके विषयमें विचार किया जाता है। बौद्ध धर्ममें भगवान् अङ्गीकृत न होने पर भी उसमें आर्यशास्त्रीय सिद्धान्तकी तरह किसी अलौकिक इच्छाशक्तिके साथ जगदुत्पत्तिका सम्बन्ध बताया गया है। इसके मतमें परमपुरुष महाशून्य अनादि और अनन्त हैं। उनमें ज्ञान और शक्ति दोनों ही पूर्ण हैं। पूर्णज्ञानरूपमें उनका नाम आदिबुद्ध है और पूर्णशक्तिरूपमें उनका नाम आदिधर्म या आदिप्रज्ञा है। ये दोनोंही अनादि और अनन्त हैं और परस्परके बीचमें सहायता रहने पर भी दोनों ही परस्पर भिन्न हैं। महाशून्यकी इच्छामात्र द्वारा आदिबुद्ध तथा आदिप्रज्ञाकी सहायतासे दैवशक्तिसम्पन्न बुद्ध उत्पन्न होते हैं। आदि बुद्ध चिरदिन ही निवृत्तिभावमें सुषुप्त हैं। जगत्सृष्टिके लिये पञ्चबुद्धोंको आत्मासे विस्फुरित करके ही वे शान्त होगये। वास्तवमें वे ही विश्वके मूलीभूत तथा प्रथम और प्रधान कारण होनेपर भी स्थूलतः पञ्चबुद्ध ही सृष्टिके कर्तारूपसे ग्रहण किये जाते हैं। ये पांच परस्पर भ्रातृभावसे सम्बद्ध हैं। परन्तु चतुर्थ भ्राता अमिताभसे ही वर्त्तमान विश्वके कर्त्ता बोधिसत्त्व पद्मपाणिकी उत्पत्ति हुई है। आदिबुद्धने प्रत्येकबुद्धको ही पुत्ररूपसे एक एक बोधिसत्त्व सृष्टि करनेकी शक्ति प्रदान की। तदनुसार पञ्चबुद्धोंने पांच बोधिसत्त्वोंकी सृष्टि करके और उनको अपनी अपनी ऐशी शक्तियोंको प्रदान करके आदिबुद्ध में लय प्राप्त किया। तबसे वे सब इसी लयावस्थामें विराजमान हैं। ब्रह्माण्डके साथ इनका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। बोधिसत्त्वगण ही ब्रह्माण्डकी सृष्टिस्थितिप्रलयक्रिया सम्पादन करते हैं। यही बौद्धधर्मका संक्षिप्त मत है। इस पर विवेचन करनेसे निष्क्रिय ब्रह्मभाव और सृष्टिस्थितिलयकर्त्ता सक्रिय ईश्वरभावके साथ इसका आंशिक सम्बन्ध अनुभव होने लगता है।

ग्रीसदेशीय प्राचीन दार्शनिक पण्डितोंने सृष्टिके विषयमें दो मत निर्णय

किये हैं। प्रथम मतके अनुसार जगत्का स्वरूप और स्थिति दशा दोनों ही अनादि अनन्त है। जगत् जैसा वर्त्तमान कालमें है ऐसा ही बराबर रहेगा। पाश्चात्य दार्शनिक एरिस्टटल इस मतके प्रथम प्रवर्त्तक हैं। इनका यह सिद्धान्त है कि जिसका कारण अनादि अनन्त है वह स्वयं भी अनादि अनन्त है। अनादि अनन्त स्वयम्भूसे ही जगत्का स्फुरण हुआ है ऐसा उनका मत है। प्लेटोके मतमें अनन्त कालसे जो अपरिवर्त्तनीय भाव (idea) परिवर्त्तनशील पदार्थोंके साथ सम्मिलित है, जगत् उसीका अनादि अनन्त वहिःप्रकाशमात्र है। षष्ठ शताब्दीमें अलग्ज़ान्द्रियामें जो निओप्लेटोनिष्ट नामक दार्शनिक सम्प्रदायकी उत्पत्ति हुई थी उनके मतमें ईश्वर और जगत् दोनों ही अनादि और अनन्त हैं। जेनोफेनिस आदिके मतमें ईश्वर और ब्रह्माण्ड दोनों एक तथा अभिन्न हैं। आजकल जर्मनी आदि किसी किसी देशमें इस मतका भी प्रचलन देखनेमें आता है। द्वितीय मतके अनुसार भी ईश्वर और जगत् दोनों अनादि अनन्त हैं। परन्तु जगत्का रूप समयाधीन है अर्थात् सदा एक रूप नहीं है। इस मतके अनुसार विश्व ब्रह्माण्ड प्रथमतः शृङ्खला तथा नियम रहित जडपिण्ड (chaos) की तरह था। हेसिअड्के मतमें उसी जड पिण्डसे वायु और दिनकी उत्पत्ति होती है। एपिकिऊरास आदि कुछ दार्शनिकोंने आणविक शक्तिकी तरह जड शक्तिसे संसारकी उत्पत्ति मानी है। फिनिसीयन्, इजिप्सीयन् आदियोंने भी जड पिण्डसे ही जगत्की उत्पत्ति मानी है।

पाश्चात्य तृतीय मतानुसार आदिमें केवल अद्वितीय भगवान् ही थे और उनके कहनेसे ही जगत्की उत्पत्ति हुई है। यथा उन्होंने कहा कि "प्रकाश होजाय" और उनके कहते ही प्रकाश होगया। इस मतके साथ ईश्वरीय सिसृक्षाका कथंचित् सम्बन्ध देखनेमें आता है। प्रथमतः ह्रुयिद्गण और पीछेसे रोमीयगण इस मतको मानने लगे थे। क्रिश्चियान या इसाई धर्म नामक उपधर्ममें भी इस मतका समर्थन किया गया है प्रथमतः जेनेसिसमें वर्णन मिलता है कि भगवान्की शक्तिमयी वाणीद्वारा "नास्ति" से "अस्ति" होगया उनकी आज्ञासे रूपविहीन जडपिण्डवत् पदार्थसे प्रथमतः प्रकाशकी सृष्टि होती है। परन्तु इस समय जैसा सूर्यमें वह प्रकाश केन्द्रीभूत है, आदिमें ऐसा नहीं था, आदिमें वह प्रकाश समस्त विश्वमें परिव्याप्त था। तदनन्तर आकाशकी सृष्टि करके उस जड पिण्डको भगवान्ने द्विधा विभक्त किया। एक भागको

आकाशके तल देशमें और अन्य भागको आकाशके ऊपर देशमें स्थापन किया। इस प्रकारसे पृथिवी तथा नक्षत्रोंकी सृष्टि हुई। तदनन्तर उन्होंने पृथिवीको जलस्थलमें विभक्त करके स्थल भागके ऊपर तृण, शाक, लता, वृक्ष आदिकी सृष्टि की और नक्षत्र लोकमें ग्रह, उपग्रह, नक्षत्र आदिकी सृष्टि की। तदनन्तर ब्रह्माण्डव्यापी उस प्रकाशको केन्द्रीभूत करके सूर्य बनाया गया। इस प्रकारसे जगत् जीवनिवासका उपयोगी बननेपर भगवानकी आज्ञासे क्रमशः उसमें मत्स्य आदि जलजन्तु तथा खेचर पक्षियोंकी उत्पत्ति हुई। तदनंतर चतुष्पद जंतु तथा सर्प आदिकी सृष्टि हुई, और सबके अंतमें सृष्टिके शीर्ष स्थानीय स्त्री और पुरुषकी आकृतिसे युक्त दोनों मनुष्योंकी उत्पत्ति हुई। इस आदि पुरुषका नाम आदम और स्त्रीका नाम इभ हुआ। इन दोनोंहीसे समस्त मनुष्यजातिकी उत्पत्ति हुई है। मनुष्योंसे ऊंचे और भगवान्से नीचे कुछ "एञ्जेल" नामक देवदूतोंका उल्लेख उन धर्मग्रन्थोंमें मिलता है। परन्तु उनका सृष्टि विवरण उन ग्रन्थोंमें नहीं पाया जाता है।

आधुनिक यहूदि (Jews) जातियोंके बीचमें सृष्टितत्त्वको लेकर अनेक मतवादकी उत्पत्ति हुई है। उनमेंसे किसी किसीका मत यह है कि सप्ताह जिस प्रकार सात दिनमें विभक्त है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड भी सात हजार वर्ष तक विद्यमान रहता है, तत्पश्चात् पुरातन जगत् नष्ट होकर नूतन जगत् उत्पन्न होता है। द्वितीय मतानुसार जगत् अनादि अनन्त है। तृतीय पक्ष कहता है कि विश्व ब्रह्माण्ड ईश्वरका बनाया हुआ नहीं है, केवल उनका स्फुरण मात्र है। स्पेनदेशीय रावियोंमेंसे एक प्रधान व्यक्तिने सृष्टिके विषयमें यह मत प्रकाश किया है कि विश्वसृष्टिके पहले भगवान्ने सात वस्तुओंकी सृष्टि की थी-यथा अपना सिंहासन, देवमन्दिर, मेसायाका नाम, स्वर्ग, नरक, नियम और अनुताप। आकाश और नक्षत्र लोकोंके विषयमें उन्होंने कहा था कि वे सब भगवान्के गात्रावरणरूप आलोकसे विलसित हुए हैं। श्रीभगवान्की महिमासे उनके सिंहासनके नीचे कुछ बरफ जम गया था, जिससे उन्होंने पृथिवीकी सृष्टि की है। इसके अनन्तर जेनेसिसमें लिखित दोनों बातोंको लेकर दो सम्प्रदाय बन गये। एक सम्प्रदायने स्वर्ग उनका सिंहासन और पृथिवी उनका पादपीठ है इसी सिद्धान्तपर निर्भर करके पृथिवीके पहले नक्षत्र लोककी सृष्टि हुई है इस प्रकारका मत प्रचार किया और दूसरे सम्प्रदायने छत बननेके पहले भित्ति

बननी चाहिये ऐसा समझकर पृथिवी ही पहले हुई थी, ऐसा मत प्रचार किया। इसके अनन्तर यहूदियोंके गुरु मेमोनाईडिसने यह बताया कि सभी वस्तु एक साथ बन गई थीं, और पश्चात् सब श्रेणीबद्ध किये गये थे। यहूदियोंके कावाला ग्रन्थोंमें सृष्टितत्त्वके विषयमें ऐसा लिखा है कि समग्र विश्व ही भगवान्का स्फुरण मात्र है। पदार्थ सबसे दूरवर्त्ती होनेके कारण भगवान्से कम प्रकाश पाया हुआ है। श्रीभगवान्से प्रथमतः एक फौव्वारा विस्फुरित हुआ था, और उससे दस ज्योतिःस्रोत प्रवाहित हो गया। इस ज्योतिःप्रवाहपथमें भगवान्के प्रथम स्फुरणसे स्वर्गीय, आध्यात्मिक, दैव और पादार्थिक ये चार प्रकारकी वस्तुएं निकलीं जिससे चार भिन्न भिन्न लोकोंकी सृष्टि हो गई। प्रथम लोकका नाम आजिलुथ या स्फुरित लोक है। यह लोक आदि प्रकाशसे उत्पन्न हुआ है। निम्नतर लोकोंकी अपूर्णता इसमें नहीं है। द्वितीय लोकका नाम 'ब्राया' या सृष्टिसम्बन्धीय लोक है। इसमें प्रथम जगत्के सृष्टिरूप आध्यात्मिक जीवगण निवास करते हैं। तृतीय लोकका नाम जेट्सिया है, इसमें द्वितीय लोकके जीव आकर बसते हैं। चतुर्थ लोकका नाम आशिया अर्थात् दृश्यमान् पार्थिव लोक है। जिन वस्तुओंकी उत्पत्ति, आकार, गति और नाश हैं वे ही सब इस लोकमें रहते हैं। इसमें भगवच्छक्तिका निम्नतम स्फुरण मात्र है।

प्राचीन मिशर देशवासियोंके मतमें सृष्टिके पहले प्रगाढ़ अनन्त तमोमात्र विद्यमान था। उसको वे लोग आथर अर्थात् तमोमयी रात्रि कहते थे। पश्चात् ईश्वरकी शक्तिसे इसी अन्धकारके अन्तस्तलमें जल और सूक्ष्म तेज प्रविष्ट हो गये। इसके अनन्तर एक पवित्र ज्योतिका उदय हुआ और वाष्पीभूत ज्योतिः समूह घनीभूत होकर विश्वब्रह्माण्डरूपमें परिणत हो गये जिसमें देवताओंने स्थावर जङ्गमात्मक सृष्टिकी रचना की।

स्काण्डिनेभियान् जातियोंके शास्त्रमें सृष्टिके विषयमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है। सृष्टिके पहले एक अपार गह्वर अर्थात् शून्यमात्र विद्यमान था। इसके उत्तर प्रान्तका नाम तुषार लोक था जिसमें रात्रि, बरफ और तुषार मात्र ही था। यहांपर जो एक गरम जलका प्रस्रवण था, उसमेंसे बारह नदी सदा प्रवाहित हुआ करती थीं। काल पाकरके किसी समय उस उष्णदेशसे एक प्रचण्ड उष्ण आँधि चल गई जिससे उत्तरदेशके बरफ गलकर जल हो गये और उसी जलसे मनुष्याकृति 'जमीर' नामक एक दैत्य उत्पन्न

हुआ। ठीक उसी समय 'आऊ धूम्ब्ला' नामक एक गौ भी उत्पन्न हुई, जिसके स्तनसे निकले हुए दूधको पीकर जमीर खूब हृष्ट-पुष्ट हो गया था। तदनन्तर लवण और गाढ़े कुहारसे ढके हुए प्रस्तरके खण्डको चाट-चाट कर उक्त गौने तीन दिनोंमें 'बुध्रि' नामक एक मनुष्याकार श्रेष्ठ जीवको उत्पन्न किया। बुध्रिके पुत्र ' बोर ' ने एक दैत्यस्त्रीके साथ विवाह किया। जिससे ' ओदिन, ' 'भिलि' और 'भि' नामक तीन देवता उत्पन्न हुए। इन तीनोंने मिलकर 'जमीर' दैत्यको मार दिया और उसके शरीरको लेकर उसी विशाल गुहामें प्रवेश किया। इसी समयसे सृष्टि-क्रिया बनने लगी। जमीर दैत्यके मांससे पृथिवी, रक्तसे समुद्र और नदी, हड्डीसे पर्वत, दाँतसे पहाड़, केशसे वृक्ष, मस्तिष्कसे मेद और भौंसे मनुष्य निवासका निर्माण किया। जमीरके मस्तककी खालसे आकाश-मण्डल बन गया। मनुष्य-सृष्टिके विषयमें कहा है कि, इन तीन देवताओंने एक दिन समुद्रके तटपर भ्रमणके समय देखा कि, दो काठके टुकड़े समुद्रमें तैर रहे हैं। ऐसा देखकर प्रथम देवताने उन काष्ठोंमें श्वास और जीवन, द्वितीय देवताने उनमें गति और आत्मा तथा तृतीय देवताने उनमें वाक्, दर्शन, श्रवण और सौन्दर्यका प्रदान किया। इस प्रकारसे आदि पुरुष और आदि स्त्रीकी सृष्टि हुई।

प्रायः सभी प्राचीन जातियोंने सृष्टिके पहले किसी प्रकारकी जलमय अवस्थाका वर्णन किया है। आर्यशास्त्रमें रहस्यपूर्ण 'कारण-वारि'का वर्णन तो है ही, इसके सिवाय ईसाई धर्मग्रन्थमें भी जलप्लावनका वर्णन मिलता है। वेबीलोनियन जातिने भी ऐसे जलप्लावनका वर्णन किया है। आकाडेशीय लोग भी जलको ही जगत्की उत्पत्तिका मूल कारण कहते हैं। प्राचीन जापान देशीयलोगोंने भी जलको आदि कारण कह कर उसीसे मिट्टी आदिके क्रमसे जगत्की उत्पत्तिका वर्णन किया है। सृष्टिके विषयमें पृथ्वीशास्त्रके जानने वाले पण्डितोंकी सम्मति कुछ और ही है। इन्होंने वाष्पको ही जगत्का मूल कारण कह कर क्रमशः उसीसे जीव और जड़ जगत्की उत्पत्ति कही है। उनके मतमें पृथिवीका इतिहास, जीवजगत् तथा जडजगत्का क्रमिक विकास और पूर्णता आदि चार युगोंमें बँटे हुए हैं। प्रथम युगमें वाष्पसे क्रमशः विश्व ब्रह्माण्डका विकास हुआ है और पृथिवी जीवोंके रहने योग्य बन गई है। आगेके तीन युगोंमें पृथिवीकी अवस्थाके क्रमशः उन्नत होनेसे उन्नत जीवोंकी उत्पत्ति हुई है। द्वितीय युगमें मछली, वृक्ष, लता आदिकी उत्पत्ति हुई है। तृतीय युगमें सरीसृप (साँप, बिच्छू) आदि उत्पन्न हुए हैं और चतुर्थ युगमें स्तन पीनेवाले पशु आदि जीव और

मनुष्य-जातिकी उत्पत्ति हुई। पृथ्वी-शास्त्रकी चर्चाके पहले जीवसृष्टिके विषयमें यही धारणा प्रबल थी कि, सब प्रकारके जीव एक ही समयमें उत्पन्न हुए हैं। परन्तु भूतत्त्वके आलोचनके अनन्तर सृष्टिके विषयमें दो मत प्रकट हुए हैं—एकका नाम सृष्टिवाद और दूसरेका नाम विवर्त्तन-वाद है। विवर्त्तनवादिगण सृष्टिके चार युगोंके विषयमें कहते हैं कि, पिता और पुत्रके बीचमें जो सम्बन्ध है—भिन्न भिन्न युगोंके जीवोंके बीचमें भी वही सम्बन्ध है अर्थात् प्रथम युगमें उत्पन्न जीवोंके शरीरोंके क्रमशः बदलने तथा उन्नतिके फलसे क्रमशः अधिक उन्नत जीवोंकी सृष्टि होती-होती अन्तमें मनुष्यकी उत्पत्ति हुई। इस मतके प्रधान प्रवर्त्तक डार-विन साहबने बन्दरसे ही क्रमशः मनुष्योंकी उत्पत्ति मानी है। परन्तु सृष्टिशास्त्र वादीलोग ऐसा कहते हैं कि, विभिन्न युगोंके जीवोंके बीचमें रक्त-मांसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। मनुष्य-सृष्टिके लक्ष्यसे ही भगवान्‌ने पृथिवीकी सृष्टि की है और अन्यान्य जीवोंकी सृष्टि तथा पृथिवीका रूपान्तर होता-होता जब पृथिवी मनु-ष्योंके रहने योग्य होती है तभी इसमें मनुष्योंकी सृष्टि श्रीभगवान्‌के द्वारा होती है।

प्रसिद्ध पाश्चात्य दार्शनिक कांट (Kant) आदिने वर्त्तमान समयमें सृष्टि-विकाशके विषयमें एक सिद्धान्त निकाला है जिसको नैहारिक सिद्धान्त (Nebulous theory) कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार सृष्टिके आदिकालमें सूर्य, चन्द्र अथवा कोई भी ग्रह-उपग्रह नहीं थे। समस्त जगत् सर्वत्र व्याप्त नीहार(कुहार)के आकारमें विद्यमान था। जिन विशेष पदार्थोंसे ग्रह-नक्षत्रादिकी उत्पत्ति हुई है वे सब सर्वत्र व्याप्त किसी मूल पदार्थके विकार-मात्र हैं। वेही पदार्थ किसी गूढ़ कारणसे पहले भिन्नभिन्न खण्डोंमें बँट कर फिर भी विभक्त हो गये थे और उन्हीं विभक्त खण्डोंसे सूर्य-मण्डल तथा सौरजगत्‌की उत्पत्ति हुई है। आकर्षण और विकर्षण परमाणुओं-के भीतर ये दो शक्तियाँ हैं। आकर्षण-शक्तिके प्रभावसे परमाणु केन्द्रकी ओर चालित होते हैं और विकर्षण-शक्तिके प्रभावसे केन्द्रसे दूर चले जाते हैं। परमाणुओंकी उत्पत्ति कैसे हुई, इस विषयमें अभी तक कोई स्थिर सिद्धान्त पाश्चात्य विज्ञानमें निश्चित नहीं हुआ है। ईथरके आवर्त्तन (घुमावट)से परमा-णुओंकी उत्पत्ति हुई है। लार्ड केलविन आदि कुछ दार्शनिक पण्डितोंकी यही सम्मति है। जडविज्ञानके अनुसार गति, सरल और वक्र(सीधी और टेढ़ी), इन दोनों भागोंमें विभक्त है। सरल गति ही स्वाभाविक गति है। विरुद्ध शक्तिसे बाधित न होनेसे वक्रगति उत्पन्न नहीं होती है। सरलगतिके वक्र होनेमें या

गतिके दूसरी ओर बदलनेमें विरुद्ध-शक्तिसे उत्पन्न बाधा ही कारण है। जगत्‌के विकाशकालमें आकर्षण-शक्तिके प्रभावसे परमाणु जैसे क्रमशः केन्द्रकी ओर चालित होने लगे, वैसे ही विकर्षण-शक्तिके प्रभावसे केन्द्रसे दूर भी जाने लगे। गणित-शास्त्रके नियमानुसार ये दो विरुद्ध गतियाँ सदा बाधा पाकर चक्रावर्त्त (गोलाकार) में परिणत हो जायँगी। यह सभी लोग जानते हैं कि, सब पदार्थ शीतल (ठण्डे) होते समय सिकुड़ जाते हैं और जब कोई घूमनेवाला पदार्थ सिकुड़ जाता है तो, उसकी गति बढ़ जाती है। गति जितनी बढ़ती है—केन्द्रसे हट जानेकी शक्ति भी उतनी ही बढ़ती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार तीव्र वेगसे घूमनेवाले नीहारके गोलेका वेग अन्तमें इतना बढ़ गया कि, उसकी केन्द्रसे दूर ले जानेवाली शक्तिने केन्द्रकी ओर खींचनेवाली शक्तिको दबा दिया। इस दशामें उस नीहारके गोलेसे एक गोलाकार अति बृहत् खण्ड छिटक गया। आकुञ्चन(सिकुड़ना)-क्रियाका विराम नहीं है। अतः वेगकी वृद्धि भी अवश्यम्भावी है। अतः फिर भी वर्त्तुलाकार खण्डसमूह विच्छिन्न होने लगे। इस प्रकार गोलाकार खण्डसमूह परस्पर मिल नहीं सकते और वे सब अपनी अपनी कक्षामें अवश्य ही चक्ररूपसे परिभ्रमण करेंगे और जिस अक्षरेखा (कक्षा) पर मूल नीहार-संघात घूम रहा है उसीकी समान्तराल अक्षरेखा पर सभी छुटे हुए खण्डसमूह भ्रमण करेंगे और उन वृत्ताकार खण्डोंमेंसे जो सबसे बड़ा होगा वही सबका केन्द्र बन जायगा। इसी प्रकारसे आकर्षण-विकर्षण-शक्तिके वेगद्वारा नैहारिक अवस्थासे इस ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है, जिसमें बृहत्तम (सबसे बड़ा) गोलाकार खण्ड केन्द्रस्थानीय सूर्य हुआ है और अन्यान्य खण्डसमूह ग्रह-उपग्रह बन गये हैं। यही नैहारिक सिद्धान्तानुसार सृष्टितत्त्व है। इस प्रकार से आभासज्ञानयुक्त पाश्चात्य दार्शनिकोंने अपनी अपनी बुद्धिके अनुसार सृष्टि-तत्त्वके विषयमें अनेक प्रकारकी कल्पनाएँ की हैं जिनमें महर्षियोंके तत्त्वज्ञानका कहीं कहीं कुछ कुछ आभासमात्र है और जिनके देखनेसे तथा जिसके साथ तुलना करनेसे पूज्यपाद त्रिकालदर्शी तत्त्वज्ञानी महर्षियोंकी सृष्टिकी सत्यदर्शिता और अलौकिक महिमाका पूर्ण परिचय मिलता है। पूज्यचरण महर्षियोंका तत्त्वान्वेषण केवल बुद्धिकृत न होकर समाधिमूलक-ज्ञानकृत होनेके कारण उनके द्वारा आविष्कृत सृष्टितत्त्व सर्वथा पूर्ण और सत्य हैं, जिनकी अच्छी तरह पर्यालोचनासे मुमुक्षु साधक प्रकृतिराज्यका समस्त रहस्य जानकर प्रकृतिराज्य से बाहर विराजमान पर-ब्रह्मपदका साक्षात्कार पा सकते हैं। पूज्यपाद

महर्षियोंका सृष्टितत्त्व स्थूल-सूक्ष्म-भावमय और सर्वाङ्गसे पूर्ण है और आधुनिक जड़वादी पदार्थ-विद्याके आचार्योंके द्वारा वर्णित सृष्टितत्त्व पूज्यचरण महर्षियों के ज्ञानसमुद्रके बुद्बुद् मात्र हैं।

(स्थिति-तत्त्व)

सृष्टितत्त्वका वर्णन करके अब स्थितितत्त्वके विषयमें कुछ पर्यालोचना की जाती है। आकर्षण-शक्ति रजोगुणमय है। वही आकर्षण-शक्ति काम-शक्तिमें परिणत होकर जीवसृष्टिका कारण बन जाती है। वह राग-मूलक है। द्वेषमूलक विकर्षण-शक्ति तमोगुणमय है। उसके द्वारा स्थूल और सूक्ष्म-राज्यमें प्रलयकी सहायता होती है। परन्तु इन दोनों शक्तियोंकी समन्वयरूपी जो धर्मशक्ति है वह सत्त्वगुणमय है और वही जगत्की स्थितिके करनेमें समर्थ है। जिस प्रकार सृष्टिकालमें ब्रह्माकी ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति कार्यकारिणी होकर प्रलयमें विलीन समस्त जीवोंको प्रलयके अन्धकारसे सृष्टिके प्रकाशकी ओर आकर्षण करती है, उसी प्रकार स्थिति-कालमें विष्णुकी ब्रह्माण्डव्यापिनी शक्ति कार्यकारिणी होकर प्रजापतिके बनाए समस्त जीवोंकी रक्षा करती है और इसी प्रकारसे सृष्टिके समयसे ही ब्रह्माण्ड-व्यापिनी रुद्रशक्ति भी भीतर ही भीतर कार्यकारिणी होकर जडचेतनात्मक समस्त संसारको धीरे धीरे महाप्रलयके गर्भमें आकर्षण (खींचना) करती है। ये तीनों ही शक्तियाँ व्यापक हैं और इसलिये इनकी क्रिया अति सूक्ष्म परमाणुसे लेकर कीटसे देवतापर्यन्त विस्तृत रहती है। प्रत्येक जीवमें जो स्वाभाविकी मैथुनेच्छा तथा सृष्टिविस्तार करनेकी इच्छा रहती है वह इच्छा-शक्ति व्यापक ब्रह्माकी शक्तिके कारण ही जीवोंमें उत्पन्न होती है। इतना तक कि, सृष्टिके समय प्रत्येक परमाणुके भीतर जो आकर्षण-शक्ति प्रबल होकर परमाणुओंके सम्मेलन द्वारा द्व्यणुका-दिकोंको उत्पन्न करती है—वह भी उसी व्यापक ब्रह्माकी शक्तिकी व्यापकताका ही फल मात्र है। इसी प्रकार ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशामें एक चींटी तकमें जो आत्मरक्षाकी चिन्ता लगी रहती है, जिस कारण वह चींटी रात-दिन भोजन-की खोजमें लगी रहती है और किसी शत्रुका भय पाते ही भग जाती है, यह सब उसी रक्षाकारिणी विष्णुशक्तिकी व्यापकताके कारण ही हुआ करता है। इतना तक कि, अणु-परमाणुके भीतर आकर्षण-विकर्षणकी जो समता है, जिस समताके कारण चराचर समस्त दृश्य संसार नष्ट नहीं होता है, यह भी उसी व्यापक विष्णुशक्तिके कारण है। उसी प्रकार

रोग, शोक और जरारूपसे जो नाशशक्ति जीवको सदा ही प्रलयकी ओर खींचती है तथा जगत्‌की समस्त वस्तु ही जो नित्य परिणामका दास होकर नियत एक अवस्थासे अवस्थान्तरको प्राप्त किया करती है, सो सब ब्रह्माण्ड-भाण्डमें विभु (व्यापक) रुद्रशक्तिके अमोघ पराक्रम तथा कार्यकारिताका ही अवश्यम्भावी फल-रूप है। इन तीनों महाशक्तियोंके सहयोगी तीन श्रेणीके देवतागण भी हैं जो इनके सृष्टिस्थितिप्रलयात्मक कार्यमें सदा ही सहायता किया करते हैं और ये ही देवता त्रिगुण-भेदानुसार सात्त्विक, राजसिक और तामसिक होते हैं। अब किस महाशक्तिकी सहायतासे विष्णुदेव स्थितिकालमें ग्रहोपग्रहोंसे युक्त अनन्त-जीव-निवास अपूर्व ब्रह्माण्डकी रक्षा करते हैं, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। बृहदारण्यकोपनिषद्‌में लिखा है:—

"ब्रह्म वा इदमग्र आसीदेकमेव तदेकं सन्न व्यभवत्। तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत क्षत्रं यान्येतानि देवत्रा क्षत्राणीन्द्रो वरुणः सोमो रुद्रः पर्जन्यो यमो मृत्युरीशान इति।.................. स नैव व्यभवत्स विशमसृजत यान्येतानि देवजातानि गणश आख्यायन्ते वसवो रुद्रा आदित्या विश्वेदेवा मरुत इति। स नैव व्यभवत्स शौद्रं वर्णमसृजत पूषणमियं वै पूषेयं हीदं सर्वं पुष्यति यदिदं किञ्च। स नैव व्यभवत्तच्छ्रेयोरूपमत्यसृजत धर्मं तदेतत् क्षत्रस्य क्षत्रं यद्धर्मस्तस्माद्धर्मात्परं नास्त्यथ अबलीयान् बलीयांसमाशंसते धर्मेण यथा राज्ञैवं यो वै स धर्मः।"

प्रथम सृष्टिके समय सब ब्राह्मण थे, अन्य वर्ण नहीं था। उससे काम नहीं चला। इसलिये परमात्माने पालनादि कार्यके लिये क्षत्रिय-वर्ण की उत्पत्ति की, जो पृथिवीमें क्षत्रिय नामसे कहे गये और दैवजगत्‌में इन्द्र, वरुण, सोम, रुद्र, पर्जन्य, यम, मृत्यु और ईशान इत्यादि नामसे अभिहित हुए। फिर भी केवल ब्राह्मण और क्षत्रिय-वर्णसे भी काम पूरा न चला; क्योंकि, रक्षार्थ अर्थोपार्जनकी आवश्यकता हुई। इसलिये परमात्माने वैश्य-वर्णकी उत्पत्ति की; जो मनुष्य-लोकमें वैश्य कहलाते हैं वही और दैवजगत्‌में 'गण'नाम प्राप्त करते हैं। देवताओंमें वैश्य यथाः—अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य,

त्रयोदश विश्वेदेवा और उनचास मरुत्गण। तदनन्तर उससे भी सब काम नहीं चला। तब सेवाके लिये परमात्माने शूद्रवर्णकी उत्पत्ति की, दैवलोकमें पोषणकारिणी पृथिवी इस वर्णके अन्तर्गत है और मनुष्यलोकमें शूद्रजाति है। इस प्रकारसे चार वर्णोंकी सृष्टि करनेपर भी व्यवस्था नहीं चली। यथेष्ट वृत्ति सबमें बनी रही, कोई किसीका सञ्चालक नहीं रहा। क्षत्रिय प्रबल होकर दुर्बल अन्य जातिको पीडित करने लगे। अन्य जातियोंमें भी यथेच्छाचार फैलने लगा। तब परमात्माने चार वर्णके ही सञ्चालक-रूपसे धर्मरूपी महाशक्तिकी उत्पत्ति की, जिसकी अधीनतामें रहकर चारों वर्ण ठीक ठीक अपना अपना कर्म करने लगे और संसारकी सब व्यवस्था ठीक ठीक हो गई। इस प्रकारसे श्रुतिने विश्वके चालकरूपसे धर्मकी ही महिमा वर्णित की है। धर्मके विषयमें पहले ही कहा गया है कि, धर्मके द्वारा ही जड़चेतनात्मक ब्रह्माण्डकी रक्षा होती है।

"धारणाद् धर्ममित्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः"
"धर्मेणैव जगत् सुरक्षितमिदं धर्मो धराधारकः"

इत्यादि धर्मकी विश्वरक्षिणी शक्तिके विषयमें अनेक प्रमाण पहले ही दिये गये हैं। ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशामें धर्मकी यह महती शक्ति समस्त विश्वके सब विभागोंमें व्याप्त होकर सभीकी रक्षा किया करती है। समस्त स्थूल ब्रह्माण्डके पाञ्चभौतिक होनेसे पांच प्रकारके परमाणुओंके द्वारा ब्रह्माण्डके समस्त ग्रहोपग्रहोंका शरीर निर्मित है। प्रत्येक परमाणुके भीतर आकर्षण और विकर्षण नामकी दो शक्तियाँ विद्यमान रहती हैं। सृष्टिकालमें ब्रह्माकी प्राणशक्तिके बलसे समस्त परमाणुओंमें आकर्षणशक्ति प्रबल हो जाती है, जिससे अणुओंके संयोग द्वारा द्व्यणुकादिक्रमसे जल,,स्थल, वायु, और ग्रहोपग्रहादि बन जाते हैं। प्रलय-कालमें रुद्रशक्तिके बलसे विकर्षण-शक्तिका प्राबल्य हो जाता है जिससे समस्त मिलित परमाणु विच्छिन्न हो जाते हैं। ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशामें न तो आकर्षणका ही प्राबल्य रहता है और न विकर्षणका ही। उस समय दोनोंका ही सामञ्जस्य रहता है। इसी सामञ्जस्यके द्वारा ब्रह्माण्डके समस्त पदार्थ निज निज आकारमें यथास्थित रह सकते हैं। इस प्रकार आकर्षण और विकर्षणकी समताके लिये दोनों शक्तियोंकी ही प्रेरक तथा दोनोंमें ही व्यापक एक तीसरी शक्तिका प्रयोजन है। धर्म ही वह महती शक्ति है जो परमाणुओंमें व्याप्त

होकर वस्तुगत आकर्षण तथा विकर्षण-शक्तिकी समता स्थापन करती है, जिससे स्थिति-दशामें जगत्के समस्त पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें रह सकते हैं। प्रत्येक जड़ वस्तुकी त्रिविध अवस्थाएँ होती हैं। यथाः—कठिन, तरल और वायवीय। कोई वस्तु कठिन आकारमें रहती है, कोई तरल आकारमें, कोई वायवीय आकारमें। प्रस्तर आदि कठिन (solid) आकारमें जल आदि तरल (liquid) आकारमें और वाष्प आदि वायवीय (gaseous) आकारमें रहते हैं। उत्ताप अथवा शैत्य (शीतलता) के संयोगसे वस्तुके आकारमें परिवर्तन भी हो सकता है। यथाः—तरल जल शैत्य-संयोगसे कठिन बरफ हो सकता है और उत्तापके संयोगसे वायवीय वाष्प भी बन सकता है। इस प्रकारसे अन्यान्य भूतोंके विषयमें भी समझना चाहिये इस प्रकार त्रिविध आकारमें परिवर्त्तनशील भूतोंके कुछ साधारण धर्म और कुछ विशेष धर्म हुआ करते हैं। यथाः-स्थानव्यापकता (extension), स्थानावरोधकता (impenetrability),विभाज्यता (divisibility), सान्तरता (porosity), आकुञ्चनीयता (compressibility), स्थितिस्थापकता (elasticity). जडत्व (inertia) और गुरुत्व (gravity), ये सब जड़ वस्तुके साधारण धर्म हैं। काठिन्य (solidity), द्रवत्व (fluidity , दृढ़त्व (tenacity), तान्तवता (malleability) और वर्ण (coloür), ये सब जड़वस्तुके असाधारण धर्म हैं। इस प्रकारसे साधारण तथा असाधारण धर्मसे संयुक्त जड़वस्तु आकर्षण-विकर्षण-शक्तियोंकी समता द्वारा अपने कठिन, तरल या वायवीय आकारमें यथावस्थित तभी रह सकती है जब जड़वस्तुगत परमाणुओंके भीतर ऐसी कोई विभु (व्यापक) महती शक्ति हो जो आवश्यकतानुसार जड़वस्तुके अन्तर्गत समस्त धर्मोंका सामञ्जस्य कर सके। वही समता करनेवाली शक्ति धर्मकी है जिससे ब्रह्माण्डस्थित समस्त वस्तु अपने अपने स्वरूपमें स्थित रहती है। जल अपने तरल आकारमें तभीतक रह सकता है जब तक जलके उपादानरूपी परमाणुओंके बीचमें आकर्षण-विकर्षण-शक्तिका ऐसा ही सामञ्जस्य रहे जिससे न तो जलीय परमाणु परस्पर अतिगाढ़ सन्निवेशसे तरल जलको कठिन बरफ ही न बना देवें और न अधिक दूरवर्त्ती सन्निवेश द्वारा जलकी तरलताको नष्ट करके उसे वायवीय वाष्प ही बना देवें। इसी प्रकारसे सभी वस्तुमें धर्मशक्तिकी कृपासे सामञ्जस्य बना हुआ है। प्रस्तर (पत्थर)में परमाणुओंका सन्निवेश ऐसा ही प्रगाढ़ है जिससे प्रस्तरका कठिन शरीर बन सकता है। स्वर्ण, रौप्य आदि धातुओंमें भी ऐसे अधिकारके

परमाणु इसी प्रकारसे सन्निविष्ट हैं, जिससे उनका शरीर तथा स्वरूप ऐसा मूल्यवान् हो सके। प्रत्येक ग्रह, उपग्रह, जल, स्थल, अग्नि, नक्षत्र ज्योतिष्क आदि सभीमें धर्मकी ही महती शक्तिके द्वारा इसी प्रकारसे आकर्षण-विकर्षण-शक्तिकी समता की गई है जिससे यह मनोरम संसार सबको नयनगोचर हो रहा है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—इन पांचों तत्त्वोंसे समस्त संसार बना हुआ है। परन्तु समस्त ब्रह्माण्ड-पिण्डमय शरीरोंमें इन पांचों तत्त्वोंका नियमित परिमाण है जिससे कोई भी तत्त्व किसी शरीरमें नियमित विभागसे अधिक या कम नहीं हो सकता है। परिमित पञ्चतत्त्वोंके परिमाणमें लाघव-गौरव (छोटाई-बड़ाई) होते ही ब्रह्माण्ड अथवा पिण्ड-शरीरका स्वास्थ्य भङ्ग हो जाता है। इससे ब्रह्माण्ड-शरीरमें अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी, दुर्भिक्ष, संग्राम आदि रोग और पिण्डशरीरमें वात-पित्त-कफके विकारसे ज्वर, विसूचिका (हैजा), श्लेष्मादि अनेक रोग उत्पन्न हो जाते हैं। यह धर्मकी ही महिमायुक्त महती शक्ति है जिस कारण पञ्चतत्त्वोंमें सामञ्जस्य रहकर ब्रह्माण्डपिण्डके जीवोंकी प्राणरक्षा, शान्तिरक्षा और स्वास्थ्यरक्षा होती है। अनन्त आकाशमें जो अनन्तकोटि ग्रह, उपग्रह, सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, धूमकेतु आदि अपनी-अपनी कक्षामें सदा घूमा करते हैं, इसपर विचार करनेसे यही सिद्धान्त होता है कि, केवल परस्परके आकर्षण-विकर्षणकी समताके द्वारा ही-शून्यमें निराधार रहने पर भी इतने ग्रह-उपग्रह कोई भी कक्षाच्युत न होकर सभी शृङ्खलाबद्ध हो कार्य कर रहे हैं। सूर्य सभी ग्रहोंसे बड़े हैं और उनमें आकर्षण-शक्ति भी अधिक है; परन्तु अन्यान्य ग्रहोंके साथ सूर्यका इतनी दूरका सम्पर्क रक्खा गया है तथा बीचमें अन्यान्य ग्रहोंके विरुद्ध आकर्षण-शक्तिका ऐसा परिमाण रक्खा गया है जिससे न तो कोई ग्रह अधिक आकृष्ट होकर सूर्यके गर्भमें प्रवेश ही कर सकता है और न विकर्षणशक्ति द्वारा कक्षाच्युत होकर कहींसे कहीं जा ही सकता है। इस प्रकारसे आकर्षण-विकर्षणकी समता द्वारा अनन्त शून्यमें घूमती हुई अनन्त ज्योतिष्कमण्डलियाँ कालचक्रमें अनादि कालसे आवर्तन कर रही हैं। यह सब धर्मकी ही धराधारिणी शक्तिका फल है जिससे अनन्त शून्यमें भी विरुद्ध शक्तियोंकी शृङ्खला बनी हुई है और अनन्त विश्व यथावत् स्थित हैं। प्रत्येक भूतमें आवश्यकीय क्रियाकारिता तभी तक रह सकती है जब तक भूतोंको चलानेवाली उनके अन्तर्गत प्राणशक्तिमें समताकी रक्षा हो। भूत और शक्तिके बीचमें अनादि

कालसे ऐसा सम्बन्ध बना हुआ है जिससे भूतका भूतत्व (भूतपन) सिद्ध हो सकता है। जलमें जो शक्ति है, वायुमें जो शक्ति है, अग्निमें जो शक्ति है, पृथ्वीमें जो शक्ति है, आकाशमें जो शक्ति है और जितनी शक्तियाँ हैं, उनका अस्तित्व तथा परिमाण जब तक ठीक ठीक रहेगा तभी तक जल जल रहेगा और जीवनरूपसे जीवका कार्य कर सकेगा, वायु वायु रहेगा और ऋतुओंके अनुसार जीवकी स्वास्थ्यरक्षा और प्राणरक्षा कर सकेगा, अग्नि अग्नि रहेगी और उत्ताप तथा प्रकाश कर सकेगी, पृथ्वी पृथ्वी रहेगी और शस्य-समृद्धिशालिनी बनकर जीवोंके रहने योग्य होती रहेगी, आकाश आकाश रहेगा और शब्दोत्पत्ति आदि कार्य कर सकेगा। नहीं तो, भूत और शक्तिके बीचका सामञ्जस्य बिगड़ने पर कोई भी भूत अपनी सत्ताके रखनेमें समर्थ नहीं रहेगा और न उसके द्वारा निर्दिष्ट कार्य ही हो सकेगा। यह धर्मकी ही महिमा है जिससे ब्रह्माण्डकी स्थिति-दशामें भूत और शक्तिके बीचमें सामञ्जस्यकी रक्षा होती है जिससे यह महाप्रकृति अपनी महती लीलाओंको अनायास ही कर सकती है। इस प्रकारसे जड़जगत्में धर्मशक्तिके प्रभावसे ब्रह्माण्डके स्थितिकालमें सकल प्रकारकी व्यवस्थाएँ रहती हैं। अब चेतनजगत्की स्थितिके विषयमें नीचे बताया जाता है।

जडजगत्की तरह चेतनजगत्की स्थितिके लिये धर्मशक्ति ही कारणरूप होती है। उद्भिज्जसे लेकर जरायुजकी पशुयोनि पर्यन्त समस्त जीवोंके ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके अधीन होनेके कारण ब्रह्माण्डप्रकृतिके प्राकृतिक धर्मको ही आश्रय करके संसारमें स्थिति तथा क्रमोन्नति प्राप्त करते हैं। प्रकृतिके समस्त धर्म धीरे धीरे उन जीवोंका आश्रय करते हुए उन्हें मनुष्ययोनिके योग्य बना देते हैं। आत्मरक्षामें तत्परता, स्नेहके साथ सन्तानपालन, ममता, प्रभुभक्ति, वीरता, प्रेम आदि सत्त्वगुणकी धार्मिक वृत्तियाँ यदि पश्वादियोनिके जीवोंमें न होतीं तो, संसारमें उनकी स्थिति तथा वंशवृद्धि कदापि नहीं हो सकती। तदनन्तर मनुष्ययोनिमें बुद्धितत्त्वके पूर्णविकाशके साथ साथ आनन्दमयकोषका विकाश होनेपर विस्तृत धर्माधिकार जीवोंको प्राप्त होता है। इसी धर्माधिकारके अनुसार अपने कर्त्तव्यका पालन करनेसे मनुष्य क्रमशः सात्त्विकप्रकृति पाकर अन्तमें परमानन्दमय निःश्रेयस (मोक्ष)का अधिकारी हो सकता है। श्रीभगवान्ने गीतामें कर्त्तव्यपालनको ही भगवत्पूजा कहकर वर्णन किया है। यथाः—

"स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु॥

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम् ।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः ॥"

अपने अपने वर्णाश्रमोचित तथा स्थितिके अनुकूल कर्त्तव्यका पालन करनेसे मनुष्य सिद्धि लाभ करता है। जिस अन्तर्यामी परमात्मासे भूतोंमें प्रवृत्तिकी उत्पत्ति हुई है और जो समस्त संसारमें व्याप्त है—कर्त्तव्यपालन द्वारा उसकी पूजा करके मनुष्यगण सिद्धि प्राप्त करते हैं। ब्रह्माण्डप्रकृतिके साथ पिण्डप्रकृतिके एकत्वका सम्बन्ध रहनेसे ब्रह्माण्डप्रकृतिके जिस सम्पर्क या अधिकारमें पिण्डप्रकृतिकी स्थिति है उसके अनुसार पिण्डप्रकृतिमें कुछ कर्त्तव्योंका उदय होता है। यदि पिण्डप्रकृतिधारी जीव उन कर्त्तव्योंका नियमित यथाशास्त्र पालन करता जाय तो उसका अपने अधिकारसे पतन न होकर उसको क्रमोन्नतिही प्राप्त होती रहती है। प्रत्येक वर्ण अथवा प्रत्येक आश्रमके लिये पूज्यपाद महर्षियोंने जिन अवश्य कर्त्तव्यों तथा नित्य कर्मोंका विधान किया है वे सभी इसी ब्रह्माण्डपिण्डमय प्रकृतिके एकत्वसम्बन्धके विचारके द्वारा ही किये गये हैं। त्रिवर्णोंमें नित्यकर्म वही कहलाता है जिसके द्वारा जीवकी व्यष्टिप्रकृति अपने अधिकारानुसार समष्टिप्रकृतिके साथ सम्बन्धको पूर्ण रख सकती है अर्थात् समष्टिप्रकृतिके साथ व्यष्टिप्रकृतिका सामञ्जस्य नित्यकर्मके द्वारा ही होता है। इसी लिये नित्यकर्मके अनुष्ठान द्वारा पुण्य नहीं होता है; परन्तु अनुष्ठान न करनेपर प्रत्यवाय (विघ्न) होता है; क्योंकि, नित्यकर्मका अनुष्ठान न करनेसे जीव समष्टिप्रकृतिके साथ अपनी व्यष्टिप्रकृतिका ऊपर उक्त सम्बन्ध स्थायी नहीं रख सकता है, जिससे उसका पतन हो जाता है। समष्टिप्रकृतिके साथ व्यष्टिप्रकृतिका सम्बन्ध स्थायी रखनेके लिये जीवको ब्रह्म, ब्रह्मशक्ति, ऋषिशक्ति, देवशक्ति, पितृशक्ति तथा व्यापक-शक्तिके साथ सदा ही सम्बन्ध रखना पड़ता है। नहीं तो, जीव कदापि शक्ति-सामञ्जस्य की विधिसे सर्वशक्तिमान् परमात्माकी ओर अग्रसर नहीं हो सकता है। इसी कारण महर्षियोंने तीनों वर्णोंके लिये नित्यकर्मके रूपसे सन्ध्या और पञ्चमहायज्ञका विधान किया है। नित्य सन्ध्योपासनाके द्वारा ब्रह्म और ब्रह्मशक्तिके साथ जीवकी एकता बनी रहती है। पञ्चमहायज्ञके नित्यानुष्ठान द्वारा अन्य चार शक्तियोंके साथ जीवकी एकता बनी रहती है। यथाः—ऋषियज्ञके द्वारा ऋषिशक्तिके साथ, देवयज्ञके द्वारा दैवी शक्तिके साथ, पितृयज्ञके द्वारा पितृशक्तिके

साथ, नृयज्ञ और भूतयज्ञके द्वारा मनुष्य तथा मनुष्येतर जीवोंमें व्याप्त भगवान्की शक्तिके साथ मनुष्योंकी एकता बनी रहती है जिससे जीव कभी अपनी स्थितिसे नीचे गिर नहीं सकता है और व्यापक-शक्तिकी सहायतासे क्रमोन्नति प्राप्त करता है। इसका विस्तारित विवरण महायज्ञ नामक अध्यायमें पहले ही बताया जा चुका है। उसी प्रकार प्रत्येक वर्ण तथा आश्रममें जो कर्त्तव्य-कर्मकी आज्ञा की गई है उसके द्वारा ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—सभी अपनी अपनी जातिकी कोटिमें पूर्णोन्नत होकर निःश्रेयसकी ओर अग्रसर हो सकते हैं। अन्यथा, ब्राह्मण यदि तपोनिष्ठ (तपस्वी) न होकर इन्द्रियलोलुप हो अपने वर्णोचित कर्त्तव्य की अवहेला (उपेक्षा) करें, क्षत्रिय राजा यदि प्रजापालनरूप अपने कर्त्तव्यको छोड़कर प्रजापीडन करें, वैश्य यदि धन द्वारा त्रिवर्णकी रक्षा करना भूल जायं और शूद्र अपने सेवाधर्मसे कुण्ठित (विमुख) हो जायं तो, ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें स्थितिके बदले भीषण नाशकी सूचना हो जायगी—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। महर्षि याज्ञवल्क्यजीने कहा हैः—

"प्रजापीडन-सन्तापात् समुद्भूतो हुताशनः ।
राज्यं कुलं श्रियं प्राणाँश्चाऽदग्ध्वा न निवर्त्तते ॥"

राजा यदि प्रजाकी रक्षा न करके उसको पीडित करे तो, प्रजापीडनरूपी सन्तापसे उत्पन्न अग्नि राज्य, कुल, श्री और राजाके प्राणतकको जलाए बिना निवृत्त नहीं होती है। इसी प्रकार सकल वर्णों और सकल आश्रमोंके लिये ही धर्मानुकूल कर्तव्यका पालन ही रक्षा तथा उन्नतिका मूलमन्त्र है; अन्यथा नाश अवश्यम्भावी है। यही चेतन-जगत्में धर्मकी जगत्की रक्षा करनेवाली शक्तिका अनुपम कार्य है। जो शक्ति स्थूलजगत्में आकर्षण-विकर्षणरूपसे कार्य करती है वही शक्ति सूक्ष्मजगत् अर्थात् मनोजगत्में रागद्वेष-रूपसे कार्य करती है। जिसका विस्तारित विवरण 'त्रिगुणतत्त्व' नामक अध्यायमें किया जायगा। आकर्षण-शक्ति राग है, जिससे जागतिक (जगत्के) जीव तथा स्त्री-पुरुष परस्परमें आसक्त होकर संसारचक्रमें घूम रहे हैं और विकर्षण-शक्ति द्वेष है, जिससे जगत्के जीवोंमें परस्परके साथ शत्रुता और अप्रीति उत्पन्न होती है। यह राग-द्वेष जबतक जीवमें प्रबल हैं और इन दोनोंमें समता नहीं है तबतक संसारकी शान्तिमयी धार्मिक स्थिति कदापि सम्भव नहीं हैं। संसारमें अनुष्ठित (किये गये) समस्त पाप, व्यभिचार, हत्या, नृशंसता, कृतघ्नता, आत्महत्या आदि—सभी रागद्वेषके

ही फल हैं। रजोगुणमयी रागवृत्ति और तमोगुणमयी द्वेषवृत्ति—इन दोनोंको छोड़कर जिस समयसे जीवके अन्तःकरणमें रागद्वेषकी समता उत्पन्न होने लगती है उसी समयसे जीव धार्मिक बनने लगता है। उसी समय वह न तो रागमें ही अधीर और अशान्त (व्याकुल) होता है और न द्वेषकी अग्निमें ही जल कर दुःखका भोग करता है। जितनी ही मनुष्यमें रागद्वेषकी समता बनती जाती है उतनी ही दोनोंकी शक्ति घटती जाती है और उतना ही मनुष्य जीवभावको छोड़कर क्रमशः अधिक धर्मात्मा होता हुआ शान्तिमय शिवभावकी ओर अग्रसर होता जाता है और अन्तमें जब दोनोंमें समताकी पूर्णता होनेपर पुरुष रागद्वेषसे छुट जाता है तभी शिवभावकी भी पूर्णता प्राप्त करके जीव शाश्वत नित्यानन्दमय ब्राह्मी स्थितिको प्राप्त करता है। जैसा कि गीतामें:—

"विहाय कामान् यः सर्वान् पुमाँश्चरति निस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥
एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥"

सकल कामनाओंका परित्याग करके रागद्वेषको छोड़कर जो महात्मा निस्पृह, ममताहीन तथा निरहंकार होकर विचरण करते हैं उनको परम शान्ति प्राप्त होती है। यही शास्त्रोक्त ब्राह्मी स्थिति है जिसको पाकर पुनः जीव मोहमें नहीं फँसता है और मृत्युके समय भी जिस स्थितिमें रहनेसे जीव निर्वाण मुक्तिके पदको प्राप्त कर लेता है। यही धर्मानुसार चेतन-जगत्‌की शान्तिमयी स्थिति और चरम परिणति है।

जड़ और चेतनजगत्‌की तरह दैवजगत्‌में भी शान्तिमयी स्थिति धर्मकी धराधारिणी (विश्वरक्षिणी) शक्तिद्वारा बनी रहती है। देवासुर-संग्राम जागतिक क्रियाका मूलमन्त्र है। इसलिये जबतक प्रकृति है तबतक दैवीशक्ति और आसुरी शक्तिमें संग्राम (युद्ध) अवश्य रहता है। परन्तु ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें सत्त्वगुणका प्रकाश रहनेके कारण दैवीशक्तिका बल अधिक रहता है। भागवत्‌में लिखा है:—

"एधमाने गुणे सत्त्वे देवानां बलमेधते।"

सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेसे देवताओंका बल अधिक रहता है। इसलिये ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें आसुरी शक्ति दुर्बल रहती है और देवता तथा ऋषि

और पितृगण अपने अपने केन्द्रपर स्थित होकर ब्रह्माण्डका परिचालन करते हैं। इसका विस्तारित विवरण 'ऋषि' देवता और पितृतत्त्व' नामक प्रबन्धमें बताया जायगा। ऋषिगण आध्यात्मिक शक्तिके सञ्चालक हैं। इसलिये ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें देशकालपात्रानुसार ज्ञान और विज्ञानका सञ्चार करना उनका काम रहता है। किस देशमें, किस कालमें, किस जातिमें, किस प्रकारके ज्ञान, ज्ञानी तथा ज्ञानके आधार पुस्तकका प्रकाशन होना चाहिये—नित्य ऋषिगण इसका प्रबन्ध करते हैं। देवतागण जीवोंके कर्मोंके चालक होकर पुण्यपापानुसार जीवोंको उन्नत या अवनत योनियोंमें तथा स्वर्ग-नरकादि लोकोंमें भेजते हैं। इसी प्रकार पितृगण आधिभौतिक अंशकी व्यवस्था करते हैं। किस देशमें, किस कालमें, किस प्रकारके ऋतु आदिका विकाश होना चाहिये, किस ऋतुमें किस प्रकारकी वनस्पति, ओषधि तथा फल-फूलोंकी उत्पत्ति होनी चाहिये, किस देशमें किस प्रकारका स्वास्थ्य तथा देशवासी जीवोंमें वीर्य, बल आदि होना चाहिये—इसकी व्यवस्थाका भार पितरों पर रहता है। इस प्रकारसे विष्णु-शक्तिके आधीन रहकर ब्रह्माण्डकी स्थितिदशामें समस्त दैवजगत्में भिन्न भिन्न दैवीशक्तियोंके द्वारा भिन्न भिन्न कार्य होते हैं और जड़चेतनात्मक समस्त विश्वमें विष्णुशक्तिके प्रभावसे किस प्रकारसे स्थितिकार्यकी परिचालना होती है सो पहले ही कहा जा चुका है। यही विष्णु भगवान्की अपार महिमा का कारण है; क्योंकि, उनके ही आधीन होकर सब ऋषि, सब देवता और सब पितृगण अपना अपना कार्य पूर्णरूपसे कर सकते हैं। यही ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें सृष्टितत्त्वके अनन्तर रहस्यमयी स्थितिकातत्त्व है जिसके ज्ञानके द्वारा जीव शाश्वत ब्राह्मी स्थितिको लाभ करके मुक्त हो सकता है।

(प्रलयतत्त्व ।)

स्थितितत्त्वके अनन्तर अब प्रलयतत्त्वका वर्णन किया जाता है। श्रीभगवान्की साक्षात् शक्तिस्वरूपिणी ब्राह्मी शक्ति, वैष्णवी शक्ति और रौद्रीशक्तिके त्रिगुण सम्बन्धानुसार त्रिगुणमयी ब्रह्माण्डप्रकृतिमें एक बार ही कार्यशालिनी होनेसे सृष्टिक्रियाके साथ ही साथ प्रलयक्रिया भी मिली रहती है, ब्राह्मीशक्तिकी आकर्षण-क्रियाके साथ साथ रौद्रीशक्तिकी विकर्षण-क्रिया भी लगी रहती है और जितनी जितनी ब्रह्माण्डप्रकृतिकी आयु पूरी होती जाती है उतनी उतनी आकर्षण-शक्तिकी क्रिया मन्द होकर विकर्षण-शक्तिकी क्रिया प्रबल होती जाती है और अन्तमें समस्त ब्रह्माण्डमें विकर्षणशक्ति या रौद्री शक्ति बलवान्

होकर ब्रह्माण्डको महाप्रलयके गर्भमें विलीन कर देती है। यही सृष्टिस्थितिके अनन्तर प्रलयका तत्त्व है। इसी कारण ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति निम्नाभिमुखिनी है और इसी कारण सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—इस प्रकारसे ब्रह्माण्डप्रकृति सत्त्वगुणसे तमोगुणकी ओर जाता है और इस प्रकारसे चारों युगोंके चक्र चलते चलते भी ब्रह्माण्डप्रकृतिकी गति तमोगुणकी ओर ही होती है और उसीके अनुसार समष्टिजीवोंके संस्कार भी क्रियाकी ओर धीरे धीरे जाना छोड़कर लयकी ओर जाते हैं। अब ब्रह्माण्डप्रकृतिकी आयु तथा चार युगोंमें जीवप्रकृतिका विचार करते हुए प्रलयके प्रकार क्रमशः बताये जाते हैं। आर्यशास्त्रमें चार प्रकारके प्रलय बताये गये हैं। यथा विष्णुपुराणमें:—

"नैमित्तिकः प्राकृतिकस्तथैवात्यन्तिको द्विज !
नित्यश्च सर्वभूतानां प्रलयोऽयं चतुर्विधः ॥
ब्राह्मो नैमित्तिकस्तत्र यच्छेते जगतः पतिः ।
प्रयाति प्राकृते चैव ब्रह्माण्डं प्रकृतौ लयम् ॥
ज्ञानादात्यन्तिकः प्रोक्तो योगिनः परमात्मनि ।
नित्यः सदैव जातानां यो विनाशो दिवानिशम् ॥"

नैमित्तिक, प्राकृतिक, आत्यन्तिक और नित्य—ये चार प्रकारके प्रलय हैं। ब्रह्म-प्रलय अर्थात् खण्ड-प्रलयको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं, जो ब्रह्माजीके एक दिनके बाद एक रात्रिके समय होता है, जिसमें ब्रह्माजी निद्रित होजाते हैं। प्राकृतिक प्रलय महाप्रलयको कहते हैं, जिसमें ब्रह्माण्ड महाप्रकृतिमें लय हो जाता है। ज्ञान द्वारा योगिगण जो ब्रह्ममें लय हो जाते हैं उसीको आत्यन्तिक प्रलय कहते हैं और उत्पन्न पदार्थोंका जो रातदिन नाश या क्षय हो रहा है उसको नित्य प्रलय कहते हैं। इन चारों प्रलयोंमेंसे नित्य और आत्यन्तिक प्रलय पिण्डके सम्बन्धसे होते हैं और नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलय ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे होते हैं। इसलिये वर्तमान प्रबन्धका प्रतिपाद्य विषय नैमित्तिक और प्राकृतिक प्रलय ही है।

यहां एक विषय कह देना अवश्यकीय है। पूर्व कथित विवर्त्त-सृष्टि और परिणाम-सृष्टिके साथ एवं नैमित्तिक प्रलय तथा प्राकृतिक प्रलयके साथ ब्रह्माण्डका सम्बन्ध है। उसी प्रकार अदृष्ट-सृष्टि और आरम्भ-सृष्टिके साथ

एवं नित्य प्रलय तथा आत्यन्तिक प्रलयके साथ पिण्डका सम्बन्ध है। जीव अदृष्टसृष्टिके लिये परवश हो जाता है, देवतागण जीवको विवश बनाकर और अदृष्टसे उत्पन्न सृष्टि कराकर जाति, आयु और भोगका ह्रास अथवा स्वर्ग-नरकादिमें उसको भेजकर शुभाशुभ फलका भोग अवश्य कराया करते हैं। आरम्भसृष्टिके लिये जीव स्वाधीन है, जैसा पहले कहा गया है। इस सृष्टिमें देवताओंका अधिकार साक्षात् नहीं है। आरम्भसृष्टिमें जब जीव सृष्टिका कारण उत्पन्न कर लेता है तब ब्रह्माजीकी आज्ञासे देवतागण सृष्टिका प्रवाह उधर बहा देते हैं। ठीक उसी प्रकार नित्य प्रलय और आत्यन्तिक प्रलय जीव-पिण्डके सम्बन्धसे युक्त है। नित्य प्रलय जीवपिण्ड पर हर समय हो रहा है। जरा-मृत्यु उसके स्वरूप हैं। इसमें जीव विवश है। परन्तु आत्यन्तिक प्रलयमें जीव मुक्तिको प्राप्त करता है। इस प्रलयके लिये जीव स्वाधीन है। विषय-वैराग्य, सत्सङ्ग, गुरुसेवा आदिके द्वारा तत्त्वज्ञानका लाभ करके जीव मुक्त हो सकता है। इस विषयमें जीव अपनी इच्छाशक्ति और पुरुषार्थको स्वाधीनरूपसे काममें ला सकता है। ब्रह्माण्डके सम्बन्धमें पहले कही हुई विवर्त्तसृष्टि और परिणामसृष्टि स्वाभाविकी है। पुरुषका भावसे उत्पन्न स्वभाव और प्रकृतिका गुणसे उत्पन्न स्वभाव यथाक्रमसे इन दोनोंका कारण है। इसमें किसीका भी वश नहीं। दूसरी ओर नैमित्तिक प्रलय-रूपी खण्डप्रलय ब्रह्मा, विष्णु, महेशके अधिकारसे उत्पन्न और ब्रह्माजीके जागने और सोनेकी अवस्थाके साथ सम्बन्धसे युक्त है। इस प्रलय पर भी किसीका हाथ नहीं है; क्योंकि उक्त त्रिमूर्त्तियाँ अपना अपना काम करेंगी ही और ब्रह्माजीका जब जागना है तो सोना भी उनको पड़ेगा एवं आत्यन्तिक प्रलय भी स्वभावसे उत्पन्न है—इसमें सन्देह ही नहीं।

ब्रह्माण्डकी आयुके विषयमें आर्यशास्त्रमें जैसे गम्भीर, विशाल, अकाट्य सिद्धान्तका निरूपण किया गया है ऐसा और किसी शास्त्रमें आजतक नहीं हुआ है। बाइबल, कुरान आदि ग्रन्थोंके विश्वासिगण अब तक यही मानते थे कि, पृथिवीकी सृष्टि केवल तीन से चार हजार वर्षके भीतर ही हुई है। परन्तु अब विज्ञानशास्त्र की उन्नतिके साथ साथ उनके ये सब भ्रम धीरे धीरे दूर होने लगे हैं। भूतत्त्ववित् पण्डितोंने पृथिवीकी प्रस्तर-परीक्षा द्वारा यह सिद्धान्त कर लिया है कि, प्राकृतिक नियमके अनुसार उनमें ऐसा परिवर्त्तन लाखों वर्षोंमें हो सकता है। इस कारण बाध्य होकर वे बाइबल और कुरानके मतको भ्रमपूर्ण समझने लगे हैं। आजकलके नानाशास्त्रोंके वेत्ता वैज्ञानिकगणने यह

निश्चय किया है कि, सूर्यगर्भसे पृथिवीकी उत्पत्ति और पृथिवीगर्भसे चन्द्रकी उत्पति हुई है, जिसमेंसे पृथिवीगर्भसे चन्द्रकी उत्पत्तिका प्रमाण वे ५०००००००० वर्ष अनुमान करते हैं और इसी रीति पर यदि सूर्यसे पृथिवी-सृष्टिका अनुमान किया जाय तो, संख्या बहुत कुछ बढ़ जायगी। अतः पश्चिमी वैज्ञानिकोंके इन अनुसन्धानों (खोजों) को देखकर अब कोई भी आर्यशास्त्रोक्त सृष्टिप्रमाणको मिथ्या नहीं मान सकता। अब आर्यशास्त्रीय सिद्धान्तानुसार ब्रह्माण्डकी आयुका निर्णय तथा ऊपर उक्त नैमित्तिक और प्राकृतिक प्रलयका काल और रहस्यका निर्णय किया जाता है। विष्णु-पुराणमें कालके विषयमें लिखा है:—

"काष्ठाः पञ्चदश ख्याता निमेषा मुनिसत्तम !
काष्ठास्त्रिंशत्कलास्तास्तु त्रिंशन्मौहूर्त्तिको विधिः ॥
तावत्संख्यैरहोरात्रं मुहूर्तैर्मानुषं स्मृतम् ।
अहोरात्राणि तावन्ति मासः पक्षद्वयात्मकः ॥
तैः षड्भिरयनं वर्षं द्वेऽयने दक्षिणोत्तरे ।
अयनं दक्षिणं रात्रिर्देवानामुत्तरं दिनम् ॥
दिव्यैर्वर्षसहस्रैस्तु कृतत्रेतादिसंज्ञितम् ।
चतुर्युगं द्वादशभिस्तद्विभागं निबोध मे ॥
चत्वारि त्रीणि द्वे चैकं कृतादिषु यथाक्रमम् ।
दिव्याब्दानां सहस्राणि युगेष्वाहुः पुराविदः ॥
तत्प्रमाणैः शतैः सन्ध्या पूर्वा तत्राभिधीयते ।
सन्ध्यांशकश्च तत्तुल्यो युगस्यानन्तरो हि सः ॥
सन्ध्यासन्ध्यांशयोरन्तर्यः कालो मुनिसत्तम !
युगाख्यः स तु विज्ञेयः कृतत्रेतादिसंज्ञितः ॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चैव चतुर्युगम् ।
प्रोच्यते तत्सहस्रञ्च ब्रह्मणो दिवसं मुने !
ब्रह्मणो दिवसे ब्रह्मन् ! मनवश्च चतुर्दश ।
भवन्ति परिमाणञ्च तेषां कालकृतं शृणु ॥

सप्तर्षयः सुराः शक्रो मनुस्तत्सूनवो नृपाः ।
एककाले हि सृज्यन्ते संह्रियन्ते च पूर्ववत् ॥
चतुर्युगाणां संख्याता साधिका ह्येकसप्ततिः ।
मन्वन्तरं मनोः कालः सुरादीनाञ्च सत्तम ! ॥
अष्टौ शतसहस्राणि दिव्यया संख्यया गतिः ।
द्वापञ्चाशत् तथान्यानि सहस्राण्यधिकानि च ॥
त्रिंशत्कोट्यस्तु सम्पूर्णाः संख्याताः संख्यया द्विज !
सप्तषष्टिस्तथान्यानि नियुतानि महामुने ! ॥
विंशतिश्च सहस्राणि कालोऽयमधिकं विना ।
मन्वन्तरस्य संख्येयं मानुषैर्वत्सरैर्द्विज !
चतुर्दशगुणो ह्येष कालो ब्राह्ममहः स्मृतः ।
ब्राह्मो नैमित्तिको नाम तस्यान्ते प्रतिसञ्चरः ॥
तदा हि दह्यते सर्वं त्रैलोक्यं भूर्भुवादिकम् ।
जनं प्रयान्ति तापार्त्ता महर्लोकनिवासिनः ॥
एकार्णवे तु त्रैलोक्ये ब्रह्मा नारायणात्मकः ।
भोगिशय्यागतः शेते त्रैलोक्यग्रासबृंहितः ॥
जनस्थैर्योगिभिर्देवश्चिन्त्यमानोऽब्जसम्भवः ।
तत्प्रमाणां हि तां रात्रिं तदन्ते सृज्यते पुनः ॥
एवं तु ब्रह्मणो वर्षमेवं वर्षशतञ्च तत् ।
शतं हि तस्य वर्षाणां परमायुर्महात्मनः ॥
एकमस्य व्यतीतन्तु परार्द्धं ब्रह्मणोऽनघ !
तस्यान्तेऽभून्महाकल्पः पाद्म इत्यभिधीयते ॥
द्वितीयस्य परार्द्धस्य वर्त्तमानस्य वै द्विज !
वराह इति कल्पोऽयं प्रथमः परिकीर्त्तितः ॥"

पन्द्रह निमेषोंमें एक काष्ठा होती है, तीस काष्ठाओंमें एक कला होती

है, तीस कलाओंमें एक घटिका और दो घटिकाओंमें एक मुहूर्त्त होता है । तीस मुहूर्त्तोंमें मनुष्य-लोकका एक अहोरात्र होता है और तीस अहोरात्रोंमें पक्षद्वयात्मक मास होता है; छः मासोंमें एक अयन और उत्तर, दक्षिण नामक दो अयनोंमें एक वर्ष होता है । दक्षिणायन देवताओंकी रात्रि और उत्तरायण देवताओंका दिन है । इस प्रकारसे दैव दिवा-रात्रिके हिसावसे दैव द्वादश सहस्र वर्षोंमें सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि—ये चार युग होते हैं । इनके विभाग इस प्रकारके हैं । सत्यादि चार युगोंका परिमाण यथाक्रम चार, तीन, दो और एक सहस्र वर्ष है । प्रत्येक युगके पूर्व सन्ध्याका परिमाण यथाक्रम चार, तीन, दो और एक सौ वर्ष है और सन्ध्यांश भी उतना ही है। सन्ध्या और सन्ध्यांशका मध्यवर्ती (बीचका) जो काल है वही सत्यादि चार युग है । इस हिसावसे मानवीय परिमाणके अनुसार १७२८००० वर्षका सत्ययुग, १२९६००० वर्षका त्रेतायुग ८६४००० वर्षका द्वापरयुग और ४३२००० वर्षका कलियुग होता है । इन चार युगोंके सहस्रों वार होनेपर ब्रह्माका एक दिन होता है । ब्रह्माके एक दिनमें १४ मनु होते हैं । उनका कालपरिमाण इस प्रकार है । सप्तर्षिगण, सुरगण, इन्द्र, मनु और उनके पुत्र नृपगण—सब एक ही कालमें उत्पन्न और एक ही कालमें विनष्ट होते हैं । कुछ अधिक ७१ चतुर्युगोंमें मनु और सुरगणोंका काल है जिसको मन्वन्तर कहते हैं । दिव्य संख्यामें मन्वन्तरका परिमाण अष्ट लक्ष द्विपञ्चाशत् सहस्र (८५२०००) वर्ष हैं। मानुषी संख्यामें उसका परिमाण त्रिंशत् कोटि सप्तषष्टिलक्ष विंशति सहस्र (३०६७२००००) वर्ष है । इस कालका चतुर्दश गुण एक ब्राह्म दिन है । इसके अन्तमें ब्रह्माकी रात्रि होती है जिसमें नैमित्तिक प्रलय हो जाता है। ब्रह्माकी जाग्रद्दशामें उनकी प्राणशक्तिकी प्रेरणासे ब्रह्माण्डका चक्र चलता है । इसलिये जैसे निद्राके समय इन्द्रियाँ निश्चेष्ट होजाती हैं वैसे ही ब्रह्माकी निद्राके समय समस्त ब्रह्माण्डमें क्रिया वन्द हो जाती है । इसीको नैमित्तिक प्रलय कहते हैं । उस समय 'भूर्भुवःस्वः' ये तीन लोक दग्ध हो जाते हैं और महर्लोकके निवासिगण तापसे पीड़ित होकर जनलोकमें चले जाते हैं । तदनन्तर त्रैलोक्यके जलमय होजाने पर ब्रह्माण्डव्यापी प्राणशक्तिको अपने भीतर भरकर ब्रह्माजी विष्णुके साथ शेषशय्यापर योगनिद्रामें सो जाते हैं। क्रियाके अनन्तर निष्क्रियता भी स्वाभाविक ही है। इसलिये महाप्रकृतिके स्वाभाविक नियमानुसार ही ब्रह्माजीमें इस प्रकारकी अन्तर्मुखीनता तथा निश्चेष्टता आ जाती है; जिस कारण ब्रह्माण्ड-शरीरमें भी निश्चेष्टता आ जाती है । केवल प्रलयमें भी

रहनेकी शक्ति रखनेवाले कुछ योगिगण जनलोकमें जीवित और ध्यान-परायण रहते हैं। जनलोकस्थ इन योगियोंके द्वारा चिन्त्यमान कमल-योनि ब्रह्मा इस प्रकारसे ब्रह्मदिवाके तुल्य ब्रह्मरात्रिको योगनिद्रामें वितानेके अनन्तर फिर ब्रह्म-दिवाके उदयमें जागकर समस्त ब्रह्माण्डकी सृष्टि करते हैं। इस प्रकार दिवा-रात्रिकी गणनासे सौ वर्ष ब्रह्माजीकी आयु है, जिसके अन्तमें ब्रह्माजी परब्रह्ममें विलीन होजाते हैं और प्राकृतिक प्रलयका उदय हुआ करता है। वर्त्तमान समयमें ब्रह्माकी आयुका एक परार्द्ध बीत चुका है। उस परार्द्धके अन्तमें पद्म नामक महाकल्प हो गया है। वर्त्तमान द्वितीय परार्द्धका यह प्रथम दिन अर्थात् प्रथम कल्प चल रहा है, जिसको 'वराह-कल्प' कहते हैं। इस वराह-कल्पमें भी कृष्णवराहकल्प, रक्त-वराहकल्प आदि कई कल्प बीत चुके हैं अब वर्त्त-मान समयमें 'श्वेतवराहकल्प चल रहा है। यही आर्य-शास्त्रके सिद्धान्ता-नुसार कालका विभाग है जिसके अनुसार ब्रह्माण्डप्रकृति महाकालके महान् चक्रमें अनादि कालसे घूम रही है।

नैमित्तिक तथा प्राकृतिक प्रलयके विषयमें सभी पुराणोंमें विस्तारित वर्णन मिलते हैं। उनमेंसे विष्णुपुराणके नैमित्तिक प्रलयका वर्णन नीचे दिया जाता है। यथाः—

"चतुर्युगसहस्रान्ते क्षीणप्राये महीतले।
अनावृष्टिरतीवोग्रा जायते शतवार्षिकी॥
ततो यान्यल्पसाराणि तानि सत्त्वान्यशेषतः
क्षयं यान्ति मुनिश्रेष्ठ! पार्थिवान्यत्र पीडनात्॥
ततः स भगवान् विष्णूरुद्ररूपधरोऽव्ययः।
क्षयाय यतते कर्त्तुमात्मस्थाः सकलाः प्रजाः॥
ततः स भगवान् विष्णुर्भानोः सप्तसु रश्मिषु।
स्थितः पिबत्यशेषाणि जलानि मुनिसत्तम!।
सरित्समुद्रशैलेषु शैलप्रस्रवणेषु च।
पातालेषु च यत्तोयं तत्सर्वं नयति क्षयम्॥
ततस्तस्यानुभावेन तोयाहारोपबृंहिताः।
त एव रश्मयः सप्त जायन्ते सप्त भास्कराः॥

अधश्चोर्द्ध्वञ्च ते दीप्तास्ततः सप्त दिवाकराः ।
दहन्त्यशेषं त्रैलोक्यं सपातालतलं द्विज ! ॥
दह्यमानन्तु तैर्दीप्तैस्त्रैलोक्यं द्विज ! भास्करैः ।
साद्रिनद्यर्णवाभोगं निःस्नेहमति जायते ॥
ततो निर्दग्धवृक्षाम्बु त्रैलोक्यमखिलं द्विज !
भवत्येका च वसुधा कूर्मपृष्ठोपमाकृतिः ॥
ततः कालाग्निरुद्रोऽसौ भूत्वा सर्वहरो हरिः ।
शेषनिश्वाससम्भूतः पातालानि दहत्यधः ॥
पातालानि समस्तानि स दग्ध्वा ज्वलनो महान् ।
भूमिमभ्येत्य सकलं बभस्ति वसुधातलम् ॥
भुवर्लोकं ततः सर्वं स्वर्लोकञ्च सुदारुणः ।
ज्वालामालामहावर्त्तस्तत्रैव परिवर्त्तते ॥
अम्बरीषमिवाभाति त्रैलोक्यमखिलं तदा ।
ज्वालावर्त्तपरीवारमुपक्षीणचराचरम् ॥
ततस्तापपरीतास्तु लोकद्वयनिवासिनः ।
कृताधिकारा गच्छन्ति महर्लोकं महामुने ! ॥
तस्मादपि महातापतप्ता लोकास्ततः परम् ।
गच्छन्ति जनलोकं ते दशावृत्त्या परैषिणः ॥
ततो दग्ध्वा जगत् सर्वं रुद्ररूपी जनार्दनः ।
मुखनिश्वासजान् मेघान् करोति मुनिसत्तम ! ॥
ततो गजकुलप्रख्यास्तडित्वन्तो निनादिनः ।
उत्तिष्ठन्ति तदा व्योम्नि घोराः संवर्तका घनाः ॥
वर्षन्तस्ते महासारैस्तमग्निमतिभैरवम् ।
शमयन्त्यखिलं विप्र ! त्रैलोक्यान्तरविस्तृतम् ॥
नष्टे चाग्नौ शतं तेऽपि वर्षाणामनिवारिताः ।

प्लावयन्तो जगत् सर्वं वर्षन्ति मुनिसत्तम ! ।
धाराभिरक्षमात्राभिः प्लावयित्वाखिलं भुवम् ।
भुवर्लोकं तथैवोर्द्ध्वं प्लावयन्ति दिवं द्विज ! ।
अन्धकारीकृते लोके नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
वर्षन्ति ते महामेघा वर्षाणामधिकं शतम् ॥
सप्तर्षिस्थानमाक्रम्य स्थितेऽम्भसि महामुने !
एकार्णवं भवत्येव त्रैलोक्यमखिलं ततः ॥
मुखनिश्वासजो विष्णुर्वायुस्थान् जलदाँस्ततः ।
नाशयित्वा तु मैत्रेय ! वर्षाणामधिकं शतम् ॥
सर्वभूतमयोऽचिन्त्यो भगवान् भूतभावनः ।
अनादिरादिर्विश्वस्य पीत्वा वायुमशेषतः ॥
एकार्णवे ततस्तस्मिन् शेषशय्यास्थितः प्रभुः ।
ब्रह्मरूपधरः शेते भगवानादिकृद्धरिः ॥
एष नैमित्तिको नाम मैत्रेय ! प्रतिसञ्चरः ।
निमित्तं तत्र यच्छेते ब्रह्मरूपधरो हरिः ॥"

हजार वार चारों युगोंके अनन्तर महीतलके नष्ट हो जानेसे सौ वर्षों तक कठोर अनावृष्टि होती है, जिससे अल्पसार समस्त जीव नष्ट हो जाते हैं । तद-नन्तर भगवान् रुद्ररूप धारण करके समस्त प्रजाको अपनेमें लय करनेका उद्योग करते हैं। रुद्ररूपी भगवान् प्रलयके लिये सप्तविध सूर्यकिरणोंमें रहकर समस्त जलको पी लेते हैं। इस प्रकारसे समस्त पृथिवीतलके सूखनेपर नदी, समुद्र, पर्वत, झरने और पातालमें जितना जल है सब शुष्क हो जाता है। जलपानसे पुष्ट सप्त किरणें सप्तसूर्यके रूपमें प्रकाशित होती हैं जिससे ऊपर नीचे—समस्त भुवन जलने लगता है इस प्रकारसे त्रिभुवनके शुष्क और उसके सभी वृक्षादिकोंके शुष्क होनेपर पृथिवी कूर्मपृष्ठकी तरह दिखने लगती है। इसके पीछे अनन्तदेवके निःश्वाससे उत्पन्न कालानल पाताल-समूहको भस्मसात् कर देता है और पातालको भस्मसात् करके पृथिवीतलको, भुवर्लोक और स्वर्लोकको भी भस्मसात् कर देता है। प्रखर कालानलके तेजसे नष्ट समस्त चराचर त्रिभुवन

उस समय एक भर्जनकटाह (भूननेकी कड़ाही) की तरह दिखने लगता है। उस समय लोकद्वयवासी महात्मागण अनल (अग्नि) के तापसे पीड़ित होकर महर्लोकका आश्रय करते हैं और वहां भी ठिकाना न पाकर जनलोकमें चले जाते हैं। तदनन्तर रुद्ररूपी भगवान् मुखनिश्वाससे मेघोंको उत्पन्न करते हैं। विद्युत् तथा वज्रकी ध्वनिसे युक्त गजाकार (हाथीके आकार) ये सब संवर्त्तक नामक मेघ आकाशको ढककर भीषणधारसे वृष्टि करके उन सब अनलोंको शान्त कर देते हैं। अनल-शान्तिके बाद शतवर्षतकके प्रचण्ड वर्षणसे समस्त जगत् बहने लग जाता है। तदनन्तर भुवर्लोक और स्वर्लोक भी उसी निरन्तर जलधारासे बह जाते हैं। उस समय समस्त लोक अन्धकारमय और स्थावर-जङ्गम-समस्त पदार्थ नष्ट हो जाते हैं तथा शतवर्षसे भी अधिक काल तककी धारासे जलवर्षण होता है। इस प्रकारसे जब सप्तर्षियोंके स्थानतक जलमय होजाते हैं तब सारा भुवन एक भयावने महासमुद्रकी तरह दिखने लगता है। बाद ब्रह्माके रूपधारी परमात्माके मुखसे श्वासरूपमें निकला प्रचण्ड पवन समस्त मेघमालाको विनष्ट करके शतवर्षतक प्रवाहित होता है और उसी पवनका पान करके ब्रह्माजी शेषशय्या पर योग-निद्रामें शयन कर जाते हैं। इसीका नाम नैमित्तिक प्रलय है; क्योंकि, सृष्टिके निमित्तरूप ब्रह्माजी इसमें शयन करते हैं।

नैमित्तिक प्रलय तथा प्रलयानन्तर पुनः सृष्टि—इस प्रकारसे ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी गति नीचेकी ओर होती होती सहस्रों वार चतुर्युग बीत जाया करते हैं और जैसी कि पहले संख्या बताई गई है, उसके अनुसार दिवारात्रिके क्रमसे ब्रह्माकी आयु भी घटती जाती है। अन्तमें ब्रह्माकी आयु जब सौ वर्षोंमें पूर्ण हो जाती है तब समस्त ब्रह्माण्डप्रकृतिपर प्राकृतिक प्रलय अर्थात् महाप्रलय का उदय हो जाता है। यथा श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धमें:—

"द्विपरार्द्धे त्वतिक्रान्ते ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।
तदा प्रकृतयः सप्त कल्पन्ते प्रलयाय वै॥
एष प्राकृतिको राजन्! प्रलयो यत्र लीयते।
अण्डकोषस्तु संघातो विघात उपसादिते॥
पर्जन्यः शतवर्षाणि भूमौ राजन्! न वर्षति।
तदा निरन्ने ह्यन्योन्यं भक्ष्यमाणाः क्षुधार्दिताः।
क्षयं यास्यन्ति शनकैः कालेनोपद्रुताः प्रजाः॥

सामुद्रं दैहिकं भौमं रसं सांवर्त्तको रविः।
रश्मिभिः पिबते घोरैः सर्वं नैव विमुञ्चति ॥
ततः संवर्त्तको वह्निः सङ्कर्षणमुखोत्थितः।
दहत्यनिलवेगोत्थः शून्यान् भूविवरानथ ॥
उपर्यधः समन्ताच्च शिखाभिर्वह्निसूर्ययोः।
दह्यमानं विभात्यण्डं दग्धगोमयपिण्डवत् ॥
ततः प्रचण्डपवनो वर्षाणामधिकं शतम्।
परं सांवर्तको वाति धूम्रं खे रजसावृतम् ॥
ततो मेघकुलान्यङ्ग! चित्रवर्णान्यनेकशः।
शतं वर्षाणि वर्षन्ति नदन्ति रभसस्वनैः ॥
तत एकोदकं विश्वं ब्रह्माण्डविवरान्तरम् ॥
तदा भूमेर्गन्धगुणं ग्रसन्त्याप उदप्लवे।
ग्रस्तगन्धा तु पृथिवी प्रलयत्वाय कल्पते ॥
अपां रसमथो तेजस्ताल्लीयन्तेऽथ नीरसाः।
ग्रसते तेजसो रूपं वायुस्तद्रहितं तदा ॥
लीयते चानिले तेजो वायोः खं ग्रसते गुणम्।
स वै विशति खं राजन्! ततश्च नभसो गुणम् ॥
शब्दं ग्रसति भूतादिर्नभस्तमनुलीयते।
तैजसश्चेन्द्रियाण्यङ्ग! देवान् वैकारिको गुणैः ॥
महान् ग्रसत्यहंकारं गुणाः सत्त्वादयश्च तम्।
ग्रसतेऽव्याकृतं राजन्! गुणान् कालेन चोदितम् ॥"

ब्रह्माजीकी आयुके दो परार्द्ध अर्थात् सौ वर्ष जब बीत जाते हैं तब ब्रह्माजी ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं। ब्रह्माजीके साथ साथ समस्त देवता, ऋषि तथा पितृगण भी ब्रह्ममें लीन हो जाते हैं। इसलिये उस समय ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी सञ्चालिनी समष्टि प्राणशक्तिका लय होने पर कार्यभूत ब्रह्माण्ड नहीं स्थित रह सकता है; क्योंकि, जिस प्राणशक्तिने ब्रह्माण्डके

स्थूल-सूक्ष्म शरीरको संयुक्त तथा धारण किया था उसीके लय होजानेसे प्राणनाशसे जीवके स्थूल देहकी तरह समस्त ब्रह्माण्ड-शरीर पृथक्-पृथक् होकर अदृश्य तथा निजकारणमें लयको अवश्य ही प्राप्त हो जायगा । इसीको प्राकृतिक प्रलय कहते हैं; जिसमें महत्तत्त्व और पञ्चतन्मात्राओंकी मूल समस्त प्रकृति नष्ट हो जाती है । इस प्रकार नाश कैसे होता है सो बताया गया है । सो यह है:—महाप्रलयका समय आनेसे प्रथमतः शत वर्षों तक जल नहीं बरसता है, जिससे अन्नहीन होकर भूखसे पीड़ित प्रजा परस्परको भक्षणकरके नाशको प्राप्त हो जाती है । तदनन्तर 'सांवर्त्तक' रवि अपनी प्रचण्ड किरणोंसे समुद्र, देह और भूमिके सब रसोंको पी जाते हैं, जिससे समस्त विश्व रसहीन हो जाता है । तदनन्तर संकर्षणके मुखसे निकली संवर्त्तक अग्नि वायु-वेगसे प्रचण्ड होकर प्राणिहीन पृथिवी, पातालादि समस्त लोकको दग्ध कर डालती है । अग्नि और सूर्य की शिखाओंके द्वारा ऊपर, नीचे,—चारों ओर की दिशाओंके जल जानेसे समस्त ब्रह्माण्ड जलकर गोबर की कण्डी की तरह दिखने लगता है । तदनन्तर सांवर्तक प्रचण्ड पवन सौ वर्षसे भी अधिक काल तक बहने लगता है जिससे धूलिसे युक्त आकाश धूम्रवर्ण दिखता है । तद-नन्तर विविध वर्णकी मेघमाला भीषण शब्दके साथ भीषणधारसे शत वर्षों तक वर्षण करती रहती है जिससे समस्त विश्व समुद्रसा होजाता है । उस समय सर्वत्र व्याप्त जल पृथिवीके गन्धगुणको ग्रास कर लेता है जिससे गन्धहीन पृथिवी नष्ट होजाती है । तदनन्तर जलका भी रस अग्निके द्वारा ग्रस्त होजाता है जिससे रसहीन जल नाशको प्राप्त हो जाता है । तदनन्तर तेज का रूप वायु ग्रास कर लेता है जिससे रूपहीन तेज वायुमें लीन हो जाता है । तदनन्तर वायु का भी स्पर्शगुण आकाश ग्रास कर जाता है और वायु आकाशमें लीन हो जाता है । तदनन्तर तामस अहंकार आकाशके शब्दगुणको ग्रास कर लेता है जिससे आकाश भी लय हो जाता है । तदनन्तर इन्द्रियोंको राजसिक अहंकार और इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओं को सात्त्विक अहंकार ग्रास कर लेता है । तदनन्तर अहंकारको महत्तत्त्व ग्रास कर लेता है, महत्तत्त्वको त्रिगुण ग्रास कर लेता है और त्रिगुणको कालसे प्रेरित अव्याकृत (विकारहीन) प्रकृति ग्रास कर लेती है । इस प्रकारसे समस्त व्याकृत (विस्तृत) सृष्टि अव्याकृत प्रकृति द्वारा विलोम (उल्टी) विधिसे ग्रस्त हो जाती है । नैमि-त्तिक प्रलयमें स्थूल जीवोंका नाश नहीं होता है, केवल स्थूल देहधारी जीवोंके

स्थूललोकमें बदला हो जानेके कारण वे वहांसे चले जाते हैं। सूक्ष्म लोकोंके भी प्रथम चार लोक नैमित्तिक प्रलयदशामें अभिभूत होजाते हैं। परन्तु उस समय ब्रह्मा, विष्णु, महेश,–त्रिमूर्त्ति रहती है और ऊपरके तीन सूक्ष्मलोक अर्थात् जनलोक, तपोलोक और सत्यलोक यथावत् विद्यमान रहते हैं। परन्तु महाप्रलयके रहस्य का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें महाप्रलयके होते समय उस ब्रह्माण्डमें जितनी रहने लायक भूमियाँ हैं उनमेंसे स्थूलदेहधारी जीवपिण्डोंका नाश हो जाता है। उसके अनन्तर जलके प्रकोपसे स्थूल पृथिवीका, अग्निके प्रकोपसे स्थूल जलका और इसी प्रकारसे सब स्थूल पञ्चभूतोंके अपने अपने कारणोंमें लीन हो जाने पर ब्रह्माण्डके स्थूल स्वरूपका लय हो जाता है। उसके अनन्तर सब ऋषि, देवता और पितरोंके साथ दैव लोकोंका अपने अपने कारणमें लय होते हुए पूर्वकथित रीतिके अनुसार विस्तृत व्याकृत प्रकृति अव्याकृत दशाको प्राप्त हो जाती है। उस प्रलीन ब्रह्माण्डके सृष्टिस्थितिप्रलय-कर्त्ता ब्रह्मा, विष्णु और महेश तब मुक्त हो कर ब्रह्मीभूत हो जाते हैं। उस ब्रह्माण्डके अंशकी अव्याकृत मूलप्रकृति अदृश्य हो कर सर्वव्यापक ब्रह्मके उस अंशमें विलीन हो जाती है और तब अपने आप ही सर्वव्यापक निर्विकार निष्क्रिय ब्रह्मके जिस अंशमें यह सृष्टि थी उसी अंशकी प्रकृतिके उनमें अदृश्य हो कर विलीन हो जानेसे उनका सगुण और सक्रिय ईश्वर-भाव उनमें ही विलीन हो जाता है। केवल सगुणा प्रकृतिके आविर्भावसे ब्रह्म ही ईश्वरभावसे मायिक होकर प्रकट होते थे, सो अब इस प्रलयदशामें दृश्य प्रकृतिके अभावसे प्रकट नहीं होते हैं।

अव्याकृत प्रकृति तथा उसके प्रेरक ईश्वर कहाँ लय होते हैं, इसके विषय में विष्णुपुराणमें कहा है:—

"प्रकृतिर्या मयाख्याता व्यक्ताव्यक्तस्वरूपिणी।
पुरुषश्चाप्युभावेतौ लीयते परमात्मनि ॥"

व्यक्ताव्यक्त प्रकृति और ईश्वर—दोनों ही निर्गुण निष्क्रिय ब्रह्मभावमें लीन हो जाते हैं। महाप्रकृतिके अन्तर्गत ब्रह्माण्डप्रकृतिके साथ मायी प्रकृति-के प्रेरक ईश्वरका जो बहिर्दृष्टिसे युक्त अभिमान-सम्बन्ध था उसके नष्ट होनेपर निष्क्रिय अन्तर्दृष्टिका भाव उनमें हो जाता है। यही प्रलय-दशामें ईश्वरभावमें ब्रह्मभावकी प्राप्ति है और यही अधिदैवसृष्टिरूप ब्रह्माण्ड

का महाप्रलय है। जितने दिनों तक ब्रह्माण्डप्रकृतिमें सृष्टि-स्थितिकी लीलाका विस्तार होता था—महाप्रलयके गर्भमें उतने ही दिनों तक ब्रह्माण्ड-प्रकृति रह जाती है। समष्टि स्थूलशरीर, समष्टि सूक्ष्मशरीर—दोनों ही अव्याकृत प्रकृतिमें लीन हो जाते हैं। समष्टि कारण-शरीर तथा प्रतिविम्बित चैतन्य-सहित अव्याकृत प्रकृति ब्रह्ममें विलीन रहती है। समष्टि जीवोंकी अनन्त कर्म-राशियाँ वटबीजमें वटवृक्षकी तरह महाकाशको आश्रय कर लेती हैं। यही लीलामय भगवान्के द्वारा बनाये हुए ब्रह्माण्डकी सृष्टि, स्थिति तथा प्रलयका अपूर्व रहस्य है जिसके ज्ञानसे जीव अनायास संसारसिन्धुके पार जा सकता है।

पञ्चम समुल्लासका चतुर्थ अध्याय समाप्त हुआ।

ऋषि, देवता और पितृतत्त्व ।

जिस प्रकार एक साम्राज्य की सुव्यवस्थाके लिये सम्राट्के स्थापित किये हुए अनेक अनुशासन-विभाग हुआ करते हैं उसी प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डके तीन अनुशासन-विभाग होते हैं; उनको अध्यात्म-विभाग, अधिदैव-विभाग और अधिभूत-विभाग कहते हैं। इन्हीं तीनों विभागोंके सञ्चालकोंको ऋषि, देवता और पितृ कहते हैं। वास्तवमें ये तीनोंही प्रकारान्तरसे देवता हैं। अध्यात्म ज्ञान-राज्यके सञ्चालक ऋषिगण, अधिदैव कर्म्मराज्यके सञ्चालक देवतागण और अधिभूत स्थूल राज्यके सञ्चालक पितृगण हैं। मनुष्य केवल स्थूलराज्य पर आधिपत्य कर सकता है। परन्तु जो स्थूल और सूक्ष्मराज्य—दोनों पर समान-रूपसे आधिपत्य कर सके वही देवता है। ऋषि, देवता और पितृमें यही दैवी शक्ति विद्यमान है। इसी कारण वे दैवी जगत्के तीन विभागोंके चालक हैं।

जो कुछ कारणमें होता है वह कार्य्यमें भी विद्यमान रहता है। सच्चिदानन्दमय कारण-ब्रह्मके तीनों भाव कार्य्यब्रह्ममें विद्यमान हैं। यद्यपि स्वरूपमें सत्, चित् और आनन्द—ये तीनों भाव एक अद्वैतरूपमें विद्यमान हैं; परन्तु व्युत्थान-दशामें ये तीनों भाव स्वतन्त्र-स्वतन्त्र-रूपसे प्रकट रहते हैं। यही तीनों भाव यथाक्रम अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत कहाते हैं। स्वरूपमें सत्, चित् और आनन्द एक अद्वैतभावमें स्थित रहनेके कारण वही कारण-ब्रह्म कहाते हैं। चित्-भाव ही अध्यात्म, आनन्द भाव ही अधिदैव और सत्-भाव अधिभूत जगतोंका उत्पादक है। दूसरी ओर ब्रह्म, ईश्वर और विराट्—ये तीनों श्रीभगवान्के भाव ऊपर लिखित तीन भावोंसे ही सम्बन्ध-युक्त हैं—ऐसा भी कह सकते हैं। चित्, आनन्द और सत्—इन्हीं तीनों भावोंके कारण श्रीभगवान् की ब्रह्म, ईश और विराट्—इन तीनों दशाओं की स्वतन्त्र-स्वतन्त्र प्रतीति भक्त को होती है। इन तीनों दशाओं का दर्शन भक्तको किस प्रकारसे होता है और इन तीनों का स्वरूप क्या है और किस प्रकारसे एक अद्वितीय भगवान् इन तीनों भावोंमें प्रतीत होते हैं, सो उपासनायज्ञ और आत्मतत्त्व नामक

अध्यायोंमें विस्तृत-रूपसे वर्णन हो चुका है। अस्तु, यह त्रिविध स्वरूप भी इसी भावत्रयमूलक है।

चित् और सत्भाव स्वतन्त्र-स्वतन्त्र-रूपसे अनुमेय है, स्थूल-जगत्में भी जङ्गम और स्थावर-रूपसे इन दोनों भावोंका विकाश स्वतन्त्र-स्वतन्त्र-रूपसे दिखाई पड़ता है। परन्तु आनन्द-भाव दोनोंकी सहायताके बिना प्रकट नहीं हो सकता, सुतराम् आनन्द-भावके विकाशके लिये ही किस प्रकारसे सृष्टिकी नित्यलीला और दृश्य का अनादि अनन्त प्रवाह प्रकट होता है, सो 'सृष्टि-स्थिति-प्रलय-तत्त्व, नामक अध्यायमें प्रकाशित किया गया है। सृष्टिके साथ आनन्दका साक्षात् सम्बन्ध होनेके कारण सगुण ईश्वर-भावके साथ ही आनन्दका साक्षात् सम्बन्ध माना गया है। सुतरां स्थूल प्रपञ्चमय विराट्मूर्त्तिमें सत्भाव, ईश्वरपदके साथ आनन्दभाव और तत्त्वातीत ब्रह्मपदके साथ चित्भावका सम्बन्ध माननेसे इस विज्ञानकी व्यापकता समझमें आवेगी।

यही तीनों भाव पुनः कार्य्य-ब्रह्मरूपी दृश्यमय संसारमें ज्ञानमय अध्यात्मराज्य, कर्म्ममय अधिदैव-राज्य और स्थूल अधिभूत-राज्य प्रकट करते हैं। उन्हीं तीनोंके सञ्चालक यथा-क्रम ऋषि, देवता और पितृ कहाते हैं। ईश्वरकी शक्ति माया जब शृङ्गारात्मक ब्रह्माण्ड प्रसव करती है तो, साथ ही साथ पूर्व्वकथित तीन भावोंसे युक्त उसके तीन विभाग भी स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। अतः ब्रह्माण्डनायक जगदीश्वर उस समय अपनी ही सत्तासे प्रत्येक ब्रह्माण्डकी सुरक्षाके लिये उक्त तीन कार्य्य-विभागोंके लिये अपने अंशरूपसे उक्त तीन प्रकारकी दैवी विभूतियों को उत्पन्न करके स्वतन्त्र-स्वतन्त्र ब्रह्माण्डोंकी सुरक्षा करते हैं। यथा निरुक्तके दैवतकाण्डमें—

"एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।"

अद्वितीय आत्माके अङ्गसे ही प्रत्यङ्गरूप दैवी विभूतियां प्रकट होती हैं। और भी श्वेताश्वतरमें—

"यो देवानां प्रभवश्चोद्भवश्च विश्वाधिपो रुद्रो महर्षिः।"

अद्वितीय परमात्मा ही देवगण, रुद्रगण तथा महर्षिगणके उत्पत्ति-कारण हैं। अतः जिस प्रकार एक अद्वितीय ब्रह्म अपने ही सत्, चित् और आनन्द-रूपी तीन भावोंके कारण भक्तको ब्रह्म, ईश और विराट्-रूपी त्रिविध-रूपसे दर्शन देते हैं उसी प्रकार सृष्टिके त्रिविध स्वाभाविक विभागके अनुसार सृष्टि

की सुरक्षाके लिये उनकी त्रिविध शक्ति और त्रिविध शक्तिके नायकोंका होना भी स्वतः सिद्ध है।

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें सबसे प्रथम तीन देवता माने गये हैं। यथा दैवी-मीमांसादर्शनमें कहा है कि—

"तिस्रो देवताः"

प्रथम देवता तीन हैं। अर्थात् श्रीभगवान् ब्रह्मा, श्रीभगवान् विष्णु और श्रीभगवान् शिव—ये ही तीन प्रधान देवता हैं।

त्रिगुण-रहस्य कि, जिसका वर्णन स्वतन्त्र अध्यायमें किया जायगा, उसके प्रभावसे गुणप्राधान्यके कारण एक ही सगुण ब्रह्म सृष्टि, स्थिति और लयके कार्य्यके लिये प्रथम तीन रूपमें प्रतीत होते हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंमेंसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ही ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर-रूपी त्रिमूर्तियोंका होना स्वतः सिद्ध है। तत्त्वातीत सृष्टिसे अतीत ब्रह्म पद तो कार्य्य ब्रह्मसे अलग ही है। सगुण-ब्रह्म ईश्वर कार्य्यब्रह्मरूपी अनन्त कोटि ब्रह्माण्डके नायक हैं। अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंसे युक्त विराट्-मूर्ति उनका स्थूल रूप है। वे सगुण ब्रह्म ईश्वर ही प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उस ब्रह्माण्डकी गुणसमष्टिको आश्रय करके ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपमें प्रतीयमान होते हैं। वास्तवमें स्वतन्त्र-स्वतन्त्र ब्रह्माण्डके लिये ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही ईश्वररूप हैं। इस कारण इन तीनों देवताओंकी साधारण देवश्रेणीमें गणना नहीं की जाती है।

सच्चित् और आनन्दरूपी भावत्रयकी मन-वाणीसे अतीत शक्ति इन त्रिमूर्तियोंमें भी समानरूपसे प्रतीयमान है। चित्सत्ता-प्रधान विष्णु, सत्सत्ता प्रधान शिव और आनन्द सत्ताके प्रकट करनेवाले ब्रह्मा होनेसे इन त्रिमूर्तियों-के साथ उक्त पूर्व्व कथित तीनों भावोंका एकत्वसम्बन्ध विद्यमान है। इसका रहस्य तथा दैव लोकोंका रहस्य तथा ऋषि, देवता और पितरोंके परस्पर सम्बन्धका विज्ञान और दैवलोकोंके साथ सम्बन्धयुक्त अन्यान्य लोकोंका रहस्य और देवासुर-भेद आदि सूर्यगीतामें निम्नलिखित प्रकारसे कहा गया है—

"प्रतिब्रह्माण्डमनिशं ब्रह्म-विष्णु-हरादयः।
सृष्टिस्थिति-लयान् स्वैरं कुर्वते स्वविभागतः॥
तथैवर्षिगणैर्देवैः पितृभिश्च विभागशः।
अध्यात्ममधिदैवञ्चाधिभूतं कर्म्म तन्यते॥

ब्रह्माण्डेषु च लोकास्ते सप्तोर्द्ध्वमध एव च ।
प्राणिनामिह भोगार्थं भोगलोका मता इमे ॥
स्वर्गो नरक इत्येवं पितृलोकादयस्तथा ।
कर्मपाशयता जीवा यत्रायान्ति च यान्ति च ॥
अथेयं भोगभूरुक्ता कर्मभूः श्रूयतां बुधाः ।
एतेष्वेवास्ति लोकेषु चतुर्दश सुशोभनः ॥
योऽयं भूलोक एवाऽसौ कर्मभूरवधार्यताम् ॥"

प्रत्येक ब्रह्माण्डमें ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि स्वतंत्रतापूर्वक अपने अपने विभागानुसार निरन्तर सृष्टि, स्थिति और लयका कार्य किया करते हैं। इसी तरह देवगण, ऋषिगण और पितृगण द्वारा अपने अपने विभागानुसार अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत कर्मोंका सम्पादन होता है। ब्रह्माण्डमें सात उर्द्ध और सात अधोलोक हैं। उनके प्राणियोंके भोगके लिये होनेके कारण उन्हें भोगलोक कहते हैं। स्वर्ग, नरक और पितृलोकादिमें कर्मपाशवद्ध जीव यातायात करते रहते हैं। यह भोगभूमि कही गई है। अब हे विज्ञो ! कर्मभूमिका वर्णन श्रवण करें। उक्त चतुर्दश लोकोंमें अत्यन्त शोभायुक्त जो यह भूलोक है, इसीको कर्मभूमि समझें।

"तत्रापि गीयते योऽयमार्यावर्तः स एव सा ।
यस्योत्तरस्यां बहुभिस्तरुगुल्मलतादिभिः ॥
वृतो हिमगिरिर्भाति बहुधातुविमण्डितः ।
दक्षिणस्यां समुद्रेण सहितो विन्ध्यपर्वतः ॥
पूर्व्वस्यां सागरोऽनेकनदनद्यादिसंयुतः ।
नदः सिंधुः प्रतीच्यां च नदिभिः पञ्चभिः सह ।
त इमेऽस्याः प्रसिद्धायाः कर्मभूमेर्विभाजकाः ।
देवा अप्यत्र वाञ्छन्ति जन्म कर्म भुवि स्वकम् ॥
वैदिकी दृश्यते पूर्णा क्रियाप्यत्रैव नित्यशः ।
पूर्णा च मानवी सृष्टिः कर्मभुव्येव जायते ॥

धर्मोऽपि पूर्णतोऽत्रैवावतारोऽपि तथा मम।
लीलाविग्रहमाधाय दुष्टान् निघ्नन् सतोऽवति॥
रहस्यं सूक्ष्मलोकानां गूढं शृणुत सत्तमाः॥"

भूलोकमें भी जिसे आर्यावर्त कहते हैं वही सच्ची कर्म-भूमि है। जिसके उत्तरमें बहुतसे वृक्ष, गुल्म और लता आदियोंसे युक्त एवं विविध धातुओंसे मण्डित हिमालय पर्वत शोभा पा रहा है। दक्षिणमें समुद्रके साथ विन्ध्य-नामक पर्वत स्थिर है। पूर्वमें नदनदियोंसे युक्त महासागर तथा पश्चिममें पांच नदियोंसे युक्त सिन्धु नामक नद विराजमान है। ये ही सब इस प्रसिद्ध कर्मभूमिके विभाजक (चतुस्सीमाके दर्शक) हैं। इस कर्मभूमिमें जन्मग्रहण करनेकी देवता लोग भी इच्छा करते हैं। यहाँपर नित्यशः वैदिकी क्रियाएं पूर्णरूपसे देख पड़ती हैं। कर्मभूमिमें ही पूर्ण मानवी सृष्टि होती है। यहीं पूर्णरूपसे धर्मका अस्तित्व है और यहीं भगवान् लीलाविग्रह (अवतार) धारणकर दुष्टोंका दमन और सज्जनोंका रक्षण किया करते हैं। अब हे श्रेष्ठ पुरुषो! सूक्ष्म लोकोंके गूढ़ रहस्यको आदरके साथ सुनो।

"येन वो विमला बुद्धिर्जनिष्यत इहादरात्।
द्विधा ममास्ति वै शक्तिर्विभक्ता पृथिवीतले॥
सात्त्विकी तामसी चेति ह्यधितिष्ठन्ति यां सदा।
देवाश्च दानवाश्चैव मदाज्ञावशवर्त्तिनः॥
देवानामूर्द्ध्वलोकेषु स्थितिः स्वाभाविकी मता।
असुराणामधोलोके वसतिर्विनिवेशिता॥
तथा दैवासुरं युद्धं मध्य मध्येऽत्र जायते।
असुराः कर्मव्यत्यासात् देवाञ्जित्वा स्वशक्तितः॥
कियन्तमधिकारञ्च तेषां ते कुर्वते स्वयम्।
देवा अपि प्रसादान्मे पुनर्जित्वाऽसुराँस्तथा॥
स्वाधिकारं समाश्रित्य पुनर्नन्दन्ति निर्भयाः।
देवानाञ्च सुराणाञ्चाधिकारे साम्यतां गते॥"

इससे आपकी बुद्धि निर्मल होगी। पृथ्वीतलपर मेरी शक्ति दो भागोंमें विभक्त

है। एक सात्त्विकी और दूसरी तामसी। मेरी(भगवान्‌की) आज्ञाके वशवर्त्ती होकर देवता और दानव क्रमशः इन दोनों शक्तियोंमें अधिष्ठान करते हैं। देवताओंकी स्थिति स्वाभाविकरूपसे ऊर्द्ध्वलोकमें और दानवोंकी अधोलोकमें है; परन्तु बीच बीचमें देवासुरसंग्राम हुआ करता है। असुरगण कर्मके विपर्ययके द्वारा अपनी शक्तिको बढ़ाकर देवताओंको जीत लेते और उनके कितने ही अधिकार स्वयम् चलाने लगते हैं। देवतागण भी पुनः मेरे प्रसादसे असुरोंको जीतकर अपना अधिकार पाते हैं और निर्भय होकर आनन्दसे रहने लगते हैं।

"ब्रह्माण्डेषु च धर्मस्य स्थितिर्याथार्थ्यतो मता ।
देवास्तथर्षयः सर्वे मेऽवतार इव क्षितौ ॥
धृत्वाऽवतारं मे ज्ञानशक्त्योः साम्यं वितन्वते ।
मज्ज्ञानं ज्ञानिनामन्तर्नित्यं भासयतेऽखिलम् ॥
पञ्चकोषेषु शक्तिर्मे तथा तिष्ठति नित्यशः ।
न पश्यन्ति तु तां शक्तिमज्ञानोपहता नराः ॥
यावतीं प्रौढतां याति साधकः साधनाध्वनि ।
तावत्स पञ्चकोशानां साहाय्यान्मां प्रपद्यते ॥"

देवताओं और असुरोंके अधिकारकी समता होनेपर ब्रह्माण्डमें धर्मकी यथार्थरूपसे स्थिति होती है। देवता तथा ऋषिगण पृथ्वीपर ईश्वरावतारके समान अवतार धारण कर मेरे ज्ञान और शक्तियोंकी समताका प्रचार करते हैं। मेरा ज्ञान ज्ञानियोंके अन्तःकरणमें नित्य ही प्रकाशमान रहता है। पञ्चकोषोंमें मेरी शक्ति निरन्तर रहती है, परन्तु उस शक्तिको अज्ञानी पुरुष देख नहीं सकते। साधनमार्गमें साधक जितना ही अग्रसर होगा, पञ्चकोषोंकी सहायतासे उतना ही वह मेरे निकट पहुँचेगा।

"जगतां श्रेयसे विज्ञाः शृणुध्वं यन्मयोच्यते ।
अध्यात्ममधिदैवञ्चाधिभूतमिति भेदतः ॥
ममैवेयं त्रिधा शक्तिः क्रमेणैभिरधिष्ठिता ।
ऋषिभिर्देववृन्दैश्च पितृभिश्च यथाक्रमम् ॥"

हे विद्वानो! संसारके कल्याणके लिये जो मैं कहता हूँ उसे सुनिये।

अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भेदोंके अनुसार मेरी यह त्रिविध शक्तियाँ क्रमशः ऋषि, देवता और पितरों द्वारा अधिष्ठित हैं।

"शक्तिर्मे याऽऽसुरी चाऽस्ति सा दैव्यन्तर्गता मता।
केवलं सत्त्वतमसो भेदेनेयन्तु भिद्यते॥
देवेष्वसुरसंघेषु क्रमशो विनिवेशिता।
ऋषयो देववृन्दाश्च बहुधा परिकीर्त्तिता॥
नित्यनैमित्तिकाभ्यां ते भेदाभ्यां पितरो द्विधा।
ऋषयो ज्ञानराज्यस्य देववृन्दाश्च कर्मणः॥
पितरः स्थूलदेहस्य क्रमेणैते नियामकाः।
देवानुग्रहमासाद्य सृष्टिस्थितिलयाः क्रमात्॥
लोकस्यास्य प्रजायन्त इति पौराणिका विदुः।
यज्ञादिकर्मणा देवा हृष्टपुष्टाश्च सर्वथा॥
यतन्ते जगदुन्नत्यै तुष्टाश्च जीवश्रेयसे।
आधिदैविकसृष्टेस्तु शक्र एवास्ति रक्षकः॥
नरकप्रेतलोकानां धर्मराजस्तथेरितः॥"

मेरी आसुरी शक्ति दैवीशक्तिके ही अन्तर्गत है। केवल सात्त्विक और तामसिक भेदसे मेरी शक्ति दो भागोंमें विभक्त होकर देवता और असुर-समूहमें क्रमशः स्थित है। ऋषि और देववृन्द अनेक कहे गये हैं। पितर द्विविध हैं। एक नित्य और दूसरे नैमित्तिक। ऋषिगण ज्ञानराज्यके, देवतागण कर्मके, पितर स्थूल देहके यथाक्रम नियामक हैं। पुराणतत्त्ववेत्ता लोग कहते हैं कि देवताओंके अनुग्रहसे संसारकी सृष्टि, पालन और संहार हुआ करता है। यज्ञादि कर्मसे देवतागण हृष्ट, पुष्ट और संतुष्ट होकर जगत्की उन्नति और जीवोंके कल्याणके लिये सर्वथा यत्न किया करते हैं। आधिदैविक सृष्टिके इन्द्रदेव और नरक तथा प्रेतलोकोंके धर्मराज रक्षक हैं।

"इत्थं सत्त्वाऽस्ति मे दैवी शक्तिर्ब्रह्माण्डरक्षणे।
मनुष्याः श्रद्धया हीनाः क्रियाज्ञानविवर्जिताः॥
शक्नुवन्ति न मे द्रष्टुं दैवीं शक्तिमनिन्दिताम्।

माया मे मोहयत्येतान् भ्रामय यनिशं मुधा ॥
वेदशास्त्रादिपाठेन तथा यज्ञादिसाधनात् ।
प्रजया पितृपूजाद्यैः ऋणत्रयविमोचनात् ॥
आध्यात्मिक्याधिदैव्याधिभौतिकीशुद्धितस्तथा ।
ऋषयो देववृन्दाश्च तथा पितृगणाः सदा ॥
मोदन्ते तेन जगतां जनयित्री प्रसीदति ।
तदा श्रद्धायुतः शक्त्या साधको मां स्वरूपतः ॥
ज्ञात्वा तीर्त्वा तमोनिद्रां ज्ञानभूमिं प्रपद्यते ।
एवं वः कथितं विप्रा रहस्यमिदमुत्तमम् ॥"

इस प्रकार मेरी दैवी शक्ति ब्रह्माण्डकी रक्षा करनेमें लगी हुई है। श्रद्धाहीन, क्रियाहीन और ज्ञानहीन मनुष्य मेरी विशुद्ध दैवीशक्तिको नहीं देख सकते। मेरी माया उन्हें व्यर्थ ही भ्रममें डालती हुई निरन्तर मोहित करती है। वेद, शास्त्रादिके पाठ द्वारा, यज्ञादिके साधन द्वारा, सन्तानोत्पत्ति द्वारा और पितृपूजादि द्वारा तीन ऋणोंको चुका देनेसे और आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक शुद्धिसे ऋषिगण, देवतागण और पितृगण सन्तुष्ट होते हैं और उससे जगज्जननी प्रसन्न होती है। तब श्रद्धायुक्त साधक पुरुष मेरी शक्तिकी सहायतासे मेरे स्वरूपको जानकर मोहनिद्रासे जागृत हो ज्ञानभूमिमें पहुंचता है। हे विप्रो! यह उत्तम रहस्य मैंने तुम्हें सुनाया है।

ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूपी त्रिमूर्तियोंके गुणत्रयके सम्बन्धसे तथा शक्तिके सम्बन्धसे स्वाधीन और समानरूपसे शक्तिशाली होनेपर भी शास्त्रोंमें देखा जाता है कि, विष्णु और शिवजीकी पूजा हुआ करती है; परन्तु ब्रह्माजीकी पूजा प्रायः देखनेमें नहीं आती। यह सिद्धान्त ब्रह्माजीके पदगौरवकी मर्य्यादाका कोई बाधक नहीं है। आनन्दमय तथा आनन्दके विकाशार्थ उत्पन्न सृष्टिके मूल कारण ब्रह्माजी हैं।

सूर्य्यगीतामें लिखा है किः—

"व्यापिकाऽऽनन्दसत्ताऽस्ति ततो ब्रह्मा हि केवलं।
जगतो द्वैतमानन्दं ससर्ज कुशलोत्सुकः ॥

तस्मात्स जगतः स्रष्टा सर्व्वस्य च पितामहः।
निदानं सकलस्यास्य भुवनस्यादिकारणम्॥"

आनन्दसत्ता व्यापक है इस कारण कुशल और उत्सुक ब्रह्माने जगत्के द्वैत आनन्दको बनाया है। इसीसे वह जगत्का स्रष्टा, सबका पितामह, सबका निदान और त्रिभुवनका आदिकारण कहा गया है। सृष्टिके साथ ब्रह्माजीका ही साक्षात् सम्बन्ध है; अतः अपनी ही सृष्टिमें यदि वे स्वयं पूजा ग्रहण न करें तो, यह कोई उनके लिये दूषण नहीं है—वरं उनकी उदारताका प्रकाशक भूषण है। सृष्टिकी पूर्व्वावस्थामें जब तमोगुणके अधिष्ठातृदेव तथा प्रलयके कर्त्ता महेश्वरका आविर्भाव ही नहीं हुआ था और यहां तक कि विष्णुदेव भी योगमायाके प्रभावसे निद्रित ही थे, उस समय ब्रह्माजी ही का पूर्णरीत्या आविर्भाव हुआ था; जैसा कि चण्डीमें कहा गया है:—

योगनिद्रां यदा विष्णुर्जगत्येकार्णवीकृते।
आस्तीर्य्य शेषमभजत् कल्पान्ते भगवान् प्रभुः॥
तदा द्वावसुरौ घोरौ विख्यातौ मधुकैटभौ।
विष्णुकर्णमलोद्भूतौ हन्तुं ब्रह्माणमुद्यतौ॥
स नाभिकमले विष्णोः स्थितो ब्रह्मा प्रजापतिः।
दृष्ट्वा तावसुरौ चोग्रौ प्रसुप्तं च जनार्दनम्॥
तुष्टाव योगनिद्रां तामेकाग्रहृदयः स्थितः।

कल्पके अन्तमें प्रलयके पश्चात् जब श्रीभगवान् विष्णु योगनिद्राका आश्रय लेकर शेषशायी थे, तब दो घोर, विख्यात और विष्णुभगवान्के कर्ण-मलसे उत्पन्न मधु और कैटभ नामक असुर श्रीभगवान् ब्रह्माजीको मारनेको उद्यत हुए। विष्णु भगवान्के नाभिकमलमें स्थित प्रजापति ब्रह्माजी उन उग्र असुरोंको देख कर और श्रीभगवान् विष्णुको सोये हुए देखकर एकाग्र हृदयसे आसन लगाकर उक्त योगनिद्रा भगवतीकी स्तुति करने लगे।

सृष्टिकार्य्य ब्रह्माजीका है, वही प्रथम है, स्थितिकार्य्य विष्णु भगवान्का है और प्रलयकार्य्य महेशका होनेसे उनका आविर्भाव यथाक्रम ब्रह्माजीके बाद ही होना स्वतःसिद्ध है। परन्तु चित्सत्ताप्रधान विष्णुके होनेसे वे योगनिद्रामें निद्रित रहने पर भी प्रकारान्तरसे उनकी स्थिति पहले ही से रहना भी स्वतः

सिद्ध है । क्योंकि सत्, चित्, और आनन्द—इन त्रिविध भावोंमें चित्सत्ताके बिना अन्य सत्ताओंका अस्तित्व सम्भव नहीं । तो भी सृष्टिलीलाके सम्बन्धमें ब्रह्माजीका पूर्णरीत्या आविर्भाव पहले ही विज्ञानसम्मत होनेसे उनका इस विषयमें प्राधान्य स्वतःसिद्ध है ।

ब्रह्माजी एक ब्रह्माण्डके समष्टिअन्तःकरणके अधिष्ठातृदेव हैं । इसी कारण अन्तःकरणके पर्य्यायवाचक शब्दोंमें श्रीब्रह्माजीका नाम भी आता है । यथा शास्त्रोंमें कहा हैः—

"मनो महान् मतिर्ब्रह्मा पूर्बुद्धिः ख्यातिरीश्वरः ।
प्रज्ञा संवित् चितिश्चैव स्मृतिश्च परिपठ्यते ॥
पर्य्यायवाचकाः शब्दाः मनसः परिकीर्त्तिताः ॥"

मन, महान्, मति, ब्रह्मा, पूः, बुद्धि, ख्याति, ईश्वर, प्रज्ञा, संवित्, चिति और स्मृति ये मनके अर्थात् अन्तःकरणके पर्य्यायवाचक शब्द हैं । प्रत्येक ब्रह्माण्डमें जितने देवदेवी तथा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज, जरायुज, मनुष्य आदिक जीव हैं उन सभोंका जो समष्टि-अन्तःकरण है उसी समष्टि-अन्तःकरणके अधिष्ठातृदेवता श्रीभगवान् ब्रह्माजी हैं । ब्रह्माजीके निद्रित होनेसे संसारका प्रलय होता है और उनके जागनेसे पुनःसृष्टिका आविर्भाव होता है । इस विषयमें ज्योतिःशास्त्रमें ऐसा कहा गया हैः—

"लोकानामन्तकृत् कालः कालोऽन्यः कलनात्मकः ।
स द्विधा स्थूलसूक्ष्मत्वान्मूर्तश्चाऽमूर्त उच्यते ॥
प्राणादिः कथितो मूर्त्तः त्रुट्याद्योऽमूर्तसंज्ञकः ।
षड्भिः प्राणैर्विनाडी स्यात् तत्षष्ट्या नाडिका स्मृता ॥
नाडीषष्ट्या तु नाक्षत्रमहोरात्रं प्रकीर्तितम् ।
तत्त्रिंशता भवेन्मासः सावनोऽर्कोदयैस्तथा ॥
ऐन्दवस्तिथिभिस्तद्वत् संक्रान्त्या सौर उच्यते ।
मासैर्द्वादशभिर्वर्षं दिव्यं तदह उच्यते ॥
सुरासुराणामन्योन्यमहोरात्रं विपर्ययात् ।
तत् षष्टिः षड्गुणा दिव्यं वर्षमासुरमेव च ॥

तद्द्वादशसहस्राणि चतुर्युगमुदाहृतम् ।
सूर्याब्दसंख्यया द्वित्रिसागरैरयुताहतैः ॥
सन्ध्यासन्ध्यांशसहितं विज्ञेयं तच्चतुर्युगम् ।
कृतादीनां व्यवस्थेयं धर्मपादव्यवस्थया ॥
युगानां सप्ततिः सैका मन्वन्तरमिहोच्यते ।
कृताब्दसंख्या तस्यान्ते सन्धिः प्रोक्तो जलप्लवः ॥
ससन्धयस्ते मनवः कल्पे ज्ञेयाश्चतुर्दश ।
कृतप्रमाणः कल्पादौ सन्धिः पञ्चदशः स्मृतः ॥
इत्थं युगसहस्रेण भूतसंहारकारकः ।
कल्पो ब्राह्ममहः प्रोक्तं शर्व्वरी तस्य तावती ॥
कल्पादस्माच्च मनवो षड्व्यतीताः ससन्धयः ।
वैवस्वतस्य च मनोर्युगानां त्रिघनो गतः ॥
अष्टाविंशाद् युगादस्माद्यातमेतत् कृतं युगम् ।
अतः कालं प्रसंख्याय संख्यामेकत्र पिण्डयेत् ॥"

संसारका प्रलय करनेवाला काल एक है और दूसरे प्रकारका काल कलनात्मक कहा गया है। वह कलनात्मक काल, स्थूल और सूक्ष्म होनेसे, मूर्त्त और अमूर्त रूपसे दो प्रकारका है। प्राणादिरूप काल मूर्त है और त्रुट्यादिरूप काल अमूर्त है। छः प्राणोंकी एक विनाडी होती है और साठ विनाडियोंकी एक नाडी कही गई है। साठ नाडियोंका एक नाक्षत्र अहोरात्र होता है। तीस अहोरात्रोंका एक मास होता है। सूर्य्योदयोंसे सायन मास, तिथियोंसे चान्द्र मास और संक्रान्तिसे सौर मास होता है। बारह मासका एक वर्ष होता है उसीको दिव्य अहोरात्र कहते हैं। देवता और असुरोंके परस्पर विपर्य्ययसे अहोरात्र होता है अर्थात् देवताओंके दिनके समय असुरोंकी रात्रि और देवताओंकी रात्रिके समय असुरोंका दिन होता है। तीन सौ साठ दिव्य वा आसुर अहोरात्रोंसे एक दिव्य वा आसुर वर्ष होता है। बारह हजार दिव्य वा आसुर वर्षोंका एक चतुर्युग होता है। ४३२ चार सौ बत्तीस को १०००० दस हजारसे गुणित करनेपर जितना होता है (४३२००००) सौर

वर्षके मानसे वह वर्षसंख्या संध्या और सन्ध्यांशसहित चतुर्युगकी है । धर्म्मके चार पादके अनुसार कृतादि युगोंकी व्यवस्था है। अर्थात् कलियुगमें धर्म्मका एक पाद रहता है; इस कारण कृतयुगकी अपेक्षा कलियुगका मान चतुर्थांश होगा इसी तरह त्रेतायुगमें धर्म्मके तीन पाद रहते हैं; इस कारण उसका मान कृतयुगकी अपेक्षा तीन चतुर्थांश होता है । द्वापरमें धर्मके दो पाद होनेसे कृतयुगसे आधा उसका मान होता है । इकहत्तर चतुर्युगोंका एक मन्वतर होता है। मन्वन्तरकी वर्षसंख्या कही गई। इसके अन्तमें मन्वन्तरकी जो सन्धि है उसमें जलप्लावनरूप प्रलय होता है। एक कल्पमें सन्धिसहित चौदह मन्वन्तर होते हैं। कल्पके आदिमें प्रमाणके अनुसार कल्पकी सन्धि होती है; वह चौदह मन्वन्तरोंसे अतिरिक्त होनेके कारण पन्द्रहवीं है। इस प्रकार एक हजार चतुर्युगके रूपसे प्राणियोंका संहार करनेवाला कल्प होता है—जिसको ब्रह्माका दिन कहते हैं और ब्रह्माजीकी इतनी ही रात्रि होती है। वर्तमान कल्पके सन्धिसहित छः मन्वन्तर व्यतीत हो गये हैं। सातवें वैवस्वत मन्वन्तरके सत्ताइस चतुर्युग व्यतीत हो गये हैं। और अट्ठाइसवें चतुर्युगका यह कृत युग*व्यतीत हुआ है। इस कारण कालकी संख्याको एकत्र करके जोड़ना चाहिये।

ज्योतिःशास्त्रके ऊपर उक्त वचनसे श्रीब्रह्माजीके दिन और श्रीब्रह्माजी की रातके परिमाणका पता लगता है और इसी नियमके अनुसार ब्रह्माजीके दिनमें सृष्टि और रात्रिमें प्रलय हुआ करता है। इस विषयमें श्रीगीतोपनिषद्में भी लिखा है। यथाः—

"सहस्रयुगपर्य्यन्तमहर्यद् ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तान्तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥
अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे विलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके ॥
भूतग्रामः स एवाऽयं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ ! प्रभवत्यहरागमे ॥

* सूर्य्यसिद्धान्तका यह वचन है और सूर्य्यसिद्धान्त कृतयुगके अन्तमें और त्रेता-युगके आदिमें बना था; इस कारण "यातमेतत् कृतं युगम्" यह मूलमें कहा है ।

हजार चतुर्युगोंका ब्रह्माका दिन है और हजार चतुर्युगोंकी ब्रह्माकी रात्रि है। इसको जो जानते हैं वे अहोरात्रवित् हैं। सब सृष्टि दिनके आगमनसे अव्यक्तसे प्रगट होती है अर्थात् अव्यक्तावस्थासे व्यक्तावस्थाको प्राप्त होती है और रात्रिके आगमनसे उसी अव्यक्तावस्थामें लीन हो जाती है। इस प्रकारसे भूतसमूह प्रकट हो होकर रात्रिके आगमनसे लीन हो जाता है और विवश होकर दिनके आगमनसे प्रकट होता है।

श्रीब्रह्माजीकी आयु और ब्रह्माजीकी जाग्रत् और निद्रावस्थाके साथ कालचक्रका कैसा विस्तृत और घनिष्ठ सम्बन्ध है—सो आगे एक स्वतन्त्र अध्यायमें दिया जायगा। अनादि अनन्त महाकालके विराट् स्वरूपमें विभाग उत्पन्न करके सृष्टिको प्रकट करनेमें ब्रह्माजी ही मूलकारण हैं। अनादि और अनन्तरूपधारी विभु देशको सादि-सान्त बनाकर उसमें देवता, असुर, मानव, स्वेदज, उद्भिज्ज, अण्डज, जरायुज, स्थावर और जङ्गमात्मक अगणित सृष्टिका आविर्भाव करनेमें ब्रह्माजी ही प्रधान कारणरूप हैं। जो अन्तःकरण सब प्रकारके जीवोंका मूलतत्त्व है उसी समष्टि-अन्तःकरणमें ब्रह्माजी सदा अधिष्ठान करते हुए इस विचित्रतामय सृष्टिलीलाको प्रवाहित किया करते हैं। सुतरां, श्रीब्रह्माजी स्वभावसे ही सृष्टिमें परमपूज्य हैं। सत्त्व-रज-तम—इन तीनों गुणोंकी शक्तिके तारतम्यके अनुसार स्वार्थपूर्ण जीव चाहे ब्रह्माजीकी उपासना करनेकी आवश्यकता न समझे; परन्तु श्रीभगवान् ब्रह्मा, ब्रह्माण्डके उत्पादक होनेके कारण, ब्रह्माण्डमें स्वतः ही पूज्य हैं—इसमें सन्देह नहीं।

प्रत्येक देवताकी प्रकृति अथवा शक्तिको देवी कहते हैं। वही देवी पुराणशास्त्रमें उक्त देवताकी स्त्रीरूपसे वर्णन की गई हैं। ब्रह्माजीकी शक्ति प्रकृति अथवा स्त्रीके विषयमें विष्णुशक्ति लक्ष्मी और महादेवकी शक्ति रुद्राणीसे कुछ विशेष अलौकिकत्व देखनेमें आता है। श्रीब्रह्माजीकी प्रकृतिके तीन भेद शास्त्रोंमें कहे गये हैं। यथा—गायत्री, सावित्री और सरस्वती। ये तीन भेद ब्राह्मी प्रकृतिके किस प्रकारसे महत्त्वके प्रतिपादक हैं, इन तीनों स्वरूपोंका रहस्य क्या है, सो विस्तारितरूपसे कहनेके पहले देवगणकी शक्तिके विषयमें और देवियोंके स्वरूपके रहस्यके विषयमें एक पौराणिक गाथा सुप्रसिद्ध देवीभागवत ग्रन्थसे नीचे दी जाती है।

उक्त प्रकारका प्रश्न महाराजा जन्मेजयने श्रीभगवान् व्यासजीसे, श्रीभगवान् व्यासजीने देवर्षि नारदजीसे और देवर्षि नारदजीने श्रीभगवान् ब्रह्मा-

जीसे किया था। श्रीभगवान् ब्रह्माजीने जो आज्ञा की थी उसका सारांश यह है:- "प्रलयके अनन्तर सबसे प्रथम कमलसे ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उन्होंने विचार किया कि मेरी उत्पत्ति कहांसे हुई है ? जल और कमल तो दिखाई देता है; परन्तु इनका आधार क्या है ? सो नहीं मालूम होता ! ऐसा विचार करके कमलकी नालसे नीचे उतरे। हजार वर्ष तक उतरते रहने पर भी आधारका पता नहीं लगा। तब अकाशवाणी हुई कि 'तपस्या करो' उस आकाशवाणीको सुनकर ब्रह्माजीने हजार वर्ष तक तप किया, जिससे फिर आकाशवाणी हुई कि 'सृष्टि करो' परन्तु ब्रह्माजीकी समझमें यह नहीं आया कि सृष्टि किस तरहसे करनी होगी। ऐसे समयमें मधु और कैटभ नामक दो दैत्य आये और उन्होंने ब्रह्माजीको डराया; तब ब्रह्माजी फिर कमलनालसे नीचे उतरे और देखा कि श्रीविष्णु भगवान् योगनिद्रामें निद्रित हैं। उस समय ब्रह्माजीने निद्रास्वरूपिणी भगवतीका स्मरण करके उनकी स्तुति करना प्रारम्भ किया; जिससे भगवती प्रसन्न हुईं और विष्णु भगवान्को छोड़कर उनसे पृथक् हो आकाशमें स्थित हुईं। तदनन्तर विष्णु भगवान् जागे और मधु-कैटभ नामक दैत्योंसे पांच हजार वर्ष तक युद्ध करते रहे और अन्तमें उन दैत्योंका संहार किया। उसी समय श्रीभगवान् रुद्र भी वहां आये। इन तीनोंने आकाशस्थिता भगवतीका दर्शन किया और स्तुति करने लगे। तब भगवतीने आज्ञा दी कि 'आप लोग अपना कार्य्य करें। तदनन्तर देवत्रय प्रार्थना करने लगे कि 'हे मातः ! हम अपना अपना कार्य्य करनेमें असमर्थ हैं। यह सुनकर भगवतीने ईषत् हास्य किया और उसी समय एक विमान आया। भगवतीके आज्ञा करने पर उस विमान पर तीनों आरूढ़ होकर चले। मार्गमें कुछ आगे बढ़ते ही देखा कि भूमि-जल आदि और वृक्ष मनुष्यादि सब विद्यमान हैं। आगे चलकर एक नगर देखा। उसको देखनेसे उनको विदित हुआ कि, वह स्वर्ग है, जिसमें इन्द्र सकुटुम्ब और सपरिच्छद विद्यमान है। परन्तु यह संशय होने लगा कि इस लोकको बनाया किसने है। वहीं सूर्य्य यम, कुबेरादि देवताओंको भी देखकर विस्मित हुए। उसके बाद विमान ब्रह्मलोकमें गया। वहां ब्रह्माजीको चारों वेदों सहित इन तीनोंने देखा। विष्णु और शिव ब्रह्माजीसे कहने लगे कि 'यह ब्रह्मा कौन हैं?' जिसके उत्तरमें ब्रह्माजीने कहा कि 'मैं कुछ नहीं जानता कि यह कौन है, मैं कौन हूँ और किस कारणसे यह भ्रम हुआ है।' तदनन्तर विमान कैलाशमें पहुँचा। वहाँ सपरिवार शिवजीको इन तीनोंने देखा। पश्चात् विमान विष्णु-

लोकमें पहुँचा। वहां सपरिवार विष्णुको इन तीनोंने देखा। तीनों ही विस्मित होकर एक दूसरेको देखने लगे उसके बाद विमान अनेक ब्रह्माण्डोंमें होता हुआ सुधा-समुद्रके तट पर पहुँचा। वहांकी शोभा वर्णनातीत थी। उस द्वीप में दूरसे इन तीनों ने एक अत्यन्त सुन्दर पर्यङ्क (पलँग) देखा, जिसपर दिव्य सुन्दरी, वर, अभय पाश और अङ्कुशधारिणी भगवती विराजमान थीं। वहांके पक्षिगण भी देवीमंत्र जप कर रहे थे और अनेक अनुपम शोभासे युक्त सखीवृन्द उनकी सेवामें उपस्थित था। भगवती षट्कोणमध्यस्थ यंत्रराज पर उपस्थित थीं। देवत्रय भगवतीके दर्शन करके अति विस्मित हुए और विचार करने लगे। तब विष्णुजीने कहा—"यह भगवती हम लोगोंकी कारणरूपा हैं। इनके पास जो दिव्याङ्गनाएँ हैं वे इनकी विभूतिस्वरूपा हैं; यही सृष्टि-स्थिति-लय करने वाली हैं और प्रलयके समय सब जीवोंको बीजरूपसे अपने शरीरमें धारण करती हैं; इस कारण ये सर्वबीजमयी हैं। ये मूलप्रकृति हैं और सदा परम पुरुषसे सङ्गता हैं। ये ही परमात्मामें ब्रह्माण्डको उत्पन्न करके दिखाती हैं। ये हम लोगों की जननी हैं, यह निश्चित है" ऐसा कहकर विष्णु, शिव और ब्रह्माके साथ भगवतीके निकट जाने लगे और द्वार पर पहुँचे। उस समय जो घटना हुई उसका वर्णन निम्नलिखित है।

"द्वारस्थान्वीक्ष्य तान्सर्व्वान् देवी भगवती तदा।
स्मितं कृत्वा चकाराशु ताँस्त्रीन् स्त्रीरूपधारिणः॥
वयं युवतयो जाताः सुरूपाश्चारुभूषणाः।
विस्मयं परमं प्राप्ता गतास्तत्सान्निधिं पुनः॥"

उस समय भगवती देवीने उन तीनोंको द्वारपर स्थित देखकर ईषत् हास्य किया और उन तीनोंको तत्क्षणात् स्त्री बना दिया। वे तीनों सुरूपवती और सुन्दरभूषणधारिणी स्त्रियाँ हो गईं एवं परम विस्मयसे युक्त होती हुई भगवतीके निकट पहुँचीं तथा प्रणाम करके चरणदर्शन करती हुई सामने खड़ी रहीं। भगवतीकी परिचारिकाओंमें कोई नीलाम्बरा, कोई रक्ताम्बरा और कोई पीतांबरा थी। वहां उन लोगोंने (स्त्रीरूपधारी ब्रह्मा, विष्णु, महेशने) भगवतीके नखरूप दर्पणमें अगणित ब्रह्माण्डोंको देखा, जिन ब्रह्माण्डोंमें अनेक ग्रह-उपग्रह आदि, ब्रह्मा, विष्णु, महेश—सब देवता और अखिल जगत् विद्यमान था। इस प्रकार तीनोंको वहां विहार करते हुए सौ वर्ष व्यतीत हुए। तद-

नन्तर एक दिन विष्णुने भगवतीकी स्तुति करना प्रारम्भ किया और तदनन्तर शिवजीने स्तुतिकी । शिवजीकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर भगवतीने उनको सबीज-नवाक्षर मंत्रका उपदेश दिया, जिसका वे जप करने लगे। पश्चात् ब्रह्माजीने स्तुति की और जिज्ञासा की कि "हे मातः! वेदोंमें एक अद्वितीय ब्रह्म है—ऐसा कहा है, सो क्या आप ब्रह्म हैं अथवा ब्रह्म कोई आपसे पृथक् हैं ?" तब भगवती ने आज्ञा की कि :—

"सदैकत्वं न भेदोऽस्ति सर्व्वदैव ममास्य च ।
योऽसौ साऽहमहं योऽसौ भेदोऽस्ति मतिविभ्रमात् ॥
आवयोरन्तरं सूक्ष्मं यो वेद मतिमान् हि सः ।
विमुक्तः स तु संसारात् मुच्यते नाऽत्र संशयः ॥"

ब्रह्मका और मेरा सदा ही एकत्व है, कोई भेद नहीं है। जो मैं हूँ वही वे हैं और जो वे हैं सो ही मैं हूँ। केवल जीवोंकी बुद्धिके भ्रमसे भेद प्रतीत होता है। जो मेरा और ब्रह्मका सूक्ष्म अन्तर जानता है वही बुद्धिमान् है और वही संसारसे मुक्त होता है—यह निस्सन्देह है। (महामायाके इस उत्तरका विस्तारित विवरण मायातत्त्व नामक अध्यायमें किया गया है।) तदनन्तर ब्रह्मा, विष्णु और महेशकी स्तुतिसे प्रसन्न होकर महामायाने अपनी अंशभूता एक एक शक्ति तीनोंको दी और प्रत्येकको अपनी अंशभूता शक्तिरूप देवी देते समय निम्नलिखित वाक्य श्रीमहामायाने ब्रह्माजीसे कहा:—

"गृहाणेमां विधे! शक्तिं सुरूपां चारुहासिनीम् ।
महासरस्वतीं नाम्ना रजोगुणयुतां वराम् ॥
श्वेताम्बरधरां दिव्यां दिव्यभूषणभूषिताम् ।
वरासनसमारूढां क्रीडार्थे सहचारिणीम् ॥
एषा सहचरी नित्यं भविष्यति वरांगना ।
माऽवमंस्था विभूतिं मे मत्वा पूज्यतमां प्रियाम् ॥
गच्छ त्वमनया सार्द्धं सत्यलोकं चताशु वै ।
बीजाच्चतुर्विधं सर्गं समुत्पादय साम्प्रतम् ॥
नवाक्षरमिदं मंत्रं बीजध्यानयुतं सदा ।
जपन् सर्व्वाणि कार्य्याणि कुरु त्वं कुमलोद्भव! ॥

हे ब्रह्मा, इस शक्तिको ग्रहण करो। यह सुरूपा, चारुहासिनी, श्रेष्ठा, रजोगुणयुता, श्वेताम्बरधरा, दिव्या, दिव्यभूषणभूषिता, श्रेष्ठासनसमारूढ़ा एवं क्रीडाके लिये सहचारिणी है और इसका नाम सरस्वती है। यह वरांगना नित्य तुम्हारी सहचरी होगी। इस मेरी विभूतिको पूज्यतमा और प्रिया समझ कर अपमान मत करना। तुम इसको साथ लेकर शीघ्र सत्यलोकको जाओ और बीज जो विद्यमान है उससे अब सब चतुर्विधा सृष्टि उत्पन्न करो। हे कमलोद्भव! सदा बीज और ध्यानसंयुक्त इस नवाक्षर मन्त्रका जप करते हुए सब कार्य्योंको तुम करो।

श्रीमहामायाने विष्णुजीसे ऐसा कहा कि,—

"विष्णो! व्रज गृहाणेमां महालक्ष्मीं मनोहराम्।
सदा वक्षःस्थले स्थाने भविता नाऽत्र संशयः॥
क्रीडार्थं ते मया दत्ता शक्तिः सर्व्वार्थदा शिवा।
त्वयेयं नावमन्तव्या माननीया च सर्व्वदा॥
लक्ष्मीनारायणाख्येऽयं योगोऽयं विहितो मया।
यो हरिः स शिवः साक्षाद्यः शिवः स स्वयं हरिः॥
एतयोर्भेदमातिष्ठन् नरकाय भवेन्नरः।
वाग्बीजं कामबीजं च मायाबीजं तृतीयकम्॥
मन्त्रोऽयं त्वं रमाकान्त! मद्दत्तः परमार्थदः।
गृहीत्वा जप तं नित्यं विहरस्व यथा सुखम्॥
संहरिष्याम्यहं सर्वं यदा विश्वं चराचरम्।
भवन्तोऽपि तदा नूनं मयि लीना भविष्यथ॥
कारयित्वाऽथ वैकुण्ठं वस्तव्यं पुरुषोत्तम!।
विहरस्व यथाकामं चिन्तयन्मां सनातनीम्॥

हे विष्णो! जाओ और इस मनोहरा महालक्ष्मीको ग्रहण करो। यह तुम्हारे सदा वक्षःस्थलमें रहेगी—यह निःसन्देह है। मैंने क्रीडाके लिये यह सर्व्वार्थदा मंगलरूपिणी शक्ति तुमको दी है। इसका तुम अपमान मत करना, सर्व्वदा इसका मान करना। मैंने यह लक्ष्मीनारायण योग किया है। जो

हरि हैं वेही शिव साक्षात् हैं और जो शिव हैं वे स्वयं हरि हैं, इन दोनोंमें जो भेदबुद्धि करता है वह मनुष्य नरकगामी होता है। हे रमाकान्त! वाग्बीज, कामबीज और तीसरा मायाबीज—इस मेरे दिये हुए परमार्थप्रद मन्त्रको तुम ग्रहण करो और नित्य इसका जप करो एवं यथेच्छ विहार करो। जब मैं इस चराचर सकल विश्वका संहार करूंगी, तब तुम लोग भी मेरेमें लीन हो जाओगे। हे पुरुषोत्तम! तुम वैकुण्ठ बनवाकर रहो और मुझ सनातनीको स्मरण करते हुए यथेच्छ विहार करो।

श्रीमहामायाने श्रीशिवजीसे ऐसा कहा कि,—

"गृहाण हर! गौरीं त्वं महाकालीं मनोहराम्।
कैलासं कारयित्वाऽथ विहरस्व यथासुखम्॥
सर्व्वथा त्रिगुणा यूयं सृष्टिस्थित्यन्तकारकाः।
एभिर्विहीनं संसारे वस्तु नैवाऽत्र कुत्रचित्॥
वस्तुमात्रं तु यद्दृश्यं संसारे त्रिगुणं हि तत्।
दृश्यं च निर्गुणं लोके न भूतं नो भविष्यति॥
निर्गुणः परमात्माऽसौ न तु दृश्यः कदाचन।
सगुणा निर्गुणा चाऽहं समये शंकरोत्तमा॥
सगुणा कारणत्वाद्वै निर्गुणा पुरुषान्तिके।
सदाऽहं कारणं शंभो! न च कार्य्यं कदाचन॥
परमात्मा पुमानाद्यो न कार्य्यं न च कारणम्॥"

ब्रह्मोवाच:—

इत्युक्त्वा विससर्जास्मान् दत्वा शक्तीः सुसंस्कृताः।
विष्णवेऽथ महालक्ष्मीं महाकालीं शिवाय च॥
महासरस्वतीं मह्यं स्थानात्तस्माद्विसर्जिताः।
स्थलान्तरं समासाद्य ते जाता पुरुषा वयं॥
चिन्तयन्तः स्वरूपं तत् प्रभावं परमाद्भुतम्।
विमानं तत्समारुह्य संरूढास्तत्र वै त्रयः॥

न द्वीपोऽसौ न सा देवी सुधासिन्धुस्तथैव च ।
पुनर्दृष्टं विमानं वै तत्राऽस्माभिर्न चान्यथा ॥

हे हर ! तुम महाकाली मनोहरा गौरीको ग्रहण करो और कैलास बनाकर यथेच्छ विहार करो । तुम तीनों सृष्टि, स्थिति और संहार करनेवाले सर्व्वथा त्रिगुणमय हो । इन तीनों गुणोंसे रहित वस्तु इस संसारमें कहीं भी नहीं है । संसारमें जो सकल वस्तुएँ दृश्य हैं, वे त्रिगुणमय हैं । संसारमें निर्गुण दृश्य न हुआ है और न होगा । निर्गुण जो परमात्मा है वह कभी भी दृश्य नहीं है । हे शङ्कर ! मैं समयानुसार सगुण एवं श्रेष्ठ निर्गुणस्वरूपा होती हूँ । कारणरूपा होनेसे सगुणा हूँ और परमपुरुषके निकट निर्गुणरूपा हूँ । हे शम्भो ! मैं सदा कारणरूपा हूँ—कार्य्यरूपा नहीं हूँ और अनादि परमात्मा पुरुष न कार्य्यरूप हैं और न कारणरूप हैं । श्रीभगवान् ब्रह्माजी कहते हैं कि 'महामायाने इस प्रकार कहकर और शक्तियाँ प्रदान कर सुसंस्कृत हम लोगोंको करके विसर्जन किया । विष्णुको महालक्ष्मी, शिवको महाकाली और मुझको महासरस्वती देकर उस स्थानसे विसर्जन किया । स्थलान्तरमें आकर वे हम तीनों पुरुष हो गये । हम लोग उस स्वरूपको और परम अद्भुत प्रभावको स्मरण करते हुए उस विमानपर चढ़कर तीनों बैठे । उस समय न वह द्वीप था, न वह देवी थीं तथा न वह सुधा-सिन्धु था । हमने वहां पूर्व्ववत् विमानको ही देखा और कुछ नहीं देखा ।'

विष्णुकी वैष्णवी शक्ति लक्ष्मीदेवी और रुद्रकी शक्ति रौद्राणी देवी हैं । यद्यपि शास्त्रोंमें इन देवियोंके अनेक नाम पाये जाते हैं; परन्तु ये अपने अपने देवताकी एक ही एक शक्ति है, और इन दोनोंके कर्म्माधिकारके विषयमें विशेष कुछ वैचित्र्य शास्त्रोंमें नहीं पाया जाता । शास्त्रोंमें विष्णु या नारायणके महत्त्व और पूजापद्धति आदिका जिस प्रकार विस्तारित वर्णन पाया जाता है उसी प्रकार रुद्र या शिवके महत्त्व और पूजापद्धतिके अनेक विस्तारित वर्णन शास्त्रोंमें पाये जाते हैं । परन्तु ब्रह्माजीके लिये वैसा नहीं पाया जाता । विष्णु-भागवत और विष्णु-पुराण आदि जिस प्रकार विष्णुके माहात्म्यप्रतिपादक हैं, शिवपुराण और लिङ्गपुराण जिस प्रकार शिवके माहात्म्य प्रतिपादक हैं उस प्रकारकी वर्णनशैली शास्त्रोंमें भगवान् ब्रह्माजीके लिये नहीं पाई जाती । परन्तु वैष्णवी शक्ति और रुद्राणी शक्तिके विषयमें शास्त्रोंमें विशेष वैचित्र्य न मिलने

पर भी ब्रह्माजीके तीन शक्तियोंके विषयमें अनेक वैज्ञानिक रहस्यसे पूर्ण विचित्रता देखनेमें आती है। कहीं कहीं शास्त्रोंमें गायत्री और सरस्वती कहकर दो शक्तियों और बहुधा शास्त्रोंमें सरस्वती-गायत्री-सावित्री-रूपसे तीन शक्तियोंके साथ भगवान् ब्रह्माजीका सम्बन्ध दिखलाया जाता है। इन त्रिविध शक्तियोंका माहात्म्य भी शास्त्रोंमें बहुत पाया जाता है। कहीं कहीं शास्त्रोंमें ऐसा है कि महासरस्वतीकी तीन कन्याएँ हैं। यथा—वीणापाणि, गायत्री और सावित्री; और कहीं कहीं शास्त्रोंमें ऐसा है कि एक सरस्वती देवी ही त्रिधारूपसे भासमान होती हैं। वे ही सरस्वती, गायत्री और सावित्री कहाती हैं। शास्त्रोंकी वर्णनशैली चाहे कैसी ही हो, परन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि वैष्णवी शक्ति और रौद्री शक्तिकी ऐसी विस्तृत भेदकल्पना नहीं है, कि जैसी ब्राह्मी शक्तिकी भेदकल्पना शास्त्रोंमें पाई जाती है और यह भी स्वतःसिद्ध है कि वैष्णवी शक्ति और रौद्री शक्तिसे ब्राह्मी शक्तिका विस्तार अधिक है। ज्ञानजननी वेदमाता सरस्वती ही भगवान् ब्रह्माजीकी शक्ति हैं। वेद ज्ञानरूपमें, मन्त्ररूपमें और धर्म्मशक्तिरूपमें जगत्में प्रकट हैं। इसी कारण अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतरूपमें ब्रह्मशक्ति, ज्ञानगम्यरूपसे सरस्वती, मन्त्रगम्यरूपसे गायत्री और धर्म्माधाररूपसे सावित्रीके रूपमें प्रकट हैं। यही विश्वधारक वेदके तीन भावके तीन अधिदैव हैं। अस्तु, भगवान् ब्रह्माका उपासनाराज्यमें अधिक सम्बन्ध स्थापित न रहनेपर भी उनकी शक्तिका उपासनाराज्यसे अति प्रबल सम्बन्ध है, इसमें सन्देह नहीं। त्रिभावतत्त्व नामक अध्यायमें ब्रह्माजीकी त्रिभावात्मक त्रिविध शक्तियोंका विस्तारित वर्णन किया जायगा। यहां इतना ही कहना यथेष्ट है कि त्रिभावात्मक त्रिविध सृष्ट पदार्थोंके त्रिविध प्रसविनी शक्तिका होना भी स्वतःसिद्ध है। वेदके मन्त्रार्थ, मन्त्रशक्ति और शब्दमय मंत्रके सम्बन्धसे वेदजननी ब्राह्मी शक्तिके भी तीन भेद तत्त्वदर्शियोंने माने हैं।

पूर्व्वकथित पौराणिक गाथासे यह भलीभांति प्रकट होगया है कि ब्रह्मशक्ति महामायाका ही कार्य्य यह दृश्य प्रपञ्च जगत् होनेके कारण उनके अनन्त अंशरूपी शक्तियाँ स्वतन्त्र-स्वतन्त्रभावको अवलम्बन करती हुई जिन जिन देवताओंमें रमण करती हैं वे ही उन देवताओंकी देवी अर्थात् स्त्री कहाती हैं। जैसे ब्रह्म और ब्रह्मशक्तियोंमें भेद नहीं है, वैसे ही प्रत्येक देवता और उनकी स्त्रीमें भेद नहीं है; इस विज्ञानको और भी स्पष्ट करनेके लिये कहा जा सकता है कि यदि किसी गायक और उसकी सुमधुर गानशक्तिमें कोई विशेष

भेदकल्पना करना चाहे तो, जैसी कल्पना हो सकती है वैसा ही अति घे सम्बन्ध देव और देवियोंमें समझना उचित है। परन्तु इससे यह न समझ जाय कि दैवराज्यमें देवताओंसे देवियां अलग दर्शन नहीं दे सकतीं। जिस प्रकार गायक यदि नदीके पार गुप्त स्थानमें गान करता हो तो उसकी गान-शक्ति जिस प्रकार शब्दमय रूप धारण करके नदीके उसपारमें स्थित श्रोताके हृदयमें कर्ण द्वारा आविर्भूत होती हुई आनन्द और उत्साह आदि प्रकट कर सकती है, ठीक उसी दृष्टान्तके अनुसार दैवीशक्तिसम्पन्न देवताओंकी शक्ति-रूपिणी देवियां दैव राज्यमें अथवा भक्तके मनोमन्दिरमें नाना दैव कार्य्य प्रकट करनेमें समर्थ होती हैं। इस विज्ञानके अनुसार अलौकिक दैव राज्यमें देव और देवियोंका स्वातन्त्र्य भी विद्यमान है। यथा दैवीमीमांसादर्शनमें—

"चित्सत्प्राधान्याद्देवदेव्यौ"

देवताओंमें चित्सत्ताकी प्रधानता और देवियोंमें सत्सत्ताकी प्रधानता रहती है।

यह पहले ही कहा गया है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डके नायक ब्रह्मा-विष्णु—महेशरूपी त्रिमूर्ति ही उक्त ब्रह्माण्डके सगुण ईश्वर हैं: इस कारण ये तीनों, देवता होने पर भी, अन्यान्य देवताओंकी श्रेणीमें इनकी गणना नहीं हो सकती। प्रधान देवता तैंतीस हैं। यथा—आठ वसु, द्वादशादित्य, एकादश रुद्र और इन्द्र प्रजापति।

यजुर्वेद (अ० १४ मं० २०) में भीः—"वसवो देवताः रुद्रा देवताः।

आदित्या देवताः त्रयस्त्रिंशाः सुराः।"

आदि कहकर तैंतीस देवताओं का वर्णन किया गया है। इनके नाम—यथा महाभारतमें:—

"भगोंऽशश्चार्यमा चैव मित्रोऽथ वरुणस्तथा।
सविता चैव धाता च विवस्वांश्च महाबलः॥
त्वष्टा पूषा तथैवेन्द्रो द्वादशो विष्णुरुच्यते।
इत्येते द्वादशादित्याः कश्यपस्यात्मसम्भवाः॥"

भग, अंश, अर्यमा, मित्र, वरुण, सविता, धाता, विवस्वान्, त्वष्टा, पूषा, इन्द्र और विष्णु—ये द्वादश आदित्य हैं। वसुओंके नाम महाभारतमें:—

धरो ध्रुवश्च सोमश्च विष्णुश्चैवानिलोऽनलः।
प्रत्यूषश्च प्रभासश्च वसवोऽष्टौ क्रमात् स्मृताः॥

धर, ध्रुव, सोम, विष्णु, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास–ये अष्टवसु हैं। एकादश रुद्रके नाम श्रीमद्भागवतमें—

"अजैकपादहिर्ब्रध्नो विरूपाक्षः सुरेश्वरः।
जयन्तो बहुरूपश्च त्र्यम्बकोऽप्यपराजितः॥
वैवस्वतश्च सावित्रो हरो रुद्रा इमे स्मृताः॥"

अजैकपाद, अहिर्ब्रध्न, विरूपाक्ष, सुरेश्वर, जयन्त, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, वैवस्वत, सावित्र और हर—ये एकादश रुद्र हैं।

ये ही तैंतीस देवता प्रत्येक ब्रह्माण्डके रक्षकरूप प्रधान देवता हैं। इनके अधीन अनेक देवता हैं; वे सब देवता सात श्रेणी और चार वर्णमें विभक्त हैं।

देवताओंकी सात श्रेणीके विषयमें सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व नामक अध्यायमें पहले ही कहा गया है। इनके चार वर्ण—यथा—महाभारतके शान्तिपर्व्वमें:—

"आदित्याः क्षत्रियास्तेषां विशश्च मरुतस्तथा।
अश्विनौ तु स्मृतौ शूद्रौ तपस्युग्रे समास्थितौ॥
स्मृतास्त्वङ्गिरसो देवा ब्राह्मणा इति निश्चयः।
इत्येतत् सर्वदेवानां चातुर्वर्ण्यं प्रकीर्त्तितम्॥"

आदित्यगण क्षत्रियदेवता, मरुद्गण वैश्यदेवता, अश्विनीगण शूद्र देवता और आङ्गिरस देवतागण ब्राह्मणदेवता—इस प्रकारसे देवताओंके चार वर्ण हैं। वर्णधर्म तथा सृष्टिस्थितिप्रलयतत्त्व नामक अध्यायमें देवताओंके चार वर्णोंके विषयमें वेदका भी प्रमाण दिया गया है।

शास्त्रोंमें कहीं कहीं तैंतीस—करोड़ देवता हैं ऐसा भी कहा गया है। 'प्रत्येक ब्रह्माण्डमें देवताओंकी संख्या क्या तैंतीस करोड़ ही नियमित है-?' इस प्रश्नके उत्तरमें सिद्धान्त यही हो सकता है कि विज्ञानवित् शास्त्रकारोंने प्रकृतिके परिणामके क्रमके अनुसार और कर्म्मोंकी गतिके साधारण भेदके अनुसार देवताओंकी संख्या अधिकसे अधिक तैंतीस करोड़का होना अनु-

मान किया है। इससे यह नहीं समझा जा सकता कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें तैंतीस करोड़ ही देवता होते हैं।

वेदादिशास्त्रोंमें देवताओंकी संख्या तथा स्वरूपके विषयमें अनेक वर्णन मिलते हैं। यजुर्वेद (अ० १४, म० २०)में वर्णन है:—

"अग्निर्देवता वातो देवता सूर्यो देवता चन्द्रमा देवता वसवो देवता रुद्रा देवता आदित्या देवता मरुतो देवता विश्वेदेवा देवता बृहस्पतिर्देवता इन्द्रो देवता वरुणो देवता।"

इस मन्त्रमें देवताओंकी अनेक श्रेणियोंका नामोल्लेख है।

पुनश्च—"त्रया देवा एकादशत्रयस्त्रिंशाः सुराधसः बृहस्पतिपुरोहिता देवस्य सवितुः सर्वे देवा देवैरवन्तु मा।" (य०११मं०अ०२०)

"समिद्ध इन्द्र उषसामनीके पुरोरुचा पूर्वकृद्वावृधानः त्रिभिर्देवैस्त्रिंशतावज्रबाहुर्जघान वृत्रं विदुरो ववार।" (अ० २, मं ३६)

प्रधान तीन देवता, एकादश रुद्र या तैंतीस देवता सुरगुरु बृहस्पतिको आगे करके अपनी दैवशक्तिके प्रभावसे सूर्यप्रेरणासे यज्ञानुष्ठानमें प्रवृत्त मेरी रक्षा करें। तेजस्वी वज्रधारी इन्द्रने सूर्यकी तरह प्रकाशवान् तैंतीस देवताओंके साथ मिलकर वृत्रको हनन किया। देवताओंकी संख्याके विषयमें उसी वेदमें लिखा है:—

"त्रीणि शतानि त्रीणि सहस्राण्यग्निन् त्रिंशच्च देवानवचासपर्यन्"(७अ०३३)

तीन हजार तीन सो उनतालीस देवता अग्नि की परिचर्या करते हैं। शाकल्य ब्राह्मणमें—

"त्रयश्च त्री च शता त्रयश्च त्री च सहस्रैति महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रिंशदेव देवाः"

इस प्रकार कह कर तैंतीस देवता ही प्रधान हैं, बाकी शत सहस्र देवतागण सब इनकी विभूति रूप हैं—ऐसा ही वर्णन किया गया है। अन्यत्र यह भी वर्णन है:—

"तिस्रः कोट्यस्तु रुद्राणामादित्यानां दश स्मृताः।
अग्नीनां पुत्रपौत्रं तु संख्यातुं नैव शक्यते॥"

एकादश रुद्रों की विभूति तीन कोटि देवता हैं, द्वादश आदित्यों की

विभूति दस कोटि देवता हैं। अग्नि देवताके पुत्रपौत्रोंकी तो संख्या ही नहीं हो सकती। तदनन्तर अक्षपादने कहा है—

"त्रयस्त्रिंशदूर्ध्वानि तान्येव शतानि विन्दुत्रययुक्तानि, पुनस्तान्येव त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि च बिन्दुचतुष्टययुतानि तदा त्रयस्त्रिंशत्कोटय इत्यर्थः"

इस प्रकारसे तैंतीस करोड़का हिसाब बन सकता है। महाभारतके आदिपर्वके १ माध्यायमें लिखा है—

"त्रयस्त्रिंशत् सहस्राणि त्रयस्त्रिंशच्छतानि च ।
त्रयस्त्रिंशच्च देवानां सृष्टिः संक्षेपलक्षणा ॥"

संक्षेपसे देवताओंकी संख्या तैंतीस हजार तैंतीस सौ तैंतीस होती है। निरुक्तके दैवतकाण्डमें देवताओं की संख्याके विषयमें वर्णन हैं। यथाः—

"तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः।"

"अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः।"

"तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति।"

"अपि वा कर्मपृथक्त्वाद् यथा होताध्वर्युर्ब्रह्मोद्गातेत्यप्येकस्य सतः।"

"अपि वा पृथगेव स्युः पृथग्घि स्तुतयो भवन्ति।"

"तथाभिधानानि।"

देवता तीन हैं। यथा—अग्नि, वायु या इन्द्र और सूर्य। अग्निका स्थान पृथिवी है, वायु या इन्द्रका स्थान अंतरिक्ष है और सूर्यका स्थान द्युलोकमें है। इन तीन प्रधान देवताओंके ऐश्वर्ययोगसे अनेक देवता होते हैं, जिनके नाम अनेक प्रकारके हैं। कर्मकी पृथक्ताके कारण भी अनेक भेद होते हैं। यथा—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता ब्रह्मा इत्यादि। इसके सिवाय और प्रकारसे भी पृथक्सत्ता देवताओंकी होती है, जिस कारण पृथक् पृथक् देवताओंकी पृथक् पृथक् स्तुतियां भी होती हैं। इस प्रकार पृथक् सत्ताके अनुसार देवताओंके पृथक् पृथक् नाम भी होते हैं। दैवीमीमांसादर्शनमें लिखा है—

"तिस्रो देवताः"

"त्रयस्त्रिंशत् ततः प्रभुतापि कार्य्यवैलक्षण्यात्"

देवता तीन, उससे तेंतीस और उससे कार्य वैलक्षण्यानुसार असंख्य देवता होते हैं। यजुर्वेदके (अ० ३६ मं० ६) प्रायश्चिताहुतिप्रकरणमें लिखा है—

"सविता प्रथमेऽहन्नग्निर्द्वितीये वायुस्तृतीय आदित्यश्चतुर्थे चन्द्रमाः पञ्चमऋतुः षष्ठे मरुतः सप्तमे बृहस्पतिरष्टमे मित्रो नवमे वरुणो दशमइन्द्र एकादशे विश्वेदेवा द्वादशे ।"

प्रथम दिनका सविता देवता है, दूसरे दिनका अग्नि, तीसरे दिनका वायु, चौथे दिनका आदित्य, पञ्चमका चन्द्र, षष्ठका राहु, सप्तमका मरुत् अष्टमका बृहस्पति, नवमका मित्र, दशमका वरुण, एकादशका इन्द्र, द्वादशका विश्वेदेवा। इन देवताओंके निमित्त १२ दिनोंतक प्रायश्चित्तके लिये आहुति दी जाती है। इन देवताओंके स्वरूप तथा वासस्थान कहां होते हैं, इसके विषयमें ऋग्वेद (म० १ सू० ६३ अ० ५) में लिखा है:—

"नृचक्षसो अनिमिषंतो अर्हणा बृहद्देवासो अमृतत्वमानशुः ।
ज्योतीरथा अहिमाया अनागसो दिवोवर्ष्माणं वसते स्वस्तये ॥"

कर्मके नियन्ता, अनिमेषनेत्र द्वारा जीवोंके प्रति दृष्टियुक्त, देवताओंने जीवोंकी परिचर्याके निमित्त अमरत्वको प्राप्त किया है। दीप्तिमान् रथसे युक्त, स्थिरबुद्धि, पापरहित देवतागण स्वर्गलोकके उन्नतदेशमें निवास करते हैं। और भी—

"सम्राजो ये सुवृधो यज्ञमाययुरपरिह्वृता दधिरे दिविक्षयम् ।"

प्रभुतायुक्त, अतिवृद्धिशाली देवतागण जो यज्ञमें आते हैं उनका निवास दिव्यलोकमें हैं। देवताओंके प्रभावके विषयमें निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा है—

"आत्मैवैषां रथो भवत्यात्माश्व आत्मायुध आत्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य । "

आत्मा ही देवताओंका अश्व, रथ, आयुध, बाण और सब कुछ होता है। इनके रूपके विषयमें ऋग्वेद(म० ३, अ० ४ सू० ५३ म० ८) में लिखा है-—

"रूपं रूपं मघवाबो भवीति मायाः कृण्वानस्तन्वं परिस्वाम् ।
त्रिर्यद्दिवः परिमुहूर्तमागात् स्वैर्मन्त्रैरनृतुपाऋतावा ।"

मघवा (इन्द्रदेव) जिस जिस रूपके धारण करनेकी इच्छा करते हैं वही रूप उनका हो जाता है; उनमें अनेक रूप धारण करनेकी शक्ति है। सोमपायी

इन्द्रकी यजमान मन्त्रद्वारा स्तुति करते ही इन्द्रदेव स्वर्गलोकसे एक ही समय अनेकरूप धारण करके अनेक यज्ञमें उपस्थित हो सकते हैं। देवताओंके अनेक रूप धारण करके एक ही समय अनेक यज्ञमें उपस्थित होनेके विषयमें वेदान्त दर्शनका भी सूत्र है। यथाः—

"विरोधः कर्मणीति चेन्नानेकप्रतिपत्तेर्दर्शनात्।"

यदि कर्मके विषयमें इस प्रकारसे विरोध माना जाय कि एक समय पर एक देवता अनेक स्थानोंमें कैसे उपस्थित रह सकते हैं तो, इसका उत्तर यह है कि देवताओंमें ऐसी शक्ति है कि एक ही समय पर अनेक रूप धारण करके अनेक यज्ञोंमें वे दर्शन दे सकते हैं। देवताओंके रूप कैसे होते हैं, इसके विषयमें निरुक्तके दैवतकाण्डमें लिखा हैः—

"अथाकारचिन्तनं देवतानाम्।"

"पुरुषविधाः स्युरित्येकम्।"

"अपुरुषविधाः स्युरित्यपरम्।"

"अपि वोभयविधाः स्युः।"

देवताओंके रूप कैसे होते हैं अर्थात् किस रूपमें वे दर्शन देते हैं, इसके विषयमें यह कथन है कि कोई उनको पुरुषके रूपमें दर्शन देने वाले, कोई उनको स्त्रीके रूपमें या और किसी रूपमें दर्शन देनेवाले और कोई उनको इन दोनों ही रूपोंमें दर्शन देनेवाले कहते हैं। इन्द्रके कार्यके विषयमें निरुक्तमें लिखा हैः—

"अथास्य कर्म रसानुप्रदानं वृत्रवधो या च का च बलकृति-रिन्द्रकर्मैव तत्।"

वर्षादि कराना, वृत्रवध और बलसम्बन्धीय अन्य समस्त कार्य इन्द्रदेव का है; क्योंकि, वे देवताओंके राजा हैं। इन सब प्रमाणोंके द्वारा स्पष्ट सिद्धान्त होता है कि विद्वान्को ही देवता कहनेकी और चतुर्वेदज्ञाताको ही ब्रह्मा कहनेकी जो स्पर्द्धा अर्वाचीन पुरुषोंने की है वह उनका भ्रान्तियुक्त उन्मत्त प्रलापमात्र है।

"विद्वांसो हि देवाः।" (शतपथ ब्राह्मण, ३।७।३।१०)

इस मन्त्रका अर्थ अर्वाचीन पुरुषोंने ठीक नहीं किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि विद्वान् ही देवता होते हैं; परन्तु यजुर्वेद (अ० ६, मं० ७) मेंः—

"देवान् दैवीर्विशः प्रागुरुशिजो वह्नितमान्।"

इस मन्त्रके अर्थमें "दिव्यगुणयुक्त" यह पशु अग्नोपोमादि देवताओंके पास गमन करे, जो देवता विद्वान् और अग्निद्वारा हविकी इच्छा करनेवाले होते हैं, यह जो मंत्र है. इसपर ही शतपथ ब्राह्मणकी श्रुति है:—

"विद्वांसो हि देवास्तस्मादाहोशिजो वह्नितमानिति ।"

देवता विद्वान् हैं, इसीलिये उनको उशिज और वह्नितमान् कहा गया है। विद्वान्का नाम ही देवता हैं, यह उस श्रुति अथवा ब्राह्मणका अर्थ नहीं है ।

देवताओंकी जिस प्रकार सात श्रेणियाँ हैं और देवताओंमें जिस प्रकार चार वर्ण हैं उसी प्रकार देवताओंके नित्य और नैमित्तिक भेदसे दो अधिकार भी माने गये हैं । सप्त ऊर्द्ध्वलोक और सप्त अधोलोक होनेसे सप्त अधोलोकके अनुसार उनमें रहने वाले सात श्रेणीके असुर माने गये हैं । देवराजेन्द्रकी तरह असुरोंका भी स्वतन्त्र राजा है। उसी प्रकार सप्त ऊर्द्ध्वलोक यथाः—भूः, भुवः, स्वः, महः, जन, तपः और सत्य—इन सातोंमें अलग अलग रहने वाले सात श्रेणीके देवता भी हैं इन्द्र इन देवताओंका अधिपति है । पितृलोकरूपी उच्च लोक और नरकलोक तथा प्रेतलोकरूपी अधोलोक भूलोकके ही निकटस्थ माने गये हैं। जैसे पृथ्वीका उपग्रह चन्द्रमा है उसी प्रकार भूलोकसे सम्बन्धयुक्त पितृलोक है। भूलोकमें पितृलोक सूक्ष्म भोगलोक है। प्रेतलोक भूलोकसे मिला हुआ है और नरक लोक भूलोकके निकटस्थ ही है। भूलोकसे सम्बन्ध युक्त होनेके कारण उच्च पितृलोक और अधोरूपी नरकलोक और प्रेतलोक उच्च सप्त लोकोंसे कुछ विचित्रता रखते हैं। अस्तु, इन तीनोंके प्रबन्धके लिये स्वतन्त्र नायकोंकी भी आवश्यकता है, वे ही नित्य पितृगण तथा यमराज हैं । सप्त ऊर्द्ध्वलोकके अधिपतिकी राजधानी स्वर्गलोक अर्थात् तीसरा लोक है; वहीं देवराज इन्द्रका प्रधान पीठ है। परन्तु सप्त अधोलोकके अधिपति असुरराजकी राजधानी पाताललोक अर्थात् सप्तम अधोलोकमें हैं। ऊर्द्ध्व लोककी राजधानी तृतीय लोकमें और अधोलोककी राजधानी सप्तम लोकमें है—ऐसा सुननेसे क्रमभेद देखकर शङ्का हो सकती है। इसका समाधान यह है कि असुरराज्य तमोमय है और देवराज सत्त्वमय है। असुर राज्यके तमोमय होनेके कारण राजसिक शक्तिसे युक्त असुरराज्यकी राजधानी पूर्ण तमोमय पाताल लोकमें ही होना विज्ञानसिद्ध है। परन्तु ऊर्द्ध्व सप्तलोकोंका अधिकार कुछ विचित्र है; क्योंकि, मुक्तिसे उनका सम्बन्ध है। ऊर्द्ध्व सप्तलोकके सत्त्वगुणमय होनेसे ही ऊर्द्ध्व सप्तलोक अर्थात् सत्त्वलोकमें

पूर्ण सत्त्वगुणका अधिकार विराजमान है। इसीसे उस लोकसे जीवकी पुनरावृत्ति नहीं होती—ऐसा माना गया है। बहुतसे योगाचार्य्योंकी सम्मति यह है कि सप्तम लोकरूपी सत्यलोकसे प्रायः सब आत्माएँ सूर्य्यमण्डलका भेदन कर कैवल्य पदको प्राप्त करते हैं। परन्तु कुछ कुछ मुक्तात्माएँ इस लोकमें मुक्तिदशाको प्राप्त होनेपर भी अति उच्च श्रेणीके देवता और अति उच्च श्रेणीके ऋषि होकर बड़े बड़े पदोंपर स्थित रहते हैं और उस ब्रह्माण्डके साथ ही साथ ब्रह्मभावमें मिल जाते हैं। कोई कोई योगाचार्य्य यहाँ तक कहते हैं कि शिवलोक, विष्णुलोक, देवीलोक आदि सब प्रधान उपासनासम्बन्धीय लोक षष्ठ लोक अर्थात् तपोलोकके अन्तर्गत हैं। वहाँ गये हुए जीवोंकी प्रायः पुनरावृत्ति होती है। केवल वहाँ गये हुए सायुज्य मुक्तिको प्राप्त उन्नत आत्माएँ निवृत्तिपूर्ण सप्तमलोकमें होकर सूर्य्यमण्डलका भेदन करते हुए मुक्तिपदको प्राप्त कर लेते हैं। ऊद्र्ध्वलोकोंके महत्त्वके ये सब आश्चर्य्यजनक प्रमाण हैं। इस विषयका एक और बड़ा प्रमाण सृष्टिस्थितिलयतत्त्व नामक अध्यायमें दिया गया है कि ब्रह्माजीकी निद्रासे नैमित्तिक प्रलय होते समय प्रथम चारलोकके नष्ट हो जानेपर भी अन्तिम तीन लोक यथावत् बने रहते हैं। इन वर्णनोंसे यह सिद्ध हुआ कि सप्तलोकों-में जितना जितना ऊद्र्ध्वत्व होता गया है उतना उतना उक्त लोकोंमें सत्त्वगुण-का अधिकार बढ़ता गया है। अस्तु, देवराज इन्द्रका पद रजोगुणप्रधान होनेके कारण उनकी राजधानी तृतीयलोक अर्थात् स्वर्गलोकमें करनी पड़ी है। तीसरे लोकसे ऊपर लोकोंमें क्रमशः सत्त्वगुणकी अधिकता बढ़नेके कारण एक तो वहाँ देवोंकी राजधानी नहीं रह सकती और द्वितीयतः उनमें उत्तरोत्तर राजशासनाधिकारकी आवश्यकता भी कम होती गई है। देवराज इन्द्रकी राज-धानीके तृतीयलोकमें होनेके विषयमें यही वैज्ञानिक रहस्य है। उच्च पितृलोक तथा अधोलोकरूपी नरकलोक और प्रेतलोकके स्वतन्त्र स्वतन्त्र अधिकारके होनेके कारण तथा उच्च सप्तलोकोंसे इनकी कुछ विचित्रता रहनेके कारण इनके नायकोंके पीठके स्थान अलग अलग हैं। पितृलोकमें नित्य पितरोंका अनु-शासनका प्राधान्य है और निम्नश्रेणीके दो लोकों अर्थात् नरकलोक और प्रेत-लोकोंके अनुशासनकर्त्ता यमराजके होनेपर भी उनका पीठस्थान इन दोनों लोकोंसे बाहर ही माना गया है। उनकी राजधानी यमलोक कहलाती है।

सात ऊद्र्ध्वलोकोंमें अर्थात् सत्यलोक, तपोलोक, जनलोक, महर्लोक, स्वर्ग-लोक, भुवर्लोक और भूर्लोकके सम्बन्धसे युक्त उच्चलोकरूपी पितृलोक—ये ही

सातों देवताओंके वासोपयोगी सात दिव्य लोक कहलाते हैं। इन्हींमें सात-श्रेणीके देवता वास करते हैं; जिनका विभाग अति रहस्यसे पूर्ण है। जिस प्रकार आर्य्यजातिमें त्रिगुणके अनुसार चार वर्णविभाग हैं उसी प्रकार देवताओंमें भी चार वर्ण हैं। जिनका कुछ उदाहरण पहले ही दिया गया है। पीठतत्त्व नामक प्रबन्धमें दैवीशक्तिको पीठमें आकर्षण करनेके निमित्त जो युक्तियां बताई गई हैं उन युक्तियोंके अनुसार ऊपर लिखित सभी प्रकारके देवता तथा ऋषि और पितृगण सभी दैवीपीठमें आकृष्ट किये जा सकते हैं। क्योंकि, जब प्रेतादि निम्नश्रेणिके विभूतिगण तक पीठमें आ सकते हैं तो देवतादियोंकी बात ही क्या? हाँ यह बात अवश्य है कि जिस पीठमें निम्नश्रेणीके प्रेतादि आवेंगे वहां उच्च श्रेणिके देवतागण नहीं आ सकेंगे। पीठकी तरह गिर्जा, मसजिद आदि अमन्त्रक पीठोंमें भी इसी प्रकारसे दैवीशक्ति का आविर्भाव हो सकता है। सन्यासियोंके लिये देवता प्रणामका जो कहीं कहीं निषेध पाया जाता है इसका यह उद्देश्य है कि सन्यासीमें अध्यात्मभावप्रधान दैवीशक्ति रहती हैं। इसलिये यदि प्रणम्य देवतामें दैवीशक्ति अधिक होगी तो सन्यासीकी भी शक्तिके आकृष्ट होनेसे उनकी शक्तिका नाश होगा और यदि सन्यासीमें शक्ति अधिक तथा देवतामें कम होगी, तो देवताकी शक्तिमें हानि होगी। अवश्य इस प्रकार शक्ति-हीनताकी सम्भावना सकाम तथा सिद्धिसम्पन्न सन्यासियोंके लिये ही है। निष्कामभावमें तो यह बात ही नहीं है। बल्कि इस भावमें परस्परका कल्याण ही है। प्राणविकाशके केन्द्ररूपी पीठकी तरह प्रतिष्ठित नैमित्तिक देवताके पीठके विषयमें भी प्रतिष्ठाताके वर्णभेदानुसार प्रणामका भेद होता है। यथा किसी शूद्रके द्वारा प्रतिष्ठित देवतापीठको ब्राह्मणके लिये प्रणाम निषिद्ध है। क्योंकि शूद्रसङ्कल्प द्वारा प्रतिष्ठा होनेसे उस पीठमें शूद्रका गुण और भाव है; इसलिये यदि प्रणाम करनेवाला ब्राह्मण दुर्बल और देवता बलवान् हो तो ब्राह्मणका तपःक्षय होगा। अन्यपक्षमें यदि ब्राह्मण सबल हो तो देवताकी शक्ति आकृष्ट होगी। अवश्य केवल जन्मसे ब्राह्मण न होकर शक्ति-सम्पन्न ब्राह्मणके लिये ही इस प्रकार विचार हो सकता है।

देवतागण नित्य और नैमित्तिक भेदसे दो प्रकारके होते हैं; जिनके विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें इस प्रकार कहा है।

"साक्षात्परोक्षशक्तिभिर्नित्यनैमित्तिके"

साक्षात् और परोक्षशक्तिके अनुसार नित्य देवता और नैमित्तिक देवता होते हैं।

नित्य देवता वे हैं, कि जिनका पद नित्य स्थायी है। वसुपद, रुद्रपद, आदित्यपद, इन्द्रपद, वरुणपद आदि पद नित्य हैं। यह पदसमूह केवल अपने ब्रह्माण्डमें ही नित्यस्थायी नहीं है; किन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें इन पदोंका नित्यरूपसे रहना अवश्य सम्भव है। ये पद नित्य होते हैं तथा कल्प और मन्वन्तरादिभेदसे इनमें योग्य व्यक्तियां जाकर अधिकार प्राप्त करती हैं। और वे ही देवता क्रमशः उन्नत अधिकारोंको भी प्राप्त करते रहते हैं। कभी कभी इन पदधारी देवताओंका पतन भी होता है। जैसा महाभारतके शान्तिपर्वमें कहा गया है:—

"हित्वा सुखं मनसश्च प्रियाणि देवः शक्रः कर्मणा श्रेष्ठयमाप।
सत्यं धर्मं पालयन्नप्रमत्तो दमं तितिक्षां समतां प्रियञ्च॥
एतानि सर्वाण्युपसेवमानः स देवराज्यं मघवान् प्राप मुख्यम्॥
क्रतुभिस्तपसा चैव स्वाध्यायेन दमेन च।
त्रैलोक्यैश्वर्यमव्यग्रं प्राप्तोऽहं विक्रमेण च॥"

मनके प्रिय सुखों को त्याग करके, सत्य धर्म, दम, तितिक्षा और समताके आश्रयसे इन्द्रको मनुष्यशरीरसे इन्द्रपद प्राप्त हुआ था। यज्ञ, तप, स्वाध्याय और दमके द्वारा इन्द्रने त्रिलोकका ऐश्वर्य प्राप्त किया था। नारायणोपनिषद्में लिखा है:—

"यज्ञेन हि देवा दिवं गताः"

"यस्ते नूनं शतक्रतविन्द्र द्युम्नितमो मदः" (सा. वे. ३।१।३।२)

यज्ञसे ही देवताओंको देवत्वपद मिला है और शतक्रतु होनेसे ही इन्द्रपद इन्द्रको प्राप्त हुआ है। ऋग्वेद १।१११।१ में लिखा है:—

"तक्षन् रथं सुवृतं विद्म नापसस्तक्षन्। हरी इन्द्रवाहा वृषणवसू।"

आंगिरसके तीन पुत्र रथनिर्माणके कौशलसे देवताओंको तुष्ट कर देवत्वको प्राप्त हो गये थे।

पुनः महाभारतके अनुशासनपर्वमें लिखा है—

"नहुषो हि महाराज! राजर्षिः सुमहातपाः।

देवराज्यमनुप्राप्तः सुकृतेनेह कर्मणा ॥
अथेन्द्रोऽहमिति ज्ञात्वा अहंकारं समाविशत् ।
स ऋषीन् वाहयामास वरदानमदान्वितः ॥
अगस्त्यस्य तदा क्रुद्धो वामेनाभ्यहनच्छिरः ।
तस्मिन् शिरस्यभिहते स जटान्तर्गतो भृगुः ॥
शशाप बलवत् क्रुद्धो नहुषं पापचेतसम् ।
यस्मात् पदाहतः क्रोधाच्छिरसीमं महामुनिम् ॥
तस्मादाशु महीं गच्छ सर्पो भूत्वा सुदुर्मते ।
इत्युक्तः स तदा तेन सर्पो भूत्वा पपात ह ॥ ”

राजर्षि नहुषने पुण्यकर्मके फलसे इन्द्रत्व प्राप्त किया था। इन्द्रत्व पाने पर उनको अत्यन्त अहंकार हो गया था और उन्होंने ऋषियोंसे अपना शिविका (पालकी) वाहन प्रारम्भ कर दिया था। एक बार अगस्त्य ऋषि शिविकावहन कर रहे थे, नहुषने उनके सिरपर लात मार दिया। इसपर भृगु ऋषिने नहुषको अभिसम्पात (शाप) किया कि सर्प हो जाओ और नहुष सर्प होकर स्वर्गसे गिर पड़ा।

नैमित्तिक देवता वे कहाते हैं, जिनका पद किसी निमित्तसे सृष्ट किया जाता है। और उस निमित्तके नष्ट होनेपर वह पद भी उठ जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणके लिये कुछ प्रमाणोंका विचार किया जाता है। प्रथम उदाहरण यह है कि ग्रामदेवता, गृहदेवता, वनदेवता आदिका पद। ग्रामके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक ग्राम नष्ट न हो जाय जबतक ग्रामदेवताका पद बना रहता है। एक वनस्थलीके स्थापन होनेके समयसे लेकर जबतक उस स्थानमें वनका अधिकार पूर्णरूपसे बना रहता है तबतक वनदेवताका पद बना रहता है और उसके बाद वह पद नष्ट हो जाता है। गृहदेवताको भी ऐसा ही समझना उचित है। एक गृहके प्रस्तुत होने पर यदि गृहपति उस गृहमें शास्त्रविधिके अनुसार गृहदेवताकी स्थापना करें तो उस गृहदेवताके पीठकी स्थापनाके समयसे लेकर जबतक वह गृह बना रहता है और जबतक गृहस्थकी श्रद्धा पीठपर बनी रहती है तबतक उस गृहदेवताका पद बना रहता है और तदनन्तर वह पद नष्ट हो जाता है। नैमित्तिक देवताओंके उदाहरणमें और भी प्रमाण दिये जाते हैं। उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज—इन चार प्रकारके भूतोंकी जो अलग अलग श्रेणियाँ है, यथा—

जरायुजमें गो महिष, अश्व, सिंह, वानरादि, अण्डजमें कपोत, मयूर, सर्प आदि, स्वेदजमें जीवरक्षाके विशेष विशेष कृमि तथा रोगोत्पादक विशेष विशेष कृमि और उद्भिज्जमें अश्वत्थवट, विल्व आदि। इस प्रकारसे चार प्रकारके जीवोंमें जिस ब्रह्माण्डमें जिस प्रकारकी श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं अथवा जिस देशमें जिस प्रकारकी श्रेणियाँ उत्पन्न होती हैं, उनकी रक्षाके लिये एक एक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र देवताका पद दिया जाता है। और, जब तक वे श्रेणियाँ बनी रहती हैं तबतक वह देवताका पद भी बना रहता है। उसके अन्यथा होनेपर वह पद उठा दिया जाता है। नैमित्तिक देवताके सम्बन्धमें और भी उदाहरण दिया जाता है। स्थावर पदार्थ—पर्व्वत, नदी आदि—तथा नाना प्रकारके धातु और उपधातु आदि खनिज पदार्थोंके चालक और रक्षक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र देवता होते हैं। वे पद भी नैमित्तिक हैं। जिस ब्रह्माण्डमें अथवा जिस देश-विशेषमें जबतक ये स्थावर पदार्थ अपनी पूर्ण सत्तामें विद्यमान रहते हैं तब-तक वे नैमित्तिक देवताओंके पद भी विद्यमान रहते हैं और उसके अन्यथा होने पर वह पद उठा दिये जाते हैं। यही सब नैमित्तिक देवताओंके उदा-हरण हैं।

नैमित्तिक देवताओंके विषयमें शास्त्रमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। मत्स्यपुराणमें गृहदेवताओं अर्थात् वास्तुदेवताओंका नामोल्लेख तथा पूजाका वर्णन किया गया है। यथाः

" सर्ववास्तुविभागेषु विज्ञेया नवका नव।
एकाशीतिपदं कृत्वा वास्तुवित् सर्ववास्तुषु ॥
पदस्थान् पूजयेद्देवाँस्त्रिंशत्पञ्चदशैव तु।
द्वात्रिंशद् बाह्यतः पूज्याः पूज्याश्चान्तस्त्रयोदश ॥
नामतस्तान् प्रवक्ष्यामि स्थानानि च निबोधत।
ईशानकोणादिषु तान् पूजयेद्धविषा नरः ॥
शिखी चैवाथ पर्जन्यो जयन्तः कुलिशायुधः।
सूर्यसत्यौ भृशश्चैव आकाशो वायुरेव च ॥
पूषा च वितथश्चैव गृहक्षतयमावुभौ।
गन्धर्वो भृङ्गराजश्च मृगः पितृगणस्तथा ॥ "

इत्यादि। इत्यादि। समस्त वास्तुविभागमें दोनों ओर नौ नौके हिसाबसे एकाशीति (८१) वास्तु पद जानना चाहिये। इन पदोंमें स्थित बत्तीस और पन्द्रह तथा बहिर्दिशामें बत्तीस और बीचमें तेरह--इस प्रकारसे समस्त वास्तु देवताओंकी पूजा करनी चाहिये। शिखी, पर्जन्य, जयन्त, कुलिशायुध, सूर्य, सत्य, भृश, आकाश, वायु पूषा, वितथ, गृहक्षत, मय, गन्धर्व, भृङ्गराज, मृग, पितृगण इत्यादि वास्तु देवतागण हैं, जिनकी पूजा ईशान कोणमें होती है। महाभारतके अनुशासनपर्वमें मतङ्ग मुनिका इस प्रकार इतिहास मिलता है कि मतङ्गमुनिके अनेक वर्षों तक कठिन तपस्या करनेपर भी वे ब्राह्मण जन्म नहीं प्राप्त कर सके और पश्चात् इन्द्रके वरसे छन्द नामक नैमित्तिक देवता बन गये। यथाः—

"छन्दो देव इति ख्यातः स्त्रीणां पूज्यो भविष्यसि।
कीर्त्तिश्च तेऽतुला वत्स! त्रिषु लोकेषु यास्यति॥
एवं तस्मै वरं दत्वा वासवोऽन्तरधीयत।
प्राणांस्त्यक्त्वा मतङ्गोऽपि सम्प्राप्तः स्थानमुत्तमम्॥"

इन्द्रदेवने मतङ्गको वर दिया 'तुम छन्द नामक देवता बनोगे और स्त्रियाँ तुम्हारी पूजा करेंगी। त्रिलोकमें तुम्हारी अत्यन्त कीर्ति होगी।" इतना कह कर इन्द्रदेव अन्तर्धान हो गये और शरीरत्यागानन्तर मतङ्ग छन्द देवता नामक उत्तम नैमित्तिक देवताका स्थान प्राप्त हो गये।

दैव राज्य और देवताओंके स्वरूपके विषयमें अधिदैवराज्यके पूर्ण ज्ञानसे हीन बौद्ध आदि शास्त्रोंमें अनेक भ्रम और प्रमादमूलक सिद्धान्त प्रचलित हैं। उनके विषयमें यहाँ कुछ कह देना उचित समझा जाता है। ऐसे शास्त्र कहीं कहीं कहते हैं कि सप्त ऊर्द्ध्व लोकके साथ खनिजादि स्थावर पदार्थों तकका सम्बन्ध है; क्योंकि, देवता उनके चालक हैं। वे कहीं कहीं कहते हैं कि मनुष्यसे देवत्वकी प्राप्ति नहीं होती। वे कहीं कहीं कहते हैं कि नीचेसे जीवप्रवाह जो ऊपरकी ओर उन्नतिशील होकर चलता है वह प्रवाह दो भागोंमें विभक्त हो जाता है। उसमेंसे एक प्रवाह मनुष्ययोनिमें पहुँच जाता है और दूसरा प्रवाह अमानुषिक शक्तिसे सम्पन्न पक्षी आदि जीवोंमें हो कर दैव राज्यकी ओर चला जाता है अर्थात् मनुष्यसे अतिरिक्त शक्ति रखने वाले जीव ही पीछे देवता होते हैं। इसी श्रेणीमें खनिजादिकी भी श्रेणी उन्होंने

मानी है। उनके सिद्धान्तके अनुसार खनिजादि पदार्थ भी जीव हैं। ये सब सिद्धान्त भ्रममूलक और जिज्ञासुको प्रमादमें डुबाने वाले हैं। चतुर्दश भुवनका रहस्य समझनेसे पहली शङ्काका समाधान हो सकता है। चतुर्दश लोकोंके रहस्यका वर्णन किसी अन्य अध्यायमें करनेका विचार है; परन्तु यहाँ प्रसङ्गोपात्त कहा जाता है कि विराट्पुरुषके शरीरमें चतुर्दश भुवनकी कल्पना की है अर्थात् विराट्पुरुषकी नाभिके ऊर्द्ध्वमें ऊर्द्ध्व सात लोक और अधमें अध सात लोक कहे गये हैं। यथा श्रीमद्भागवत २ य स्कन्ध, ५ अ० में—

"यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः ।
कट्यादिभिरधःसप्त सप्तोर्द्ध्वं जघनादिभिः ॥"

विराट्पुरुषके कटि देशसे ऊपर सप्त ऊर्द्ध्वलोक और नीचे सप्त अधोलोककी कल्पना की गई है।

विराट्पुरुषके उदाहरणसे ही ब्रह्माण्ड और पिण्डकी कल्पना समझी जायगी। इस कारण यह सिद्ध हुआ कि विराट्पुरुषमें चतुर्दश भुवन हैं और विराट्पुरुषका वर्णन एक ब्रह्माण्डके सम्बन्धसे ही दिखाया गया है। इसका विस्तारित वर्णन आत्मतत्त्व नामक प्रबन्धमें पहले ही दिया गया है।

ऊपर लिखित विराट्रूप ब्रह्माण्डसम्बन्धसे युक्त है और जीवदेहरूपी पिण्ड एक ब्रह्माण्ड की प्रतिकृति है। यथा लययोगमें—

"ब्रह्माण्डपिण्डे सदृशे ब्रह्मप्रकृतिसम्भवात् ।
समष्टिव्यष्टिसम्बन्धादेकसम्बन्धगुम्फिते ॥"

ब्रह्म और प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण समष्टिव्यष्टिरूपसे ब्रह्माण्ड-पिण्ड एक ही प्रकारके हैं। इसका विस्तारित विवरण 'लययोग' नामक प्रबन्धमें पहले ही दिया जा चुका है।

सुतरां, चतुर्दश भुवन पिण्डरूपी जीवदेहमें भी उसी रीतिसे विद्यमान है, अर्थात् मनुष्य देवता आदि पूर्णावयव जीवोंकी कटिसे ऊपर सप्त ऊर्द्ध्वलोक का सम्बन्ध और कटिसे नीचे सप्त अधोलोक का सम्बन्ध विद्यमान है। अब यह शङ्का हो सकती है कि क्या उद्भिज्जादि जीवपिण्डोंमें भी चतुर्दश भुवन विद्यमान हैं? इस शङ्काका समाधान जीवतत्त्व नामक अध्यायमें विशेषरूपसे किया गया है। तोभी यहां प्रसङ्गोपात्त कहा जाता है कि उद्भिज्जमें केवल एक कोष का विकाश, स्वेदजमें दो कोषों का विकाश, अण्डजमें तीन

कोषों का विकाश, मनुष्येतर जरायुजमें चार कोषोंका विकाश और पूर्णावयव मनुष्य तथा देवताओंमें ही पांच कोषोंका विकाश होनेके कारण मनुष्य तथा देवताओंके पिण्डके साथ ही केवल चतुर्द्दश भुवनका सम्बन्ध है तथा अन्य नीचेके चार जीवोंके पिण्डोंके साथ चतुर्द्दश भुवन का सम्बन्ध नहीं हो सकता क्योंकि वे पिण्ड पूर्णावयव नही हैं। इसी कारण केवल मनुष्य और देवता आदियों-की गति चतुर्द्दश भुवनोंमें हुआ करती है। अन्य चार प्रकारके भूतग्राम (जीव) मृत्युके अनन्तर आगेकी योनिमें सीधे पहुंच जाते हैं। उनकी गति आतिवाहिक देह द्वारा लोकान्तरमें नहीं होती है। सुतरां, जब अन्य छोटे चार भूतग्रामोंका सम्बन्ध चतुर्द्दश भुवनके साथ नहीं रह सकता तो, खनिजादि जड़ पदार्थोंका सम्बन्ध चतुर्द्दश भुवनसे हो ही नहीं सकता। खनिजादि पदार्थमें जीवपिण्ड विद्यमान नहीं है—यह जीवतत्त्व नामक अध्यायमें दिखाया गया है। अतः जीवभावरहित धातु आदि खनिज पदार्थोंके साथ देवताओंका सम्बन्ध रहने पर भी और देवताओंके द्वारा उनके उत्पत्तिस्थिति और लयशील होने पर भी भोगमय चतुर्दश भुवनके साथ उनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह सकता। देवता पूर्णावयवसे युक्त हैं। यद्यपि देवयोनि दायित्वपूर्ण तथा भोगप्रधान है, परन्तु उनका पिण्ड पूर्णावयवसे युक्त है—इसमें सन्देह नहीं। यह तो स्वतः सिद्ध है कि पूर्णावयव पिण्डके होनेके विना न भोगकी पूर्णता हो सकती है और न उनको दायित्व (जिम्मेवरी) दिया जा सकता है और पूर्णावयवसे युक्त पिण्डका होना मनुष्ययोनिमें आकर ही सम्भव है। इस कारण मनुष्यसे नीचेकी योनियोंसे देवताओंका होना विज्ञानसिद्ध है तथा पूर्णावयव मनुष्य योनि प्राप्त करके उसके अनन्तर देवयोनि प्राप्त करना विज्ञानसिद्ध है। अधि-दैवशक्ति और अधिदैव रहस्य यथारीति न समझनेसे ही बौद्धादि शास्त्रोंमें ऐसे मोटे भ्रम हुए हैं।

सृष्टिके साथ विशेषतः मनुष्यसृष्टिके साथ दैवजगत्‌का एक बड़ा रहस्यपूर्ण सम्बन्ध यह है कि मनुष्य किस प्रकारसे दैवी सहायता अपनी उत्पत्ति, स्थिति और मृत्युके समय पर प्राप्त किया करता है। वास्तवमें मनुष्य-की ये तीनों अवस्थाएँ सर्वथा दैवी सहायताके ही अधीन हैं। मनुष्य जब स्वर्ग लोकसे, नरकलोकसे अथवा प्रेतलोकसे और पितृलोकसे मनुष्यशरीर प्राप्त करनेके अर्थ मातृगर्भमें प्रवेश करता है, तो उस समय उसको देवताओंकी प्रत्यक्ष सहायता प्राप्त करनी पड़ती हैं। प्राण और पीठतत्त्व नामक अध्यायोंमें

पीठका रहस्य वर्णन करते समय यह भली भाँति दिखाया है कि स्त्रीपुरुषके सम्बन्धके समय स्त्रीशरीरमें अपने आपसे पीठोत्पत्ति हो जाती है और उस समय नारीका शरीर दैवीशक्तिकी सहायतासे युक्त अन्य सूक्ष्मशरीरके आकर्षण करनेके उपयोगी बन जाता है । अतः उसी समय नारीके गर्भमें देवताओंकी सहायतासे स्वर्गलोकमें गये हुए आत्मा, नरकलोकमें गये हुए आत्मा, प्रेतलोकमें गये हुए आत्मा अथवा पितृलोकमें गये हुए आत्मा पहुँच सकते हैं। अवश्य ही इन चारों प्रकारके आत्माओंके पहुँचानेके लिये देवता अलग अलग होते हैं। इसका कारण यह है कि इन चारों प्रकारके आत्माओंके अधिकारमें अनेक अन्तर है और जिस श्रेणीका आत्मा होगा उसी श्रेणीके देवताओंकी सहायता उसको प्राप्त हुआ करेगी । अस्तु, मनुष्यका मातृगर्भमें जन्म होते समय देवतागण ही उस अशक्त तथा लोकान्तरसे समागत जीवको उक्त स्थानोंसे मातृगर्भमें पूर्वकथित पीठोत्पत्तिके समय पहुँचा दिया करते हैं। अन्तर्दृष्टिसे सम्पन्न योगिगणकी यह भी सम्मति है कि ऐसे समय पीठकी पवित्रता और अपवित्रताके अनुसार कई उन्नत और अवनत देवताओं तथा आत्माओंका ऐसे पीठमें आकृष्ट होना सम्भव है; परन्तु मातृगर्भमें वही आत्मा प्रवेश कर सकता है कि जिसके उपयोगी स्थूलशरीरका उपादान (सामान) मातृगर्भमें पिता-माताके वीर्य्य और रजकी सहायतासे पितरोंने पहलेसे तैयार कर रक्खा हो । सुतरां, गर्भमें प्रवेश करने देना न देना—पितृगणका अधिकार है। यहांपर अवश्य यह स्पष्ट कर देना उचित है कि मनुष्यकी जन्मप्राप्तिके दो स्वतन्त्र अधिकार हैं। एक तो उसके आधिभौतिक देह अर्थात् उसकी स्थूलशरीर-प्राप्तिका अधिकार और दूसरा उसके आधिदैविक देह अर्थात् सूक्ष्मशरीर प्राप्तिका अधिकार । स्थूलशरीर प्राप्तिका अधिकार पितरोंके अधीन और सूक्ष्मशरीरके आनेका अधिकार देवताओंके अधीन रक्खा गया है। वेद और पुराणादि शास्त्रोंमें इन दोनों शरीरोंकी प्राप्तिका वर्णन बहुधा एक साथ रहनेसे इन दोनों अधिकारोंका रहस्य ठीक ठीक समझमें नहीं आता है । इसी कारण कहीं कहीं टीकाकारोंने जन्मान्तररहस्य समझानेमें अनेक भ्रम कर डाले हैं। वेद और शास्त्रोंमें वर्णन ऐसे हैं । यथा छान्दोग्योपनिषद्में:—

"तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते यथैतमाकाशमाकाशाद् वायुं वायुर्भूत्वा धूमो भवति धूमो भूत्वाऽ

भवति । अभ्रं भूत्वा मेघो भवति मेघो भूत्वा प्रवर्षति त इह व्रीहि यवा ओषधिवनस्पतयस्तिलमाषा इति जायन्तेऽतो वै खलु दुर्निष्प्रपतरं यो यो ह्यन्नमत्ति यो रेतः सिञ्चति तद्भूय एव भवति ॥"

चन्द्रलोकमें पुण्यकर्मका भोग जब तक समाप्त न हो तबतक जीवकी स्थिति वहां रहती है। तदनन्तर जिस पथसे चन्द्रलोकमें गति हुई थी उसी पथसे जीव लौट आता है। उसका शरीर आकाशसे वायु, वायुसे धूम, धूमसे मेघ, मेघसे वृष्टि, वृष्टिसे व्रीहि यवादि ओषधि, ओषधिसे अन्न, अन्नसे वीर्य, इसप्रकारसे परिणाम प्राप्त होकर मातृगर्भमें आता है और वह जीव पिताकी उसी रेतःकणाको आश्रय करके मातृगर्भमें प्रवेश करता है।

ऊपर लिखित वर्णनमें जो पर्जन्यादिमें होकर रजो वीर्यमें होकर जीवकी गति कही गई है सो पितरोंके अधीन आधिभौतिक शरीरकी गति समझना चाहिये। बाकी जो कर्म्मजनित गति है, सो सूक्ष्मशरीरकी दैवाधीन गति समझना उचित है। नित्य पितृगणभी एक प्रकारके देवता हैं, उनका वास-स्थान पितृलोक है। उनका कार्य्य आधिभौतिक जगत्का संरक्षण, आधिभौतिक जगत्के परमाणुओंका नियोजन और आधिभौतिक जगत्की क्रियाओंका यथावत् परिचालन करना है। संसारमें ऋतुओंके ठीक ठीक होनेसे ही आधिभौतिक शरीरसम्बन्धीय परमाणु तथा शक्तियोंका सुप्रबन्ध रहता है। अतः ऋतुओं तककी सम्हाल करनेमें पितरोंका अधिकार माना गया है। यथा वेदमें:—

"ओं सोमसदः पितरस्तृप्यन्ताम् अग्निष्वात्ताः पितरस्तृप्यन्ताम्, बर्हिषदः पितरस्तृप्यन्ताम् सोमपाः पितरस्तृप्यन्ताम्, हविर्भुजः पितरस्तृप्यन्ताम्, आज्यपाः पितरस्तृप्यन्ताम्" इत्यादि ।

"नमो वः पितरो रसाय, नमो वः पितरो शोषाय
नमो वः पितरो ऋतवे, नमो वः पितरो जीवाय
नमो वः पितरः स्वधायै, नमो वः पितरो घोराय ।"

सोमसद नामक नित्य पितृगण तृप्त होवें, अग्निष्वात्ता नामक पितृगण तृप्त होवें, बर्हिषद् नामक पितृगण तृप्त होवें, सोमपा नामक पितृगण तृप्त होवें, हविर्भुक् नामक पितृगण तृप्त होवें, आज्यपा नामक पितृगण तृप्त होवें, इत्यादि ।

वर्षाधिपति पितरोंको नमस्कार, ग्रीष्माधिपति पितरोंको नमस्कार, ऋतुके अधिपति पितरोंको नमस्कार, इत्यादि ।

ऋतुओंमें विपर्य्यय न होने देना अथवा मनुष्योंके कर्म्मोंके उपयोगी ऋतुओंके स्वरूपमें विपर्य्यय करना, संसारमें स्वास्थ्यविधान करना, संसारके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय उत्पन्न करना, मनुष्यका स्थूल शरीर मातृगर्भमें उत्पन्न करना, मनुष्यके स्थूल शरीरका स्वास्थ्यविधान करना, मनुष्यके शरीरके स्वास्थ्यमें विपर्य्यय करना इत्यादि सब कार्य्य पितृगणकी कृपासे हुआ करते हैं । सुतरां, पितृगण ही जीवके कर्म्मभोगके उपयोगी उसके उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट अधिकारके अनुसार स्थूल शरीर बनानेमें जैसी आवश्यकता हो उत्कृष्ट अथवा निकृष्ट तत्वोंको पूर्व कथित रीतिसे चन्द्रलोक अर्थात् पितृलोकसे पर्जन्यादिके द्वारा सुसज्जित करते हुए यथाक्रम मातृपितृशरीरमें होकर रज-वीर्य्यमें परिणत करते हुए मातृगर्भमें पहुंचा देते हैं । यही पितृगणके द्वारा मनुष्यके स्थूल शरीरकी गतिका वैज्ञानिक रहस्य है । दूसरी ओर जिस प्रकार पितृगण प्रत्येक जीवके कर्म्मानुसार तथा उस जीवके मातापिताके कर्म्मानुसार जैसी सन्ततिके उपयोगी स्थूल शरीरका मसाला मातृगर्भमें इकट्ठा करते हैं वैसे ही यथायोग्य आत्मा अपने सूक्ष्मशरीरके सहित अन्य सूक्ष्म लोकोंसे देवताओं-की सहायताके द्वारा मातृगर्भमें यथासमय पहुंचाया जाता है । यही जीवके सूक्ष्म शरीरका जन्मान्तर होनेके सम्बन्धका वैज्ञानिक रहस्य है । इन दोनों कार्य्योंमेंसे एक कार्य्य पितरोंका है दूसरा देवताओंका है । प्रथम कार्य्य अर्थात् स्थूलशरीर बननेके कार्य्यके मनुष्यके लिये अधिक उपयोगी होनेके कारण वेद और पुराणादि शास्त्रोंमें इसीका वर्णन अधिक पाया जाता है और इन दोनों अवस्थाओंके भेदको साधारण पण्डितगणके न समझनेके कारण टीका आदि द्वारा उनको प्रकाशित करनेमें वे प्रायः भ्रममें पतित हुए हैं । वस्तु-तस्तु यदि साधारण बुद्धिसे विचार किया जाय कि एक अति पुण्यवान् आत्मा यदि अपने उग्र पुण्यके फलसे स्वर्गलोक, महर्लोक, जनलोक आदि उच्च लोकोंमें पहुँचकर वहां पुण्य फलके भोगके अनन्तर पुनः पृथिवीलोकमें आकर जन्म ग्रहण करेगा उस समय यदि वह उन्नत आत्मा मेघ बने, जलमें परिणत हो, पुनः पृथिवीमें रस हो, पुनः नाना जड़ताको प्राप्त होकर अन्नमें पिसता हुआ माता पिताके उदरमें जाय, पुनः भुक्त अन्न मलादिमें परिणत हो, फिर सप्त धातुओंमें परिणत होता हुआ वीर्य्य आदिमें परिणत हो, पुनः रजवीर्य्य

कीटादिमें परिणत हो जैसा कि आजकलकी पदार्थविद्या (सायन्स) ने सिद्ध करके दिखाया है तो, यह सब घोर दुःखमूलक परिणाम उन्नत आत्माके लिये घोर नरकयन्त्रणासे भी भयङ्कर कष्टदायक है, इसमें सन्देह नहीं। सुतरां साधारण बुद्धिमें भी यह वर्णन युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। वस्तुतस्तु स्थूल शरीरके सम्बन्धीय पितरोंका अधिकार और सूक्ष्म शरीरके सम्बन्धीय देवताओंका अधिकार, इन दोनोंकी पृथक्ता और इन दोनोंका वैज्ञानिक रहस्य ठीक ठीक न समझने पर ही टीकाकारगण इस प्रकारके भ्रममें पतित हुए हैं। अब यह विचार करने योग्य है कि मनुष्योंकी जीवितावस्था और मनुष्योंकी मृत्युके समय पितर और देवताओंका कितना कितना अधिकार रक्खा गया है। मनुष्योंकी जीवितावस्थामें मनुष्योंमें जो कुछ ज्ञानोन्नति और ज्ञानकी अवनति होगी सो ऋषियोंकी कृपा और अकृपाका फल है। नित्य ऋषिगण भी एक प्रकारके देवता हैं। वर्णगुरु ब्राह्मणोंमें आध्यात्मिक उन्नतिका क्रम-विकाश, द्विजोंमें यज्ञोपवीत संस्कारके अनन्तर प्रत्येक संस्कार द्वारा ज्ञानो-न्नतिका उन्नततर अधिकारकी प्राप्ति और आश्रमगुरु संन्यासियोंमें आत्मज्ञानका क्रमविकाश यह सब ऋषियोंकी कृपाका ही फल है। अपनी अपनी जातिमें सुविधा-असुविधाकी प्राप्ति, आयुकी प्राप्ति, सत्-असत् भोगकी प्राप्ति और भोगके सम्बन्धसे यावत् ऐश्वर्य्योंकी प्राप्ति आदि सब विषय देवताओंके द्वारा मनुष्यको प्राप्त होते हैं। शरीरका स्वास्थ्य, शरीरका अस्वास्थ्य, शरीर-का रोगग्रस्त होना और शरीरका नैरोग्य होना, सन्ततिकी प्राप्ति आदि सब विषय पितरोंके सम्बन्धसे मनुष्यकी जीवित अवस्थामें उसे प्राप्त होते हैं। मृत्युके समय सत्यलोकगामी ज्ञानी पुरुषको उन्नत ऋषियोंकी सहायता प्राप्त होती है। पुण्यात्मा नरनारियोंकी स्वर्गादि उन्नत लोकोंमें गति देवताओंकी सहायतासे होती है। मध्यम अधिकारीको पितृलोकमें जाते समय नित्य पितरोंकी सहायता प्राप्त होती है। यहां तक कि पापी जीवोंको नरकमें जाते समय निम्नश्रेणी के देवतागण ही जीवको वहां पहुचाया करते हैं। शास्त्रोक्त यमदूतगण भी एक श्रेणीके देवता हैं और प्रेतलोकके प्रबन्धकर्त्ता वेताला-दिक भी निम्नश्रेणीके देवता ही हैं।

अन्नमय कोषके संकोच और विकाश एवं दृश्य और अदृश्यरूपमें परि-णत करनेकी शक्ति, प्राणमय कोषको स्थूल और सूक्ष्म जगत्में व्यापक करने की शक्ति, मनोमय कोष द्वारा स्थूल और सूक्ष्म जगत् पर आधिपत्य करनेकी

शक्ति, विज्ञानमय कोषकी उन्नतिकी प्राप्ति करते हुए उसको समष्टि और व्यष्टि रूपमें कार्य्यकारी करनेकी शक्ति और आनन्दमय कोषके उन्नत अधिकार दूसरोंको प्राप्त करा देनेकी शक्ति—ये सब देवताओंसे सम्बन्ध रखनेवाले अधिकार हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेशरूपी त्रिमूर्त्तिमें ये सब अधिकार तथा अष्ट सिद्धियोंके पूर्ण अधिकार स्वतः ही विद्यमान रहते हैं। ऋषियोंमें प्रायः आनन्दमय कोष और विज्ञानमय कोषके अधिकारोंकी पूर्णता होती है और शेष तीन अधिकारोंकी गौणता रहती है। सत्यलोकमें स्थित ऋषियोंमें पांचों अधिकारोंकी पूर्णता रहती है। अन्य उन्नत देवताओंमें प्रथम तीन अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोषके अधिकारोंकी पूर्णता और शेष दो अधिकारोंकी गौणता रहती है। मध्यम श्रेणीके देवताओंमें प्रथम तीन श्रेणीके अधिकार ही प्रकट रहते हैं अर्थात् उनमें केवल पूर्व्व कथित अन्नमय प्राणमय, और मनोमय कोषके अधिकार ही प्रकट रहते हैं। अधमश्रेणीके देवताओंमें अन्नमय कोष और प्राणमय कोषके अधिकारोंकी तीव्रता रहती है। वेतालादिक क्षुद्र देवता और अनेक नैमित्तिक देवता इसी श्रेणीके समझे जा सकते हैं। स्वर्ग नरक, और पितृलोकमें पहुंचे हुए जीव भी दैवीशक्तिसम्पन्न होजाते हैं; क्योंकि, उनमें भी ये शक्तियां कुछ कुछ रहती हैं इन सूक्ष्म लोकोंमें पहुंचे हुए जीव प्राणमय कोष और मनोमय कोषके संकोच-विकाश करनेमें समर्थ होते हैं। केवल अन्नमय कोष पर उनका पूर्ण आधिपत्य नहीं रहता। यही दैवीशक्तिकी प्राप्तिका कारण है कि परलोकगामी आत्माएँ श्राद्धादि कर्म्मोंसे तृप्ति लाभ करते हैं और अपने आत्मीय स्वजनोंकी कल्याणवासना करनेमें भी तत्पर रहते हैं। प्रेतलोकप्राप्त जीव भी दैवीशक्तिसम्पन्न होते हैं; परन्तु उनकी दशा कुछ विचित्र है। इस कारण शास्त्रोंमें कहा है:—

"भूतोऽमी देवयोनयः।"

भूत भी देवयोनिके अन्तर्गत हैं। प्रेतयोनिका विस्तारित विवरण एक स्वतन्त्र अध्यायमें श्राद्धादिक विषयोंके रहस्यके साथ कहा जायगा। यहाँ केवल इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि प्रेतोंको भूलोकके साथ ही संश्लिष्ट रहते हुए भी उनको अपने अन्नमय, प्राणमय और मनोमय - इन तीनों कोषोंके कुछ कुछ संकोच—विकाश करनेकी शक्ति प्राप्त रहती है। इसी कारण प्रेतगण व्यक्तिविशेषके सन्मुख अपना स्थूल रूप धारण कर सकते हैं। इसी कारण वे अलक्षित रहकर भी प्राणमय कोषकी सहायतासे अनेक स्थूल पदार्थोंको गिराने और उठानेके कार्य्य कर सकते हैं और इसी कारण प्रेतगण

दुर्बलचित्त नरनारियों पर आविष्ट हो सकते हैं। यह तीनों उदाहरण प्रेतके तीनों कोषके संकोच-विकाशकी शक्तिके समझने योग्य हैं। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि केवल मनुष्योंके निकट कुछ दैवी शक्तियोंके विचारसे प्रेत देवयोनिमें परिगणित होते हैं; नहीं तो वास्तवमें वे देवताओंके लिये अस्पृश्य हैं और न प्रेतोंकी गति देवलोकके किसी अंशमें भी हो सकती है। हाँ, उनके चालक और शासक निम्न श्रेणीके देवता हुआ करते हैं।

ऋषि, देवता और पितर—ये तीनों श्रेणियाँ श्रीभगवान्के कार्य्यकर्त्ता प्रतिनिधि देवता ही हैं। यद्यपि ऋषियोंमें उन्नत कोषोंके अधिकार प्रधान रूपसे रहते हैं-जैसा कि ऊपर कहा गया है; उसी प्रकार देवताओंमें और नित्य पितरों-में भी प्रथम तीन कोषोंके अधिकार प्रधानरूपसे विद्यमान रहते हैं। भेद इतना ही है कि ऋषियोंमें अध्यात्मशक्तिकी प्रधानता, देवताओंमें अधिदैवशक्तिकी प्रधानता और पितरोंमें अधिभूतशक्तिकी प्रधानता रहती है। इसी प्रकारसे इन-में ऐशी सिद्धियोंका भी तारतम्य रहता है। सिद्धियाँ दो श्रेणीमें विभक्त होती हैं, एक अणिमादि अष्टसिद्धि और दूसरी आधिभौतिकी, आधिदैविकी, आध्या-त्मिकी और सहज—ये चार प्रकारकी सिद्धियाँ जिनका विवरण हठयोग नामक प्रबन्धमें पहले ही किया गया है। नित्य पितरोंके एकत्रिंशत् गण और चार वर्ण-के विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा मार्कण्डेय पुराण ६६ अ० में—

विश्वो विश्वभुगाराध्यो धर्मो धन्यः शुभाननः ।
भूतिदो भूतिकृत् भूतिः पितृणां ये गणा नव ॥
कल्याणः कल्याणकर्त्ता कल्यः कल्यतराश्रयः ।
कल्यताहेतुरनघः षडिमे ते गणाः स्मृताः ॥
वरो वरेण्यो वरदः पुष्टिदस्तुष्टिदस्तथा ।
विश्वपाता तथा धाता सप्तैवैते तथा गणाः ॥
महान् महात्मा महितो महिमावान् महाबलः ।
गणाः पञ्च तथैवैते पितृणां पापनाशनाः ॥
सुखदो धनदश्चान्यो धर्मदोऽन्यश्च भूतिदः ।
पितृणां कथ्यते चैतत् तथा गणचतुष्टयम् ॥
एकत्रिंशत् पितृगणा यैर्व्याप्तमखिलं जगत् ।

ते मेऽनुतृप्तास्तुष्यन्तु यच्छन्तु च सदा हितम् ॥

विश्व, विश्वभुक्, आराध्य, धर्म, धन्य, शुभानन, भूतिद, भूतिकृत् और भूति नामक पितरोंके नवविधगण, कल्याण, कल्याणकर्त्ता, कल्य, कल्यतराश्रय, कल्यताहेतु और अवध नामक पितरोंके षड्विध गण, वर, वरेण्य, वरद, पुष्टिद, तुष्टिद, विश्वपाता और धाता नामक पितरोंके सप्तविध गण, महान्, महात्मा, महित, महिमावान् और महाबल नामक पितरोंके पञ्चविध गण और सुखद, धनद, धर्मद तथा भूतिद नामक पितरोंके चतुर्विध गण यही एकत्रिंशत् पितृगण, जो जंगत्में व्याप्त हैं, तृप्त होकर सबका कल्याण करें। पितरोंके चार वर्णोंके विषयमें महाभारतके आदिपर्वमें लिखा है:—

"सोमपा नाम विप्राणां क्षत्रियाणां हविर्भुजः।
वैश्यानामाज्यपा नाम शूद्राणान्तु सुकालिनः ॥

सोमपा नामक पितृगण ब्राह्मणजातीय हैं, हविर्भुक नामक पितृगण क्षत्रियजातीय हैं, आज्यप नामक पितृगण वैश्यजातीय हैं और सुकालीन नामक पितृगण शूद्रजातीय हैं।

पितरोंका कार्य्य जिस प्रकार आधिभौतिक सृष्टिकी रक्षा आदिके सम्बन्धसे माना गया है उसी प्रकार ज्ञानमयी सृष्टिके संरक्षणका पूर्ण भार ऋषियों पर रक्खा गया है। नित्य पितरों और नित्य देवताओंके सदृश नित्य ऋषियोंका पद भी प्रत्येक ब्रह्माण्डमें नियत ही रहता है। हां, इसमें सन्देह नहीं कि मन्वन्तर और कल्पादिके भेदसे जिस प्रकार अनेक पितर और अनेक देवताके पदधारी व्यक्तियोंका परिवर्तन होता है उसी प्रकार ऋषियोंके पद-धारी व्यक्तियोंका भी परिवर्तन यथानियम हुआ करता है। कार्य्यशैलीके विचारसे इतना अवश्य जानने योग्य है कि पितरोंके अवतार नहीं होते। जब पितरोंको अपना कोई विशेष कार्य्य सुसम्पन्न करना होता है तो, मातापिताके शरीरमें आविर्भूत होकर उन्हींको अपना अवतार बनाकर पितृगण अपना विशेष कार्य्य सुसम्पन्न करते हैं। परन्तु भगवदवतारकी नाईं देवताओं और ऋषियोंके सब प्रकारके अवतार हुआ करते हैं-जिसका विस्तारित वर्णन अवतारतत्त्व नामक अध्यायमें आवेगा। ऋषिके साधारण भेद और उनके साथ पुस्तकका सम्बन्ध ऋषि और पुस्तकनामक अध्यायमें विस्तारितरूपसे किया गया है। ऋषियोंके विभाग सात प्रकारके हैं। यथाः—महर्षि, परमर्षि, देवर्षि, ब्रह्मर्षि, श्रुतर्षि,

राजर्षि और काण्डर्षि। व्यासादि महर्षि हैं, भेलादि परमर्षि हैं, कण्वादि देवर्षि हैं, वशिष्ठादि ब्रह्मर्षि हैं, सुश्रुतादि श्रुतर्षि हैं, ऋतुपर्णादि राजर्षि हैं और जैमिनि आदि काण्डर्षि हैं। प्रत्येक मन्वन्तरमें पृथक् पृथक् सप्तर्षि होते हैं। यथाः—स्वायम्भुव मन्वन्तरमें मरीचि, अत्रि, अङ्गिरा, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ। स्वारोचिष मन्वन्तरमें—ऊर्ज, स्तम्भ, प्राण, दत्तोलि, ऋषभ, निश्चर और चार्व-वीर। उत्तम मन्वन्तरमें—प्रमदादि सप्त वशिष्ठके पुत्रगण। तामस मन्वन्तरमें—ज्योतिर्धामा, पृथु, काव्य, चैत्र, अग्नि, बलक और पीरव। रैवत मन्वन्तरमें—हिरण्यरोमा, वेदश्री, ऊर्द्ध्ववाहु, वेदवाहु, सुधामा, पर्जन्य और वशिष्ठ। चाक्षुष मन्वन्तरमें—सुमेधा, विरजा, हविष्मान्, उन्नत, मधु, अतिनामा और सहिष्णु। वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरमें—अत्रि, वशिष्ठ, विश्वामित्र, गौतम, जमदग्नि, भरद्वाज और कश्यप। सावर्णिक मन्वन्तरमें गालव, दीप्तिमान्, परशुराम, अश्वत्थामा, कृप, ऋष्यश्रृङ्ग और व्यास। दक्षसावर्णिक मन्वन्तरमें—मेधातिथि, वसु, सत्य, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, सबल और हव्यवाहन। ब्रह्मसावर्णिक मन्वन्तरमें—आप, भूति, हविष्मान्, सुकृती, सत्य, नाभाग और अप्रतिम। धर्मसावर्णिक मन्वन्तरमें—हविष्मान्, वरिष्ठ, ऋष्टि, आरुणि, निश्चर, अनघ और विष्टि। रुद्रसावर्णिक मन्वन्तरमें—द्युति, तपस्वी, सुतपा, तपोमूर्त्ति, तपोनिधि, तपोरति और तपोधृति। देवसावर्णिक मन्वन्तरमें—धृतिमान्, अव्यय, तत्त्वदर्शी, निरुत्सुक, निर्मोह, सुतपा और निष्प्रकम्प्य। इन्द्रसावर्णिक मन्वन्तरमें—अग्नीध्र, अग्निवाहु, शुचि, मुक्त, माधव, शुक्र और अजित। ये सब नित्य ऋषिगण हैं। ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, विन्दु और अक्षरमय ये पुस्तकके पाँच भेद सब ही ऋषियोंकी कृपासे सुरक्षित होते हैं। इस संसारमें ऋषियों-के कृपाप्राप्त लेखक भी पाँच ही श्रेणीके होते हैं। ऋषियोंसे साक्षात् सम्बन्ध युक्त ऋषियोंके अवताररूपी लेखक प्रथमश्रेणीमें परिगणित होते हैं। ऋषियोंके साथ परम्परासम्बन्धसे युक्त ऋतम्भरा नामक योगबुद्धिको प्राप्त लेखक दूसरी श्रेणीके समझे जाते हैं; इन दूसरी श्रेणीके लेखकोंके द्वारा भी आर्षज्ञानका मौलिक तत्त्व नूतन आकारमें प्रकट हो सकता है। इन प्रथम और द्वितीय दोनों श्रेणीके उन्नत ज्ञानी व्यक्तियोंमें मन्त्रद्रष्टा प्रकट हो सकते हैं। वेदोंके मन्त्रद्रष्टा इस संसारके नैमित्तिक ऋषिगण इन्हीं दोनों श्रेणीमेंसे समझे जा सकते हैं। यथा निरुक्तके दैवतकाण्डमें:—

"एवमुच्चावचैरभिप्रायैः ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति"

उन्नत तथा अवनत अधिकारमें ऋषियोंकी मन्त्रदृष्टि होती है। परन्तु यह नहीं समझा जा सकता कि इन दोनों श्रेणियोंकेव्यक्ति सभी नैमित्तिक ऋषि होंगे। तात्पर्य यह है कि जब कभी वेदके आविर्भावकी आवश्यकता होती है तब इन्हीं दोनों श्रेणियोंके ज्ञानी महात्माओंमेंसे नैमित्तिक ऋषि प्रकट होते हैं। इन दोनों श्रेणियोंके उन्नत ग्रन्थकर्ता जगत्‌में कभी कभी प्रकट होते हैं। तीसरी श्रेणीके ग्रन्थकर्ता वे कहाते हैं कि जो वेद तथा ऋषिप्रणीत शास्त्रोंके रहस्योंको पूर्णरीत्या अथवा अंशरूपसे ठीक ठीक समझकर उनका विस्तार टीका, टिप्पणी, भाष्य द्वारा अथवा अन्य मीमांसा ग्रन्थ द्वारा प्रकट करते हों। आचार्य्यगण प्रायः इसी श्रेणीके ग्रन्थप्रणेता साधारणः होते आये हैं। चतुर्थ श्रेणीके ग्रन्थकर्ता वे होते हैं कि जो आर्षग्रन्थोंसे संग्रह करके अपने समयके देशकालके उपयोगी ग्रन्थोंके प्रणयन द्वारा धर्मज्ञानका प्रचार जगत्‌में करते हों। ऐसे विद्वान् भी इसी श्रेणीमें समझे जा सकते हैं कि जो पूर्व्वाचार्य्योंका पथ अवलम्बन करके अपने समयके उपयोगी नाना प्रकारके ज्ञान-विज्ञानके रहस्य प्रतिपादक नवीन ग्रन्थ प्रणयन करते हों। इस श्रेणीके ग्रन्थकर्तागणमें प्रतिभाकी आवश्यकता अवश्य ही रहती है। और साधारण ग्रन्थकर्ता पञ्चम श्रेणीके समझे जाते हैं। कुछ ही हो इन सब प्रकारके ग्रन्थकर्ता जो कुछ कार्य्य कर सकते हैं या करते हैं वह सब कार्य्य नित्य ऋषियोंकी कृपाकी अपेक्षा रखता है—इसमें सन्देह नहीं। अध्यात्मशक्तिका प्रकाश ऋषित्वका लक्षण होनेसे सभी नित्य ऋषि ब्राह्मण होते हैं। इनमें देवता और पितरोंकी तरह चार वर्णकी व्यवस्था नहीं हो सकती है। केवल इनके नैमित्तिक अवतारमें चार वर्णोंकी व्यवस्था हो सकती है। इसी कारण वेदके मन्त्रद्रष्टा अनेक क्षत्रिय ऋषि भी संसारमें प्रकट हुए हैं। उनके ये सब ब्राह्मणेतर वर्णोंमें अवतार आवेशावतार समझने चाहिए। नित्य ऋषियोंकी अध्यात्मशक्तिका उनमें आवेश होनेसे ही उनके द्वारा मन्त्रदर्शन आदि कार्य सामयिक रूपसे हुआ करते थे। अन्यथा, अंश अथवा पूर्णरूपमें ऋषिशक्तिका अवतार भी ब्राह्मणशरीरके द्वारा होना ही स्वाभाविक होगा; क्योंकि, ब्राह्मणशरीर ही पूर्ण अथवा अंशरूपसे अध्यात्मशक्ति धारण तथा प्रकट करने का केन्द्र हो सकता है।

यही आर्यशास्त्रमें वर्णित ऋषि, देवता तथा पितरोंका अति गूढ़ तत्त्व है।

पञ्चम समुल्लासका पञ्चम अध्याय समाप्त हुआ।

अवतारतत्त्व ।

सर्वव्यापक, निराकार परमात्माका किसी स्थूल लौकिक रूप धारण करके संसारमें प्रकट होना एक अपूर्व वस्तु है; इस लिये अवतारके विषयमें अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा अनेक प्रकारकी शंकाएँ हुआ करती हैं। इच्छारहित भगवान्‌के अन्तःकरणमें संसारमें प्रकट होकर संसारीकी तरह लीला करनेकी इच्छा कैसे हो सकती है? मायानिर्मुक्त निराकार परमात्मा मायामय स्थूल शरीर कैसे ग्रहण कर सकते हैं? देशकालवस्तुके द्वारा सीमारहित जो परमात्मा पहले ही सर्वत्र विद्यमान हैं, वे कहींसे कहीं आ कैसे सकते हैं? क्योंकि यदि वे कहीं पर होते और कहीं न होते तो, जहाँ पर हैं वहांसे जहांपर नहीं थे, वहां आ सकते थे; परन्तु जब परमात्मा पहलेसे सर्वत्र विराजमान हैं तो, किसी स्थानसे स्थानान्तरमें जाना आना उनके लिये कैसे सम्भव हो सकता है? और, यदि किसी कारणसे उनका आना सम्भव ही मान लिया जाय तोभी यह सन्देह नहीं निवृत्त होता है कि उनको इस प्रकारसे स्थूल शरीरके चक्रमें आनेका प्रयोजन क्या हो सकता है? क्योंकि, जब वे सर्वशक्तिमान् हैं तो, विना स्थूल शरीर धारण किये ही इच्छामात्रसे दुष्टदमन तथा संसारकी रक्षा कर सकते हैं। इस प्रकारसे अलौकिक भावमय अवतारतत्त्वके विषयमें अनेक प्रकारकी चिन्ताएँ तथा शंकाएँ होती हैं। इसलिये वर्त्तमान प्रवन्धमें अवतारका तत्त्वनिरूपण करते हुए उल्लिखित सन्देहोंका निराकरण किया जायगा। अवतारके विषयमें वेदमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—ऋग्वेद, मं० ६, अ० ४, सू० ४७, म० १८, में—

"रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव तदस्य रूपं प्रतिचक्षणाय।
इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते युक्ता ह्यस्य हरयः शता दश॥"

भक्तोंके प्रार्थनानुसार प्रख्यात होनेके लिये श्रीभगवान् मायाके संयोगसे जीव, अवतार आदि अनेक रूप धारण करते हैं, उनके शत शत रूप हैं; उनमेंसे दस अवताररूपमें दस रूप मुख्य हैं। और भी यजुर्वेद, अ० ३१, मं० १९, में—

"प्रजापतिश्चरति गर्भेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।

तस्य योनिं परिपश्यन्ति धीराः तस्मिन् हि तस्थुर्भुवनानि विश्वा ॥"

प्रजापति भगवान् स्थूल गर्भमें उत्पन्न होते हैं, उनका कोई भी वास्तविक जन्म न होनेपर भी वे अनेक रूपोंमें उत्पन्न होते हैं। धीर योगी लोग ही उनके इस प्रकारके अवतारादि रूपोंकी महिमा तथा स्वरूपको जान सकते हैं। समस्त विश्व उन्हींमें स्थित है।

श्रीमद्भागवत, १० स्कन्ध, २ य अध्याय, में—

"बिभर्षि रूपाण्यवबोध आत्मा क्षेमाय लोकस्य चराचरस्य ।
सत्त्वोपपन्नानि सुखावहानि सतामभद्राणि मुहुः खलानाम् ॥"

चराचर संसारकी रक्षाके लिये ज्ञानस्वरूप परमात्मा रूप धारण करके आते हैं, उनका अवतार धार्मिकोंके लिये सुखकर और अधार्मिकोंके लिये नाशंकर होता है। श्रीमद्भगवद्गीतामें—

"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य सम्भवाम्यात्ममायया ॥
यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ।
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ॥"

अजन्मा, अव्यय और भूतोंके ईश्वर होनेपर भी मायाके आश्रयसे परमात्मा संसारमें अवताररूपसे उत्पन्न होते हैं। धर्मकी ग्लानि और अधर्मकी वृद्धि जिस जिस कालमें होने लगती है, उसी समय भगवान् अवतार धारण करते हैं। साधुओंकी रक्षा, पापियोंका नाश और युगानुसार धर्मव्यवस्थाके लिये युग-युगमें परमात्माका अवतार होता है। इस प्रकारसे अवतारके विषय में आर्यशास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। अब नीचे अवतारका विज्ञान बताकर ऊपर उक्त प्रमाणोंकी सत्यता बताई जाती है।

परमात्माकी सत्ताके विभु होनेसे वे सर्वत्र व्याप्त हैं; इसलिये कहींसे कहीं जाना-आना उनके लिये अवश्य ही असम्भव तथा विज्ञानविरुद्ध है; परन्तु इससे अवतार होना असम्भव है—यह बात ठीक नहीं है। 'अवतार' कहींसे

कहीं आ जाने या उतर आनेका नाम नहीं है। परन्तु सर्वव्यापक परमात्माकी किसी विशेष केन्द्रद्वारा शक्ति प्रकट होनेका नाम अवतार है। इसमें अवतार शब्द द्वारा जो अवतरण अर्थात् नीचे उतर आनेका भाव प्रकट होता है, उसका तात्पर्य भावमूलक है। उनकी विशेष शक्तिका मायाके द्वारा सम्बन्धित होना और ऐसा होकर प्रकट होना ही भावराज्यमें अवतरण कहा जा सकता है। इसीलिये शक्तिके प्राकट्यको 'अवतार' शब्दसे कहा गया है। अब इस प्रकारसे भगवत्शक्तिका विकाश कैसे होता है, सो विचार करने योग्य है। परमात्माके सर्वव्यापक होनेसे उनकी शक्ति भी सर्वव्यापिनी है। उनके ऊपर स्थित जड़चेतनात्मक दृश्य संसारके द्वारा उनकी वह शक्ति विकाशको प्राप्त होती है। इसलिये जड़चेतनात्मक समस्त संसारमें जो कुछ शक्ति देखी जाती है सो उन्हींकी शक्ति है। और अधिक कहना ही क्या, जब शक्तिके आधारभूत महाशक्ति जगदम्बा ही उनकी शक्तिस्वरूपिणी हैं तब संसारमें विकाशशील समस्त शक्तियाँ उन्हींकी होंगी, इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता है। इस विषयमें अनेक प्रमाण पूर्वके अध्यायोंमें दिये जा चुके हैं। अतः पुनरुक्ति निष्प्रयोजन है। केनोपनिषद्में इन्द्रादि देवताओंके अहंकारनाशके छलसे इस भगवत्शक्तिकी परममहिमा तथा सबके निदान होनेका यथेष्ट प्रमाण दिया गया है। समस्त श्रुतियोंमें जिस प्राणशक्तिको जगत्की क्रियाओंका मूलकारण कहा गया है—

'परमात्मा प्राणस्य प्राणः'

उसी प्राणशक्तिके भी कारणरूपसे वर्णित किये गये हैं। श्रीमद्भागवतमें इस शक्तिकी महिमाके विषयमें कहा है:—

"यं वै श्वसन्तमनुविश्वसृजः श्वसन्ति
यं चेकितानमनुचित्तय उच्चकन्ति।
भूमण्डलं सर्षपायत यस्य मूर्द्धि्न
तस्मै नमो भगवतेऽस्तु सहस्रमूर्द्ध्ने॥"

जिसके श्वास अर्थात् शक्तिकी प्रेरणासे समस्त संसारस्थित जीवोंकी प्राणक्रिया चलती है, जिसकी चित्सत्ताकी प्रेरणा होनेपर जगत्के जीवोंमें चेतना तथा ज्ञानका उल्लास हो सकता है, समस्त विश्व सर्षप (सरसों) की तरह जिसपर घूमता रहता है, अनन्तमस्तक, अनन्तशक्तिमान् उस परमात्माको नमस्कार है। परमात्माकी यह शक्ति विश्वजगत्में किस प्रकारसे विस्तारको प्राप्त होती है, इस विषयमें श्वेताश्वतर उपनिषद्में लिखा है:—

"य एको वर्णो बहुधा शक्तियोगाद्वर्णाननेकान् निहितार्थो दधाति"

"यो देवोऽग्नौ योऽप्सु यो विश्वं भुवनमाविवेश ।
य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमोनमः ॥"

अद्वितीय एकरस एकवर्ण परमात्माकी शक्तिके संयोग द्वारा ही द्वैतमय अनेकरस अनेकवर्ण सृष्टिका विस्तार हुआ है। उनकी यह शक्ति अग्निमें, जलमें, ओषधियोंमें, वनस्पतियोंमें तथा समस्त संसारमें व्याप्त हो रही है। इस शक्तिका प्रकाश कैसे होता है, इस विषयमें पञ्चदशीकारने लिखा है:—

सर्वशक्तिमयं ब्रह्म नित्यमापूर्णमद्वयम् ।
यथोल्लसति शक्त्यासौ प्रकाशमधिगच्छति ॥

अद्वितीय ब्रह्ममें शक्ति पूर्ण है। इस शक्तिका दृश्यके आश्रयसे जब उल्लास होता है, तभी दृश्य जगत्में इसका प्रकाश होता है। विकाशप्राप्त यह शक्ति शास्त्रमें 'कला' नामसे कही जाती है और 'सोलह' शब्द पूर्णताका प्रकाशक होनेसे जहां पर पूर्णशक्तिका उल्लास या विकाश हो वहां सोलह कला शक्तियाँ प्रकट हुईं—ऐसा कहा जाता है। जिस प्रकार पूर्णचन्द्र षोडशकलापूर्ण कहे जाते हैं उसी प्रकार पूर्णशक्ति भी षोडशकलाकी शक्ति कही जाती है। इसलिये परमात्मामें पूर्णशक्तिके विद्यमान रहनेसे परमात्मा षोडशकलासे पूर्ण कहे जाते हैं। यथा प्रश्नोपनिषद्में:—

"एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडशकलाः पुरुषायणाः।"

सर्वदर्शी सर्वशक्तिमान् परमात्मामें षोडशकलाशक्ति शोभायमान है। और भी छान्दोग्योपनिषद्में:—

"षोडशकलः सोम्य ! पुरुषः"

परमात्मा षोडशकलाशक्तिसे युक्त है। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें भी —

"षोडशकलो वै पुरुषः"

परमात्माकी षोडशकलाएँ हैं। परमात्माकी यह षोडशकलाशक्ति जडचेतनात्मक समस्त जगत्में व्याप्त है और जितना जितना जीव अपनी योनिमें उन्नत होता जाता है, उतना उतना ही परमात्माकी यह कला जीवके आश्रयसे विकाशको प्राप्त होने लगती है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि कलाविकाशकी

छुटाई बड़ाई ही जीवयोनिकी उन्नति या अवनतिकी सूचक है। एक योनिका जीव अन्ययोनिके जीवसे उन्नत इसलिये है कि उसमें अन्ययोनिके जीवोंसे भगवद्कलाका विकाश अधिक है। यह विज्ञान 'जीवतत्त्व' के प्रबन्धमें पहले ही सिद्ध किया गया है कि चेतनसृष्टिमें उद्भिज्जसृष्टि ही प्रथम है। इसलिये षोडशकलाओंमेंसे एक कलाका विकाश अन्नमयकोषयुक्त उद्भिज्जमें ही होगा—यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। श्रुतिने भी इसी सिद्धान्तको प्रमाणित किया है। यथा छान्दोग्योपनिषद्में—

"षोडशानां कलानामेका कलातिशिष्टाभूत् सोऽन्नेनोपसमाहिता प्राज्वालीत्।"

षोडश कलाओंमेंसे एक कला अन्नमें मिलकर अन्नमयकोष द्वारा प्रकट हुई। अतः समस्त योनियोंमेंसे उद्भिज्जयोनि द्वारा भगवत् शक्तिकी एक कला प्रकट होती है—यह सिद्धान्त निश्चय हुआ। इसी क्रमके अनुसार परवर्त्ती जीवयोनि स्वेदजमें दो कला, अण्डजमें तीन कला और जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें चार कलाका विकाश होता है। तदनन्तर मनुष्ययोनिमें आकर साधारण मनुष्यसे विभूतियुक्त मनुष्य पर्यन्त पांच कलाओंसे आठ कला तक भगवत्शक्तिका विकाश होता है। इस प्रकारसे एक कलासे लेकर आठ कलातक शक्तिका विकाश लौकिकरूपसे होगा अर्थात् पूर्णकलाके आधे तक लौकिक कोटि है। तदनन्तर नौ कलासे लेकर षोडशकला तक शक्तिका विकाश जिन केन्द्रों द्वारा होगा वह, आधेसे अधिक होनेसे, अलौकिक कोटिके अन्तर्गत है। इसलिये ९ कलासे १६ कलातक जीवकोटि न होकर अवतारकोटि कहलाती है; अर्थात् जिन केन्द्रोंके द्वारा भगवान्की शक्ति नौ कलासे लेकर षोडशकला तक विकाशको प्राप्त होगी वे सब केन्द्र जीव न कहलाकर अवतार कहलावेंगे। चाहे वे सब केन्द्र ऊपरके मनुष्य अथवा मनुष्ययोनिके नीचेके जीवोंकी शरीरकी तरह क्यों न दिखें, तथापि, अलौकिक शक्तिका आधार होनेसे, वे सब असाधारण केन्द्र हैं; साधारण मनुष्य अथवा उससे नीचेके जीवोंके केन्द्र नहीं हैं; क्योंकि, साधारण तथा विभूति पर्यन्त जीवशरीरमें इस प्रकारकी अलौकिक शक्ति धारण करनेकी योग्यता या उपादान (सामान) नहीं है। अतः ये सब अवतारके ही केन्द्र हैं—ऐसा आर्यशास्त्रमें सिद्धान्त निश्चय किया गया है। नौ कलासे लेकर पन्द्रह कलातक अंशावतार और षोडशकलासे पूर्ण केन्द्र ही पूर्णावतारका केन्द्र है—ऐसा समझना चाहिये। अब कलाविकाशके तारतम्यानुसार

चेतनजीवोंमें क्या क्या विशेषता देखनेमें आती है, सो नीचे क्रमशः बताया जाता है ।

पञ्चकोषोंमेंसे अन्नमय कोषका उद्भिज्जयोनिमें अपूर्वरूपसे प्रकट होना एक कलाविकाशका ही फलरूप है । ओषधि, वनस्पति, वृक्ष तथा लताओंमें जो संसारके जीवोंकी प्राण धारण करनेवाली तथा पुष्टि देनेवाली शक्ति है सो भगवत्शक्तिकी एक कलाके विकाशका ही फलरूप है । स्वेदज, अण्डज, जरायुज, पशु, मनुष्य तथा देवता पर्यन्तकी तृप्ति अन्नमयकोष द्वारा उद्भिज्जगण ही किया करते हैं । संसारकी मनोहारिता ब्रह्माण्डप्रकृतिमें स्थितिदशाकी अपूर्व शोभा, विष्णु भगवान्का अनेक वैचित्र्यभरा रूपविलास – ये सभी उद्भिज्जजगत्में ईश्वरीय एक कलाके विकाशका मधुर फलरूप है । केवल एक कलाका विकाश होते ही उद्भिज्जोंमें जीवभावका विकाश तथा सकल इन्द्रियोंकी क्रिया तक देखनेमें आती है—जो आज कल वैज्ञानिक यन्त्रों द्वारा भी प्रमाणित हो चुकी है । महाभारतके शान्तिपर्वमें वर्णन है:—

"उष्मतो म्लायते वर्णं त्वक् फलं पुष्पमेव च ।
म्लायते शीर्य्यते चापि स्पर्शस्तेनात्र विद्यते ॥
वाय्वग्न्यशनिनिर्घोषैः फलं पुष्पं विशीर्य्यते ।
श्रोत्रेण गृह्यते शब्दस्तस्माच्छृण्वन्ति पादपाः ॥
वल्ली वेष्टयते वृक्षं सर्वतश्चैव गच्छति ।
नह्यदृष्टेश्च मार्गोऽस्ति तस्मात्पश्यन्ति पादपाः ॥
पुण्यापुण्यैस्तथा गन्धैर्धूपैश्च विविधैरपि ।
अरोगाः पुष्पिताः सन्ति तस्माज्जिघ्रन्ति पादपाः ॥
पादैः सलिलपानाच्च व्याधीनाञ्चापि दर्शनात् ।
व्याधिप्रतिक्रियात्वाच्च विद्यते रसनं द्रुमे ॥
वक्त्रेणोत्पलनालेन यथोर्द्ध्वं जलमाददेत् ।
तथा पवनसंयुक्तः पादैः पिबति पादपः ॥
सुखदुःखयोश्च ग्रहणाच्छिन्नस्य च विरोहणात् ।
जीवं पश्यामि वृक्षाणामचैतन्यं न विद्यते ।

गर्मीके दिनोंमें गर्मी लगनेसे वृक्षोंके वर्ण, त्वचा, फल, पुष्प आदि मलिन तथा शीर्ण हो जाते हैं; अतः उद्भिज्जोंमें स्पर्शेन्द्रिय विद्यमान है। प्रबल वायु, अग्नि तथा वज्रके शब्दसे वृक्षोंसे फल-पुष्प शीर्ण हो जाते हैं, कानके द्वारा शब्द सुननेसे ही ऐसा होता है; अतः उद्भिज्जोंमें श्रवणेन्द्रिय भी विद्यमान है। लता वृक्षोंको वेष्टन करती हुई सर्वत्र जाती है, आंखसे देखे विना मार्गका निर्णय नहीं हो सकता है; अतः उद्भिज्जोंमें दर्शनेन्द्रिय भी विद्यमान है। अच्छी बुरी गन्ध तथा नाना प्रकारके धूपोंकी गन्धसे वृक्ष नीरोग और पुष्पित होने लगते हैं; अतः उद्भिज्जोंमें घ्राणेन्द्रिय भी विद्यमान है। पांवके द्वारा जलपान रोग होना तथा रोगका आराम होना भी उनमें देखा जाता है; अतः उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रिय भी विद्यमान है। डण्डीके मुखद्वारा जिस प्रकारसे कमल ऊपर की ओर जलग्रहण करता है, उसी प्रकार वायुसे संयुक्त होकर पांवके द्वारा भी वृक्ष जलपान करता है—यही सब उद्भिज्जोंमें रसनेन्द्रियका अस्तित्व सिद्ध करता है। उद्भिज्जोंमें जो सुखदुःखके अनुभव करने की शक्ति देखनेमें आती है, टूट जाने पर पुनः नवीन शाखा पत्रादिकी भी जो उत्पत्ति देखी जाती है; इससे उद्भिज्जोंमें जीवत्व है, अचैतन्य नहीं है—यह बात स्पष्ट सिद्ध हो जाती है। उद्भिज्जोंमें सुखदुःखके ग्रहणकी शक्तिके विषयमें मनुसंहिताके प्रथमाध्यायमें लिखा है:—

> "तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्महेतुना ।
> अन्तःसंज्ञा भवन्त्येते सुखदुःखसमन्विताः ॥"

कर्महेतुक अनेक प्रकारके तमोभावों द्वारा उद्भिज्जगणके आवृत रहने पर भी भीतर ही भीतर सुखदुःखका बोध इनको अवश्य होता रहता है। कई बार जङ्गलोंमें ऐसी घटना देखी गई है कि किसी ऊंचे वृक्षके काटनेके समय उसकी छायामें स्थित छोटा वृक्ष 'मुझे भी काट डालेगा' इस प्रकारकी चिन्ता करता डरसे ही सूखने लग गया है। उद्भिज्जसम्बन्धीय ऐतिहासिकोंने यह प्रमाण कर दिखाया है कि बहुत दिनोंतक यदि किसी वृक्षके नीचे ताजे वृक्षोंको लाकर चिरा जाय तो वह वृक्ष कुछ दिनोंके बाद अपने आप ही सूख जाया करता है। ये सब उद्भिज्जोंमें सुखदुःख अनुभव करनेके लक्षण हैं। हाथके स्पर्शमात्रसे लजवन्ती लता आदिका संकुचित होना तो प्रत्यक्ष ही है; जिससे स्पर्शेन्द्रियकी शक्ति उद्भिज्जोंमें प्रमाणित होती है। मनुष्यकी तरह दिनमें जागना और रातको लेट जाना; यह वृक्षोंके विषयमें आज कलके सायन्सवालोंने प्रमाणित कर दिया है।

आर्यशास्त्रमें यह बात पहलेहीसे प्रमाणित है: इसलिये रात्रिको निद्रित वृक्षों-पर अस्त्र चलाना स्मृतिशास्त्रमें पाप बताया गया है। वृक्षगण श्वास प्रश्वास लेते हैं और दिनमें आक्सिजेन-गैस तथा रात्रिको कारबन्-गैस श्वास-प्रश्वास द्वारा त्याग करते हैं—यही विषय आजकलके वैज्ञानिक पुरुषोंने भी देख लियाहै। यह सभी उद्भिज्जोंमें एक कला भगवत्-शक्तिके विकाशके फल हैं। पृथिवीमें जो गन्धगुण है उसका विकाश उद्भिज्जोंके द्वारा जितना होता है, इतना और किसी जीवसे नहीं। प्रायः सकल प्रकारके सुगन्ध-द्रव्योंकी उत्पत्ति उद्भिज्जके रस तथा गन्धोंसे ही होती हैं। जीवशरीरको रोगी तथा नीरोग बनाने की शक्ति उद्भि-ज्जोंमें अपूर्व है: जिस कारण कितने ही चिकित्साशास्त्रकी उत्पत्ति होगई है। आयुर्वेदशास्त्रका तो सिद्धान्त यह है कि कोई भी उद्भिज्ज दवाके गुणसे शून्य नहीं है। अपनी गन्ध तथा गैससे हंसाने की, रुलाने की, मूर्च्छित कर देने की, रोगी या अरोगी बनानेकी शक्ति उद्भिज्जयोनिमें अपूर्व है। संसा-रमें ऐसी ऐसी विषलताएँ विद्यमान हैं जिनके पास होकर निकलनेसे मनुष्य आकृष्ट और मूर्च्छित हो मर जाता है। अफ्रिका आदि देशोंके कई एक स्थानोंमें कीट खानेवाले, पक्षी खानेवाले, पशु खानेवाले तथा मनुष्य खानेवाले वृक्ष भी देखनेमें आते हैं। इन सब वृक्षोंके ऊपर खुले हुए पत्तोंके भीतर कोई भी जीव यदि अचानक आ जाय तो खुले पत्ते जीवसमेत बन्द हो जाते हैं और कुछ देरके बाद पत्तोंके खुल जानेसे देखा जाता है कि इसके अन्तर्गत जीवका रक्त-मांस आदि सब उस वृक्षने ग्रास कर लिया है: केवल कङ्काल मात्र बाकी है। भगवान्‌की एक कला मात्रको पाकर उद्भिज्जयोनिमें इतनी शक्ति आजाती है। श्रीभगवान् पतञ्जलिजीने ओषधियोंसे योगसिद्धियों-का उदय होता है—ऐसा योगदर्शनमें बताया है। यथाः—

"जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिजाः सिद्धयः।"

जन्मसे, ओषधियोंके द्वारा, मन्त्र, तप और समाधिके द्वारा भी सिद्धियोंकी प्राप्ति होती है अतः दैवजगत्‌में भी उद्भिज्जयोनिकी महिमा है—यह सिद्ध हुआ। यही सब उद्भिज्ज योनियोंमें एक कलाविकाशका फल है। श्रीभगवान्‌ने—

'अश्वत्थः सर्ववृक्षाणाम्'

कहकर उद्भिज्जयोनिमें भी अपनी विभूतिका परिचय दिया है।

तदनन्तर स्वेदजयोनिमें भगवत्-शक्तिकी दो कलाओंका विकाश होता है,

जिससे अन्नमय और प्राणमय दोनों कोषोंका विकाश स्वेदजोंमें देखनेमें आता है। उद्भिज्जोंमें प्राणमय कोषका विकाश न रहनेसे उद्भिज्ज चल फिर नहीं सकते; परन्तु स्वेदजोंमें इस कोषका विकाश होनेसे स्वदेजयोनिके जीव अच्छी तरहसे चल फिर सकते हैं। उनमें प्राणशक्तिका कहीं कहीं अपूर्व विकाश भी देखनेमें आता है। दीमक आदि कीटोंमें जो अद्भुत गृहनिर्माणकी शक्ति देखनेमें आती है, विसूचिका (हैजा) ग्रन्थिज्वर (प्लेग) आदि रोगोंमें जो स्वेदज कीटोंकी प्राणशक्ति द्वारा बड़े बड़े शक्तिमान् मनुष्योंके प्राण तक क्षणकालमें ही कालके ग्रासमें पतित होते हुए देखनेमें आते हैं, जीवशरीरके भीतर उत्पन्न स्फोटकादि (फोडे)के कीटोंमें जो शरीर, मन, प्राणको अनन्त दुःख समुद्रमें डाल देनेकी शक्ति देखी जाती है, रक्तके भीतरके कीटोंमें जो रोग उत्पन्न करने वाले कीटोंके साथ भीषण युद्ध करके शरीररूपी दुर्गकी रक्षा करनेकी सामर्थ्य विद्यमान है और वीर्यके कीटोंमें जो जीवशरीर उत्पन्न करने तथा जीवात्माको आकृष्ट करके गर्भाशयमें ले आने तककी अपूर्व शक्ति है—वह सब स्वेदजयोनिमें भगवत्-शक्तिकी दो कलाओंके विकाशका ही अपूर्व फलरूप जानना चाहिये।

तदनन्तर अण्डजयोनिमें तीन कलाकी भगवत्-शक्तिका विकाश होता है जिससे अन्नमय, प्राणमय कोषोंके साथ मनोमय कोषका भी विकाश अण्डज योनिमें हो जाता है। मनोमय कोषका विकाश होनेसे अण्डज योनिमें मानसिक प्रेम आदि बहुतसी वृत्तियां देखनेमें आती हैं। कपोत, (कबूतर) कपोती, शुक, सारिका, चक्रवाक-(चकवा) चक्रवाकीका प्रेम मनुष्योंमें भी दुर्लभ है। पक्षियोंमें मनोमय कोषका विकाश होनेसे ही वात्सल्य भावका अपूर्व विकाश देखनेमें आता है। पक्षिजाति बहुत ही प्रेमके साथ अपनी सन्तानोंका प्रतिपालन करती है और स्वयं विपद्ग्रस्त होकर भी अपनी सन्तानोंको विपत्तिसे बचाती है। यह पक्षियोंमें भगवत्-शक्तिके विकाशका ही लक्षण है कि,—

"वैनतेयश्च पक्षिणाम्"

कहकर श्रीभगवान्ने अण्डज योनिमें अपनी विभूति बताई है। भुजङ्ग (साँप) में भयङ्कर प्राणघातिनी शक्ति, मकरादि जलज जन्तुओंकी प्रचण्ड शक्ति, शुक, शालिका आदि पक्षियोंमें मनुष्योंकी तरह बोलनेकी शक्ति, कोयल आदि पक्षियोंमें कलगानके द्वारा संसारको मुग्ध करनेकी शक्ति, पारावतादि (कबूतर)में दूतकी तरह युद्धक्षेत्रमें संवाद देनेकी शक्ति, बाज आदि पक्षियोंमें शिकार करनेकी शक्ति, तीतर आदि क्षत्रिय-पक्षियोंमें संग्राम करनेकी अद्भुत

शक्ति, काक, गीध, श्येन, उलूक आदि शकुनके पक्षियोंमें महाप्रकृतिसे इङ्गित प्रकट करनेकी शक्ति, चटक (बाय) आदि पक्षियोंमें अद्भुत गृहनिर्माणकी शक्ति, हंसमें जल और दूधके पृथक् करनेकी शक्ति, विशाल शरीर तिमि आदि मत्स्यों-में अपूर्व शक्ति, रोहित, पाठन आदि मत्स्योंमें जलके बीचके रोगकीटोंका नाश तथा जल शोधन करनेकी शक्ति रेशमी कीट आदि अण्डजोंमें बिजली प्रकट करनेकी शक्ति, मोर आदि पक्षियोंमें संसारको सुशोभित तथा धनधान्यपूर्ण करनेकी शक्तियाँ इत्यादि इत्यादि सभी शक्ति अण्डज योनिमें श्रीभगवान्की तीन कलाशक्तियोंके विकाशका ही फलरूप है ।

तदनन्तर जरायुजके अन्तर्गत पशुयोनिमें भगवत्-शक्तिकी चार कला-ओंका विकाश होता है। चार कलाओंका विकाश होनेसे अन्नमय, प्राणमय, मनोमय कोषोंके साथ विज्ञानमय कोषका भी विकाश पशु-योनिमें देखनेमें आता है। निकृष्ट पशु, उत्कृष्ट पशु, दोनों प्रकारके जीव ही निज निज अधिकारके अनुसार बुद्धिकी चालना कर सकते हैं। उत्कृष्ट पशुओंमें तो कहीं कहीं इतना बुद्धिका विकाश देखने आता है कि वे बहुतसे कर्म मनुष्यकी तरह करने लगते हैं। मनोमय कोषका विशेष विकाश होनेसे प्रेम करना, प्रेम समझना, स्नेह बताना तथा समझना आदि कार्य पशुओंमें विशेष देखनेमें आते हैं। इतिहासमें अनेक दृष्टान्त पाये गये हैं कि प्रभुभक्त अश्वने कितनीवार घोर विपत्तिसे प्रभुकी रक्षा की है, प्रभुके लिये अपना प्राण आनन्दके साथ समर्पण कर दिया है, मृत प्रभुके पास अनाहार व्रत धारण करके दिनरात खड़ा रहकर अन्तमें प्राणत्याग कर दिया है। यह सब बातें अश्व-योनिमें भगवान्की चार कलाओंके मधुर विकाशके ही फलरूप हैं। बुद्धिमान् हस्तीमें इङ्गित समझनेकी बड़ी असाधारण शक्ति विद्यमान है, अपने प्रभुको वे प्राणसे भी प्रिय समझते हैं, अपने पदकी मर्यादाको प्राण देकर भी रक्षा करते हैं। उड़ीसा देशपर जब मुसलमानोंका आक्रमण हुआ था तब उस समय राजध्वजाधारी हस्तीने ध्वजाकी मर्यादा रखनेके लिये समस्त सैन्योंके भाग जाने पर भी किस वीरताके साथ युद्ध किया था। सिकन्दर बादशाहके साथ युद्धमें पुरुराज जिस समय पराजित हो गये थे उस समय उनके हस्तीने पुरुराजको अपने पेटके नीचे छिपाकर किस वीरताके साथ युद्ध किया था इत्यादि इत्यादि अनेक दृष्टान्त हस्तीकी योनिमें चार कलाओंके मधुर विकाश-के ही फलरूप हैं। इसी प्रकार सिंह, गौ, कुत्ते आदि पशुओंमें अनेक

अद्भुत बातें देखनेमें आती हैं, जिनका वर्णन पहले ही किया गया है। प्रकृतिकी तामसिक धाराकी अन्तिम योनिके वानरकी योनि होनेके कारण काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य—ये छः ही दुर्वृत्तियां वानरमें पूर्ण मात्रामें देखनेमें आती हैं, जो अन्य पशुओंमें नहीं देखनेमें आती हैं। वानरी इतनी मोह-युक्त होती है कि मृत सन्तान जब तक सड़-गल कर सूख न जाय तब तक उसे नहीं छोड़ती। दुष्टबुद्धि, मनुष्योंकी तरह नकल करनेकी शक्ति, काम और क्रोध की तीव्रता तो, वानरमें सब पशुओंसे अधिक ही है। सिंहमें गम्भीरता ऐसी होती है कि बलवान् और दुर्बल—दोनों जीव एक साथ चलें—यथा हस्ती और मनुष्य—तो सिंह पहले बलवान् जीव हस्ती पर ही आक्रमण करेगा और मनुष्यको छोड़ देगा तथा क्षुधा न होने पर वृथा हिंसा कभी नहीं करेगा। इन सब अपूर्व गुणोंके कारण ही श्रीभगवान्ने गीताजीमें—

" मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहम् "

कह कर पशुयोनिमें भी अपनी दिव्य विभूतियोंको प्रमाणित किया है। आधिभौतिक अर्थात् स्थूल शक्ति पर विचार करनेसे पशुयोनिमें इसका सबसे अधिक विकाश देखनेमें आता है। सिंहमें साहस, पराक्रम और शक्ति, व्याघ्रमें भयङ्कर शक्ति, हस्तीकी शरीरसम्पत्ति तथा अपनेसे भी अज्ञात अपूर्व शक्ति, गण्डार, रीछ, बनमहिष, बनबानर आदिमें भीषण शक्ति, गौमातामें क्षीरधाराके बहानेकी अपूर्व शक्ति, अश्वमें क्षत्रियोचित साहस, युद्धकौशल तथा दौड़नेकी शक्ति, मृगमें मनोमोहिनी दृष्टिशक्ति तथा दौड़ने और कूदनेकी अद्भुत शक्ति, भेड़में लड़ाई लड़नेकी विशेष शक्ति, बनबराहमें स्थूल शरीरकी अपूर्व शक्ति, कुत्ते शृगालादियोंमें शकुन प्रकट करनेकी विशेष शक्ति, छाग-गर्दभ आदिमें क्षय, चेचक आदि रोगनाशक शक्ति, कस्तूरी मृगमें असाधारण कस्तूरी उत्पन्न करनेकी शक्ति, ऊँटकी जातिमें विषाक्त वायुके आघ्राण द्वारा भीषण मरुभूमिमें प्रभुकी प्राणरक्षा करनेकी शक्ति तथा महीनों तक भोजन और जलके विना भी दुर्गम पथ पर चलनेकी शक्ति इत्यादि इत्यादि सभी शक्ति जरायुज पशुयोनिमें श्रीभगवान्के चार कला-विकाशको प्रमाणित करती हैं। तदनन्तर मनुष्ययोनिमें आनेसे भगवत्शक्तिकी पञ्च कलाओंका विकाश होता है। पञ्च कलाओंके विकाशके कारण ही मनुष्ययोनिमें अन्नमय कोषसे लेकर आनन्दमय कोष पर्यन्त पञ्चकोषोंका विकाश हो जाता है, जिससे मनुष्यमें स्वतन्त्र बुद्धिकी चालना, आनन्द करना और सकल प्रकारकी उन्नति करनेकी

शक्ति प्राप्त हो जाती है। पञ्चकोष विकाशके कारण ही मनुष्यमें कर्मकी स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है। मनुष्य यदि चाहे तो पुरुषार्थ द्वारा पञ्चकोषों को पूर्ण विकसित करके पूर्ण मानव तथा मुक्त भी बन सकता है। बुद्धिवृत्ति की चालना करके अलौकिक कार्यका सम्पादन, दैव तथा आध्यात्मिक जगत्से सम्बन्ध-स्थापन, सकल प्रकारकी आध्यात्मिक उन्नति और उच्चकोटिकी सिद्धि पर्यन्त प्राप्त कर सकता है। अपनी इन्द्रियों पर स्वामित्वसम्बन्ध, तीनों शरीरके साथ आत्माका अभिमान-सम्बन्ध, उसी अभिमानके अनुसार इन्द्रिय-सुखके लिये पुरुषार्थ करके कर्मसंस्कार सञ्चय करना इत्यादि सभी शक्तियाँ मनुष्ययोनिमें आनेसे जीवके भीतर उत्पन्न हो जाती हैं। यह सभी मनुष्य-योनिमें पांच कलाओंके विकाशके ही फलरूप है। तदनन्तर कर्मोन्नति द्वारा मनुष्य जितना जितना उन्नत होता जाता है, ईश्वरीय कलाओंका विकाश उसमें उतना ही अधिक होता जाता है। ब्रह्मभावमें निष्क्रियता और ईश्वरभावके साथ द्वैतमय सृष्टिका सम्बन्ध रहनेसे जीवके द्वारा जो कलाओंका विकाश होता है वह ईश्वरीय कला है, ब्रह्मकला नहीं है। इसलिये इस कला-विकाशमें ऐश्वर्यमय दैवीशक्तिका सम्बन्ध अधिक है, ज्ञानशक्तिका सम्बन्ध कम है। अतः मनुष्ययोनिमें क्रमोन्नतिके अनुसार तथा अवतारोंमें भी जो शक्तिका विकाश होता है वह ईश्वरीय शक्ति है, ब्रह्मशक्ति नहीं है; क्योंकि, अवतार ब्रह्मका नहीं होता है, ईश्वरका ही होता है और उसमें भी धर्मरक्षा तथा अधर्म-नाशके लिये भगवदवतारकी आवश्यकता होनेसे विष्णु भगवान्के साथ ही भगवदवतार का प्रधान सम्बन्ध माना गया गया है। ऋषि, देवता और पितृ-तत्त्व नामक अध्यायमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशरूपी त्रिमूर्त्तियोंका वर्णन भलीभांति हो चुका है। प्रत्येक ब्रह्माण्डके लिये उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु, महेश ही सगुण ब्रह्म या ईश्वर हैं। उन त्रिमूर्तियोंमेंसे रक्षा और पालन धर्मके अनुसार विष्णु भगवान् का प्राधान्य है। अतः रक्षासम्बन्धसे युक्त सब अवतार ही विष्णु-शक्ति प्राप्त होंगे—इसमें सन्देह क्या। सृष्टि, स्थिति और लय—इन तीनोंके असाधारण कार्योंके सुसिद्ध करनेके लिये इन तीनों देवताओंकेही अवतार हुआ करते हैं। इसका प्रमाण भी शास्त्रोंमें मिलता है। परन्तु जहां सगुण ब्रह्म अर्थात् जगद्रक्षाकी शक्तिसे विशिष्ट अवतारका सम्बन्ध है वहां रक्षाशक्तिका ही प्राधान्य होनेसे, भगवदवतारोंके साथ विष्णुशक्तिका ही साक्षात् सम्बन्ध है। अतः भगवदवतारोंका प्रकट होना विष्णुलोकसे ही सम्भव है।

मनुष्यकोटिमें जीवकी उन्नतिके तारतम्यानुसार इस ईश्वरीय कलाका विकाश ५ से ८ तक हो सकता है। पांच कलाओंसे मनुष्यकी साधारण शक्तिका विकाश हो जाता है और छः कलाओंसे विशेष शक्तिका विकाश होने लगता है, जिसको शास्त्रमें विभूति कहा गया है। श्रीभगवान्ने गीताजीमें कहा है:—

"यद् यद् विभूतिमत् सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽशसम्भवम् ॥"

संसारमें जो कुछ ऐश्वर्ययुक्त श्रीयुक्त अथवा शक्तियुक्त पदार्थ है सो सभी श्रीभगवान्की शक्तिके विकाश द्वारा उत्पन्न हुए हैं—यह जानना चाहिये। श्रीभगवान्की विशेष शक्तिको प्राप्त विभूतियोंके द्वारा संसारमें धर्मसम्बन्धीय अनेक कार्य हुआ करते हैं और ऐसा भी कहा जा सकता है कि जबतक प्रकृतिराज्यमें अवतारके आनेकी आवश्यकता नहीं होती है तबतक इस प्रकारकी विभूतियोंके द्वारा ही सामयिकरूपसे धर्मकी रक्षा हुआ करती है। यह बात अवश्य स्मरण रखने योग्य है कि विभूतियोंमें आंशिक अर्थात् अपूर्ण शक्ति होनेके कारण उनके द्वारा धर्मजगत्में जो कुछ कार्य होते हैं वे भी उन सब आंशिक देशकालोंके अनुकूल ही होते हैं। अतः उन कार्योंके द्वारा धर्मजगत्में स्थायी कल्याण नहीं हो सकता है। बल्कि बहुत बार ऐसा भी हो जाता है कि जिस देशकालमें किसी विभूतिने धर्मकार्य किया था उस देशकालके गत होनेके अनन्तर अन्य देशकालमें वह धर्मकार्य देशकालविरुद्ध तथा हानिकर हो जाता है जिससे किसी दूसरी विभूति द्वारा पूर्वोक्त कार्यका खण्डन भी हो जाता है, और नवीन देशकालानुकूल नवीनरूपसे धर्मकी रक्षा होती है। भारतवर्षमें जितने प्रसिद्ध नेतागण तथा धर्म्माचार्य आजतक उत्पन्न हुए हैं वे सभी भगवद्विभूतिकी कोटिमें गिने जा सकते हैं। उनमेंसे किसीमें छः कलाएँ किसीमें उससे अधिक, किसीमें सात कलाएँ और किसी किसीमें आठ कलाओं तक भगवद्शक्तिका विकाश हुआ था और इस प्रकार कलाविकाशके अनुसार उनसे धर्मरक्षामूलक बड़े बड़े कार्य भी हुए थे, जिसके लिये आर्यजातिका इतिहास तथा वे सब सम्प्रदाय प्रत्यक्ष साक्षीरूप हैं। जिस महात्मामें एक सम्प्रदाय या पन्थ चलानेकी शक्ति है, जिसकी वाणी तथा ज्ञानशक्ति द्वारा अनेक मनुष्य वशीभूत और शिष्य हो सकते हैं, चाहे वह सम्प्रदाय या पन्थ कैसा ही हो और उसका भविष्यत् परिणाम धर्मजगत्में चाहे अनुकूल या

प्रतिकूल ही क्यों न हो; उस प्रकारके सम्प्रदाय या पन्थके प्रवर्त्तक महात्मामें भगवत्-शक्तिका विभूतिरूपसे विशेष विकाश हुआ है—इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसी प्रकार अन्य देशोंमें अन्य धर्मावलम्बियोंके भीतर जो महापुरुष या उपधर्मके प्रवर्त्तक महापुरुष उत्पन्न होते हैं वे भी विभूतिकी श्रेणीमें लिये जा सकते हैं। क्योंकि, एक धर्ममतकी उत्पत्तिके द्वारा अनेक जीवोंकी आध्यात्मिक उन्नतिके लिये पथप्रदर्शन जो महात्मा कर सकते हैं वे चाहे कहीं पर क्यों न उत्पन्न हों; भगवान्‌की विशेष शक्ति उनके द्वारा कार्य करती है—इसमें कोई भी सन्देह नहीं हो सकता है। अवश्य अन्य देश तथा अन्य जातिमें भगवान्‌के अवतार अर्थात् ८ कलाओंसे १६ कलाओंतक शक्तिमान् पुरुष उत्पन्न नहीं हो सकते हैं। इसका गूढ़ कारण यह है कि ईश्वरके राज्यमें कोई भी वस्तु विना प्रयोजन वृथा उत्पन्न नहीं हो सकती है। इसलिये किसी केन्द्रके द्वारा भगवत्शक्तिका अंशरूपमें या पूर्णरूपमें विकाश तभी हो सकता है, जब जिस प्रकृतिमें वह शक्ति उत्पन्न होगी, जिस देशकालमें उत्पन्न होगी, जिस जातिमें उत्पन्न होगी और जिस धर्ममतकी रक्षाके लिये उत्पन्न होगी, वह प्रकृति देश, काल, जाति या धर्ममत उस शक्तिके उत्पन्न होनेका प्रयोजन सिद्ध करता हो। जिस देशकी प्रकृति अपूर्ण है उस देशमें पूर्ण धर्मका विकाश नहीं हो सकता है, पूर्ण धर्मका विकाश न होने से उसके फलरूप निःश्रेयस अर्थात् मुक्तिपदकी प्राप्ति उस देशमें उत्पन्न जातियोंकी धर्मसेवाका लक्ष्य नहीं हो सकता है, अर्थ-काम ही उस देशकी जातियोंके धर्ममतोंका लक्ष्य होगा और मुक्ति लक्ष्य कहीं कहीं होने पर भी वह मुक्ति आर्यशास्त्रके सिद्धान्तानुसार नहीं होगी; परन्तु किसी प्रकार बहुत काल तक लगातार प्राप्त वैषयिक भोग ही मुक्तिरूपसे बताया जायगा। अतः यह बात स्पष्ट है कि इस प्रकारके धर्मके आदर्शसे युक्त जाति तथा प्रकृतिमें पूर्णधर्मकी रक्षा करनेका कोई भी प्रयोजन नहीं होगा क्योंकि उस प्रकृतिमें अभीतक पूर्णधर्मका विकाश ही नहीं हुआ है। इस कारण धर्मकी आंशिक रक्षाके लिये अवतारकी उत्पत्ति होनेका कोई भी प्राकृतिक कारण वहां नहीं होगा। केवल सामान्यरूपसे समयके अनुकूल धर्मरक्षाके लिये कभी कभी कुछ कुछ विभूतियोंके आनेका ही प्रयोजन रहेगा। पूर्णावतार तो कभी वहाँपर आ ही नहीं सकेंगे, अधिकन्तु अंशावतारके आनेका भी अनुकूल वहाँका देशकाल और वहाँपर प्रकट धर्मकी प्रकृति कभी नहीं होगी। यही कारण है कि सिवाय भारतवर्षके और सिवाय आर्यधर्मकी रक्षाके लिये और किसी देश या किसी धर्मकी रक्षाके लिये

पूर्णावतार तथा अंशावतारकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिये ईसामसी, महम्मद आदि उपधर्मोंके प्रवर्त्तकगण श्रीभगवान्‌की विभूतिश्रेणीमें ही गिने जा सकते हैं, अवतार-श्रेणिमें नहीं। अन्य देशीय उपधर्मोंकी तरह एतद्देशीय सम्प्रदायों तथा पन्थोंके प्रवर्त्तकगण भी विभूतिकी श्रेणिमें हैं-इसमें सन्देह नहीं। इन सब आचार्योंके द्वारा समयानुकूल धर्मरक्षा अवश्य होती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि जिस समय भारतवर्षमें यवनसाम्राज्यके विस्तृत होनेसे सनातन धर्मकी बहुत ही हानि होने लगी थी, उसी समय नानकदेव, गुरु गोविन्दसिंह, तुलसीदास रामदास, कबीर, हरिदास आदि विभूतियोंके उदय होनेसे भारतवर्षके सकल प्रान्तोंमें धर्मकी विशेष रक्षा हुई थी। उसी प्रकार रामानुजाचार्य, वल्लभाचार्य, निम्बार्काचार्य, माध्वाचार्य आदि साम्प्रदायिक आचार्योंके द्वारा भी समय समय पर धर्मकी विशेष रक्षा हुई है। आधुनिक समयमें भी ईसाई धर्मके प्रलोभनसे आर्यजातिकी रक्षाके लिये कई एक विभूतियोंका विकाश हुआ था। वङ्गदेशमें जिस समय ईसाई-धर्मका विस्तार होने लगा था और हिन्दुजातिकी श्रद्धा सनातनधर्मकी ओर शिथिल होने लगी थी उस समय राजा राममोहन रायने ब्राह्मसमाज स्थापित करके ईसाई-धर्मका प्रवाह वङ्गदेशमें शान्त कर दिया था और परवर्त्ती कालमें केशवचन्द्र सेनने भी उनका अनुकरण करके अनेक हिन्दूभ्राताओंको ईसाई होनेसे बचा लिया था। परन्तु ब्राह्मसमाजके सनातन धर्मका एक पन्थ मात्र होनेसे सनातन धर्मके अनेक मौलिक सिद्धान्तोंका विरोध ब्राह्मसमाजमें था। इस लिये कुछ कालके वाद जब ब्राह्मसमाजका कार्य समयानुकूल नहीं रहा और उल्लिखित विरोध स्पष्ट होने लगा तो, उस प्रतिकूल अवस्थासे वङ्गदेशको वचानेके लिये महात्मा रामकृष्ण परमहंसदेवका उदय हुआ; जिन्होंने अपनी विशेष विभूतिकी सहायतासे वङ्गदेशवासियोंको ब्राह्मसमाजके अदूरदर्शितापूर्ण सिद्धान्तोंसे बचाया। इसी प्रकार पञ्जाबप्रदेशमें भी जब सनातन धर्मके तत्त्व को न जाननेके कारण बहुत लोग ईसाई होने लग गये थे, उस समय महात्मा दयानन्द सरस्वतीजीने अपनी विभूतिके द्वारा पञ्जाबप्रदेशवासियोंको ईसाई होनेसे रोक कर सनातनधर्मका परम कल्याण-साधन किया था। परन्तु परवर्त्तीकालमें जब ईसाईयोंका उस प्रकार आक्रमण न रहा और आर्यगण अपने धर्मकी मर्यादा तथा उत्तमताको जानने लगे तो, दयानन्दीय पन्थके प्रचारके अनुकूल देशकाल न रहा; क्योंकि, पन्थ होनेके कारण इसमें सनातनधर्मके मूल

सिद्धान्तोंसे बहुत विषयोंमें मतभेद था, जो विकारके रोगमें विष-प्रयोग की तरह पूर्वोक्त कालमें अनुकूल रहनेपर भी परवर्त्ती कालमें देशकाल तथा आर्यजातिकी प्रकृतिके प्रतिकूल हो गया। इसलिये श्रीभगवान्की आज्ञासे अनेक विभूति-सम्पन्न महात्मा प्रकट हुए, जिन्होंने अपनी विशेष शक्तिके द्वारा दयानन्दीय पन्थकी प्रतिकूलतासे आर्यजातिकी रक्षा की। श्रीभगवान्की कृपासे उन्हींके स्वरूप सनातनधर्मके प्रवाहको युगानुकूल रखनेके लिये समय समयपर ऐसी सहस्रों विभूतियोंका उदय हो चुका है और भविष्यत् कालमें होता भी रहेगा। ये सभी सनातन धर्म्मके कल्याणके लिये होते हैं; इसलिये इन सब सम्प्रदायों तथा पन्थोंके प्रति और उनके प्रवर्त्तक विभूतियोंके प्रति द्वेषयुक्त न होकर कृतज्ञताके साथ उनके उपकारको स्वीकार करना ही उदार सनातन धर्मका कर्त्तव्य होगा। अवश्य उन सब सम्प्रदायों तथा पन्थोंकी समयानुकूलताकी ओर दृष्टि रखना बुद्धिमान् निष्पक्ष पुरुषोंका कर्त्तव्य होगा। यदि इनमेंसे कोई कोई सम्प्रदाय अथवा पन्थ समयानुसार अपना कार्य कर चुके हों और वर्त्तमान देशकाल उनके लिये अनुकूल न हो तो, उनके विषयमें पुनः पक्षपात रखना और इसी पक्षपातके कारण सत्यवस्तुके प्रति उपेक्षा या द्वेषयुक्त होना धर्म नहीं होगा, प्रत्युत अधर्म, अकर्तव्य और अनुदार चित्तका कार्य होगा। यही धर्मरक्षाके लिये अष्टकलापर्यन्त विभूतिके विकाशका विज्ञान है।

षोडश कलाओंसे पूर्ण सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्की आठ कला पर्यन्त शक्ति लौकिक मनुष्यादि केन्द्रों द्वारा प्रकट होती रहती है; परन्तु अष्टकलासे अतिरिक्त शक्ति धारण करना किसी लौकिक केन्द्र द्वारा सम्भव नहीं हो सकता है। इसलिये नौ कलाओंसे लेकर सोलह कलाओंतक भगवत् शक्तिका विकाश मनुष्यपश्वादि जिन अलौकिक केन्द्रोंके आधारसे होता है उन केन्द्रोंका नाम अवतार है। श्रीमद्भागवतमें लिखा है:—

"भावयत्येष सत्त्वेन लोकान् वै लोकभावनः।
लीलावतारानुरतो देवतिर्यङ्नरादिषु ॥"

लोकपालक भगवान् देव, तिर्यक्, मनुष्यादि शरीरके आधारसे लीलावतार धारण करके सत्त्वगुणके द्वारा ही संसारकी रक्षा करते हैं। इस प्रकारके अवतार कितने होते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें कहा है:—

"अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः ।
यथा विदासिनः कुल्याः सरसः स्युः सहस्रशः ॥
ऋषयो मनवो देवा मनुपुत्रा महौजसः ।
कलाः सर्वे हरेरेव सप्रजापतयः स्मृताः ॥
एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम् ।
इन्द्रारिव्याकुलं लोकं मृडयन्ति युगे युगे ॥
जन्म गुह्यं भगवतो य एतत् प्रयतो नरः ।
सायं प्रातर्गृणन् भक्त्या दुःखग्रामाद् विमुच्यते ॥
एतद्रूपं भगवतो ह्यरूपस्य चिदात्मनः ।
मायागुणैर्विरचितं महदादिभिरात्मनि ॥"

जिस प्रकार अगाध जलसे युक्त सरोवरसे सहस्र सहस्र जलकी नालियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार सत्त्वगुणाश्रय भगवान्से भी अनन्त अवतारोंकी उत्पत्ति होती है। ऋषिगण, मनुगण, देवगण, महातेजा मनुपुत्रगण, प्रजापतिगण—इन सभोंमें भगवत्-कलाका विभूति-रूपसे विशेष विकाश है। अन्यान्य अवतारोंमें भगवान्की आंशिक शक्तिका विकाश है; परन्तु श्रीकृष्णमें पूर्ण भगवत्-शक्तिका विकाश होनेसे श्रीकृष्ण स्वयं भगवद्-रूप हैं। दैत्यपीडित संसारकी रक्षाके लिये ही युगयुगमें अंशावतारों तथा पूर्णावतारोंकी उत्पत्ति होती है। श्रीभगवान्की इस प्रकारकी अवतार-रूपसे रहस्यपूर्ण जन्मकथाका भक्तिके साथ सायंकाल, प्रातःकाल कीर्तन करनेसे मनुष्य समस्त दुःखोंसे मुक्त हो सकता है। निराकार चित्स्वरूप परमात्माका अवताररूपसे इस प्रकारका रूपधारण महत्तत्त्व आदि मायाके गुणोंके द्वारा होता है। इस प्रकारसे अनन्त अवतारोंकी उत्पत्ति-कथा बताकर श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धके तृतीय अध्यायमें, पश्चात् इन अवतारोंमेंसे निम्नलिखित अवतारोंकी मुख्यता बताई गई है। यथाः—

"जगृहे पौरुषं रूपं भगवान् महदादिभिः ।
सम्भूतं षोडशकलमादौ लोकसिसृक्षया ॥
यस्याम्भसि शयानस्य योगनिद्रां वितन्वतः ।

नाभिह्रदाम्बुजादासीद् ब्रह्मा विश्वसृजां पतिः॥
यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।
तद्वै भगवतो रूपं विशुद्धं सत्त्वमूर्जितम्॥
पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरुभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्द्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बरकुण्डलोल्लसत्॥
एतन्नानावताराणां निधानं बीजमव्ययम्।
यस्यांशांशेन सृज्यन्ते देवतिर्यङ्नरादयः॥
स एव प्रथमं देवः कौमारं सर्गमाश्रितः।
चचार दुश्चरं ब्रह्मा ब्रह्मचर्यमखण्डितम्॥
द्वितीयन्तु भवायास्य रसातलगतां महीम्।
उद्धरिष्यन्नुपादत्त यज्ञेशः शौकरं वपुः॥
तृतीयमृषिसर्गं वै देवर्षित्वमुपेत्य सः।
तन्त्रं सात्वतमाचष्ट नैष्कर्म्यं कर्मणां यतः॥
तुर्य्ये धर्मकलासर्गे नरनारायणावृषी।
भूत्वात्मोपशमोपेतमकरोद्दुश्चरं तपः॥
पञ्चमः कपिलो नाम सिद्धेशः कालविप्लुतम्।
प्रोवाचासुरये सांख्यं तत्त्वग्रामविनिर्णयम्॥
षष्ठमत्रेरपत्यत्वं वृतः प्राप्तोऽनसूयया।
आन्वीक्षिकीमलर्काय प्रह्लादादिभ्य ऊचिवान्॥
ततः सप्तम आकूत्यां रुचेर्यज्ञोऽभ्यजायत।
स यामाद्यैः सुरगणैरपात् स्वायम्भुवान्तरम्॥
अष्टमे मेरुदेव्यान्तु नाभेर्जात उरुक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां सर्वाश्रमनमस्कृतम्॥

ऋषिभिर्याचितो भेजे नवमं पार्थिवं वपुः ।
दुग्धेमामोषधीर्विप्रास्तेनायं स उशत्तमः ॥
रूपं स जगृहे मात्स्यं चाक्षुषोदधिसंप्लवे ।
नाव्यारोप्य महीमय्यामपाद् वैवस्वतं मनुम् ॥
सुरासुराणामुदधिं मथ्नतं मन्दराचलम् ।
दध्रे कमठरूपेण पृष्ठ एकादशे विभुः ॥
धान्वन्तरं द्वादशमं त्रयोदशममेव च ।
अपाययत् सुरानन्यान् मोहिन्या मोहयन् स्त्रिया ॥
चतुर्दशं नारसिंहं बिभ्रद् दैत्येन्द्रमूर्जितम् ।
ददार करजैरूरावेरकां कटकृद् यथा ॥
पञ्चदशं वामनकं कृत्वागादध्वरं बलेः ।
पादत्रयं याचमानः प्रत्यादित्सुस्त्रिविष्टपम् ॥
अवतारे षोड़शमे पश्यन् ब्रह्मद्रुहो नृपान् ।
त्रिःसप्तकृत्वः कुपितो निःक्षत्रामकरोन्महीम् ॥
ततः सप्तदशे जातः सत्यवत्यां पराशरात् ।
चक्रे वेदतरोः शाखा दृष्ट्वा पुंसोऽल्पमेधसः ॥
नरदेवत्वमापन्नः सुरकार्यचिकीर्षया ।
समुद्रनिग्रहादीनि चक्रे वीर्याण्यतः परम् ॥
एकोनविंशे विंशतिमे वृष्णिषु प्राप्य जामनी ।
रामकृष्णाविति भुवो भगवानहरद् भरम् ॥
ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम् ।
बुद्धो नाम्नाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति ॥
अथासौ युगसन्ध्यायां दस्युप्रायेषु राजसु ।
जनिता विष्णुयशसो नाम्ना कल्किर्जगत्पतिः ॥"

लोकसृष्टिकी इच्छा करके महत्तत्त्व आदिके आश्रयसे श्रीभगवान्ने प्रथमतः

षोडशकलापूर्ण रूप ग्रहण किया। यह वही रूप है जो प्रलयकालमें योग-निद्रामें था और जिनके नाभिकमलसे प्रथम सृष्टिकर्त्ता ब्रह्माकी उत्पत्ति हुई थी। इसी विराट्रूपके भिन्न भिन्न अङ्गोंके द्वारा अनेक लोकोंकी कल्पना हुई है। श्रीभगवान्का यह रूप रजोगुण-तमोगुणसे रहित अतितेजोमय शुद्धसत्त्व है। योगिगण ज्ञानचक्षु द्वारा इस रूपका दर्शन करते हैं। यह रूप सहस्र पाद, सहस्र ऊरु, सहस्र हस्त, सहस्र मुख, सहस्रमस्तक, सहस्र कर्ण, सहस्र चक्षु, सहस्र नासिका, सहस्र वस्त्र और सहस्र कुण्डलके द्वारा शोभायमान है। वही रूप नाना अवतारोंका कारण और अव्यय वीजस्वरूप है। इसीके अंश-अंशसे देव, तिर्यक्, नरादि अनेक योनियोंकी सृष्टि होती है। इसी आदिदेवने प्रथमतः सनत्कुमारादिरूपसे ब्राह्मणशरीर धारण करके अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन किया। अतः सनत्कुमार इनका प्रथम अवतार है। इनका द्वितीय अवतार वराहावतार है, जिसमें श्रीभगवान्ने पातालमें गई हुई पृथिवीका उद्धार किया था। इनका तृतीय अवतार नारद है, जिसमें देवर्षित्व प्राप्त करके कर्म-वन्धनके नाशकारी मुक्तिप्रद तन्त्रोंका कथन किया था। इनके चतुर्थ अवतार नरनारायण ऋषि हैं, जिन्होंने आत्माके दमनके लिये कठिन तप किया था। इनके पञ्चम अवतार सिद्धेश्वर कपिल हैं जिन्होंने आसुरि नामक ब्राह्मणको पचीसतत्त्वोंके निर्णयकारी सांख्यशास्त्रका उपदेश किया था। इनके षष्ठ अवतार दत्तात्रेय हैं, जिनने अत्रिके पुत्ररूपसे प्रह्लाद आदियोंको आत्मविद्याका उपदेश किया था। इनके सप्तम अवतार यज्ञ हैं, जो रुचि और आकूतिसे उत्पन्न होकर यामादि निज पुत्र देवताओंके साथ स्वायम्भुव मन्वन्तरमें इन्द्र हुए थे। इनके अष्टम अवतार नाभिके द्वारा मेरुदेवीमें उत्पन्न ऋषभदेव हैं, जिन्होंने संसारको परमहंस अवस्थाका आदर्श दिखाया था। इनके नवम अवतार पृथु हैं जिन्होंने राजदेह धारण करके पृथिवीका दोहन किया था; जिससे ओषधि आदि वस्तुओंकी उत्पत्ति हुई है। पृथिवी-दोहनके हेतु यह अवतार उत्तम है। इनके दशम अवतार मत्स्य हैं जिन्होंने खण्डप्रलयकी जलमग्न दशामें वैवस्वत मनु तथा सृष्टिबीजकी रक्षा की थी। इनके एकादश अवतार कूर्म हैं जिन्होंने समुद्रमन्थनके समय कूर्मरूप धारण करके मन्दर पर्वतको पीठपर धारण किया था। इनके द्वादश अवतार धन्वन्तरि और त्रयोदश अवतार मोहिनी मूर्त्ति हैं, जिन्होंने असुरोंको मुग्ध करके देवताओंको अमृत पान करा दिया था। इनका चतुर्दश अवतार नृसिंह रूप है, जिसके द्वारा हिरण्यकशिपुवध

हुआ था। इनके पञ्चदश अवतार वामन हैं जिन्होंने बलि नामक असुरके यज्ञमें जाकर तीन पाद भूमिग्रहणके छलसे त्रिलोकको ग्रहण किया था। इनके षोडश अवतार परशुराम हैं, जिन्होंने एकविंशतिवार पृथिवीको निःक्षत्रिय कर दिया था। इनके सप्तदश अवतार पराशर और सत्यवती द्वारा उत्पन्न वेदव्यास हैं, जिन्होंने जीवोंको अल्पबुद्धि देखकर वेदको शाखाओंमें विभक्त कर दिया था। इनके अष्टादश अवतार नरदेवरूप रामचन्द्र हैं, जिन्होंने देवकार्योंके लिये रावणवध और समुद्रका दमन आदि किया था। इनके ऊनविंश और विंश अवतार बलराम और कृष्ण हैं, जिन्होंने यदुवंशमें जन्म लाभ करके संसार-भार हरण किया था। इनके एकविंश अवतार कीकट प्रदेशमें शुद्धोदन पुत्र बुद्ध होंगे, जो कलियुगमें असुरोंको मुग्ध करके देवताओंका कल्याण करेंगे। (यह अवतार होगया है)। इनके द्वाविंशति अवतार जगत्पति कल्कि होंगे, जो कलियुगके अन्तकालमें, जिस समय राजागण दस्युओंकी तरह प्रजापीड़न करेंगे, उस समय विष्णुयशाके गृहमें उत्पन्न होंगे यही सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के अंश तथा पूर्णकलाद्वारा प्रकट अवतार हैं। अन्यत्र श्रीमद्भागवतमें इन अवतारोंकी चौवीस संख्याएँ बताई गई हैं। यथा—द्वितीय स्कन्धके सप्तम अध्यायमें वराह, यज्ञ, कपिल, दत्तात्रेय, कुमारचतुष्टय, नर-नारायण, ध्रुव, पृथु, ऋषभ, हयग्रीव, मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, हरि, वामन, हंस, मन्वन्तर अवतार, धन्वन्तरि, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण, व्यास, बुद्ध और कल्कि। पुनः इन चतुर्विंश अवतारोंमेंसे मुख्य दस ही अवतार हैं, जिनके साथ अवतारसम्बन्धीय विज्ञानों तथा लीलाओंका सम्बन्ध विशेषरूपसे पाया जाता है। इसलिये आर्यशास्त्रमें तथा वेदमें इन्हींके विषयमें वर्णन मिलते हैं। यथाः—

> "मत्स्यः कूर्मो वराहश्च नृसिंहो वामनस्तथा।
> रामो रामश्च रामश्च बुद्धः कल्किर्दश स्मृताः॥"

मत्स्य, कूर्म वराह, नृसिंह वामन, परशुराम, राम, कृष्णबलराम, बुद्ध और कल्कि–ये दस अवतार हैं। साधारणरूपसे शास्त्रमें प्रायः दस अवतारों अथवा चौवीस अवतारोंका वर्णन पाया जाता है। और, यह भी पहले शास्त्रीय वचन द्वारा सिद्ध हो चुका है कि भगवान्के अवतारोंकी संख्याएँ अनेक हैं। इस कारण यहांपर यह वर्णन करना आवश्यक है कि सगुण-पञ्चोपासनाके अनुसार भगवदवतारके भेद शास्त्रमें अनेक कहे गये हैं। शैव पुराणोंमें अनेक शिवावता-

तारोंका वर्णन पाया जाता है। गणेशपुराणमें और गाणपत्य तन्त्रोंमें अनेक गणपति अवतारोंका वर्णन मिलता है। शक्ति-पुराण और शक्तिप्रधान तन्त्रोंमें शक्तिके अनेक अवतारोंका वर्णन देखनेमें आता है और उसी प्रकार पूर्व कथित वैष्णव-पुराणके वर्णनानुसार सूर्योपासनासम्बन्धीय ग्रन्थोंमें सूर्यदेवके अवतारोंका भी वर्णन मिलता है। फलतः पञ्चोपासनाके सिद्धान्तानुसार विष्णु, शिव, गणपति, सूर्य और देवी–इन सबके अवतार होनेका प्रमाण शास्त्रमें पाया जाता है। जगत्-कारण जगदीश्वर भगवान्के एक ही होनेपर भी और उनके अवतारतत्त्वका रहस्य एक ही होने पर भी, पञ्चसगुणोपासकोंकी उपासनाओंके महत्त्वसे पञ्चोपासनाके स्वतन्त्र स्वतन्त्र भावको लेकर इस जगत्की रक्षाके लिये स्वतन्त्र-स्वतन्त्र भावसे पूर्ण स्वतन्त्र स्वतन्त्र कलामें श्रीभगवान्के ऐसे अवतार समय समय पर प्रकट हुए हैं और होते रहते हैं। अस्तु, चाहे महाविष्णुभावको लेकर अवतार हो, चाहे महाशक्तिभावको लेकर अवतार हो, चाहे महागणपतिभावको लेकर अवतार हो, चाहे महादेवभावको लेकर अवतार हो और चाहे महासूर्य भावको लेकर अवतार प्रकट हो सभी सर्वशक्तिमान् अद्वितीय सगुण ब्रह्मके अवतार कहावेंगे और सभी ब्रह्मा विष्णु, महेशमेंसे विष्णुशक्तिके द्वारा जगत्के रक्षणार्थ अवतीर्ण होंगे। अब नीचे क्रमशः इन अवतारोंकी लीलाओंका वर्णन किया जाता है।

अवतारके विषयमें दैवीमीमांसादर्शनमें कहा है किः

"समष्टिकर्माधीनं तत्।"

अवतार किसी एक जीवके कल्याणके लिये नहीं होता है; परन्तु समष्टिजीवोंके कल्याणके लिये होता है। इस प्रकार समष्टिजीवोंका कल्याण श्रीभगवान्की अवताररूपमें प्रकट शक्ति द्वारा पांच प्रकारसे होता है। इसलिये अवतार पांच प्रकारके होते हैं। यथा दैवीमीमांसादर्शनमें :—

"कलाभेदेन पूर्णांशत्वम्"

"निमित्ताद् विशेषाविशेषौ"

"अन्तराविर्भूतानां नित्यत्वम्"

कलाभेदसे पूर्णावतार और अंशावतार होते हैं। नौ कलाओंसे पन्द्रह कलाओं तक अंशावतार कहलाते हैं और सोलह कलाओंके अवतार पूर्णावतार कहलाते हैं। निमित्तभेदसे विशेष अवतार और अविशेष अवतार होते हैं।

अन्तःकरणमें प्रकट श्रीभगवान्का नित्यावतार होता है। इस प्रकारसे पूर्णावतार, अंशावतार, विशेषावतार, अविशेषावतार और नित्यावतार—ये पांच प्रकारके अवतार हुए। अब इनके प्रकट होनेका कारण कहा जाता है। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत—तीनों कारणोंसे अवतारका आविर्भाव होता है। इनमेंसे अध्यात्मकारण यह है कि प्रत्येक युगमें धर्मका विकाश उस युगमें उत्पन्न जीवोंके समष्टिकर्मानुसार रहा करता है। यही प्रकृतिराज्यमें धर्माधर्मका सामञ्जस्य है। जब तक इस सामञ्जस्यके नियममें किसी प्रकारकी बाधा नहीं रहती है तबतक संसारमें अवताररूपमें अलौकिक शक्तिके प्रकट होनेकी कोई भी आवश्यकता नहीं रहती है और यदि यथा तथा कहीं पर कुछ असामञ्जस्यका आभास कभी देखनेमें भी आता है तो, आठ कलाओंतक भगद्विभूति द्वारा ही उस विषमभावके नष्ट होनेपर पुनः समष्टिप्रकृतिका सामञ्जस्य हो जाता है और युगानुसार धर्मका विकाश भी अटूट रहता है। परन्तु यदि किसी कारणवश ऐसा हो जाय कि युगानुसार धर्मका विकाश न होने पावे—जैसे कि कोई असुर या राक्षस उत्पन्न हो कर कठिन तपस्या आदि द्वारा शक्ति लाभ करे और उसी शक्ति द्वारा जीवके समष्टि कर्मपर प्रभाव डाल कर युगानुसार अवश्य होनेवाली धर्मकी धाराको रोक देवे या दुर्बल कर देवे और वह रोकना इस प्रकारका बलवान् हो कि आठ कलाओं तककी विभूति द्वारा धर्मका प्रवाह ठीक न हो सके तो, उस समय समष्टिप्रकृतिके नियमानुसार या भगवान्के जगत्रक्षाकारी नियमके अनुसार यह आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें उत्पन्न होती है कि अष्ट कलाओंसे अधिक भगवत्शक्ति किसी अलौकिक केन्द्रके द्वारा प्रकट होकर युगानुसार धर्मकी धारा—जो कि आसुरी या राक्षसी, विरुद्धशक्तिके द्वारा रोकी गई थी—को युगानुसार पुनः प्रवाहित कर देवें। यह जो प्राकृतिक नियमानुसार धर्मकी धाराको युगानुसार ठीक करनेके लिये अंश या पूर्णरूपमें अवतारके प्रकट होनेका कारण है इसीको आध्यात्मिक कारण कहते हैं। इस प्रकारके आध्यात्मिक कारणके विषयमें शास्त्रोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा राक्षस रावणके वधके लिये रामावतारके विषयमें रामायणके बालकाण्डके १५ वें और १६ वें सर्गमें वर्णन है:—

"स हि तेपे तपस्तीव्रं दीर्घकालमरिन्दमः।
येन तुष्टोऽभवद्ब्रह्मा लोककृल्लोकपूर्वजः॥

संतुष्टः प्रददौ तस्मै राक्षसाय वरं प्रभुः ।
नानाविधेभ्यो भूतेभ्यो भयं नान्यत्र मानुषात् ॥
अवज्ञाताः पुरा तेन वरदाने हि मानवाः ।
एवं पितामहात्तस्माद् वरदानेन गर्वितः ॥
उत्सादयति लोकांस्त्रीन् स्त्रियश्चाप्युपकर्षति ।
तस्मात्तस्य वधो दृष्टो मानुषेभ्यः परन्तप ॥
उद्वेजयति लोकांस्त्रीनुच्छ्रितान् द्वेष्टि दुर्मतिः ।
शक्रं त्रिदशराजानं प्रधर्षयितुमिच्छति ॥
ऋषीन् यक्षान् सगन्धर्वान् ब्राह्मणानसुराँस्तथा ।
अतिक्रामति दुर्धर्षो वरदानेन मोहितः ॥
नैनं सूर्यः प्रतपति पार्श्वे वाति न मारुतः ।
चलोर्मिमाली तं दृष्ट्वा समुद्रोऽपि न कम्पते ॥
तन्महन्नो भयं तस्माद्राक्षसाद् घोरदर्शनात् ।
वधार्थं तस्य भगवन्नुपायं कर्त्तुमर्हसि ॥
तमुद्धतं रावणमुग्रतेजसं प्रवृद्धदर्पं त्रिदशेश्वरद्विषम् ।
विरावणं साधुतपस्विकण्टकं तपस्विनामुद्धर तं भयावहम् ॥

राक्षसराज रावणने दीर्घकाल तक कठिन तपस्या की थी, जिससे सन्तुष्ट होकर आदि पुरुष ब्रह्माजीने उसको यह वरदान दिया कि 'मनुष्योंके सिवाय अन्य प्राणियोंसे उसको कोई भय नहीं होगा।' इस प्रकार वरदानसे गर्वित होकर रावण समस्त संसार तथा स्त्रियोंपर बहुत ही अत्याचार करता; जिससे संसारमें धर्मकी धारा नष्ट होने लगी है। अतः मनुष्योंके द्वारा ही उसका वध होना निश्चित है। रावण समस्त लोक, स्त्रीगण, सम्पत्तिशाली पुरुष-गण तथा इन्द्र पर्यन्तको पीडित करता है। ऋषि, यक्ष, गन्धर्व, ब्राह्मण, असुर आदि सभीको वरदानसे मुग्ध रावणने दबा लिया है। उसको देखकर डरसे सूर्य भी अधिक ताप नहीं देता है, वायु भी अधिक हिल नहीं सकता है और तरङ्गयुक्त समुद्र भी कम्पित नहीं होता है। इस राक्षससे सुर, नर—सभी-को विशेष भय हुआ है। इसलिये श्रीभगवान्से प्रार्थना है कि इसका

वध करके संसारमें धर्मकी धाराको पुनः प्रवाहित करें। यह रावण उद्धत, उग्रतेज, मदमत्त, देवराज इन्द्रका द्वेषी, त्रिलोकीको रुलाने वाला और तपस्वियोंका कण्टक है, इसके नाशसे तपस्वी साधुओंकी रक्षा और अधर्मका नाश होगा। यही सब अवतार प्रकट होनेका आध्यात्मिक कारण है। अवतार प्रकट होनेका दूसरा कारण अधिदैव है। स्थूल संसारके सञ्चालक देवतागण हैं। कर्मका प्रेरण, कर्मानुसार जीवको उन्नत-अवनत योनिका प्रदान, स्थूल संसारमें पञ्चभूतोंका ठीक ठीक सञ्चालन और धर्मव्यवस्थाकी ठीक ठीक रक्षा देवताओंके द्वारा हुआ करती है। इसलिये जिस समय कोई असुर या राक्षस तपोबलसे दैवराज्यपर अधिकार जमा लेता है और देवताओंको पीडित तथा अपने अपने अधिकारोंसे च्युत करने लगता है, उस समय दैवराज्यमें विश्टङ्खला हो जानेसे समस्त संसारमें भी विश्टङ्खलता फैल जाती है। क्योंकि, कर्मके सञ्चालक तथा संसारके रक्षक देवतागण ही जब हीनबल तथा पराजित हो गये, तब संसारमें धर्मकी व्यवस्था कैसे ठीक ठीक रह सकती है। इसलिये इस प्रकारसे पीडित होनेपर इन्द्रादि देवतागण मुख्य देवता विष्णुकी शरण लेते हैं और श्रीभगवान् विष्णुको अवतार धारण करके असुर या राक्षसका नाश तथा दैवराज्यका श्टङ्खला-स्थापन करना पड़ता है। यही अवतार प्रकट होनेका अधिदैव कारण है। कृष्णबलराम अवतारोंके प्रकट होनेके विषयमें इस प्रकारके अधिदैव कारणका वर्णन श्रीमद्भागवतके १० म स्कन्धके १ म अध्यायमें मिलता है। यथाः—

"भूमिर्दृप्तनृपव्याजदैत्यानीकशतायुतैः।
आक्रान्ता भूरिभारेण ब्रह्माणं शरणं ययौ॥
गौर्भूत्वाश्रुमुखी खिन्ना क्रन्दन्ती करुणं विभोः।
उपस्थितान्तिके तस्मै व्यसनं समवोचत॥
ब्रह्मा तदुपधार्याथ सह देवैस्तया सह।
जगाम सत्रिनयनस्तीरं क्षीरपयोनिधेः॥
तत्र गत्वा जगन्नाथं देवदेवं वृषाकपिम्।
पुरुषं पुरुषसूक्तेन उपतस्थे समाहितः॥"

अत्याचारी राजनामधारी कंसादि अनेक दैत्य तथा उनकी लक्ष लक्ष

दुष्ट सेनाएँ असुरोंके द्वारा पृथिवी देवीने अत्यन्त भाराक्रान्ता होकर भारहरणके लिये ब्रह्माजीकी शरण ली और गौरूप धारण करके रोती रोती अपने समस्त दुःखोंको ब्रह्माजीके पास पृथिवी माताने निवेदन किया। पृथिवीकी अधिष्ठात्री देवी पृथिवी माताकी बातें सुनकर ब्रह्माजी अन्यान्य देवता तथा पृथिवीको साथ लेकर क्षीरसमुद्रके तीरपर श्रीभगवान् विष्णुके पास गये और स्तुति द्वारा उनको प्रसन्न करके असुरोंके अत्याचारके विषयमें सब कुछ कहा, जिससे उन्होंने कृष्ण बलराम-अवतार धारण करके पृथ्वीके भारहरणका वचन दिया। इसी प्रकार नृसिंहावतारके विषयमें भी अधिदैव कारण श्रीमद्भागवतके ७म स्कन्धके ४र्थ अध्यायमें बताया गया है। यथाः—

"एवं वृतं शतधृतिर्हिरण्यकशिपोरथ ।
प्रादात् तत्तपसा प्रीतो वरांस्तस्य सुदुर्लभान् ॥
एवं लब्धवरो दैत्यो विभ्रद्धेममयं वपुः ।
भगवत्यकरोद्द्वेषं भ्रातुर्वधमनुस्मरन् ॥
स विजित्य दिशः सर्वा लोकांश्च त्रीन् महासुरः ।
देवासुरमनुष्येन्द्रगन्धर्वगरुडोरगान् ॥
सिद्धचारणविद्याध्रान् ऋषीन् पितृपतीन् मनून् ।
यक्षरक्षःपिशाचेशान् प्रेतभूतपतीनपि ॥
सर्वसत्त्वपतीन् जित्वा वशमानीय विश्वजित् ।
जहार लोकपालानां स्थानानि सह तेजसा ॥
तस्योग्रदण्डसंविग्नाः सर्वे लोकाः सपालकाः ।
अन्यत्रालब्धशरणाः शरणं ययुरच्युतम् ॥
तेषामाविरभूद्वाणी अरूपा मेघनिस्वना ।
सन्नादयन्ती ककुभः साधूनामभयंकरी ॥
मा भैष्ट विबुधश्रेष्ठाः सर्वेषां भद्रमस्तु वः ।
मद्दर्शनं हि भूतानां सर्वश्रेयोपपत्तये ॥
ज्ञातमेतस्य दौरात्म्यं दैतेयापसदस्य यत् ।
तस्य शान्तिं करिष्यामि कालं तावत् प्रतीक्षत ॥

यदा देवेषु वेदेषु गोषु विप्रेषु साधुषु ।
धर्मे मयि च विद्वेषः स वा आशु विनश्यति ॥
निर्वैराय प्रशान्ताय स्वसुताय महात्मने ।
प्रह्लादाय यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम् ॥"

हिरण्यकशिपुकी तपस्यासे सन्तुष्ट होकर ब्रह्माजीने उसको दुर्लभ वर प्रदान किया। वरप्राप्त हिरण्यकशिपु सोनेकी तरह शरीर धारण करके अपने भ्राता हिरण्याक्षके वधको स्मरण करके श्रीभगवान्के प्रति द्वेष करने लगा। प्रचण्ड असुर हिरण्यकशिपुने निज तेजसे दश दिशाओं तथा त्रिलोकोंको जय करके देव, असुर, मनुष्य, लोकपति, गन्धर्व, गरुड, उरग, सिद्ध, चारण, विद्याधर, ऋषि, पितर, मनु, यक्ष, रक्ष पिशाच, भूत, प्रेतपति और समस्त जीवोंके पतियोंको अपने वशमें कर लिया तथा लोकपालोंके स्थानोंको भी हरण कर लिया। उसके उग्र दण्डसे पीडित होकर समस्त जीव, देवता तथा लोकपालगणने अन्यत्र शरण न पाकर श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ली और उनके ध्यानमें मग्न हो गये। तदनन्तर दश दिशाओंको व्याप्त करके मेघगर्जनसे साधुओंको अभय देनेवाली आकाशवाणी हुई। "हे देवतागण ! भय मत करो, सबका कल्याण होगा; क्योंकि, मेरा दर्शन भूतोंके सकल प्रकारके कल्याणके लिये ही होता है। हिरण्यकशिपुका अत्याचार मुझे ज्ञात है और उसकी शान्ति भी कर दूंगा। तुम सब केवल कालकी प्रतीक्षा करो। जिस समय देवता, वेद, गौ, विप्र, साधु, धर्म और मेरे प्रति विद्वेष करेगा, उसी समय शीघ्र उसका नाश होगा। जिस समय द्वेषभावशून्य प्रशान्त महात्मा निजपुत्र प्रह्लादके साथ यह शत्रुता करेगा उसी समय मैं हिरण्यकशिपुका नाश करूंगा।" यही सब अवतारके प्रकट होनेमें अधिदैव कारण हैं। अवतारके प्रकट होनेमें तृतीय कारण अधिभूत है। जब समष्टिजगत्में धर्मकी धाराको ठीक करनेके लिये श्रीभगवान्का अवताररूपमें आविर्भाव होता है, जब अवतार प्रकट होनेका कारण साधुओंका परित्राण और असाधुओंका विनाश है, तो यह बात आपसे आप सिद्ध है कि जिस समय संसारमें पापियोंके द्वारा धर्मका नाश होने लगेगा और अधर्मकी वृद्धि होने लगेगी तो उस समय संसारमें स्थित महात्माओंके हृदयमें स्वतः ही अवतार प्रकट होनेके लिये प्रेरणा उत्पन्न होगी और वे सब एकाग्रचित्त होकर श्रीभगवान्से प्रार्थना करेंगे कि, शीघ्र करुणानिधान संसारके

नियन्ता सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान् प्रकट हों और पापियोंका नाश करके धर्मकी धाराको पुनः प्रवाहित कर दें; यह जो विपत्तिके समय समस्त महात्माओंके हृदयकी एकरस प्रार्थनाशक्ति, जिस प्रार्थनाशक्तिके बलसे निराकार भगवान् भी साकार रूपमें आकृष्ट होते हैं, अवतार प्रकट होनेका तृतीय अर्थात् आधिभौतिक कारण है जिसका विज्ञान पूर्वोल्लिखित श्लोकोंसे ही सिद्ध होता है। इन सब कारणोंसे स्पष्ट प्रमाणित होता है कि अवतारका प्रकट होना ब्रह्माण्डप्रकृतिके अनुकूल व्यापार है। श्रीपरमात्मामें इच्छाका अभाव है। इसलिये परमात्मा स्वयं इच्छा करके अवतार ग्रहण करते हैं—यह बात परमात्माके स्वरूपके विरुद्ध है। ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें ऊपर वर्णित आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक—त्रिविध प्रेरणाएँ ही परमात्माके अवताररूपसे उदय होनेका कारण स्वयं ही हो जाती हैं। इस लिये अवतारका प्रकट होना ब्रह्माण्ड-प्रकृतिके अनुकूल व्यापार है। और इसीलिये जिस प्रकार किसी अत्याचारी असुरके उत्पन्न होते समय ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें कुलक्षण देखनेमें आते हैं—जिससे उस असुरके द्वारा भावी अशुभकी सूचना होती है—उसी प्रकार धर्म तथा ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी रक्षाके लिये अवतार प्रकट होनेके समय भावी शुभकी सूचनाके रूपसे ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें अनेक शुभ लक्षणोंकी सूचना होने लगती है। प्रकृतिमाता आनन्दसे हास्य तथा नृत्य करने लगती हैं, प्रकृतिकी मनोमोहिनी माधुरी, दश दिशाओंमें प्रकाशित विचित्र शोभा उनके आनन्दकी छटाके रूपसे संसारको मुग्ध करने लगती है। यही सब अवतारके उदय होनेमें प्राकृतिक अनुकूलताके लक्षण हैं। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके षोडशकलामें प्रकट होनेके समय भी ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें इस प्रकारके सुलक्षणोंका उदय हुआ था। यथा श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके तृतीय अध्यायमेंः—

"अथ सर्वगुणोपेतः कालः परमशोभनः।
यर्ह्येवाजनजन्मर्क्षं शान्तर्क्षग्रहतारकम्॥
दिशः प्रसेदुर्गगनं निर्मलोडुगणोदयम्।
मही मंगलभूयिष्ठपुरग्रामव्रजाकरा॥
नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदा जलरुहश्रियः।
द्विजालिकुलसन्नादस्तबका वनराजयः॥

ववौ वायुः सुखस्पर्शः पुण्यगन्धवहः शुचिः।
अग्नयश्च द्विजातीनां शान्तास्तत्र समिन्धत ॥
मनांस्यासन् प्रसन्नानि साधूनामसुरद्रुहाम्।
जायमानेऽजने तस्मिन् नेदुर्दुन्दुभयो दिवि ॥
जगुः किन्नरगन्धर्वास्तुष्टुवुः सिद्धचारणाः।
विद्याधर्यश्च ननृतुरप्सरोभिः समं तदा ॥
मुमुचुर्मुनयो देवाः सुमनांसि मुदान्विताः।
मन्दं मन्दं जलधरा जगर्जुरनुसागरम् ॥"

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके प्रकट होते समय काल समस्त शुभगुणोंसे युक्त और सुशोभित हो गया। उस समय रोहिणी नक्षत्रका प्रभाव रहा और अश्विनी आदि नक्षत्र तथा ग्रह शान्त रहे। दश दिशाएँ प्रसन्न और आकाश निर्मल तारागणसे सुशोभित हो गया। समस्त संसारके नगरों तथा ग्रामोंमें मङ्गल हो गया। समस्त नदियाँ प्रसन्नजलयुक्ता, समस्त सरोवर कमलोंकी शोभासे सुशोभित और समस्त वन मधुर पुष्पोंसे युक्त तथा भ्रमरोंके गुञ्जनसे परिपूर्ण हो गया; शीतल, सुखकर, पवित्र, सुगन्ध पवन प्रवाहित होने लगा और ब्राह्मणोंकी होमाग्नि अत्युत्तम तेजके साथ प्रज्वलित होने लगी। असुर-द्रोही साधुओंके अन्तःकरण प्रसन्न हो गये और स्वर्गमें दुन्दुभि बजने लगी। किन्नर, गन्धर्वगण गान करने लगे। सिद्ध, चारणगण स्तवपाठ करने लगे, अप्सराओंके साथ विद्याधरीगण नृत्य करने लगीं। मुनिगण और देवतागण परम प्रसन्न होकर पुष्पवृष्टि करने लगे। मेघमालाओंका मृदुमन्द गर्जन होने लगा। यही सब अवतारके प्रकट होनेके समय ब्रह्माण्डप्रकृतिमें अनुकूल-तामूलक आनन्द तथा सुलक्षणोंका विकाश है। इसी प्रकार रामावतारके प्रकट होते समय भी प्रकृतिमें आनन्दका लक्षण देखनेमें आया था। यथा रामायणके बालकाण्डमें:—

"जगुः कलं च गन्धर्वा ननृतुश्चाप्सरोगणाः।
देवदुन्दुभयो नेदुः पुष्पवृष्टिश्च खात्पतत् ॥"

गन्धर्वगण कलनादसे, गान करने लगे, अप्सरागण नृत्य करने लगीं, देवलोकमें दुन्दुभि बजने लगी और स्वर्गसे पुष्पवृष्टि होने लगी। इस प्रकारसे

समष्टि-जगत्‌के कल्याणके लिये, समष्टि-प्रकृतिको प्रफुल्लित करते हुए अवतारका आविर्भाव होता है। अब नीचे क्रमशः दशावतारचरित्रकी कथाओंका संक्षेपसे वर्णन किया जाता है।

(मत्स्यावतार ।)

इस अवतारोंमेंसे प्रथम मत्स्यावतार है, जिसका आविर्भाव नैमित्तिक प्रलयमें सृष्टि-बीजकी रक्षाके लिये होता है। नैमित्तिक प्रलय-कालमें समस्त सृष्टि जलमग्न हो जाती है। इसका प्रमाण श्रुतिमें भी मिलता है। यथा तैत्तिरीय संहिता, ७-१-५-१, में:—

"आपो वा इदमग्रे सलिलमासीत्"

सृष्टि होनेके पहले समस्त संसार जलमग्न था। और भी तैत्तिरीय आरण्यक, १०-२२, में:—

"आपो वा इदं सर्वं विश्वा भूतान्यापः"

नैमित्तिक प्रलयके बाद सृष्टिके पहले समस्त संसार जलमग्न था।

अथर्ववेदसंहिताके द्वितीय काण्डका प्रथम मन्त्रार्द्ध यह है:—

"वेनस्तत् पश्यत् परमं गुहा यद् यत्र विश्वं भवत्येकरूपम्"

इसका अर्थ यह है कि गुहारूपी आदित्यमण्डलमें जो जल है, जिस जलसे नैमित्तिक प्रलय-कालमें समस्त विश्व एकाकार हो जाता है, उसको वेन अर्थात् मेघकी अधिष्ठात्री देवताने देखा था। इस प्रकारसे नैमित्तिक प्रलयमें संसारके जलमग्न होनेका प्रमाण श्रुतियोंमें मिलता है। शतपथ ब्राह्मणमें इस जलप्लावन तथा मत्स्यावतारके विषयमें अनेक मन्त्र मिलते हैं, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

श्रीमद्भागवतमें मत्स्यावतारके विषयमें लिखा है:—

"गोविप्रसुरसाधूनां छन्दसामपि चेश्वरः ।
रक्षामिच्छँस्तनुर्धत्ते धर्मस्यार्थस्य चैव हि ॥
उच्चावचेषु भूतेषु चरन वायुरिवेश्वरः ।
नोच्चावचत्वं भजते निर्गुणत्वाद्धियो गुणैः ॥
आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः ।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादयो नृप ॥

कालेनागतनिद्रस्य धातुः शिशयिषोर्बली ।
मुखतो निःसृतान् वेदान् हयग्रीवोऽन्तिकेऽहरत् ॥
ज्ञात्वा तद्दानवेन्द्रस्य हयग्रीवस्य चेष्टितम् ।
दधार शफरीरूपं भगवान् हरिरीश्वरः ॥ ”

गो, ब्राह्मण, देवता, साधुगण, वेद, धर्म तथा अर्थकी रक्षाके लिये श्रीभगवान् अवताररूपसे स्थूलशरीर धारण करके प्रकट होते हैं, उन्नत या अवनत योनियोंमें भ्रमण करने पर भी वायुकी तरह श्रीभगवान्को दोष स्पर्श नहीं करता है; क्योंकि, गुणातीत होनेसे प्राकृतिक गुणोंका बन्धन उनपर नहीं है। पूर्व कल्पके अन्तमें जब ब्रह्माजीके रात्रिकालमें नैमित्तिक प्रलय हुआ था तब पृथिवी आदि समस्त लोक समुद्रजलसे प्लावित हो गये थे। कालानुसार जब ब्रह्माजीको निद्रा आने लगी और उन्होंने शयन करनेकी इच्छा की, तो हयग्रीव नामक बलवान् असुरने ब्रह्माजीके मुखसे निकले हुए वेदोंको हरण कर लिया। हयग्रीवकी इस चेष्टाको जानकर उसका वध करके वेदोंका उद्धार करनेके लिये श्रीभगवान्को मत्स्यावतार धारण करना पड़ा। यह अवतार किस तरहसे प्रकट हुआ था, इसके विषयमें अग्निपुराणमें वर्णन है। यथाः—

“आसीदतीतकल्पान्ते ब्राह्मो नैमित्तिको लयः ।
समुद्रोपप्लुतास्तत्र लोका भूरादिका मुने ॥
मनुर्वैवस्वतस्तेपे तपो वै भुक्ति-मुक्तये ।
एकदा कृतमालायां कुर्वतो जलतर्पणम् ॥
तस्याञ्जल्युदके मत्स्यः स्वल्प एकोऽभ्यपद्यत ।
क्षेप्तुकामं जले प्राह न मां क्षिप नरोत्तम ॥
ग्राहादिभ्यो भयं मेऽद्य तच्छ्रुत्वा कलशेऽक्षिपत् ।
स तु वृद्धः पुनर्मत्स्यः प्राह तं देहि मे बृहत् ॥
स्थानमेतद् वचः श्रुत्वा राजाथोदञ्चनेऽक्षिपत् ।
तत्र वृद्धोऽब्रवीद्भूपं पृथु देहि पदं मनो ॥
सरोवरे पुनः क्षिप्तो ववृधे तत्प्रमाणवान् ।
ऊचे देहि बृहत् स्थानं प्राक्षिपच्चाम्बुधौ मनुः ॥

किया था और देवासुरोंने समुद्रके मन्थन द्वारा अमृत लाभ किया था । समुद्रमें अमृतकी स्थितिके विषयमें अथर्ववेदसंहिताके १।१।४ में एक मन्त्रांश मिलता है ।

"अप्स्वन्तरमृतमप्सु भेषजम्" इत्यादि ।

इसके भाष्यमें सायणाचार्य लिखते हैं—

"अप्सु उदकेषु अन्तः मध्ये अमृतं अमरणसाधनं देव-भोग्यं पीयूषम् अस्तीति शेषः । समुद्रमथनेन अमृतस्य उत्पन्नत्वात् ॥"

जलके मध्यमें मृत्युनाशकारी देवताओंका भोग्य पीयूष है जिसको अमृत कहते हैं । समुद्रमन्थनके द्वारा इस अमृतकी प्राप्ति हुई थी । यह कथा अग्निपुराणमें संक्षेपसे वर्णित की गई है । यथाः—

"पुरा देवासुरे युद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः ।
दुर्वाससश्च शापेन निःश्रीकाश्चाभवँस्तदा ॥
स्तुत्वा क्षीराब्धिगं विष्णुमूचुः पालय चासुरात् ।
ब्रह्मादिकान् हरिः प्राह सन्धिं कुर्वन्तु चासुरैः ॥
क्षीराब्धिमथनार्थं हि अमृतार्थं श्रियेऽसुराः ।
अरयोऽपि हि सन्धेयाः सति कार्यार्थगौरवे ।
युष्मानमृतभाजो हि कारयामि न दानवान् ॥
मन्थानं मन्दरं कृत्वा नेत्रं कृत्वा तु वासुकिम् ।
क्षीराब्धिं मत्सहायेन निर्मथध्वमतन्द्रिताः ॥
विष्णूक्तां संविदं कृत्वा दैत्यैः क्षीराब्धिमागताः ।
ततो मथितुमारब्धा यतः पुच्छं ततः सुराः ॥
फणिनिश्वाससन्तप्ता हरिणाप्यायिताः सुराः ।
मथ्यमानेऽर्णवे सोऽद्रिरनाधारो ह्यपोऽविशत् ॥
कूर्मरूपं समास्थाय दध्रे विष्णुश्च मन्दरम् ।
क्षीराब्धेर्मथ्यमानाच्च विषं हालाहलं ह्यभूत् ॥

हरेण धारितं कण्ठे नीलकण्ठस्ततोऽभवत्।
ततोऽभूद् वारुणी देवी पारिजातस्तु कौस्तुभः॥
गावश्चाप्सरसो दिव्या लक्ष्मीर्देवी हरिं गता।
पश्यन्तः सर्वदेवास्तां स्तुवन्तः सश्रियोऽभवन्॥
ततो धन्वन्तरिर्विष्णुरायुर्वेद-प्रवर्त्तकः।
बिभ्रत् कमण्डलुं पूर्णममृतेन समुत्थितः॥
अमृतं तत्कराद्दैत्याः सुरेभ्योऽर्द्धं प्रदाय च।
गृहीत्वा जग्मुर्जम्भाद्या विष्णुः स्त्रीरूपमागतः॥
तां दृष्ट्वा रूपसम्पन्नां दैत्याः प्रोचुर्विमोहिताः।
भव भार्यामृतं गृह्य पाययास्मान् वरानने॥
तथेत्युक्त्वा हरिस्तेभ्यो गृहीत्वापाययत् सुरान्।
अप्राप्याथामृतं दैत्या देवैर्युद्धे निपातिताः॥
त्रिदिवस्थाः सुराश्चासन् यः पठेत् त्रिदिवं व्रजेत्॥"

पूर्वकालमें असुरोंके साथ देवताओंका युद्ध हुआ था, जिसमें देवता परास्त हो गये थे। तदनन्तर महर्षि दुर्वासाके अभिसम्पातसे और भी श्रीहीन हो गये थे। दुर्दशाग्रस्त देवलोकसे च्युत देवताओंने अन्तमें अन्य कोई भी उपाय न देखकर श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ली और स्तुतिपूर्वक असुरोंसे रक्षाके लिये प्रार्थना की। श्रीभगवान्‌ने स्तुतिसे प्रसन्न होकर ब्रह्मादि देवताओंसे कहाः—"देवतागण! असुरोंसे सन्धिस्थापन करो, जिससे दोनों मिलकर अमृत तथा श्रीप्राप्तिके लिये क्षीरसमुद्रका मंथन कर सकोगे। यह एक नीति है कि कार्यकी कठिनता उपस्थित होनेपर शत्रुओंसे भी सन्धि करना उचित है। समुद्र-मंथन द्वारा जो अमृतकी उत्पत्ति होगी वह मैं तुम सभोंको पिलाऊंगा, असुरोंको नहीं पीने दूंगा। अतः मन्दरपर्वतको मथनदण्ड तथा नागराज वासुकिको मंथनरज्जु बनाकर परिश्रमके साथ समुद्रमंथनमें प्रवृत्त हो जाओ, मैं इसमें सहायता करूँगा।" श्रीभगवान् विष्णुकी इस प्रकारकी आज्ञाको पाकर देवताओंने असुरोंके साथ सन्धि की और तदनन्तर दोनोंने मिलकर समुद्र-मंथन करना प्रारम्भ कर दिया। असुरगणोंने वासुकिके मुखकी

तरफ पकड़ा और देवतागणोंने पूछकी तरफ। सर्पराजके निश्वाससे सन्तप्त होनेपर भगवान् हरिने उनको शान्ति-प्रदान किया। मंथनका कार्य प्रारम्भ होनेपर मन्दर पर्वतके नीचे कुछ आधार न होनेसे वह नीचेकी ओर दबने लगा। ऐसा देखकर श्रीभगवान् विष्णुजीने कूर्मरूप धारण करके अपने पृष्ठ पर मन्दरपर्वतको धारण कर लिया। तदनन्तर मथे जानेवाले क्षीरसमुद्रसे हलाहल विष उत्पन्न हुआ। देवदेव शंकरने देवताओंसे प्रार्थित होकर उस हलाहलको कण्ठमें धारण कर लिया; जिस कारण उनको नीलकण्ठ कहते हैं। तदनन्तर क्रमशः क्षीरसमुद्रसे वारुणी देवी, पारिजात, कौस्तुभ, गौ और अप्सरागण निकलीं। तदनन्तर लक्ष्मी देवी क्षीरसमुद्रसे निकलीं और श्रीभगवान् हरिका आश्रय किया। देवतागण, जो श्रीहीन हो गये थे, लक्ष्मीका संदर्शन तथा स्तवपाठ करके पुनः श्रीयुक्त हो गये। सबके अन्तमें विष्णुके अंशस्वरूप आयुर्वेदके प्रवर्त्तक धन्वन्तरि हाथमें अमृतपूर्ण कमण्डलु लेकर समुद्रसे उठे। असुरोंने उनके हाथसे कमण्डलु छीन लिया और देवताओंको अर्द्धांश देकर बाकी अमृत ले जाने लगे। इसको देखकर विष्णु भगवान्ने मोहिनी स्त्रीका रूप धारण किया। उनके मनोमोहन रूपको देखकर सब दैत्य मुग्ध हो गये और कहने लगेः—"वरानने ! तुम हमारी स्त्री हो जाओ और अपने हाथसे हमको अमृत पान कराओ।" प्रच्छन्नरूपी हरिने "तथास्तु" कहकर असुरोंके हाथसे अमृत कमण्डलुको ले लिया; परन्तु असुरोंको न पिलाकर देवताओंको पिला दिया। असुर सब ताकते ही रह गये—उनके सौन्दर्यके प्रति मोहके कारण किसीसे कुछ नहीं कहा गया। विष्णुजीने एक पंक्ति देवताओंकी और दूसरी असुरोंकी की और देवताओंकी पंक्तिमें ही सब अमृत बाँट दिया। समस्त अमृतके बँट जाने पर श्रीभगवान्ने स्त्रीरूप परित्याग करके निजरूप धारण कर लिया। तदनन्तर अमृतपानसे वञ्चित होकर असुरगण बहुत क्रुद्ध हुए और देवताओंके साथ युद्ध करना प्रारम्भ कर दिया। परन्तु अमृतपान द्वारा अमर तथा तेजस्वी देवताओंने अब असुरोंको सम्पूर्णरूपसे परास्त कर दिया और अपने स्वर्गराज्यको असुरोंके हाथसे छीन लिया। इस प्रकारसे कूर्मावतार द्वारा असुरोंका पराजय तथा दैवराज्यकी स्थितिके द्वारा श्रीभगवान्ने धर्मकी रक्षा की थी। कूर्मावतारके इतिहास द्वारा अध्यात्म-जगत्में एक अपूर्व शिक्षा मिलती है। इसमें देखा गया है कि क्षीरसमुद्र, जो कि समस्त सृष्टिका मूल कारण है—उसको मथित करके लक्ष्मी, अमृत

आदिकी प्राप्ति देवतागण केवल निज शक्ति द्वारा नहीं कर सकते थे। क्योंकि, यह बात विज्ञानसिद्ध है कि विरुद्ध शक्तिके साथ संघर्ष (टक्कर) के बिना किसी प्रकारकी क्रियाकी उत्पत्ति नहीं हो सकती है। इसलिए दैवी-शक्ति और उससे विपरीत आसुरीशक्ति—दोनों साथ मिलकर जब कार्य करने लगीं, तभी अमृत, विष तथा लक्ष्मी आदिकी प्राप्ति क्षीरसमुद्रसे हुई। संसारमें भी जीवको सम्पत्ति तथा लक्ष्मीकी प्राप्ति तभी हो सकती है जब जीव विरुद्ध शक्तिके साथ लड़ाई करनेमें प्रस्तुत हो। दुःखके साथ युद्ध किये बिना सुखकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है, दरिद्रताके साथ लड़ाई लड़े बिना सम्पत्तिकी प्राप्ति कदापि नहीं हो सकती है, अंधेरेके साथ युद्ध किये बिना प्रकाशकी प्राप्ति कदापि संभव नहीं है, अविद्याके साथ संग्राम किये बिना विद्याकी प्राप्ति कदापि सम्भव नहीं है और अज्ञानके साथ संग्राम किये बिना ज्ञानका प्रकाश कदापि नहीं हो सकता है इत्यादि इत्यादि सभी सिद्धान्त ऊपर लिखित समुद्र-मन्थन सम्बन्धीय देवासुर—क्रियाके विज्ञानसे स्पष्ट होते हैं। परन्तु इसमें विचार करनेकी बात यह है कि देवता और असुरोंकी परस्पर विरुद्धशक्तिके संघर्षसे क्रियाकी उत्पत्ति और फलकी प्राप्ति तभी हुई थी जब दोनों शक्तियोंकी ही रक्षा तथा सामञ्जस्यका स्थापन करनेवाली कूर्म भगवान्‌की धर्मशक्ति सहायक-रूपसे दोनोंके नीचे विद्यमान थी। अन्यथा दोनों शक्तियां परस्पर टकराकर बीच ही में समाप्त हो जातीं और समुद्रका मथन कदापि नहीं होता। इसी प्रकार संसारमें भी धर्मको लक्ष्यमें रखकर यदि दोनों विरुद्ध शक्तियोंका संघर्ष हो, तभी अन्तमें उत्तम फलकी प्राप्ति हो सकती है, अन्यथा धर्मलक्ष्य न होनेपर दोनों शक्तियां लड़ती ही रह जायँगी और लड़ लड़ कर अन्तमें दोनों ही समाप्त हो जायँगी अर्थात् प्रलयके गर्भमें प्रवेश कर जायँगी। पृथिवीमें जितने धर्म, सम्प्रदाय तथा उपधर्म परस्पर संग्राममें प्रवृत हैं—इन सभोंमें यदि कोई धर्म-सिद्धान्त लक्ष्य रहेगा तब तो इन संग्रामोंके द्वारा अन्तमें कोई सुफल उत्पन्न होगा, जिसको विज्ञानशास्त्रमें resultant of forces (शक्ति-समूहका परिणाम) कहा जाता है, नहीं तो ये सब परस्पर विरुद्ध शक्तियाँ यदि लक्ष्य भ्रष्ट होकर केवल ईर्ष्या-द्वेषके वशीभूत हो परस्परको काटने तथा नष्ट करनेकी चेष्टा करेंगी, तो समस्त विरुद्ध शक्तियोंके परस्पर टक्कर खानेपर अन्तमें कुछ भी बाकी नहीं रहेगा और संसार श्मशान हो जायगा। अतः सामञ्जस्य करनेवाली, समस्त क्रियाकी फलरूपिणी धर्मशक्तिको लक्ष्यमें रखकर विरुद्ध शक्तियोंके

बीचमें संग्राम होना चाहिये—इसीसे संसारका कल्याण तथा धर्मकी रक्षा है । यही कूर्मावतारकी कथाके द्वारा अध्यात्म राज्यमें नित्य शिक्षा प्राप्त होती है ।

(वराहावतार ।)

दस अवतारोंमें तृतीयस्थानीय वराहावतार है । इस अवतारका आविर्भाव पातालको गई हुई पृथिवीके उद्धारके लिये हुआ था । इसके विषयमें श्रीमद्भागवतमें विशेष वर्णन मिलता है । जय, विजय नामक विष्णुलोकनिवासी विष्णुलोकके दो द्वारपालोंने सनकादि कुमारोंके शापसे विष्णुलोकसे च्युत होकर दितिके गर्भमें जन्मग्रहण किया था । उनमेंसे एकका नाम हिरण्याक्ष और दूसरेका नाम हिरण्यकशिपु हुआ था । हिरण्याक्ष पृथिवीपर अधिकार जमा कर उसे रसातलको ले गया था । श्रीभगवान् विष्णुने वराहरूप धारण करके जलमग्न रसातलगत पृथिवीका उद्धार किया था और हिरण्याक्षका बध करके स्वर्गराज्यका उद्धार किया था । यही वराहावतारका इतिहास है अब इसके विषयमें श्रीमद्भागवतका वर्णन लिखा जाता है ।

जिस प्रकार किसी अवतार या विभूतिके जन्म लेते समय ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें आनन्दकी उत्पत्ति होती है, जिससे भावी शुभलक्षण सूचित होता है, जिसका कि वर्णन पहले ही कर चुके हैं, उसी प्रकार किसी दैत्य या राक्षसके जन्म लेते समय ब्रह्माण्डप्रकृतिमें निरानन्द फैलता है, जिससे भावी अशुभ लक्षणकी सूचना होती है । हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके जन्मके समय भी ब्रह्माण्डप्रकृतिमें ऐसे अशुभ लक्षण प्रकट हुए थे । यथा । श्रीमद्भागवतमें:—

"उत्पाता बहवस्तत्र निपेतुर्जायमानयोः ।
दिवि भुव्यन्तरिक्षे च लोकस्योरुभयावहाः ॥
सहाचला भुवश्चेलुर्दिशः सर्वाः प्रजज्वलुः ।
सोल्काश्चाशनयः पेतुः केतवश्चार्त्ति-हेतवः ॥
ववौ वायुः सुदुःस्पर्शः फूत्कारानीरयन्मुहुः ।
उन्मूलयन्नगपतीन् वात्यानीको रजोध्वजः ॥
उद्धसत्तडिदम्भोदघटया नष्टभागणे ।
व्योम्नि प्रविष्टतमसा न स्म व्यादृश्यते पदम् ॥
चुक्रोश विमना वार्द्धिरुदूर्मिः क्षुभितोदरः ।

खोदपानाश्च सरितश्चुक्षुभुः शुष्कपङ्कजाः ॥
अन्तर्ग्रामेषु मुखतो वमन्त्यो वह्निमुल्बणम् ।
शृगालोलूकटङ्कारैः प्रणेदुरशिवाः शिवाः ॥
खराश्च कर्कशैः क्षत्तः खुरैर्घ्नन्तो धरातलम् ।
खार्काररभसा मत्ताः पर्यधावन् वरूथशः ॥
गावोऽत्रसन्नसृग्दोहास्तोयदाः पूयवर्षिणः ।
व्यरुदन् देवलिङ्गानि द्रुमाः पेतुर्विनानिलम् ॥
ग्रहान् पुण्यतमानन्ये भगणांश्चापि दीपिताः ।
अतिचेरुः क्रूरगत्या युयुधुश्च परस्परम् ॥"

हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुके जन्मकालमें स्वर्गलोक, पृथिवीलोक तथा अन्तरिक्षमें भयजनक अनेक अनिष्ट होने लगे। पर्वतोंके साथ पृथिवी कांपने लगी, दश दिशाओंमें अग्नि प्रज्वलित हो गई, उल्का और वज्रपात होने लगे, दुःख देनेवाले केतुओंका उदय हो गया, प्रबल वायु भीषण शब्द करता हुआ बहने लगा, आँधी चलने लगी, धलि उड़ने लगी और बड़े बड़े वृक्ष उखड़कर गिरने लगे। हँसती हुई बिजलीसे परिपूर्ण घोर घनघटासे आकाशके आच्छन्न हो जाने-पर चन्द्रसूर्यनक्षत्रादि—सभी छिप गये और इधर उधर कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं हो सका। समुद्रमें ऊँची ऊँची तरङ्गमाला चलने लगी, समुद्रमें स्थित मगर आदि जन्तुगण उछलते हुए समुद्रके साथ उछलने लगे और तड़ाग, कूप तथा सरोवरोंके भी कमल सब सूख गये। अमङ्गलकारी शिवागण (एक प्रकारके शृगाल) ग्रामोंके भीतर ही मुखसे अग्नि वमन करती हुई शृगाल और उलूकके शब्दके साथ विकट शब्द करने लगीं। कठिन खुरोंसे पृथिवीको विदीर्ण करते हुए गर्दभसमूह उन्मत्तकी तरह चारों ओर चीत्कार करते करते भागने लगे। गौओंके स्तनसे दूधके बदले खूनकी धारा निकलने लगी, मेघसमूह जलके बदले पूय (पीव)की वृष्टि करने लगे, देवमूर्ति-समूह रोदन करने लगे और विना वायुके वेगके ही वृक्षसमूह गिरने लगे। बृहस्पति, शुक्रादि शुभ ग्रहोंको मङ्गल, शनि आदि क्रूर ग्रहोंने दबा लिया और वक्र गतिके साथ उनसे लड़ने लगे। इस प्रकार त्रिलोकमें अशान्तिकर कुलक्षणोंके साथ उत्पन्न होकर भुजाओंके बल तथा ब्रह्माजीके वरके प्रतापसे हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुने समस्त

स्वर्ग राज्यपर अधिकार जमा लिया और देवताओंको निकाल दिया। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

"चक्रे हिरण्यकशिपुर्दोर्भ्यां ब्रह्मवरेण च ।
वशे सपालान् लोकांस्त्रीनकुतोमृत्युरुद्धतः ॥
हिरण्याक्षोऽनुजस्तस्य प्रियः प्रीतिकृदन्वहम् ।
गदापाणिर्दिवं यातो युयुत्सुर्मृगयन् रणम् ॥
तं वीक्ष्य दुःसहजवं रणत्काञ्चननूपुरम् ।
वैजयन्त्या स्रजा जुष्टमंसन्यस्तमहागदम् ॥
मनोवीर्यवरोत्सिक्तमसृण्यमकुतोभयम् ।
भीता निलिल्यिरे देवास्तार्क्ष्यत्रस्ता इवाहयः ॥
स वै तिरोहितान् दृष्ट्वा महसा स्वेन दैत्यराट् ।
सेन्द्रान् देवगणान् क्षीबानपश्यन् व्यनदद् भृशम् ॥
ततो निवृत्तः क्रीडिष्यन् गम्भीरं भीमनिस्वनम् ।
विजगाहे महासत्त्वो वार्धिं मत्त इव द्विपः ॥
तस्मिन् प्रविष्टे वरुणस्य सैनिका
यादोगणाः सन्नधियः ससाध्वसाः ।
अहन्यमाना अपि तस्य वर्चसा
प्रधर्षिता दूरतरं विदुद्रुवुः ॥"

ब्रह्माजीसे वरप्राप्त तथा भुजबलसे उद्धत और मृत्युरहित होकर हिरण्यकशिपुने तीनों लोकों तथा लोकपालोंको अपने वशमें कर लिया। हिरण्याक्ष भी हाथमें गदा लेकर कनिष्ठ भ्राताका प्रिय कार्य करनेके लिये देवताओंके साथ युद्धकी इच्छासे स्वर्गमें पहुँचा। उसके दुःसह वेग, शब्द करता हुआ सोनेका आभूषण नूपुर, वैजयन्तीमाला, भीषण गदा, शूरता, वीरता तथा ब्रह्माजीसे वरप्राप्तिके कारण अहंकार और निर्भय भावको देखकर समस्त देवतागण गरुड़के भयसे भीत सर्पकी तरह, उसके भयसे दब गये और भाग गये। अपने तेजसे इन्द्र प्रमुख समस्त देवताओंको भागते हुए देखकर दैत्यराज हिरण्याक्ष पुनः पुनः हुङ्कार करने लगे। तदनन्तर वहांसे निवृत्त होकर

खेलनेकी इच्छासे भीषण गर्जन करते हुए मदमत्त हस्तीकी तरह समुद्रमें प्रवेश किया। उसके समुद्रमें प्रवेश करने पर वरुणदेवके सैन्यगण, यादोगण, साध्वस-गण—सभी भयभीत हो युद्धके बिना ही भाग गये। इस प्रकारसे स्वर्गलोक, वरुणलोक आदि लोकोंपर अधिकार जमाकर हिरण्याक्षने पृथ्वीलोकको जयकर लिया और उसे रसातलमें ले जाकर जलके भीतर रख दिया। तदनन्तर सृष्टिमें विशृङ्खला देखकर ब्रह्माजीके हृदयमें चिन्ता हुई। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

"परमेष्ठी त्वपां मध्ये तथा सन्नामवेक्ष्य गाम्।
कथमेनां समुन्नेष्य इति दध्यौ धिया चिरम्॥
सृजतो मे क्षितिर्वार्भिः प्लाव्यमाना रसां गता।
अथात्र किमनुष्ठेयमस्माभिः सर्गयोजितैः॥
यस्याहं हृदयादासं स ईशो विदधातु मे॥"

ब्रह्माजीने पृथिवीको जलमग्न तथा दुःखित देखकर 'कैसे पृथिवीका उद्धार किया जाय, इस प्रकारके ध्यानमें मग्न हो गये। "सृष्टि करते करते ही पृथिवी जलमग्न होकर रसातलको चली गई, अतः इस विषयमें सृष्टिकार्यमें नियुक्त हमारे लिये क्या अनुष्ठान करने योग्य है, इसका निर्णय, जिनके हृदयसे हम उत्पन्न हुए हैं, वे ईश्वर ही करें। इस प्रकारकी चिन्ता ब्रह्माजीके करनेपर क्या हुआ, सो भागवतमें वर्णन है:—

"इत्यभिध्यायतो नासाविवरात् सहसानघ।
वराहतोको निरगादङ्गुष्ठपरिमाणकः॥
तस्याभिपश्यतः खस्थः क्षणेन किल भारत।
गजमात्रः प्रववृधे तदद्भुतमभून्महत्॥
दृष्टोऽङ्गुष्ठशिरोमात्रः क्षणाद्गण्डशिलासमः।
अपिस्विद्भगवानेष यज्ञो मे खेदयन्मनः॥
इति मीमांसतस्तस्य ब्रह्मणः सह सूनुभिः।
भगवान् यज्ञपुरुषो जगर्जागेन्द्रसन्निभः॥
ब्रह्माणं हर्षयामास हरिस्तांश्च द्विजोत्तमान्।
स्वगर्जितेन ककुभः प्रतिस्वनयता विभुः॥"

ब्रह्माजीके इस प्रकारके ध्यान करते करते उनकी नाकके छेद्से अङ्गुठेके बराबर छोटा एक वराहशिशु निकल आया। देखते देखते वह छोटा वराह क्षणकालके भीतर ही वृहदाकार हस्तीकी तरह हो गया। इस प्रकारके अद्भुत रूपको देखकर ब्रह्माजी सोचने लगेः—"थोड़ी देर पहले अङ्गुष्ठकी तरह था, क्षणमेंही स्थूल पत्थरके समान हो गया, मेरे चित्तमें यह भावना होती है कि यह सामान्य वराह नहीं है; परन्तु साक्षात् यज्ञपुरुष भगवान् विष्णु वराहरूपमें आये हैं।" मरीचि आदि अपने पुत्रोंके साथ इस प्रकारकी मीमांसा करते करते ही वराहरूपधारी यज्ञपुरुष भगवान् सिंहकी तरह गंभीर गर्जन करने लगे, जिससे दश दिशाएँ गूंजने लगी, और ब्रह्माजी तथा मरीचि आदियोंको इस बातको जानकर परम सन्तोष प्राप्त हुआ कि साक्षात् भगवान् ही पृथिवीके उद्धारके लिये वराहावतार धारण करके आये हैं। तदनन्तर क्या हुआ, इसके विषयमें श्रीमद्भागवतमें वर्णन है। यथाः—

"निशम्य ते घर्घरितं स्वखेद-
क्षयिष्णु मायामयशूकरस्य।
जनस्तपःसत्यनिवासिनस्ते
त्रिभिः पवित्रैर्मुनयोऽगृणन् स्म॥
तेषां सतां वेदवितानमूर्त्ति-
र्ब्रह्मावधार्यात्मगुणानुवादम्।
विनद्य भूयो विबुधोदयाय
गजेन्द्रलीलो जलमाविवेश॥
घ्राणेन पृथ्व्याः पदवीं विजिघ्रन्
क्रोडापदेशः स्वयमध्वराङ्गः।
करालदंष्ट्रोऽप्यकरालदृग्भ्या-
मुद्वीक्ष्य विप्रान् गृणतोऽविशत् कम्॥
खुरैः क्षुरप्रैर्दरयँस्तदाप
उत्पारपारं त्रिपरू रसायाम्।

दद‍र्श गां तत्र सुषुप्सुरग्रे
यां जीवधानीं स्वयमभ्यधत्त ॥
स्वदंष्ट्रयोद्धृत्य महीं निमग्नां
स उत्थितः संरुरुचे रसायाः ।
तत्रापि दैत्यं गदया पतन्तं
सुनाभसन्दीपिततीव्रमन्युः ॥
जघान रुन्धानमसह्यविक्रमम्
सलीलयेभं मृगराडिवाम्भसि ।
तद्रक्तपङ्काङ्कितगण्डतुण्डो
यथा गजेन्द्रो जगतीं विभिन्दन् ॥"

मायामय शूकरदेहधारी भगवान्का देवताओंकी दुःखनाशक घर्घर ध्वनिको सुनकर जन, तप और सत्यलोकवासी मुनिगण तीन वेदोंके मन्त्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे। वेदमन्त्रसे स्तुति-प्राप्त वराह भगवान् उन सब स्तुति करनेवाले मुनियोंके गुणगानको सुनकर पुनः पुनः नाद करते करते उनको आश्वासन देकर जलक्रीडाशील हस्तीकी तरह जलमें प्रवेश कर गये। स्वयं यज्ञरूप होने पर भी वराहरूपमें प्रच्छन्न होनेके कारण पशुकी तरह घ्राण करते करते पृथिवीका अन्वेषण करते हुए करालदन्त वराह भगवान् करुणदृष्टि द्वारा स्तुतिपरायण मुनियोंके प्रति दृष्टिपात करते करते जलमें प्रवेश कर गये। तीखे बाणकी तरह तीव्र खुरोंके द्वारा जलराशिको विदीर्ण करके भीतर जाकर वराह भगवान्ने देखा कि जिस प्रकार प्रलयकालमें पृथिवी उनके उदरमें लीन रहती है उसी प्रकार अब भी रसातलमें अवस्थित है। ऐसा देखकर उन्होंने अपने विशाल दन्तद्वारा उसी समय पृथिवीको रसातलसे ऊपर उठा लिया और जलसे बाहर निकलकर सुशोभित होने लगे। दैत्यराज हिरण्याक्षने अपने सामने पृथिवीका इस प्रकारसे उद्धार करते हुए देखकर अत्यन्त क्रोध किया और गदा लेकर वराह भगवान्पर आक्रमण किया। परन्तु अनन्तशक्तिशाली होने पर भी मृगराज जिस प्रकार हस्तीको मार दिया करता है उसी प्रकार वराह भगवान्ने हिरण्याक्षको अनायास ही मार दिया। जिस प्रकार पर्वतको फाड़कर हस्ती गैरिक लाल रङ्गसे अपने गण्डस्थलको सुशोभित करता है उसी

प्रकार हिरण्याक्षको मारकर उसके रक्तकी धारासे भगवान् सुशोभित होने लगे यही वराह-अवतार द्वारा हिरण्याक्ष-निधनका इतिहास है जिससे पृथिवीका उद्धार, देवताओंकी शान्ति, दैवराज्यका पुनरुद्धार तथा धर्म्मकी रक्षा हुई थी।

(नृसिंहावतार।)

दस अवतारोंमेंसे चतुर्थ अवतारका नाम नृसिंहावतार है। यह अवतार हिरण्याक्षके कनिष्ठ भ्राता हिरण्यकशिपुको मारकर पृथिवीमें धर्मका उद्धार तथा स्वर्गराज्यको निरापद करनेके लिये हुआ था। यह बात पहले ही कही गई है कि हिरण्याक्षके बध करनेके बाद भ्रातृवधके कारण हिरण्यकशिपु विष्णु भगवान् पर बहुत ही द्वेषभावयुक्त हो गया था और ब्रह्माजीके वरसे गर्बित होकर समस्त स्वर्गराज्य पर अधिकार जमा लिया था तथा देवताओंको स्वर्ग से निकाल दिया था। देवताओंने विष्णु भगवान्‌से प्रार्थना की थी: जिसपर उन्होंने कहा था कि जब वेद धर्म तथा अपने धार्मिक भगवद्भक्त पुत्रपर अत्याचार करेगा तब हिरण्यकशिपुका निधन श्रीभगवान् करेंगे, हिरण्यकशिपुको ब्रह्माजीने यह वर दिया था कि न नरसे और न पशुसे उसका नाश होगा। इसलिये श्रीभगवान्‌को अर्द्ध नर और अर्द्ध सिंहका रूपधारण करके हिरण्यकशिपुको मारना पड़ा था। सो कैसे हुआ, यह नीचे क्रमशः बताया जाता है। यथा श्रीमद्भागवतमें:—

"तस्य दैत्यपतेः पुत्राश्चत्वारः परमाद्भुताः ।
प्रह्लादोऽभून्महाँस्तेषां गुणैर्महदुपासकः ॥
तस्मिन् महाभागवते महाभागे महात्मनि ।
हिरण्यकशिपू राजन्नकरोदघमात्मजे ॥"

दैत्यपति हिरण्यकशिपुके चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनमेंसे प्रह्लाद उत्तम, गुणवान् और श्रीभगवान् विष्णुके परम भक्त बने। हिरण्यकशिपु विष्णुद्वेषी था; इसलिये विष्णुभक्त, महात्मा प्रह्लादके साथ भी उसने द्वेष और द्रोह करना प्रारम्भ किया। एक समय पर गुरुगृहसे आये हुए प्रह्लादसे हिरण्यकशिपुने 'गुरुगृहमें क्या पाठ पढ़ा है' सो पूछा। जिस पर प्रह्लादने कहा:—

"तत्साधु मन्येऽसुरवर्य देहिनां
सदा समुद्विग्नधियामसद्ग्रहात् ।

हित्वात्मपातं गृहमन्धकूपं
वनं गतो यद्धरिमाश्रयेत ॥"

हे असुरपति, मिथ्या संसारके प्रति मोहके कारण चञ्चल-चित्त जीवोंके लिये मैं यही अच्छा समझता हूँ कि आत्माको हीन करनेवाले, अन्धकूपके सदृश संसारको छोड़कर वनमें जाकर श्रीभगवान् विष्णुकी शरण लेवें। निजपुत्र प्रह्लादके मुखसे निजशत्रु विष्णुके विषयमें इस प्रकारकी प्रशंसा सुनकर हिरण्यकशिपु बहुत ही क्रुद्ध हो गया और गुरुपुत्रको बुलाकर कहा-"तुमने प्रह्लादको इस प्रकार निन्दित शिक्षा क्यों दी ?" जिसपर गुरुपुत्रने कहाः—

"न मत्प्रणीतं न परप्रणीतं
सुतो वदत्येष तवेन्द्रशत्रो।
नैसर्गिकीयं मतिरस्य राजन्!
नियच्छ मन्युं कददाः स्म मानः॥"

हे इन्द्रशत्रु दैत्यराज! आपका यह पुत्र न हमारा पढ़ाया हुआ विषय कहता है और न दूसरेका पढ़ाया हुआ विषय। इसकी यह भगवान्‌के प्रति निष्ठा स्वाभाविक है। इसलिये हम पर आपको क्रोध नहीं करना चाहिये। तदनन्तर हिरण्यकशिपुने प्रह्लादसे पूछा कि "गुरुपुत्रने जो बात कही वह सत्य है कि नहीं?" इस पर प्रह्लादने कहाः—

"मतिर्न कृष्णे परतः स्वतो वा
मिथोऽभिपद्येत गृहव्रतानाम्।
अदान्तगोभिर्विशतां तमिस्रं
पुनः पुनश्चर्वितचर्वणानाम्॥
न ते विदुः स्वार्थगतिं हि विष्णुं
दुराशया ये वहिरर्थमानिनः।
अन्धा यथान्धैरुपनीयमाना-
स्तेऽपीशतन्त्र्यामुरुदाम्नि बद्धाः॥"

संसारासक्त जीवोंका चित्त श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंमें किसी भी प्रकारसे आसक्त नहीं होता है। वे सब चर्वितचर्वणकी तरह इन्द्रियासक्त हो

पुनः पुनः संसारपङ्कमें निमग्न हो जाते हैं। दुराशाके द्वारा बद्ध तथा स्थूल विषयमें आसक्त होकर जीव विष्णुको जान नहीं सकते और जिस प्रकार अन्धके द्वारा चालित अन्ध गर्त्तमें पतित होता है उसी प्रकार वे भी कठिन संसारपाशमें बद्ध हो जाते हैं। प्रह्लादकी ऐसी बातको सुनकर हिरण्य-कशिपुने क्या कियाः—

"इत्युक्त्वोपरतं पुत्रं हिरण्यकशिपू रुषा ।
अन्धीकृतात्मा स्वोत्सङ्गान्निरस्यत महीतले ॥
आहामर्षरुषाविष्टः कषायीभूतलोचनः ।
वध्यतामाश्वयं वध्यो निःसारयत नैर्ऋताः ॥
अयं मे भ्रातृहा सोऽयं हित्वा स्वान् सुहृदोऽधमः ।
पितृव्यहन्तुः पादौ यो विष्णोर्दासवदर्चति ॥
सर्वैरुपायैर्हन्तव्यः सम्भोजशयनासनैः ।
सुहृल्लिङ्गधरः शत्रुर्मुनेर्दुष्टमिवेन्द्रियम् ॥"

प्रह्लादके इस प्रकार कहने पर हिरण्यकशिपुने अतिक्रुद्ध होकर पुत्रको अपनी गोदसे नीचे फेंक दिया और क्रोधसे अपनी आंखोंको लाल करके राक्षसोंसे कहाः—"इस दुष्टका शीघ्र वध करो। यह मेरे भ्राताका घातक है क्योंकि, भ्रातृघाती विष्णुकी दासवत् पूजा करता है। इसके भोजनमें विष देकर तथा अन्य सब उपायोंसे इसका वध करना चाहिये। यह मित्रवेषधारी शत्रु है; इसलिये जिस प्रकार मुनिगण दुष्ट इन्द्रियका निधन (नाश) करते हैं उसी प्रकार इसका भी नाश करना चाहिये" तदनन्तर क्या हुआ, सो भागवतमें लिखा हैः—

"नैर्ऋतास्ते समादिष्टा भर्त्रा वै शूलपाणयः ।
तिग्मदंष्ट्रकरालास्यास्ताम्रश्मश्रुशिरोरुहाः ॥
नदन्तो भैरवं नादं छिन्धि भिन्धीति वादिनः ।
आसीनश्चाहनन् शूलैः प्रह्लादं सर्वमर्मसु ॥
परे ब्रह्मण्यनिर्देश्ये भगवत्यखिलात्मनि ।
युक्तात्मन्यफला आसन्नपुण्यस्येव सत्क्रियाः ॥

प्रयासेऽपहते तस्मिन् दैत्येन्द्रः परिशङ्कितः।
चकार तद्वधोपायान् निर्बन्धेन युधिष्ठिर॥
दिग्गजैर्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः।
मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः॥
हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि।
न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम्॥
चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत्कर्तुं नाभ्यपद्यत।
नूनमेतद् विरोधेन मृत्युर्मे भविता न वा॥"

प्रभु हिरण्यकशिपुकी आज्ञा सुनकर हाथोंमें शूल लिये हुए तीक्ष्णदंत, करालमुख, रक्तकेश राक्षसगण 'छेदन करो' 'भेदन करो' ऐसा कहकर भीषण शब्दके साथ प्रह्लादके समस्त मर्मस्थानोंमें शूलप्रहार करने लगे। परन्तु जिस प्रकार पापियोंके पास पुण्यक्रियाका फलोदय नहीं होता है उसी प्रकार प्रह्लाद पर आघात किये हुए अस्त्रसमूह भी व्यर्थ हो गये। समस्त चेष्टाओंके व्यर्थ हो जाने पर दैत्यराज हिरण्यकशिपुके हृदयमें बहुत ही शंका होने लगी और उसने विशेष यत्नके साथ प्रह्लादके नाशका उपाय करना प्रारम्भ किया। उनको हस्तीके पदतलमें फेंका गया, विषधर सर्पोंसे डँसाया गया, अनेक प्रकारका अभिचार कराया गया, भोजनमें विषप्रदान किया गया, अग्निमें और जलमें डाला गया, पर्वतोंसे गिराया गया इत्यादि इत्यादि अनेक वधके उपाय किये गये। परन्तु किसी प्रकारसे भी प्रह्लादको कोई मार न सका। इससे हिरण्यकशिपुके मनमें दीर्घ चिन्ताका उदय हुआ और वह सोचने लगा कि 'कदाचित् इससे विरोध करने पर अपनी भी मृत्यु न हो जाय।' इस प्रकारसे हिरण्यकशिपुको चिन्ताशील देखकर षण्डामार्क नामक गुरुपुत्रोंने उसको समझाया और शान्त किया। तदनन्तर प्रह्लादको पुनः पढ़ानेके लिये वे लोग ले गये और राजनीति आदि अनेक शास्त्र पढ़ाये। परन्तु आत्माराम प्रह्लादने इन सब लौकिक शिक्षाओंको कुछ भी नहीं समझा और अपने समपाठी बालकोंको भगवद्भक्ति-युक्त अध्यात्मविद्याकी शिक्षा देना प्रारम्भ कर दिया। आत्माराम प्रह्लादकी शिक्षासे समस्त दैत्यबालक मुग्ध हो गये और अपने गुरुकी शिक्षाको उन्होंने कुछ नहीं माना। इससे गुरुपुत्रोंने अत्यन्त भीत होकर हिरण्यकशिपुसे

सब वृत्तान्त कह दिया। हिरण्यकशिपुने क्रोधसे अन्ध होकर अत्यन्त क्रूर भावसे प्रह्लादको कहाः—

"रे दुर्विनीत! मन्दात्मन्! कुलभेदकराधम।
स्तब्धं मच्छासनोद्वृत्तं नेष्ये त्वाद्य यमक्षयम्॥
क्रुद्धस्य यस्य कम्पन्ते त्रयो लोकाः सहेश्वराः।
तस्य मेऽभीतवन्मूढ शासनं किंबलोऽत्यगाः॥"

अरे दुर्विनीत मन्दबुद्धि कुलभेदकारी अधम सन्तान! मेरे आज्ञालङ्घनकारी तुझको आज यमालयमें भेजूँगा। जिसके क्रोधसे लोकपतियोंके साथ तीनों लोक कांपते हैं, ऐसे प्रतापशाली मेरे शासनको नीडर होकर तू किसके बलसे तुच्छ कर रहा है? पिताका क्रूर वाक्य सुनकर प्रह्लादने उत्तर दियाः—

"न केवलं मे भवतश्च राजन्!
स वै बलं बलिनां च परेषाम्।
परेऽवरेऽमी स्थिरजङ्गमा ये
ब्रह्मादयो येन वशं प्रणीताः॥
स ईश्वरः काल उरुक्रमोऽसा-
वोजःसहः सत्त्वबलेन्द्रियात्मा।
स एव विश्वं परमः स्वशक्तिभिः
सृजत्यवत्यत्ति गुणत्रयेशः॥
जह्यासुरं भावमिमं त्वमात्मनः
समं मनो धत्स्व न सन्ति विद्विषः।
ऋतेऽजितादात्मन उत्पथे स्थितात्
तद्धि ह्यनन्तस्य महत् समर्हणम्॥"

हे राजन्! जिनके बलसे मैं निडर हूं, वे केवल मेरे और आपके बलरूप नहीं हैं; परन्तु समस्त बलियोंके बलरूप हैं, उच्च, नीच, स्थिर और जङ्गम-समस्त वस्तुएँ तथा ब्रह्मादि भी उनके वशमें रहते हैं। वे ईश्वर, काल और अनन्तशक्तिशाली हैं, तेज, सत्त्व, बल और इन्द्रियात्मरूप हैं, त्रिगुणोंके

ईश्वर होनेसे अपनी परमा शक्ति द्वारा संसारका सृजन, पालन और निधन करते हैं। इसलिये हे पितः! तुम अपने आसुरी भावको त्याग करके सम-भावमें अपने चित्तको भावित करो; क्योंकि, कुमार्गमें रत असंयत आत्मा ही जीवका शत्रु होता है, संसारमें शत्रु नामक कोई भी वस्तु नहीं है और चित्तको समभावमें भावित करना ही अनन्त भगवान्‌की पूजा है। प्रह्लादका वाक्य सुनकर हिरण्यकशिपुने कहाः—

"व्यक्तं त्वं मर्तुकामोऽसि योऽतिमात्रं विकत्थसे।
मुमुर्षूणां हि मन्दात्मन्! ननु स्युर्विक्लवा गिरः॥
यस्त्वया मन्दभाग्योक्तो मदन्यो जगदीश्वरः।
क्वासौ यदि स सर्वत्र कस्मात् स्तम्भे न दृश्यते॥
सोऽहं विकत्थमानस्य शिरः कायाद्धरामि ते।
गोपायेत हरिस्त्वाद्य यस्ते शरणमीप्सितम्॥"

रे मन्दात्मन्! निश्चित ही तेरा मरणकाल उपस्थित हुआ है। इसलिये जिस प्रकार मरनेसे पहले जीव जो-सो बकता है, ऐसा तू भी बक रहा है। अरे मन्दभाग्य! तूने जो कहा कि मुझसे अतिरिक्त दूसरा कोई व्यापक ईश्वर है, सो यदि तेरा ईश्वर सर्वव्यापी है तो इस स्तम्भमें क्यों नहीं दिखता है? अतः प्रलाप बकनेवाले तेरा सिर मैं अभी शरीरसे अलग करता हूं, यदि तेरा ईश्वर कोई हो तो तेरी रक्षा करे।

"एवं दुरुक्तैर्मुहुरर्दयन् रुषा
सुतं महाभागवतं महासुरः।
खड्गं प्रगृह्योत्पतितो वरासनात्
स्तम्भं तताडातिबलः स्वमुष्टिना॥
तदैव तस्मिन्निनदोऽतिभीषणो
बभूव येनाण्डकटाहमस्फुटत्।
यं वै स्वधिष्ण्योपगतं त्वजादयः
श्रुत्वा हि धामात्ययमङ्ग! मेनिरे॥

सत्यं विधातुं निजभृत्यभाषितं
व्याप्तिञ्च भूतेष्वखिलेषु चात्मनः ।
अदृश्यतात्यद्भुतरूपमुद्वहन्
स्तम्भे सभायां न मृगं न मानुषम् ॥
प्रतप्तचामीकरचण्डलोचनं
स्फुरत्सटाकेशरजृम्भिताननम् ।
करालदंष्ट्रं करवालचञ्चल-
क्षुरान्तजिह्वं भ्रुकुटीमुखोल्बणम् ॥
प्रायेण मेऽयं हरिणोरुमायिना
वधः स्मृतोऽनेन समुद्यतेन किम् ।
एवं ब्रुवंस्त्वभ्यपतद्गदायुधो
नदन्नृसिंहं प्रति दैत्यकुञ्जरः ॥
ततोऽभिपद्याभ्यहनन्महासुरो
रुषा नृसिंहं गदयोरुवेगया ।
तं विक्रमन्तं सगदं गदाधरो
महोरगं तार्क्ष्यसुतो यथाग्रहीत् ॥
विष्वक् स्फुरन्तं ग्रहणातुरं हरि
र्व्यालो यथाखुं कुलिशा क्षतत्वचम् ।
द्वार्यूरुमापत्य ददार लीलया ।
नखैर्यथाहिं गरुडो महाविषम् ॥"

इस प्रकार निजपुत्र परम भागवत प्रह्लादको कटु वचन द्वारा पीडित करके महासुर हिरण्यकशिपु हाथमें खड्ग लेकर सिंहासनसे कूद पड़ा और स्तम्भ पर सवेग मुष्टिप्रहार किया । उसके मुष्टि-प्रहार करते ही एक अति भीषण शब्द निकला, मानो ब्रह्माण्डकटाह फटने लगा, जिससे ब्रह्मादि देवगण संसारका प्रलय मानने लगे। तदनन्तर अपने भृत्य प्रह्लादके वाक्यको सत्य करने-के लिये तथा समस्त विश्वमें अपनी व्यापक सत्ताको जतानेके लिये श्रीभगवान्

अपूर्व न मृग न मनुष्य—इस प्रकार नृसिंहरूप धारण करके सभास्थलमें खम्भ के ऊपर प्रकट हो गये। तपे हुए सोनेकी तरह कराल उनके नेत्र थे, जटा और केशरसे उनका मुखमण्डल चमकता था, दांतोंकी लहरें अति भयानक थीं, तलवारकी तरह चञ्चल तथा तीखी उनकी जिह्वा थी और भौंओंकी लहरोंसे भयानक उनका मुख था। नृसिंह भगवान्‌का इस प्रकारका भीषण आकार देखने पर भी दुष्ट पराक्रमी असुरराज हिरण्यकशिपुके हृदयमें भय उत्पन्न नहीं हुआ। "मायावी हरिने इस प्रकारसे मेरा बध करना सोचा होगा, सो इससे क्या"—ऐसा कहकर हाथमें गदा लेकर दैत्यराज हिरण्यकशिपु नृसिंह भगवान् के प्रति प्रहार करनेको उद्यत हुआ। तदनन्तर भयानक वेगसे गदा प्रहार करनेवाले हिरण्यकशिपुको गदाके साथ गदाधर हरिने, गरुड़ जिस प्रकार सर्पको अनायास पकड़ता है, ऐसा ही पकड़ लिया। इन्द्रके वज्रसे भी जिनकी त्वचा भिन्न नहीं होती थी, इस प्रकारका प्रचण्ड हिरण्यकशिपु नृसिंह भगवान्‌से पकड़े जाने पर विवश होकर चारों ओर तड़फने लगा और जिस प्रकार ब्रह्माजीसे उसने वर मांगा था कि भीतर-बाहर—कहीं भी नहीं मरेंगे, भूमि या आकाश—कहीं भी नहीं मरेंगे, अस्त्रके द्वारा नहीं मरेंगे, दिवा-रात्रि किसी समय भी नहीं मरेंगे; इन वरोंको स्मरण करके, सर्प जिस प्रकार चूहेको पकड़ता है, उसी प्रकार नृसिंह भगवान्‌ने हिरण्यकशिपुको पकड़ सभाके बीचमें अपने ऊरुपर रख लिया और गरुड़, जिस प्रकार महाविषधर सर्पको मार देता है, उसी प्रकार अपने नखोंके द्वारा सन्ध्याके समय अनायास ही उसको फाड़ कर मार डाला। हिरण्यकशिपुको मार कर उसकी अंतड़ियोंको नृसिंह भगवान्‌ने गलेमें धारण कर लिया और उसके रक्तसे केश और मुखको रंग लिया। तदनन्तर उसके और सब अनुचरोंको भी मार दिया और क्रोधसे तीनों भुवनोंको भय दिलानेवाला भीषण गर्जन करने लगे। दैत्यके नाशसे स्वर्गके देवगण प्रसन्न हो गये और ब्रह्मा, रुद्र, इन्द्र, ऋषि, पितर, सिद्ध, विद्याधर, मनु, प्रजापति, गन्धर्व, चारण, यक्ष, किम्पुरुष आदि सब उनके पास आकर हाथ जोड़ स्तुति करने लगे। परन्तु किसी तरहसे उनका क्रोध शान्त नहीं हुआ। तदनन्तर महाभागवत प्रह्लादने आकर साष्टाङ्ग दण्डवत् किया और हाथ जोड़ अनेक स्तुति की। भक्तवत्सल भगवान् प्रह्लादकी स्तुतिसे प्रसन्न हो गये, उनका समस्त क्रोध शान्त हो गया और प्रह्लादको स्थूल धन आदि सम्पत्तिके लिये वर मांगनेको आज्ञा की। प्रह्लादने सांसारिक कुछ भी वर नहीं मांगा, केवल कहाः—

"यदि दास्यसि मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ ।
कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरम् ॥"

हे भगवन्! यदि आप मुझे कोई वर देना चाहते हैं तो यह वर दीजिये कि मेरे हृदयमें वासनाकी उत्पत्ति कदापि न हो। 'तथास्तु' कहकर भगवान्ने कहाः—"इस लोकमें तुम परम ऐश्वर्यके अधिकारी होकर, मृत्युके अनन्तर मुझे प्राप्त करोगे। तदनन्तर प्रह्लादने श्रीभगवान्के प्रति द्वेष करनेसे पिताको जो पाप हुआ है उसकी निवृत्तिके लिये भगवान्से प्रार्थना की। जिसपर भगवानने कहाः—

"त्रिःसप्तभिः पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ ।
यत् साधोऽस्य कुले जातो भवान् वै कुलपावन ॥"

केवल तुम्हारा पिता ही नहीं परन्तु इक्कीस पुरुष तक तुम्हारे वंशमें उत्पन्न पितृगण उद्धार हो जायँगे, जिसके वंशमें तुम जैसे साधु पुत्र उत्पन्न हुए हो इत्यादि इत्यादि उपदेश प्रदान करके देवद्विजमानवोंके द्वारा स्तुति प्राप्त होकर श्रीभगवान् नृसिंह अन्तर्धान हो गये। प्रह्लादको मुनियोंने पिताके राज्यमें अभिषिक्त किया। यही नृसिंहावतारकी कथा है।

(वामनावतार ।)

दस अवतारोंमेंसे पञ्चम अवतारका नाम वामन अवतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान्ने दैत्यराज वलिको त्रिलोकसे च्युत करके सुतल लोकमें भेज दिया था और देवराज्यका उद्धार किया था। दैत्यराज वलिने अपने पराक्रम द्वारा स्वर्गराज्य पर अधिकार विस्तार करके इन्द्रादि देवताओंको स्वर्गच्युत तथा राज्यच्युत कर दिया था; जिस कारण ब्रह्माण्डप्रकृतिमें विशृङ्खलता और धर्मराज्यमें हानि होने लग गई थी। इसलिये परम दानी और सत्यव्रत होने पर भी ब्रह्माण्डप्रकृतिकी व्यवस्थाके लिये श्रीभगवान्को वामनावतार धारण करके दैत्यराज वलिसे भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्गलोक छीन लेना पड़ा था। इस प्रकारसे वलिको राज्यच्युत करके श्रीभगवान्ने देवताओंको निरापद कर दिया और पश्चात् वलिकी सत्यप्रतिज्ञा तथा दानधर्मके पुरस्कारके रूपसे उनके द्वार पर द्वारपालका कार्य किया और आगामी कल्पमें वलिको इन्द्रत्व प्रदान किया। यही वामनावतारमें दोनों ओरकी सामञ्जस्यरक्षाके द्वारा ब्रह्माण्ड-प्रकृतिकी व्यवस्था तथा धर्मस्थापनका रहस्य है। अब अग्निपुराणसे वामनावतारका विषय संक्षेपसे बताया जाता हैः—

"देवासुरे पुरा युद्धे बलिप्रभृतिभिः सुराः ।
जिताः स्वर्गात् परिभ्रष्टा हरिं वै शरणं गताः ॥
सुराणामभयं दत्वा अदित्या कश्यपेन च ।
स्तुतोऽसौ वामनो भूत्वा ह्यदित्यां स क्रतुं ययौ ।
बलेः श्रीयजमानस्य राजद्वारेऽगृणाच्छ्रुतिम् ॥
वेदान् पठन्तं तं श्रुत्वा वामनं वरदोऽब्रवीत् ।
निवारितोऽपि शुक्रेण बलि र्ब्रूहि यदिच्छसि ॥
तत्तेऽहं सम्प्रदास्यामि वामनो बलिमब्रवीत् ।
पदत्रयं मे गुर्वर्थं देहि दास्ये तमब्रवीत् ॥
तोये तु पतिते हस्ते वामनोऽभूदवामनः ।
भूर्लोकं स भुवर्लोकं स्वर्लोकञ्च पदत्रयम् ॥
चक्रे बलिं च सुतलं तच्छक्राथ ददौ हरिः ।
शक्रो देवैर्हरिं स्तुत्वा भुवनेशः सुखी त्वभूत् ॥"

पूर्वकालमें बलि आदि असुरोंके साथ देवताओंका युद्ध हुआ था, जिसमें देवतागण पराजित और स्वर्ग राज्यसे च्युत हो गये थे। तदनन्तर अन्य उपाय न देखकर देवताओंने श्रीभगवान् हरिकी शरण ली। श्रीभगवान्‌ने देवताओंको अभय दान किया और अवतार धारण करनेका वचन दिया। उसी समय कश्यप और अदितिने तपस्या करके श्रीभगवान्‌को ही पुत्र रूपसे प्राप्त करनेका वरदान ले लिया था। इसलिये अदितिके गर्भमें महर्षि कश्यपके द्वारा श्रीभगवान् वामनावताररूपसे उत्पन्न हुए। यथाकाल उपनयनके बाद भिक्षाके लिये वामनदेव दैत्यराज बलिके यज्ञस्थल पर पहुँचे। वेदपाठी ब्राह्मणको द्वार पर आये हुए देखकर बलि वामनदेवको कुछ दान करनेके लिये उद्यत हुए। परन्तु उनके गुरु शुक्राचार्यने उनको प्रच्छन्नवेषधारी विष्णु तथा बलिके सर्वस्वहरणके लिये आये हुए जान कर वामनदेवको दान देनेमें बलिको मना किया। सत्यप्रतिज्ञामें अटल बलिराजने प्रतिज्ञाभङ्गके भयसे शुक्राचार्यकी बात नहीं मानी और वामनदेवसे कहाः—"आप क्या मांगते हैं कहिये? आप जो दान चाहेंगे सो ही दूंगा।" इसपर वामनदेवने बलिको कहा—"मैं गुरुको प्रदान करनेके लिये तीन

अपने पादमात्र भूमि चाहता हूं ।" बलिराजने "तथास्तु" कह कर दानके लिये हाथमें जल लेते ही वामनदेवने अपना क्षुद्र शरीर त्याग करके विश्वरूप धारण किया और एक पदमें भूर्लोक, द्वितीय पदमें भुवर्लोक और तृतीय पदमें स्वर्गलोकको अधिकार कर लिया। तदनन्तर त्रिलोकच्युत बलिको श्रीभगवान्ने सुतल लोकमें भेज दिया और अधिकार किये हुए तीन लोक देवराज इन्द्रको प्रदान किये। देवताओंके साथ श्रीभगवान्की स्तुति करके देवराज इन्द्र पुनः अपने पदपर प्रतिष्ठित हो गये। यही वामनावतारकी कथा है। मतान्तरमें यह भी पाया जाता है कि वामन भगवान्ने दोनों पदोंमें ही समस्त लोकोंको अधिकार कर लिया था और तृतीय पदके लिये बलिसे स्थान मांगा था, जिस पर परमदानी सत्यप्रतिज्ञ बलिने कहा, यथा भागवतके ८म स्कन्धमें:—

"यद्युत्तमश्लोक भवान्ममेरितं
वचो व्यलीकं सुरवर्य मन्यते ।
करोम्यृतं तन्न भवेत् प्रलम्भनम्
पदं तृतीयं कुरु शीर्ष्णि मे निजम् ॥
बिभेमि नाहं निरयात् पदच्युतो
न पाशबन्धाद्व्यसनाद् दुरत्ययात् ।
नैवार्थकृच्छ्राद्भवतो विनिग्रहा-
दसाधुवादाद् भृशमुद्विजे यथा ॥"

हे भगवन्! यद्यपि आपने विश्वरूप धारण करके मेरी सत्य प्रतिज्ञाको व्यर्थ करनेके लिये प्रयत्न किया है, तथापि मैं अपने सत्य वाक्यको व्यर्थ नहीं होने दूंगा। आप अपने तृतीय पदको मेरे सिर पर रखिये, यही आपके तृतीय पदका स्थान हो। त्रिलोकसे च्युत होनेपर भी मैं नरकसे इतना नहीं डरता हूं, पाशका बन्धन अथवा अतिकठिन दुःखसे भी इतना नहीं डरता हूं, जितना सत्य प्रतिज्ञाके भङ्गसे मुझे डर है। इस प्रकार धर्मपूर्ण भावसे सन्तुष्ट होकर श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीको क्या कहा था, सो भी भागवतके ८म स्कन्धमें वर्णित है। यथाः—

"ब्रह्मन् यमनुगृह्णामि तद्विशो विधुनोम्यहम् ।
यन्मदः पुरुषः स्तब्धो लोकं माञ्चावमन्यते ॥

यदा कदाचिज्जीवात्मा संसरन्निजकर्मभिः ।
नानायोनिष्वनीशोऽयं पौरुषीं गतिमाव्रजेत् ॥
जन्मकर्मवयोरूपविद्यैश्वर्यधनादिभिः ।
यद्यस्य न भवेत् स्तम्भस्तत्रायं मदनुग्रहः ॥
मानस्तम्भनिमित्तानां जन्मादीनां समन्ततः ।
सर्वश्रेयःप्रतीपानां हन्त मुह्येन्न मत्परः ॥
एष दानवदैत्यानामग्रणीः कीर्त्तिवर्द्धनः ।
अजैषीदजयां मायां सीदन्नपि न मुह्यति ॥
क्षीणरिक्थश्च्युतः स्थानात् क्षिप्तो बद्धश्च शत्रुभिः ।
ज्ञातिभिश्च परित्यक्तो यातनामनुयापितः ॥
गुरुणा भर्त्सितः शप्तो जहौ सत्यं न सुव्रतः ।
छलैरुक्तो मया धर्मो नायं त्यजति सत्यवाक् ॥
एष मे प्रापितः स्थानं दुष्प्रापममरैरपि ।
सावर्णेरन्तरस्यायं भवितेन्द्रो मदाश्रयः ॥
तावत् सुतलमध्यास्तां विश्वकर्मविनिर्मितम् ।
यदाधयो व्याधयश्च क्लमस्तन्द्रापराभवः ॥
नोपसर्गा निवसतां सम्भवन्ति ममेक्षया ॥
इन्द्रसेन ! महाराज ! याहि भो भद्रमस्तु ते ।
सुतलं स्वर्गिभिः प्रार्थ्यं ज्ञातिभिः परिवारितः ॥
न त्वामभिभविष्यन्ति लोकेशाः किमुतापरे ।
त्वच्छासनातिगान् दैत्याँश्चक्रं मे सूदयिष्यति ॥
रक्षिष्ये सर्वतोऽहं त्वां सानुगं सपरिच्छदम् ।
सदा सन्निहितं वीरं तत्र मां द्रक्ष्यते भवान् ॥
तत्र दानवदैत्यानां सङ्गात्ते भाव आसुरः ।
दृष्ट्वा मदनुभावं वै सद्यः कुण्ठो विनङ्क्ष्यति ॥"

श्रीभगवान्ने ब्रह्माजीसे कहा:—"हे ब्रह्मन्! मैं जिसपर कृपा करता हूँ उसकी सभी धनसम्पत्ति छीन लेता हूँ; क्योंकि धनसम्पत्तियोंमें उन्मत्त होकर ही जीव मेरी उपेक्षा करता है। कर्मानुसार अनेक जन्मोंमें भटकता हुआ दुर्लभ मनुष्य जन्मको पाकर धन, यौवन, विद्या, रूप, ऐश्वर्य आदिमें जिसका लोभ नहीं होता है वही मेरी कृपाको प्राप्त करता है। इसलिये धनादि नाश कर देना भक्तके प्रति मेरी कृपा ही है। अन्य पक्षमें जिस भक्तका चित्त मुझमें रमा हुआ है उसको चाहे कितना ही धनैश्वर्य क्यों न मिल जाय, उससे उसकी कोई भी हानि नहीं होती है। इसलिये ध्रुवादि भक्तोंको मैंने सम्पत्ति भी दी है। परन्तु अभक्तको भक्त करनेके लिये सम्पत्ति हरण कर लेनेकी भी आवश्यकता होती है। इसलिये सम्पत्ति हरण करना भक्तपर मेरी कृपा ही है। दैत्योंके अग्रगण्य यशस्वी इस बलिने दुर्जय मायाको भी जीत लिया है और स्थानसे च्युत, पाशके द्वारा बद्ध, कुटुम्बोंके द्वारा परित्यक्त, यातनासे युक्त, गुरुसे तिरस्कारको प्राप्त और शापग्रस्त होनेपर भी अपने सत्य व्रतको परित्याग नहीं किया है और छलसे धर्म बतानेपर भी उसमें कुण्ठित न होकर स्वधर्मका पालन पूर्णरूपसे किया है। इसलिये यह दैत्यराज देवताओंका भी दुर्लभ उत्तम पद मेरी कृपासे प्राप्त करेगा और सावर्णि मन्वन्तर पर्यन्त विश्वकर्माके द्वारा निर्मित सुतल लोकमें निवास करके मेरे आश्रयसे इन्द्रत्वको लाभ करेगा। इस मन्वन्तरमें अन्य इन्द्रका शासनकाल समष्टि-कर्मके नियमानुसार विद्यमान है, वह ईश्वरीय नियम भङ्ग नहीं हो सकता है; इसलिये इसी समय यह इन्द्र नहीं हो सकता है, इसको इस मन्वन्तरके अन्त तक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी। इसके लिये सुतल लोकमें दुःख, रोग, प्रमाद आदि कुछ भी नहीं रहेगा। मेरी कृपासे वहांपर कोई भी दुर्दैव नहीं होगा।" इतना कहकर श्रीभगवान्ने पुनः बलिराजको कहा—:"इन्द्रसेन महाराज! तुम कुटुम्बोंके साथ देवताओंके भी प्रिय सुतललोकमें जाओ, तुम्हारा कल्याण हो। अन्योंकी बात क्या है, लोकपालगण भी तुम्हें वहांपर दबा नहीं सकेंगे। तुम्हारे शासनके न माननेवाले दैत्योंको मेरा सुदर्शन चक्र विनाश करेगा। अनुचरों तथा सम्पत्तियोंके साथ मैं तुम्हारी रक्षा वहां पर करता रहूँगा। गदाधारी मुझको तुम सदा ही अपने स्थानपर द्वारपालरूपसे देखोगे और वहांपर दैत्योंके सङ्गसे जो कुछ आसुर भावकी आशङ्का होगी वह भी मेरे संगके कारण तुम्हारे भीतरसे शीघ्र ही नष्ट हो जायगी।" इस प्रकारसे श्रीभ-

गवान्‌ने वामनावतार द्वारा सृष्टिकी रक्षा और भक्तोंकी मनःकामना पूर्ण की थी।

(परशुरामावतार।)

दस अवतारोंमेंसे षष्ठ अवतारका नाम परशुराम-अवतार है। इस अवतारमें श्रीभगवान्‌ने क्षत्रियशक्तिको बुरी तरहसे प्रबल तथा ब्राह्मणशक्तिके प्रति विद्वेषयुक्त और नाशेच्छु देखकर इक्कीस बार पृथिवीको क्षत्रियहीन कर दिया था। संसारकी स्थितिके तथा ब्रह्माण्डप्रकृतिके नियमानुसार धर्मकी रक्षा तभी हो सकती है जब ब्रह्मशक्ति और क्षात्रशक्ति—दोनोंमें समता रहे और एक दूसरेका नाश करने वाली न हो। मनुसंहिताके नवम अध्यायमें लिखा है:-

"नाब्रह्म क्षत्रमृध्नोति नाक्षत्रं ब्रह्म वर्द्धते ।
ब्रह्म क्षत्रञ्च सम्पृक्तमिह चामुत्र वर्द्धते ॥"

ब्रह्मशक्तिके बिना क्षात्रशक्ति पुष्ट नहीं हो सकती है और क्षात्रशक्तिके बिना ब्रह्मशक्ति वृद्धिको प्राप्त नहीं हो सकती है। दोनोंकी समता अर्थात् सामञ्जस्यके द्वारा ही संसारका कल्याणसाधन होता है। परन्तु त्रेतायुगमें ऐसा एक समय आया था जिस समय क्षत्रियशक्ति और ब्रह्मशक्तिके बीचका सामञ्जस्य नष्ट होगया था और क्षात्रशक्तिके धर्मभावविहीन हो जानेसे संसारमें धर्मनाश, ब्राह्मणों पर अत्याचार आदि होने लग गया था। दत्तात्रेयके वरसे उन्मत्त सहस्रबाहु, कार्तवीर्यार्जुन आदि प्रबल पराक्रान्त क्षत्रिय नरपतियोंने अपनी क्षत्रियशक्तिको धर्मनाश तथा ब्रह्मनाशके कार्यमें लगा दिया था, जिससे संसारमें बड़ी ही अव्यवस्था फैल गई थी। इसलिये श्रीभगवान्‌को उस समय अवतार धारण करके अधार्मिक क्षत्रियशक्तिके नाशद्वारा संसारमें शान्तिस्थापन और धर्मकी रक्षा करनी पड़ी थी। यही परशुराम-अवतार धारण करनेका तात्पर्य है। इसका संक्षेप वर्णन अग्निपुराणसे उद्धृत किया जाता है।

"वक्ष्ये परशुरामस्य चावतारं शृणु द्विज ।
उद्धतान् क्षत्रियान् मत्वा भूभारहरणाय सः ॥
अवतीर्णो हरिः शान्त्यै देवविप्रादिपालकः ।
जमदग्नेः रेणुकायां भार्गवः शस्त्रपारगः ॥

दत्तात्रेयप्रसादेन कार्त्तवीर्यो नृपस्त्वभूत् ।
सहस्रबाहुः सर्वोर्वीपतिः स मृगयां गतः ॥
श्रान्तो निमंत्रितोऽरण्ये मुनिना जमदग्निना ।
कामधेनुप्रभावेन भोजितः सबलो नृपः ॥
अप्रार्थयत् कामधेनुं यदा स न ददौ तदा ।
हृतवानथ रामेण शिरश्छित्त्वा निपातितः ॥
युद्धे परशुना राजा धेनुः स्वाश्रममाययौ ।
कार्त्तवीर्यस्य पुत्रैस्तु जमदग्निर्निपातितः ॥
रामे वनं गते वैरादथ रामः समागतः ।
पितरं निहतं दृष्ट्वा पितृनाशाभिमर्षितः ॥
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवीं निःक्षत्रामकरोद्विभुः ।
कुरुक्षेत्रे पञ्चकुण्डान् कृत्वा सन्तर्प्यवै पितॄन् ॥
कश्यपाय महीं दत्वा महेन्द्रे पर्वते स्थितः ॥"

परशुराम-अवतारकी कथा यह है। क्षत्रियोंको उद्धत तथा अधर्म्माचारी देखकर उनके भारसे पीडित पृथ्वीके उद्धारके लिये देव-द्विजरक्षक श्रीभगवानने पिता जमदग्निके द्वारा माता रेणुकाके गर्भमें परशुरामरूपमें अवतार धारण किया था। अनेक शस्त्रविद्याओंमें परशुराम पारंगत थे। उसी समय कार्तवीर्यार्जुन नामक एक नृपतिने दत्तात्रेयकी उपासनाके द्वारा सहस्र बाहु प्राप्त किये थे और अपने पराक्रमसे समस्त पृथिवीका अधिपत्य लाभ किया था। किसी समय मृगयामें जाकर कार्तवीर्यार्जुन वनके बीचमें क्लान्त हो पड़े, जिस पर। महर्षि जमदग्निने उनको निमन्त्रण देकर अपने आश्रममें बुलाया और अपनी कामधेनुके प्रभावसे परम सन्तोषके साथ कार्तवीर्यार्जुनको भोजन कराया। कामधेनुका इस प्रकारका प्रभाव देखकर राजाने महर्षिसे उसको मांगा; किन्तु महर्षिने उसको देनेसे इनकार किया; जिसपर राजा कार्तवीर्यार्जुन बलपूर्वक कामधेनुको छीन लेगया। जब परशुरामको यह अत्याचार सुननेमें आया तो, वे कार्तवीर्यार्जुनके पास पहुंचे और उसे युद्धमें पराजित कर और अपने परशुके द्वारा उसका सिर काटकर कामधेनुको अपने आश्रम पर

लौटा लाये । तदनन्तर कार्तवीर्यार्जुनके पुत्रगणने पितृहत्याको स्मरण करके, जिस समय परशुराम वनमें गये हुए थे, उस समय जमदग्निके आश्रममें आकर महर्षि जमदग्निको मार डाला । परशुरामने आश्रममें आकर पिताकी मृत्युका संवाद सुना और क्रुद्ध होकर इसीको निमित्त करके दुर्दान्त क्षत्रियों द्वारा पीड़ित पृथ्वीका भार हरनेके लिये इक्कीस बार पृथिवीको क्षत्रियहीन कर दिया और क्षत्रियोंके रक्तसे कुरुक्षेत्रमें पांच कुण्ड निर्माण करके उनमें पितरोंका तर्पण किया तथा महर्षि कश्यपके हाथ पृथिवीको समर्पण करके महेन्द्र पर्वतमें चले गये । श्रीमद्भागवतके ९ म स्कन्धके १६ वें अ० में लिखा है कि अमर होनेके कारण आजतक परशुरामजी महेन्द्र पर्वतमें विराजमान हैं । यथाः—

"आस्तेऽद्यापि महेन्द्राद्रौ न्यस्तदण्डः प्रशान्तधीः ।
उपगीयमानचरितः सिद्धगन्धर्वचारणैः ॥"

दण्डत्यागी प्रशान्तबुद्धि परशुराम आजतक महेन्द्र पर्वतमें विराजमान हैं । सिद्ध, गन्धर्व और चारणगण उनके अपूर्व चरित्रका गान करते रहते हैं । श्रीभगवान्के रामावतार धारण करने पर परशुरामकी अवतारशक्ति रामचन्द्रमें खिंच गई थी, इसका वर्णन रामायणमें मिलता है । यथाः—

"ततः परशुरामस्य देहान्निर्गत्य वैष्णवम् ।
पश्यतां सर्वदेवानां तेजो राममुपागमत् ॥"

परशुरामके द्वारा प्रदान किये हुए वैष्णव धनुमें बाणकी योजना करते ही वैष्णवी शक्ति परशुरामको छोड़कर रामचन्द्रमें आ गई । देवतागण इस दृश्यको देखने लगे । यही संक्षेपसे परशुरामावतारका इतिहास है ।

(रामावतार ।)

दश अवतारोंमेंसे सप्तम अवतारका नाम रामावतार है । परशुरामावतारके बाद ब्रह्माण्डप्रकृतिमें इस अवतारके प्रकट होनेका विशेष प्रयोजन हुआ था । इसलिये रामावतारके द्वारा संसारमें जो आदर्श जीवनका दृष्टान्त स्थापित हुआ है, इससे मनुष्यलोकमें अनन्तकाल तक अनेक प्रकारके कल्याणसाधन हो सकेंगे, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है । रामावतारमें श्रीभगवान् विष्णु किस प्रकारसे चार भागमें प्रकट हुए थे, इस विषयमें रामायणके बालकाण्डके १८ सर्गमें वर्णन हैः—

"कौसल्याजनयद्रामं दिव्यलक्षणसंयुतम् ।

विष्णोरर्द्धं महाभागं पुत्रमैक्ष्वाकुनन्दनम् ॥
भरतो नाम कैकेय्यां जज्ञे सत्यपराक्रमः ।
साक्षाद् विष्णोश्चतुर्भागः सर्वैः समुदितो गुणैः॥
अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत् सुतौ ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्द्धसमन्वितौ ॥"

अयोध्याधिपति महाराजा दशरथकी तीन रानियाँ थीं । उनमेंसे कौसल्या नामिका रानीने दिव्य लक्षणोंसे युक्त रामचन्द्रको प्रसव किया, जो विष्णु भगवान्के अर्द्धांश थे। दूसरी रानी कैकेयीने सत्यविक्रम, सर्वगुणसम्पन्न भरतको प्रसव किया, जो विष्णु भगवान्के चतुर्थांश थे। तीसरी रानी सुमित्राने वीर, सकल अस्त्रमें निपुण लक्ष्मण और शत्रुघ्न नामक दो पुत्र प्रसव किये जो विष्णु भगवान्के अष्टमांश थे। इस प्रकारसे रामावतारमें अर्द्धांश, चतुर्थांश, और दो अष्टमांश मिलकर विष्णु भगवान्का पूर्णरूपमें अवतरण हुआ। माया परमात्माकी नित्यसङ्गिनी हैं । इसलिये महामायाने भी सीतादेवीरूपसे नारीजीवनका पूर्ण आदर्श संसारमें प्रकट करनेके लिये श्रीभगवान् रामचन्द्रकी अर्द्धाङ्गिनी बनकर अवतार धारण किया। यथा रामोत्तरतापिन्युपनिषद्में:—

"श्रीरामसान्निध्यवशाज्जगदाधारकारिणी ।
उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥
सा सीता भवति ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता ॥"

परमात्मरूपी श्रीरामके सान्निध्यसे जगत्की आधाररूपिणी सृष्टि-स्थिति-प्रलयकारिणी मूलप्रकृतिरूपा श्रीसीतादेवी हैं । रामावतारमें नरदेवरूपसे भगवान्का अवतार आदर्श मानव-जीवन बतानेके लिये हुआ था और नर-देवीरूपसे प्रकृतिमाताका सीतारूप अवतार आदर्श नारी-जीवनका दृष्टान्त संसारमें स्थापन करनेके लिये हुआ था। इसलिये समस्त अंशावतारोंमेंसे रामावतार मुख्यतम है और इसीलिये संसारमें रामावतारकी इतनी पूजा है । जिस समय श्रीभगवान् रामरूपमें प्रकट हुए थे, उस समयके देशकाल पर विचार करनेसे रामावतारकी आवश्यकता ठीक ठीक समझमें आती है। पूर्वावतार परशुरामके द्वारा इक्कीस बार पृथिवी क्षत्रियशून्य हो चुकी थी, जिससे

संसारमें क्षात्र शक्तिका बहुत अभाव हो गया था। यह बात पहले ही कही गई गई है कि संसारमें धर्मकी स्थिति और ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें नियम और व्यवस्था तभी तक रह सकती है जब तक ब्राह्म शक्ति और क्षात्र शक्तिके बीचमें सामञ्जस्य-की रक्षा हो। परशुराम-अवतारके समय क्षात्रशक्तिके अत्याचारसे यह साम-ञ्जस्य बिगड़ गया था। इसलिये श्रीभगवान्‌को परशुरामरूपसे क्षात्रशक्तिका नाश करके उस समयके लिये दोनों शक्तियोंके बीचमें सामञ्जस्य स्थापन करना पड़ा। परन्तु यद्यपि उस प्रकार क्षात्रशक्तिके नाशके द्वारा उस कालके लिये ब्राह्म, क्षात्र—दोनों शक्तियोंमें समता स्थापित हुई; तथापि परवर्ती कालमें क्षत्रियवंशनाशके कारण क्षात्रशक्ति धीरे धीरे हीनवल होने लगी, जिससे संसारमें धर्मरक्षाके कार्यमें बहुत ही बाधा होकर युगानुकूल धर्मकी कमी हो गयी, अन्यपक्षमें धर्मरक्षक क्षात्रशक्तिके नाशसे ब्राह्मशक्ति बहुत अन्यायरूपसे बढ़ने लगी, जिस कारण ब्राह्मणवंशमें भी रावण जैसे अत्याचारी पापी दुर्दान्त राक्षस उत्पन्न होने लगे। इसलिये त्रेतायुगके उस कालमें ब्रह्माण्डप्रकृतिकी ओरसे यह प्रेरणा उत्पन्न हुई कि ऐसी कोई अलौकिक भगवत्‌शक्ति अवतार रूपसे प्रकट हो जो हीनवल क्षत्रियशक्तिको पुनः जीवित करके क्षत्रियकुलमें एक आदर्श मानव चरित्र स्थापन कर सके और अन्य पक्षमें आसुर तथा राक्षसभावापन्न ब्राह्मण-शक्तिको नष्टकरके क्षात्रशक्तिके साथ ब्राह्मशक्तिका धर्मानुकूल सामञ्जस्य स्था-पन कर सके। इन्हीं दोनों उद्देश्योंकी पूर्त्तिके लिये श्रीभगवान् रामरूपमें क्षत्रिय-वंशमें प्रकट हुए। महामायाके भी सीतारूपमें अवतीर्ण होनेका कारण अति महान् है। दुर्दान्त कामुक रावणके अत्याचारसे अनेक सती स्त्रियाँ भ्रष्ट हो रही थीं, पातिव्रत्यका परम आदर्श संसारसे प्रायः लुप्त हो रहा था, सती स्त्रियोंके मर्मभेदी रोदन तथा अभिसम्पातसे दश दिशाएँ गूँज उठी थीं। इसलिये उस समय ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें यह आवश्यकता उत्पन्न हुई थी कि ऐसी एक आदर्श सती उत्पन्न हो, जिसके आदर्शको देखकर सतियोंके चित्तमें बल प्राप्त हो जाय और सती-धर्मका आदर्श-स्थापन तथा सतीत्वके प्रतापका चमत्कार संसार में प्रकट हो जाय; जिस से रावण जैसे प्रतापी राक्षस भी अग्निमें पतङ्गकी तरह जलकर खाक हो सके और जो अटल अचल पातिव्रत्यका आदर्श भविष्यत् कालमें भी संसारकी नरनारियोंके लिये कल्याणकारी हो जाय। ब्रह्माण्ड-प्रकृतिमें उत्पन्न इसी महान् प्रेरणाको सफल करनेके लिये महामायाका सीता-रूपमें अवतार हुआ था। दुर्दान्त रावणके द्वारा सती स्त्रियोंपर क्या क्या

अत्याचार होता था, इसका वर्णन रामायणके उत्तरकाण्डके २४ वें सर्गमें मिलता है। यथाः—

"निवर्त्तमानः संहृष्टो रावणः स दुरात्मवान्।
जह्रे पथि नरेन्द्रर्षिदेवदानवकन्यकाः॥
दर्शनीयां हि यां रक्षः कन्यां स्त्रीं वाथ पश्यति।
हत्वा बन्धुजनं तस्या विमाने तां रुरोध सः॥
एवं पन्नगकन्याश्च राक्षसासुरमानुषीः।
यक्षदानवकन्याश्च विमाने सोऽध्यरोपयत्॥
ता हि सर्वाः समं दुःखान्मुमुचुर्बाष्पजं जलम्।
तुल्यमग्न्यर्चिषां तत्र शोकाग्निभयसंभवम्॥
अहो दुर्वृत्तमास्थाय नात्मानं वै जुगुप्सते।
इदं त्वसदृशं कर्म परदाराभिमर्शनम्॥
यस्मादेष परक्यासु रमते राक्षसाधमः।
तस्माद्वै स्त्रीकृतेनैव वधं प्राप्स्यति दुर्मतिः॥"

दिग्विजय करके लौटते समय दुरात्मा रावण रास्तेमें देवकन्याओं, ऋषिकन्याओं, दानवकन्याओं और राजकन्याओंको हरण करने लगा। कन्या या स्त्री—जिसको सुन्दरी देखा उसीके ही कुटुम्बोंको मार कर स्त्रियोंको पुष्पकविमानमें भरने लगा। इस प्रकारसे राक्षस, असुर, मनुष्य, पन्नग तथा दानवकन्याओंको अपने विमानमें रखने लगा। चुराई हुई स्त्रीगण दुःखसे मर्मभेदी रोदन तथा आँसुओंकी धारा बहाने लगीं। वही शोकाग्नि और भयसे उत्पन्न नेत्रजल अग्निशिखाकी तरह ऊष्ण था। स्त्रियोंने विलाप करती हुई कहाः—"अहो! यह दुराचारी परस्त्रीधर्षणरूप पापकर्म करता हुआ भी अपने आत्माको निन्दित नहीं समझता। चूँकि यह राक्षसाधम दूसरेकी स्त्रियोंमें यथेच्छ रमण करता है; इसलिये यह दुर्मति स्त्रीके द्वारा ही विनाशको प्राप्त होगा। इस प्रकारसे चुराई हुई स्त्रियोंने अभिसम्पात किया। केवल इतना ही नहीं, अधिकन्तु जिस शरीरमें महामायाका अंश लेकर सीता देवीका अवतार हुआ था, उसके वेदवती नामक पूर्व शरीरके साथ भी रावणने सतीत्वनाशका प्रयत्न किया था, जिससे वेदवतीने भी प्रतिज्ञा की थी कि "आगेके जन्ममें मैं तुम्हारे वधका कारण बनूँगी।"

इसका वर्णन रामायणके उत्तरकाण्डके १७वें सर्गमें मिलता है। सीता देवी पूर्व जन्ममें वेदवती नाम्नी स्त्री थीं। उन्होंने नारायणको पतिरूपमें प्राप्त होनेके लिये घोर तपस्या की थी। किसी समय पृथिवीमें भ्रमण करता करता हिमालय-प्रदेशके वनमें रावणने वेदवतीको देख लिया और सुन्दरी देखकर कहाः—

"अहं लङ्कापतिर्भद्रे! दशग्रीव इति श्रुतः।
तस्य मे भव भार्या त्वं भुङ्क्ष्व भोगान् यथासुखम्॥"

मैं लङ्कापति दशानन हूँ। तुम मेरी स्त्री बनकर यथेच्छ भोगोंको भोगो। इसपर वेदवतीने कहाः—

"नारायणो मम पतिर्नत्वन्यः पुरुषोत्तमात्।
आश्रये नियमं घोरं नारायणपरीप्सया॥"

नारायण मेरे पति हैं, उनके अतिरिक्त और कोई मेरे पति नहीं हो सकते हैं। उनको पतिरूपमें पानेके लिये ही मैं घोर तपश्चरण कर रही हूँ। वेदवतीके इस प्रकार कहने पर कामुक रावणने वेदवतीका केशस्पर्श किया। तदनन्तर वेदवतीने क्या किया, सो रामायणमें निम्नलिखितरूपसे वर्णन किया गया है। यथाः—

"ततो वेदवती क्रुद्धा केशान् हस्तेन साच्छिनत्।
असिर्भूत्वा करस्तस्याः केशांश्छिन्नांस्तदाकरोत्॥
सा ज्वलन्तीव रोषेण दहन्तीव निशाचरम्।
उवाचाग्निं समाधाय मरणाय कृतत्वरा॥
धर्षितायास्त्वयानार्य न मे जीवितमिष्यते।
रक्षस्तस्मात्प्रवेक्ष्यामि पश्यतस्ते हुताशनम्॥
यस्मात्तु धर्षिता चाहं त्वया पापात्मना वने।
तस्मात्तव वधार्थं हि समुत्पत्स्याम्यहं पुनः॥
यदि त्वस्ति मया किञ्चित्कृतं दत्तं हुतं तथा।
तस्मात्त्वयोनिजा साध्वी भवेयं धर्मिणः सुता॥
एवमुक्त्वा प्रविष्टा सा ज्वलितं जातवेदसम्।
पपात च दिवो दिव्या पुष्पवृष्टिः समन्ततः॥

सैषा जनकराजस्य प्रसूता तनया प्रभो ।
तव भार्या महाबाहो ! विष्णुस्त्वं हि सनातनः ॥"

रावणके केशस्पर्श करते ही वेदवतीने क्रोधसे अपने हाथके द्वारा केश-छेदन कर लिया। पातिव्रत्य और तपोबलसे उनका हाथ भी तलवारकी तरह बन गया, जिससे रावणके द्वारा पकड़ा हुआ केशपाश छिन्न हो गया। उन्होंने अग्निमें शरीर त्याग करनेके लिये अग्नि एकत्र कर ली और क्रोधकी अग्निसे मानो रावणको दग्ध करती हुई वे कहने लगीं:—"रे अनार्य ! तूने मुझे स्पर्श किया है; इसलिये मैं इस शरीरको नहीं रखूँगी और तेरे सामने ही जलती हुई अग्निमें प्रवेश कर जाऊँगी। चूँकि तूने पापबुद्धिसे मेरा स्पर्श किया है, इसलिये मैं ही तेरे वधके लिये पुनः जन्म धारण करूँगी। यदि मैंने कुछ दान, हवन या तप किया है तो उसके फलसे विना गर्भके ही उत्पन्न हो कर किसी धार्मिक महात्माकी कन्या बनूँगी।" इतना कह कर रावणको अभिसम्पात करके वेदवती ज्वलन्त अग्निमें प्रविष्ट हो गई, और स्वर्गसे पुष्पवृष्टि होने लगी। यही वेद-वती जनकनन्दिनी सीतारूपसे महामायाकी साक्षात् शक्तिको लेकर प्रकट हुई, और साक्षात् सनातन विष्णुरूपी रामचन्द्र उनके पति बने। इसी पूर्वज-न्मकी घटनाके अनुसार सीता रावणकी नाशकारिणी बनी, और सतीत्वके प्रभावसे संसारको आलोकित कर दिया। यही श्रीभगवान्के रामादिरूपसे अवतार-धारण और महामायाका सीतारूपसे अवतारधारणका कारण है।

सप्तकाण्डयुक्त रामायणमें विस्तारके साथ वर्णित रामावतार-लीलाकी समस्त घटनाएं इस छोटे प्रबन्धमें वर्णन करना असम्भव है। इसलिये संक्षेपसे रामायणके बालकाण्डमें वर्णित रामावतारचरित्रकी कथाओंका उल्लेख किया जाता है—

"स यथा कथितं पूर्वं नारदेन महात्मना ।
रघुवंशस्य चरितं चकार भगवान्मुनिः ॥
जन्म रामस्य सुमहद्वीर्यं सर्वानुकूलताम् ।
लोकस्य प्रियतां क्षान्तिं सौम्यतां सत्यशीलताम् ॥
नाना चित्राः कथाश्चान्या विश्वामित्रसहायने ।
जानक्याश्च विवाहं च धनुषश्च विभेदनम् ॥

रामरामविवादं च गुणान्दाशरथेस्तथा।
तथाभिषेकं रामस्य कैकेय्या दुष्टभावताम् ॥
विघातं चाभिषेकस्य रामस्य च विवासनम्।
राज्ञः शोकं विलापं च परलोकस्य चाश्रयम् ॥
प्रकृतीनां विषादं च प्रकृतीनां विसर्जनम्।
निषादाधिपसंवादं सूतोपावर्तनं तथा ॥
गङ्गायाश्चापि संतारं भरद्वाजस्य दर्शनम्।
भरद्वाजाभ्यनुज्ञानाच्चित्रकूटस्य दर्शनम् ॥
वास्तुकर्मनिवेशं च भरतागमनं तथा।
प्रसादनं च रामस्य पितुश्च सलिलक्रियाम् ॥
पादुकाग्र्याभिषेकं च नन्दिग्रामनिवासनम्।
दण्डकारण्यगमनं विराधस्य वधं तथा ॥
दर्शनं शरभङ्गस्य सुतीक्ष्णेन समागमम्।
अनसूयासमाख्यां च अङ्गरागस्य चार्पणम् ॥
दर्शनं चाप्यगस्त्यस्य धनुषो ग्रहणं तथा।
शूर्पणख्याश्च संवादं विरूपकरणं तथा ॥
वधं खरत्रिशिरसो रुत्थानं रावणस्य च।
मारीचस्य वधं चैव वैदेह्या हरणं तथा ॥
राघवस्य विलापं च गृध्रराजनिबर्हणम्।
कबन्धदर्शनं चैव पम्पायाश्चापि दर्शनम् ॥
शबरीदर्शनं चैव फलमूलाशनं तथा।
प्रलापं चैव पम्पायां हनुमद्दर्शनं तथा ॥
ऋष्यमूकस्य गमनं सुग्रीवेण समागमम्।
प्रत्ययोत्पादनं सख्यं वालिसुग्रीवविग्रहम् ॥
वालिप्रमथनं चैव सुग्रीवप्रतिपादनम्।

तारविलापं समयं वर्षरात्रनिवासनम् ॥
कोपं राघवसिंहस्य बलानामुपसंग्रहम् ।
दिशः प्रस्थापनं चैव पृथिव्याश्च निवेदनम् ॥
अङ्गुलीयकदानं च ऋक्षस्य बिलदर्शनम् ।
प्रायोपवेशनं चैव संपातेश्चापि दर्शनम् ॥
पर्वतारोहणं चैव सागरस्यापि लंघनम् ।
समुद्रवचनाच्चैव मैनाकस्य च दर्शनम् ॥
राक्षसीतर्जनं चैव च्छायाग्राहस्य दर्शनम् ।
सिंहिकायाश्च निधनं लङ्कामलयदर्शनम् ॥
रात्रौ लङ्काप्रवेशं च एकस्यापि विचिन्तनम् ।
आपानभूमिगमनमवरोधस्य दर्शनम् ॥
दर्शनं रावणस्यापि पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
अशोकवनिकायानं सीतायाश्चापि दर्शनम् ॥
अभिज्ञानप्रदानं च सीतायाश्चापि भाषणम् ।
राक्षसीतर्जनं चैव त्रिजटास्वप्नदर्शनम् ॥
मणिप्रदानं सीताया वृक्षभङ्गं तथैव च ।
राक्षसीविद्रवं चैव किंकराणां निबर्हणम् ॥
ग्रहणं वायुसूनोश्च लङ्कादाहाभिगर्जनम् ।
प्रतिप्लवनमेवाथ मधूनां हरणं तथा ॥
राघवाश्वासनं चैव मणिनिर्यातनं तथा ।
संगमं च समुद्रेण नलसेतोश्च बन्धनम् ॥
प्रतारं च समुद्रस्य रात्रौ लङ्कावरोधनम् ।
विभीषणेन संसर्गं वधोपायनिवेदनम् ॥
कुम्भकर्णस्य निधनं मेघनादनिबर्हणम् ।
रावणस्य विनाशं च सीतावाप्तिमरेः पुरे ॥

विभीषणाभिषेकं च पुष्पकस्य च दर्शनम् ।
अयोध्यायाश्च गमनं भरद्वाजसमागमम् ॥
प्रेषणं वायुपुत्रस्य भरतेन समागमम् ।
रामाभिषेकाभ्युदयं सर्वसैन्यविसर्जनम् ।।
स्वराष्ट्ररञ्जनं चैव वैदेह्याश्च विसर्जनम् ॥"

अब ऊपर उक्त घटनाओंका साधारणरूपसे विस्तार किया जाता है। यह सब चरित्र देवर्षि नारदके मुखसे महर्षि वाल्मीकिने सुनकर रामायणकी रचना की। पुत्रकी इच्छासे सूर्यवंशीय महाराजा दशरथने महर्षि ऋष्यशृंगके द्वारा यज्ञ कराया था। उसी यज्ञमें प्राप्त हुए पायसान्नसे राम, भरत, लक्ष्मण और शत्रुघ्न—ये चार पुत्र श्रीभगवान् विष्णुके अंशसे उत्पन्न हुए। वे सभी अपूर्व गुणोंसे युक्त थे और श्रीरामचन्द्रकी गुणावली अलौकिक थी। चन्द्रकलाकी तरह वे सब पुत्ररत्न दशरथगृहमें दिन दिन वर्द्धित होने तथा शिक्षा पाने लगे। एक समय महर्षि विश्वामित्रने यज्ञ-विघ्न दूर करनेके लिए दशरथके पाससे राम-लक्ष्मणको माँगा। प्रार्थना करनेपर महाराजाने दोनों पुत्रोंको ऋषि-कार्यके लिये भेज दिया। उस समय रामचन्द्रजीने महर्षि विश्वामित्रके पास अनेक अस्त्रशस्त्रविद्याकी शिक्षा प्राप्त की। तदनन्तर यज्ञविघ्नको दूर करनेके लिये रामचन्द्रजीने ताड़का नाम्नी राक्षसीको मारा। अस्त्रके आघातसे मारीच नामक राक्षसको भगा दिया और यज्ञनाशक सुबाहु नामके राक्षसको मारकर सिद्धाश्रममें आ गये। वहाँसे धनुर्यज्ञके दर्शनार्थ विश्वामित्रके साथ दोनों भ्राता राजर्षि जनककी राजधानी मिथिलामें पहुँचे। महाराजा जनककी श्रीरामसे हरधनुका भंग करनेके लिये प्रार्थना करनेपर उन्होंने उसको तोड़ दिया, जिससे सीताके साथ श्रीरामचन्द्रका शुभ विवाह हुआ। तदनन्तर जनककी दूसरी कन्या उर्मिलाके साथ लक्ष्मणका और जनकके भ्राता कुशध्वज-की दो कन्याएँ—माण्डवी और श्रुतकीर्त्तिके साथ भरत और शत्रुघ्नका विवाह हुआ। सब मिलकर अयोध्याकी ओर चले। रास्तेमें परशुरामके साथ विरोध होनेपर उनको भी रामचन्द्रजीने हीनतेज तथा पराजित कर दिया। तदनन्तर भरत नन्दीग्राममें जाकर रहे और श्रीरामचन्द्रजी पिताकी सेवामें रहे। कुछ समय गत होनेपर महाराजा दशरथकी इच्छा हुई कि सर्वगुणाधार रामको राज्यमें अभिषिक्त करें। मन्त्रियोंने भी इस प्रस्तावका अनुमोदन किया। रामचन्द्र-

जीको सूचित करनेपर उन्होंने सहर्ष पितृ-आज्ञाके पालनका अनुमोदन किया और राज्याभिषेकको व्यवस्था होने लगी । इतनेमें महारानी कैकेयीकी दासी मन्थराने एक षड्यन्त्र रचा और कैकेयीको बहकाया । वह षड्यन्त्र यह था कि रामचन्द्रके बदले भरतको राजा बनाया जाय और रामको वनमें भेज दिया जाय । इस षड्यन्त्रके अनुसार कैकयीको दुष्टा मन्थराने समझाया कि " तुम महाराजासे पहले स्वीकार किये हुए दो वर माँगो । एक वरमें भरत राजा हो और दूसरेमें १४ वर्ष तक रामचन्द्र वनमें रहें ।" मूढ़बुद्धि कैकेयीने ऐसा ही किया । कैकेयीके मर्मभेदी निष्ठुर वाक्यको सुनकर महाराजा दशरथ मूर्च्छित हो गये ; परन्तु सत्यपाशसे बद्ध होनेके कारण उसको टाल न सके । तदनन्तर कैकेयीने रामचन्द्रसे भी यह बात कही; जिसपर मातृपितृभक्त साधुचरित्र रामचन्द्रजीने निःसङ्कोच पितृ-सत्यपालनके लिये वनवास स्वीकार किया और पिता-मातासे विदा होकर कनिष्ठ लक्ष्मण तथा भार्या सीताके साथ वनकी ओर यात्रा की । समस्त अयोध्यावासियोंमें हाहाकार मच गया। वे सब रामके पीछे पीछे रोते चले । रामचन्द्रजीने सीता और लक्ष्मणके साथ प्रथम रात्रि तमसा नदीके तीरपर काटी और दूसरे दिन अयोध्यावासियोंके चुपके ही वहाँसे चल दिये । नगरवासिगण हाहाकार करते करते अयोध्या लौट आये । जटा-वल्कलधारी रामचन्द्र सीता और लक्ष्मणके साथ शृङ्गवेर-पुरमें पहुँचे । वहाँ पर व्याधपति परम मित्र गुहके पास रात्रि काटी । दूसरे दिन सारथि सुमन्त्रको बिदा करके नौकायानसे गङ्गापार होकर प्रयाग पहुँचे । वहाँ ऋषिवर भरद्वाजसे मिले और वहाँसे चित्रकूटमें गमन करके वास्तुपूजा करनेके बाद गङ्गाके तटपर वास करने लगे । इधर पुत्रशोकातुर दशरथके राम-विरहमें प्राण गये, जिसपर मातुलालय (नानाके घर) से राज्यशासनके लिये मन्त्रियोंने भरतको बुलाया । भरतने अयोध्यामें आकर सब बात सुनी और माताको तिरस्कार करके पिताकी मृत्यु तथा भ्राताके वनवासके हेतु परम शोक प्रकट किया तथा ज्येष्ठके वर्तमान रहते राज्य ग्रहण करनेसे अस्वीकार किया । तदनन्तर भरतजीने अपने अनुचरोंके साथ श्रीरामचन्द्रको अयोध्यामें लौटानेके लिये वनयात्रा की और रामचन्द्रके पास पहुँचकर पिताका मृत्यु-सम्वाद दिया और पुनः पुनः प्रार्थना की कि आप, अयोध्यामें आकर राज्यपालन करें, मैं आपकी आज्ञा लेकर वनवास करूँगा । पिताका मृत्युसम्वाद सुनकर राम-चन्द्रजीने बहुत शोक प्रकाश किया । तदनन्तर पिताका श्राद्धतर्पणादि करके

भरतसे कहा कि पितृसत्य-रक्षा करना हमारा धर्म्म है; इस लिये चतुर्दश वर्ष मैं वनवास करूँगा। तुम अयोध्याका राज्य करो। इसपर भी भरतजीने वारम्वार प्रार्थना की। परन्तु जब रामचन्द्रजी किसी प्रकारसे भी सम्मत न हुए, तो उनकी पादुका (खड़ाऊ) ग्रहण कर अयोध्या लौट आये और सिंहासनपर उस पादुकाको रखकर नित्य उसकी पूजा और तपस्वी-वेशमें नन्दीग्राममें रहकर राज्य पालन करने लगे। तदनन्तर रामचन्द्रजीने उस स्थानको त्याग करके महर्षि अगस्तके प्रसादसे लब्ध धनु और खड्ग ग्रहण कर दण्डकारण्यमें प्रवेश किया। वहाँ गोदावरी नदीके तटपर स्थित पञ्चवटीवनमें कुटी बनाकर सीता और लक्ष्मणके साथ निवास करने लगे। एक समय वहाँपर शूर्पणखा नाम्नी एक राक्षसी आई। श्रीरामचन्द्रका सुन्दर रूप देखकर काममुग्धा हो उसने रामसे कहाः—"तुम मेरे पति हो जाओ; मैं तुम्हारे साथकी स्त्री और पुरुषको ग्रास कर लेती हूँ।" ऐसा कहकर जब उसने सीताको ग्रास करनेका उद्योग किया तो, रामकी आज्ञासे लक्ष्मणने उसके नाक-कान काट लिये। नासा-कर्ण-हीन शूर्पणखाने अपने भ्राता खरके पास जाकर दुःखकथा कही। जिसपर खरने रामको मारनेके लिये दूषण, त्रिशिरा और १४ हजार राक्षससेनाओंके साथ रामपर आक्रमण किया। परन्तु भगवानके तीक्ष्ण बाणोंसे अल्प समयके भीतर सभी मारे गये।

शूर्पणखा लङ्कामें पहुँची और रावणसे सब वृत्तान्त बताकर सीता-हरणके लिये प्रार्थना की। दशाननने शूर्पणखाकी बात सुनकर मारीचसे कहा कि "तुम स्वर्ण-मृगका रूप धारण करके सीताके सामनेसे निकलो; तुम्हारी सुन्दर मूर्ति देखकर राम-लक्ष्मण तुम्हें मारनेके लिये आश्रमसे बाहर जायँगे। उस समय मैं सीताका हरण करूँगा। यदि मेरी बात न मानोगे तो, तुम्हें मार डालूंगा।" मृत्युके भयसे मारीचको स्वर्णमृगका रूप धारण करके सीताके पास जाना पड़ा और सीताकी प्रार्थनासे रामचन्द्रने आश्रमसे बाहर जाकर उसको मार दिया। मरते समय मारीच रामके कण्ठस्वरसे "हा सीते! हा लक्ष्मण! तुम कहाँ रहे।"—ऐसा उच्च स्वरसे कहता मर गया। दूरसे राम-कण्ठका इस प्रकारका विलाप सुनकर रामपर कोई आपत्ति आई है—ऐसा सोच सीताजीने लक्ष्मणको भेज दिया। तदनन्तर आश्रममें एकाकी सीताको देखकर रावणने छलसे सीताको हरण कर लिया। रास्तेमें गृध्रराज जटायुके साथ, सीताके उद्धारके लिये, रावणका घोर युद्ध हुआ और अन्तमें रावणने जटायुके

पङ्ख काटकर उसको नीचे गिरा दिया तथा सीताको लेकर लङ्कामें पहुँचा। पतिके वियोगसे दुःखिता सीताको रावण अशोक काननमें रखकर प्रलोभन द्वारा अपनी स्त्री बनानेके लिये बहुत प्रयत्न करने लगा । इधर मारीचको मारकर लौटते समय रामचन्द्रजीने रास्तेमें लक्ष्मणको देखा और पूछा कि 'सीताको अकेली आश्रममें क्यों छोड़ आये, लक्ष्मणने छोड़नेका कारण बताया। पीछे दोनोंने आश्रममें आकर देखा कि सीता नहीं है। सीताको चोरिता (खोई) जानकर रामचन्द्रजीने बहुत शोक प्रकाश किया। तदनन्तर दोनों भाई जानकीकी खोजमें चारों ओर भ्रमण करने लगे। भ्रमण करते करते रास्तेमें मृतप्राय जटायुके साथ साक्षात्कार हुआ। जटायुने रावणका सीता-हरण, उसके साथ अपनी लड़ाई आदि समस्त विषय वर्णन करके अपने प्राण परित्याग किये। रामचन्द्रजीने यथा-विधि जटायुका मृतसंस्कार किया और थोड़ी दूरपर जाकर एक शापभ्रष्ट कबन्ध (सिरसे हीन प्रेत)को मार दिया । रामचन्द्रके हाथसे निहत होकर कबन्ध शापमुक्त हो गया और रामचन्द्रजीसे सुग्रीवके साथ मैत्री स्थापन करनेके लिये अनुरोध करके अपने स्थानपर चला गया । तदनन्तर शोकग्रस्त रामचन्द्र पम्पा-सरोवरमें जाकर शबरीसे मिले और हनुमान्के साथ उनका साक्षात्कार हुआ। हनुमान्जी रामचन्द्रजीको सुग्रीवके निकट ले गये। रामचन्द्रजीने सुग्रीवके साथ मैत्री स्थापनकी और उसके भाई बालीको मारकर सुग्रीवको किष्किन्धाके सिंहासनपर बिठाया। किष्किन्धा-पति सुग्रीवने अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार अपने आधीनस्थ हनुमान् आदि वानरों को सीताके अन्वेषणके लिये चारों ओर भेज दिया। समस्त वानर सीताका पता न पाकर लौट आये। केवल हनुमान्को जटायुके भ्राता सम्पाति नामक पक्षीसे सीताका पता चला कि सीता लङ्कापुरीके बीच अशोककाननमें वास कर रही है। हनुमान् समुद्र पार कर लङ्कामें पहुँचे और समस्त लङ्का ढूंढकर अशोकवनस्थित एक वृक्षके मूलमें राक्षसोंके द्वारा घिरी हुई सीताको देखा। उस समय वहां पर रावण सीताको मनानेके लिये आया था। परन्तु जब निराश होकर चला गया, तब वृक्षके ऊपरसे हनुमान्जीने सीताके साथ बात की और रामचन्द्रजीके पाससे आनेका सम्वाद और उसका प्रमाण-स्वरूप रामके द्वारा दी हुई अङ्गूठी सीताको प्रदान की। सीताजीने प्रसन्न होकर अपने परिचयकी चिह्नस्वरूप एक मणि हनुमान्को प्रदान की और शीघ्र अपने उद्धारके लिये रामके पास प्रार्थना करनेके लिये कहा। पश्चात् हनुमानजीने

लङ्का दग्ध की और अनेक राक्षसोंको मारा तथा रावणके बागीचोंको उजाड़कर रामचन्द्रके पास लौट आये और सीताका सम्वाद तथा सीताके द्वारा दी हुई मणि प्रदान की। इस प्रकारसे सीताका सम्वाद मिलनेपर राम, लक्ष्मण और असंख्य वानरसैन्यके सहित सुग्रीव लङ्कायात्राके लिये समुद्रतटपर पहुँचे। उस समय रावणके भ्राता विभीषण भी रामचन्द्रके पास आकर उनके शरणापन्न हुए और कहा कि "सीताको रामके हाथमें लौटा देनेके लिये अनुरोध करनेपर रावणने उनको लङ्कासे निकाल दिया है। अब रामचन्द्रसे मिलकर विभीषण पापी रावणका वंशनाश करावेगा।" इसके पीछे समुद्रको वशमें करके भगवान् रामचन्द्रजीने नल नामक वानरके द्वारा समुद्रपर पुल बनवाया और ससैन्य लङ्कामें पहुँचे। इस तरह श्रीरामचन्द्रजीने दूतरूपसे रावणके पास अङ्गद नामक वानरको भेजा और यह कहलाया कि 'यदि मृत्युसे भय हो तो शीघ्र सीतादेवीको प्रत्यर्पण करो।' दुर्दान्त रावणने सीताको फेर देनेसे अस्वीकार किया। तब युद्धके सिवाय और उपाय न रहा। हनुमान्, जाम्बवान्, नल, नील, अङ्गद, सुग्रीव, गवाक्ष आदि असंख्य वानरसैन्योंके साथ और लक्ष्मण, विभीषणके साथ रावण और उसकी राक्षसी सेनाओंसे घोर संग्राम प्रारम्भ हुआ। इस घोर संग्रामकी भीषणताकी तुलना नहीं हो सकती है। कहा है—

"गगनं गगनाकारं सागरः सागरोपमः ।
रामरावणयोर्युद्धं रामरावणयोरिव ॥"

आकाशकी तुलना आकाशके साथ ही होती है, सागरकी उपमा सागरके साथ ही होती है और राम-रावणके युद्धकी, राम-रावणके युद्धके साथ ही, तुलना की जा सकती है, अन्य किसी युद्धके साथ नहीं। इस घोर संग्राममें रावणपुत्र महावीर इन्द्रजित्ने एक वार रामलक्ष्मणको नाग-पाशसे बद्ध और मूर्छित कर दिया था। विनतानन्दन गरुड़का आवाहन करने पर दोनों नागपाशसे युक्त हो गये थे। रावणके भ्राता दीर्घनिद्रावाले महावीर कुम्भकर्णके साथ रामका भीषण संग्राम हुआ था और अन्तमें रामचन्द्रजीने उसका सिर काट दिया था। महावीर लक्ष्मणजीने निकुम्भिलाके यज्ञगृहमें इन्द्रजित्को मार दिया था। उसपर क्रुद्ध होकर रावणने लक्ष्मणको शक्ति-शेलके प्रयोग द्वारा मूर्च्छित कर दिया था। महावीर हनुमान्जीने विशल्यकरणी नामक ओषधि लाकर लक्ष्मणको उसके प्रयोगसे आराम कर दिया था। अन्तमें रामचन्द्रजीके साथ रावण-

का घोरतम संग्राम हुआ था, जिसमें राक्षसपति रावणका मस्तक जितनी बार रामचन्द्रजीने काट दिया था उतनी ही बार उसके स्कन्धपर पुनः मस्तक लग जाता था और रावण अजेय ही प्रतीप होने लगा था। अन्तमें रावणका मृत्युबाणरूप जो ब्रह्मास्त्र था उसको हनुमान् छिपा करके रावणके गृहसे लाये थे और उसका प्रयोग करनेपर रावणका प्राणवियोग हुआ था। इस प्रकारसे रावणका सवंश नाश करके श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने सीताका उद्धार, संसारमें धर्मका स्थापन और दैवजगत्को निरापद किया था सीतादेवी अनेक दिन लङ्कापुरीमें थीं; इस हेतु लोकापवाद दूर करनेके लिये अग्निपरीक्षा द्वारा निष्कलङ्क प्रमाणित करके मर्यादापुरुषोत्तम रामचन्द्रजीने उनका ग्रहण किया। सीताके उद्धारके बाद विभीषणको लङ्काके सिंहासनपर श्रीरामचन्द्रजीने अभिषिक्त करके अयोध्यायात्रा की और भरद्वाजके आश्रममें आकर महर्षिगणको प्रणामादि करते हुए प्रथम नन्दीग्राममें पहुँचे। वहां पर परम तपस्वी भ्रातृभक्त भरतके साथ रामचन्द्रजी मिले: दोनों ही के हृदयमें प्रेम तथा आनन्दका समुद्र उमड़ उठा। पश्चात् अयोध्यामें पहुँचकर वशिष्ठ, कौशल्या, कैकेयी, सुमित्रा आदि गुरुजनोंकी चरणवन्दनाके पीछे यथाविधि श्रीभगवान् रामचन्द्र अयोध्याके राजसिंहासनपर अभिषिक्त हुए। राजपदपर प्रतिष्ठित होकर रामचन्द्रजी निज सन्तानकी तरह प्रजाओंका पालन, दुष्टोंका दमन और अनेक धर्मकर्मोंका अनुष्ठान करने लगे। संसारमें रामराज्यकी तुलना नहीं है। उनके राज्यकालमें पृथिवी शस्यपूर्णा, प्रजागण सुख और धनसे सम्पन्न, अकालमृत्युका अभाव और चारों ओर अनन्तशान्तिछटा छा रही थी। रामचन्द्रके राज्यकालके विषयमें रामायण तथा अग्निपुराणमें लिखा है:—

"राज्येऽभिषिच्य ब्रह्माहमस्मीति ध्यानतत्परः ।
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ॥
राज्यं कृत्वा क्रतून् कृत्वा स्वर्गं देवार्चितो ययौ ।
सपौरः सानुजः सीतापुत्रो जनपदान्वितः ॥"

दश सहस्र और दश शत वर्ष कालतक राज्यपालन करके श्रीरामचन्द्रजीने अपने लवकुश नामक दोनों पुत्रोंको राज्यमें अभिषिक्त किया और 'ब्रह्माऽहमस्मि' इस ध्यानमें विलीन होकर वैकुण्ठ धामको सिधारे। उनके अनुज भ्रातागण तथा नगरवासिगण भी उनके साथ उनके ही पुण्यप्रभावसे स्वर्गलोकको

प्राप्त हुए। परवर्त्ती कालमें राज्यपालनके समय प्रजारञ्जनके लिये श्रीरामचन्द्रने सीतादेवीको वाल्मीकिके आश्रममें बनवास दिया था। वहां पर लवकुश नामक उनके दो वीर और सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुए थे। उनको लेकर वाल्मीकिजी सीताको रामचन्द्रजीके पास समर्पण करनेको आये थे। परन्तु मर्यादापुरुषोत्तम भगवान्‌ने पुनः लोकापवादके भयसे सीतादेवीको ग्रहण करनेमें अस्वीकार किया था; जिसपर सीतादेवी पृथिवीमातासे प्रार्थना करके पाताल लोकको चली गई थीं और वैकुण्ठमें रामचन्द्रजीके साथ मिली थीं। वैकुण्ठवासके कुछ समय पहले दैवचक्रसे कनिष्ठ प्रिय भ्राता लक्ष्मणको भी सत्यभङ्गके भयके कारण रामचन्द्रजीको परित्याग करना पड़ा था और लक्ष्मणजी जब सरयूमें प्राणत्याग करनेके लिये आये थे तब देवतागण उनको सशरीर स्वर्गमें ले आये थे। पश्चात् वैकुण्ठमें सबका मेल हुआ था। इस प्रकारसे रामावतार-चरित्र वीर, करुण वात्सल्य, मधुर, भयानक, अद्भुत आदि सकल रसोंका आदर्श संसारमें स्थापन करके समस्त संसारके जीवोंके हृदय—हृदयमें सुशोभित हुआ है।

रामावतारका चरित्र शिक्षाका भाण्डार है। विष्णु भगवान्‌के अंशसे उत्पन्न राम, लक्ष्मण, भरत, शत्रुघ्न आदि चारों भ्राताओंने अपने अपने चरित्रोंसे संसारमें अपूर्व आदर्श-स्थापन किया है। रामचन्द्रके चरित्रमें पूर्णमानवका आदर्श प्रकट हुआ है और माता सीताके चरित्रमें पूर्णनारीका आदर्श प्रकट हुआ है। इसलिये अब नीचे क्रमशः इन चरित्रोंकी समालोचना की जाती है। पूर्ण मानव कौन है, जिसके आदर्शको देखकर प्रत्येक गृहस्थ अपने जीवनको पूर्ण जीवन बना सकते हैं तथा प्रत्येक क्षत्रिय नरपति अपने राजधर्मके पूर्णानुष्ठान द्वारा इहलोक-परलोकमें कृतकृत्य हो सकते हैं इस प्रकारसे महामुनि वाल्मीकिके प्रश्न करनेपर देवर्षि नारदने श्रीभगवान् रामचन्द्रको ही ऐसे पूर्णमानवके आदर्शरूपसे वर्णन किया था। यथा रामायणके बालकाण्डमें:—

"इक्ष्वाकुवंशप्रभवो रामो नाम जनैः श्रुतः।
नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी॥
बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमाञ्छत्रुनिबर्हणः।
विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः॥

महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिंदमः ।
आजानुबाहुः सुशिराः सुललाटः सुविक्रमः ॥
समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान् ।
पीनवक्षा विशालाक्षो लक्ष्मीवाञ्छुभलक्षणः ॥
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हिते रतः ।
यशस्वी ज्ञानसंपन्नः शुचिर्वश्यः समाधिमान् ॥
प्रजापतिसमः श्रीमान् धाता रिपुनिषूदनः ।
रक्षिता जीवलोकस्य धर्मस्य परिरक्षिता ॥
रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता ।
वेदवेदाङ्गतत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः ॥
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः स्मृतिमान् प्रतिभानवान् ।
सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः ॥
सर्वदाभिगतः सद्भिः समुद्र इव सिन्धुभिः ।
आर्यः सर्वसमश्चैव सदैव प्रियदर्शनः ॥
स च सर्वगुणोपेतः कौशल्यानन्दवर्धनः ।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव ॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः ।
कालाग्निसदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः ॥
धनदेवसमस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः ॥"

इक्ष्वाकुवंशमें जगत्-प्रसिद्ध श्रीरामचन्द्र उत्पन्न हुए हैं, जिनके भीतर एकाधारमें पूर्णमानवके समस्त गुण विद्यमान हैं। वे संयतात्मा, महावीर्यवान्, कान्तिमान्, धृतिमान्, जितेन्द्रिय, बुद्धिमान्, राजनीति आदिके पूर्णज्ञाता, वक्ता, श्रीमान्, बहिरन्तर शत्रुओंके नाशकर्त्ता, विपुलमस्तक, महाबाहु, शङ्खकी तरह रेखात्रयविशिष्ट, ग्रीवावान्, मांसपूर्णहनुयुक्त, विशालवक्ष, महाधनुर्धर, मांसोंसे पूर्ण वक्षास्थिसे युक्त, शत्रुदमनकारी, आजानुलम्बित बाहु, सुशील, सुललाट, गजेन्द्रगति, समान अङ्ग प्रत्यङ्गसे युक्त, समविभक्ताङ्ग, स्निग्ध,

श्यामलवर्ण, प्रतापवान्, उन्नतवक्ष, विशालनेत्र, लक्ष्मीवान्, शुभलक्षण, धर्म्मज्ञ, सत्यप्रतिज्ञ, प्रजाहितपरायण, कीर्त्तिसम्पन्न, शौचसम्पन्न, बाह्याभ्यन्तर-शुद्ध, विनयशील, योगयुक्त, प्रजापतितुल्य, ऐश्वर्यवान्, प्रजापोषणसामर्थ्ययुक्त, बाह्याभ्यन्तररिपुनाशक, जीवोंके रक्षक, मर्यादा पालन द्वारा धर्म्मरक्षक, स्वध-र्म्मके रक्षक, स्वजनोंके रक्षक, वेदवेदाङ्गोंके मर्मज्ञाता, धनुर्वेदके सम्यग्ज्ञाता, श्रुति स्मृति आदि सकल शास्त्रोंके तत्त्वज्ञाता, पठित शास्त्रोंके स्मरणकर्ता, उप-स्थितबुद्धि, सर्वलोकप्रिय, मृदुमधुरस्वभाव, अदीनस्वभाव, लौकिकालौकिक-सकलक्रियाकुशल, नदियोंके द्वारा समुद्रकी तरह सदा सत्पुरुषोंके द्वारा सेवित, सर्वपूज्य, सुखदुःखादिद्वन्द्वविकाररहित, सकल अवस्थामें प्रियदर्शन, सर्वगुणोंसे युक्त, नरपतिकी योग्यतासे युक्त, समुद्रके तुल्य गाम्भीर्ययुक्त, हिमाचलके तुल्य धैर्ययुक्त, विष्णुके तुल्य वीर्ययुक्त, चन्द्रके तुल्य प्रियदर्शन, युद्धकालीन क्रोधके समय कालाग्निके तुल्य, क्षमामें पृथिवीके तुल्य, धनदानमें कुवेरके तुल्य और सत्यपालनमें साक्षात् धर्म्मराजके तुल्य हैं। इतने गुण एका-धारमें होनेके कारण ही श्रीरामचन्द्र समस्त मनुष्य, समस्त क्षत्रिय, समस्त नृपति तथा गृहस्थ मात्रके पूर्णादर्शस्वरूप थे। क्षत्रिय नृपतिका सार्थक जीवन तभी होता है जब उनके शासनमें प्रजा सकल प्रकारके सुखकी अधिकारी हो। श्रीरामचन्द्रके राजत्वमें इस आदर्शका पूर्ण विकाश हुआ था। रामराज्यके समय प्रजा जिस प्रकार सुखी हुई थी ऐसा न कभी हुआ है और न कभी होनेकी आशा है। रामराजत्वके विषयमें देवर्षि नारदने महर्षि वाल्मीकिको रामायणरचनाके पहिले ही भविष्यत् सूचना कर दी थी। यथा—रामायणके बालकाण्डमें—

प्रहृष्टमुदितो लोकस्तुष्टः पुष्टः सुधार्मिकः।
निरामयो ह्यरोगश्च दुर्भिक्षभयवर्जितः॥
न पुत्रमरणं केचिद्द्रक्ष्यन्ति पुरुषाः क्वचित्।
नार्यश्चाविधवा नित्यं भविष्यन्ति पतिव्रताः॥
न चाग्निजं भयं किंचिन्नाप्सु मज्जन्ति जन्तवः।
न वातजं भयं किंचिन्नापि ज्वरकृतं तथा॥
न चापि क्षुद्भयं तत्र न तस्करभयं तथा।
नगराणि च राष्ट्राणि धनधान्ययुतानि च॥

नित्यं प्रमुदिताः सर्वे यथा कृतयुगे तथा ।
अश्वमेधशतैरिष्ट्वा तथा बहुसुवर्णकैः ॥
गवां कोट्ययुतं दत्त्वा विद्वद्भ्यो विधिपूर्वकम् ।
असंख्येयं धनं दत्त्वा ब्राह्मणेभ्यो महायशाः ॥
राजवंशाँच्छतगुणान्स्थापयिष्यति राघवः ।
चातुर्वर्ण्यं च लोकेऽस्मिन्स्वे स्वे धर्मे नियोक्ष्यति ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति ॥

श्रीरामचन्द्रके राज्यकालमें प्रजागण आनन्दप्राप्त, संतुष्ट, पुष्ट और सुधार्म्मिक होंगे। सभी रोग, दुःख और दुर्भिक्षके भयसे शून्य और नीरोग रहेंगे। किसी पिताको पुत्रकी मृत्यु नहीं देखनी होगी। किसी स्त्रीको वैधव्य दुःख नहीं देखना होगा। सभी स्त्रियाँ पतिव्रता होंगी। अग्निका भय, जलमग्न होनेका भय, वायुसे भय, ज्वरसे भय, क्षुधाका भय और चोरोंका भय किसीको नहीं रहेगा। समस्त राज्य और नगर धनधान्यसे पूर्ण होंगे। समस्त मनुष्य सत्ययुगकी तरह नित्यानन्दमें मग्न रहेंगे। शतशत अश्वमेध यज्ञ करके तथा विद्वान् ब्राह्मणोंको बहु सुवर्ण, कोटि कोटि गौ और यथेष्ट धन दान करके श्रीभगवान् रामचन्द्र राजवंशोंकी शतगुण वृद्धि करेंगे। ब्राह्मणादि चार वर्णोंको अपने २ धर्म्ममें नियुक्त करेंगे और इस प्रकारसे एकादश सहस्र वर्ष पर्यन्त राज्य करके ब्रह्मधामको प्रस्थान करेंगे। देवर्षि नारदकृत यह भविष्यद् वाणी रामराज्यमें अक्षरशः फलीभूत हो गई थी, जैसा कि युद्धकाण्डके अन्तमें रामायणमें बताया गया है। यथा—

न पर्यदेवन् विधवा न च व्यालकृतं भयम् ।
न व्याधिजं भयं चासीद्रामे राज्यं प्रशासति ॥
निर्दस्युरभवल्लोको नानर्थं कश्चिदस्पृशत् ।
न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते ॥
सर्वं मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत् ।
राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन्परस्परम् ॥

आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्त्रिणः ।
निरामया विशोकाश्च रामे राज्यं प्रशासति ॥
नित्यमूला नित्यफलास्तरवस्तत्र पुष्पिताः ।
कामवर्षी च पर्जन्यः सुखस्पर्शश्च मारुतः ॥
स्वकर्मसु प्रवर्त्तन्ते तुष्टाः स्वैरेव कर्मभिः ।
आसन् प्रजा धर्मपरा रामे शासति नानृताः ॥
सर्वे लक्षणसम्पन्नाः सर्वे धर्मपरायणाः ॥

श्रीरामचन्द्रके राज्यकालमें स्त्रियोंको वैधव्यदुःख नहीं देखना पड़ता था और किसीको भी सर्पभय तथा रोगका भय नहीं होता था। चोर दस्यु आदि का कोई भी अत्याचार नहीं था, किसी प्रकारका उपद्रव नहीं था और वृद्ध पितामाताको कभी उनके जीते हुए मृतपुत्रका श्राद्धकर्म नहीं करना पड़ता था। सभी लोग आनन्दपूर्ण और सभी धर्मपरायण थे। श्रीरामचन्द्रके धार्मिक भावका आदर्श पाकर कोई भी परस्पर हिंसामें लिप्त नहीं होते थे। सहस्रों पुत्रों के साथ सहस्रों वर्षोंतक नीरोग तथा शोकशून्य होकर मनुष्य जीवित रहते थे। वृक्षगण सदा ही फल फूल मूलोंसे सुशोभित रहा करते थे, इच्छामात्रसे ही मेघ जलवर्षण करता था और शीतल मन्द सुगन्ध सुखस्पर्श वायु बहा करता था। अपने कर्मसे तृप्त होकर प्रजा अपने कर्ममें ही तत्पर रहती थी, सभी लोग धर्मपरायण थे और कहीं भी मिथ्या-व्यवहारका प्रचार नहीं था, सभी शुभलक्षण और स्वधर्मसे विभूषित थे। यही आदर्श नरपति श्रीरामचन्द्रके पुण्यबलसे रामराज्यमें प्रजासुखकी पराकाष्ठाका अपूर्व दृष्टान्त है। प्रजापालन तथा प्रजारञ्जनके लिये ही आठ लोकपालोंके अंशसे राजाका जन्म होता है। प्रजारञ्जन करनेवाले राजा ही वास्तवमें देवता हैं। प्रजापीडक राजा असुरोंके अंशसे अथवा राक्षसोंके अंशसे उत्पन्न हैं ऐसा शास्त्रका सिद्धान्त है। प्रजा जिनका प्राण है ऐसे राजाका ही जीवन यथार्थ है; अन्यथा राजाका जीवन धारण करना ही वृथा है। इस परमधर्मकी पूर्णता श्रीरामचन्द्रके जीवनमें ही पायी गयी थी। श्रीरामचन्द्र अत्यन्त प्रजावत्सल थे, प्रजारञ्जन ही उनका एकमात्र व्रत था, प्रजाके सुखके लिये ही उनका जीवन धारण था और संसार में ऐसा कोई कार्य नहीं था जो प्रजारञ्जनके लिये वे कर नहीं सकते थे। उनका समस्त प्राण, समस्त सुख प्रजारञ्जनरूपी होमाग्निमें पवित्र घृतकी तरह आहुति

प्राप्त होगया था। संसारमें ऐसे कोई नरपति नहीं मिलेंगे जो केवल प्रजारञ्जनके लिये पूर्णनिर्दोषा परमप्रिया पतिव्रता अपनी सहधर्मिणीको भी परित्याग कर सके। परन्तु श्रीरामचन्द्रजीके जीवनमें ऐसा भी हुआ था। उन्होंने सब ओरके कर्त्तव्योंको तिलाञ्जलि देकर, इतना तक कि अपने हृदयके शुद्ध ज्ञानका भी गला घोटकर, पूर्णपवित्रा जानने पर भी केवल प्रजा रञ्जनके ही लिये परमसती परम प्रेमवती निर्दोषा सीताको भी वनवास दिया था। उनके प्रति प्रजाओंकी सम्मति कैसी है, किसी बातका आक्षेप तो वह नहीं करती है, उनको किसी बातका कष्ट तो नहीं है, इसके ठीक ठीक जाननेके लिये श्रीरामचन्द्र राज्यके भीतर गुप्तचर भेजा करते थे, जो लोग सब बातें जानकर उनको ठीक ठीक कह दिया करते थे। एकदिन भद्रनामक गुप्तचरको श्रीरामचन्द्रजीने राज्यके विषयमें प्रजाओंकी सम्मत्ति कैसी है सो पूछा। उसपर भद्रने उत्तर दिया, यथा रामायण, उत्तरकाण्ड ४३ सर्गमें :—

शृणु राजन् यथा पौराः कथयन्ति शुभाशुभम् ।
चत्वरापणरथ्यासु वनेषूपवनेषु च ॥
दुष्करं कृतवान् रामः समुद्रे सेतुबन्धनम् ।
अश्रुतं पूर्वकैः कैश्चिद्देवैरपि सदानवैः ॥
रावणश्च दुराधर्षो हतः सबलवाहनः ।
वानराश्च वशं नीता ऋक्षाश्च सह राक्षसैः ॥
हत्वा च रावणं संख्ये सीतामाहृत्य राघवः ।
अमर्षं पृष्ठतः कृत्वा स्ववेश्म पुनरानयत् ॥
कीदृशं हृदये तस्य सीतासंभोगजं सुखम् ।
अङ्कमारोप्य तु पुरा रावणेन बलाद्धृताम् ॥
लङ्कामपि पुरा नीतामशोकवनिकां गताम् ।
रक्षसां वशमापन्नां कथं रामो न कुत्स्यति ॥
अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति ।
यथा हि कुरुते राजा प्रजास्तमनुवर्त्तते ॥

हे राजन्! सुनिये आपके विषयमें रास्ता घाट तथा जहां तहां लोग

क्या कहते हैं। लोगोंकी सम्मति यह है कि—" देव दानवोंसे भी जो होना कठिन था ऐसा समुद्र पर सेतुबन्धनरूप कार्य श्रीरामचन्द्रजीने अद्भुत किया है। दुर्दान्त रावणका सवंश नाश किया, वानर तथा राक्षसोंको वशमें लाये, ये भी सब अपूर्व कार्य हैं। परन्तु रावणको मारकर सीताका उद्धार करके रावणके द्वारा सीताके स्पर्शका क्रोध भूलकर पुनः जो सीताको अपने घर लाये उससे सीतासङ्गका सुख रामको कैसे मिलता है! पहले बलात्कार के साथ रावण अङ्कमें धारण करके सीताको लङ्कामें लेगया था, अशोकवनमें बहुत दिनों तक रख दिया था, राक्षसोंके आधीन उनको कर दिया था, अतः इस प्रकार सीताके साथ पुनःसम्बन्ध करनेमें क्या उनको घृणा नहीं होती है? अब हम लोगोंको भी अपनी स्त्रियोंके विषयमें ऐसा ही सहना पड़ेगा, क्योंकि प्रजा राजाके आचरणकी ही नकल करती है।" गुप्तचरके मुखसे इस प्रकार कठिन वाक्यको सुनकर श्रीरामचन्द्र अत्यन्त दुःखित हुए और श्रीलक्ष्मणको बुलाकर कहा, यथा—रा० उ० काण्ड ४। सर्गमें—

पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ।
वर्त्तते मयि बीभत्सा सा मे मर्माणि कृन्तति ॥
जानासि त्वं यथा सौम्य दण्डके विजने वने ।
रावणेन हृता सीता स च विध्वंसितो मया ॥
तत्र मे बुद्धिरुत्पन्ना जनकस्य सुतां प्रति ।
अत्रोषितामिमां सीतामानयेयं कथं पुरीम् ॥
प्रत्ययार्थं ततः सीता विवेश ज्वलनं तदा ।
प्रत्यक्षं तव सौमित्रे देवानां हव्यवाहनः ॥
अपापां मैथिलीमाह वायुश्चाकाशगोचरः ।
लङ्काद्वीपे तदाग्निना मम हस्ते निवेदिता ॥
अन्तरात्मा च मे वेत्ति सीतां शुद्धां यशस्विनीम् ।
ततो गृहीत्वा वैदेहीमयोध्यामहमागतः ॥
अयं तु मे महान् वादः शोकश्च हृदि वर्त्तते ।
पौरापवादः सुमहांस्तथा जनपदस्य च ॥

श्वस्त्वं प्रभाते सौमित्रे सुमन्त्राधिष्ठितं रथम् ।
आरुह्य सीतामारोप्य विषयान्ते समुत्सृज ॥

मेरे विषयमें अयोध्यापुरीकी जनताके भीतर कुछ अपवाद और निन्दा फैल रही है जिससे मेरे हृदयमें मर्मभेदी दुःख है । लक्ष्मण तुम जानते हो किस प्रकारसे रावणने दण्डकारण्यमें सीताको चुरा लिया था और मैंने किस प्रकारसे रावणको मार सीताका उद्धार किया था। सीताउद्धारके बाद मेरे हृदयमें यह चिन्ता उत्पन्न हुई थीं कि इस प्रकार घटनाके बाद एकाएक सीताको कैसे ग्रहण करूं। मेरे इस प्रकार कहने पर सीताने अग्निप्रवेश किया था और यह भी तुम्हारे सामनेकी ही बात है कि अग्निने सीताको जलाया नहीं था किन्तु समस्त देवताओंके सामने सीताको पूर्ण निष्पाप कहकर मेरे हस्तमें समर्पण किया था। मेरा अन्तरात्मा भी जानता है कि सीता पूर्ण विशुद्धा है। इसी परीक्षाके अनन्तर तब मैं सीताको ग्रहण करके अयोध्यामें लौटा हूँ। परन्तु इसपर भी लोगोंके बीचमें महा निन्दा फैलती है इससे मुझे बहुत ही शोक है। इसलिये तुम कल प्रातःकाल सुमन्त्र सारथीके साथ सीताको रथमें बिठाकर अयोध्यासे बाहर वनवासमें दे आओ। हा सीते! जो रामचन्द्र—

"त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।"

सीते तुम मेरी जीवन हो, दूसरी हृदय हो, मेरी आंखोंमें चन्द्रकिरण हो और अंगमें सुशीतल अमृत हो, ऐसा कहकर तुम्हें मुग्ध करते थे उन्होंने ही निर्दोषिणी आज तुम्हें केवल प्रजारंजनरूपी कर्त्तव्य पालनेके लिये निष्ठुरहृदय होकर त्याग दिया। इसीलिये वनतापसी वासन्तीने श्रीरामचन्द्रके विषयमें कहा था कि:—

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि ।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति ॥"

जिनका हृदय वज्रसे भी कठोर है और फूलसे भी कोमल है ऐसे लोकोत्तरचरित्र पुरुषोंके चित्तको कौन जान सकता है, यह बात अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है। परन्तु क्या किया जाय, श्रीभगवान् रामचन्द्रका अवतार मर्यादामूलक था, इसलिये लोकमर्यादाकी रक्षा तथा लोकापवाद दूर करनेके

लिये ही उनको इसी प्रकारके अनेक आचरण करने पड़े थे। क्या श्रीरामचन्द्र नहीं जानते थे कि सीतादेवी कभी स्वप्नमें भी दोषिणी नहीं हो सकतीं ? तथापि केवल लोकमर्यादा रक्षाके लिये ही जिस प्रकार अग्निमें तपानेसे सोनेकी शुद्धता प्रमाणित होती है, उसी प्रकार लङ्कामें सीताका उद्धार करके अग्निपरीक्षा द्वारा सीताकी पवित्रताको संसारके सामने पूर्णरूपसे प्रमाणित करके तब उन्होंने सीताको ग्रहण किया था। जिस समय अग्निदेवने सुशीतल होकर अपने शरीर द्वारा सीतामाताको उठाकर श्रीरामचन्द्रके हस्तमें उन्हें धर दिया था और उनकी निर्दोषिताके विषयमें शपथ खाई थी तब भी श्रीरामचन्द्रने ऐसा ही कहा था, यथा-रामायणके युद्धकाण्डमें—

अवश्यं चापि लोकेषु सीता पावनमर्हति।
दीर्घकालोषिता हीयं रावणान्तःपुरे शुभा ॥
बालिशो बत कामात्मा रामो दशरथात्मजः।
इति वक्ष्यति मां लोको जानकीमविशोध्य हि ॥
अनन्यहृदयां सीतां मच्चित्तपरिरक्षिणीम् ।
अहमप्यवगच्छामि मैथिलीं जनकात्मजाम् ॥
न च शक्तः सुदुष्टात्मा मनसापि हि मैथिलीम्।
प्रधर्षयितुमप्राप्यां दीप्तामग्निशिखामिव ॥

लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये सीताकी अग्निपरीक्षा अवश्य ही करनी उचित थी, क्योंकि रावणके स्थानमें सीताको दीर्घकाल तक रहना पड़ा था । यदि मैं इसप्रकार न करता तो लोग मुझे कामुक और व्यवहारज्ञानसे शून्य बतलाते। मुझे पूर्ण ज्ञान है कि सीताका हृदय और मन केवल मेरेमें ही है। दुष्टात्मा रावण जलती हुई अग्निकी शिखाकी तरह सीताको मनसे भी धर्षित नहीं कर सकता है। यह लोकमर्यादारक्षाका ही कारण था कि जिस समय अनेक वर्ष पर्य्यन्त वनवासके बाद महर्षि वाल्मीकिजी सीताको रामचन्द्रके पास लाये थे और शपथ खायी थी कि—"सीता परम पवित्रा है, राम इन्हें ग्रहण करें, यदि सीतामें कोई दोष हो तो मेरी सब तपस्या निष्फल होजाय।" उस समय भी श्रीरामचन्द्रने सीताको ग्रहण करनेमें संकोच किया था और समस्त जगत्के सामने सीता स्वयं शपथ करें इस प्रकार इच्छा प्रकट की थी, जिस इच्छाके अनुसार सीता माताने शपथ करके पाताल प्रवेश किया

था। ये सब श्रीरामचन्द्रके जीवनमें मर्यादास्थापनकी पराकाष्ठाको ही दृष्टान्त हैं। यह उनके जीवनमें मर्यादापालनका ही मधुर दृष्टान्त है कि अपनी सहधर्मिणी सीताके उद्धारके पहले शरणागत सुग्रीवकी वालिके द्वारा चुराई हुई सहधर्मिणीका उद्धार किया था और सुग्रीवको किष्किन्धाके राज्यमें बैठाया था। यह उनके जीवनमें मर्यादापालनका ही दृष्टान्त है कि शरणागत विभीषणको पहले लङ्काके राज्यमें बैठा करके पश्चात् अयोध्याका राज्य स्वयं ग्रहण किया था।

वर्णाश्रमधर्मकी अपूर्व मर्यादा श्रीरामचन्द्रने अपने जीवनमें जिस प्रकार दिखाई थी ऐसा और कहीं देखनेमें नहीं आता है। जनकपुरीमें सीताका पाणिग्रहण करके जब श्रीरामचन्द्र अयोध्या लौट रहे थे उस समय रास्तेमें परशुराम वैष्णव धनु लेकर आये और रामचन्द्रको उस धनुमें बाण योजना करनेको कहा। परशुरामकी स्पर्द्धाके दमनके लिये श्रीरामचन्द्रने धनुषमें बाणयोजना तो की परन्तु परशुरामके ब्राह्मणवंशोत्पन्न होनेके कारण उस बाणको परशुराम पर प्रयोग नहीं किया और कहा, यथा—बालकाण्डमें:—

ब्राह्मणोऽसीति पूज्यो मे विश्वामित्रकृतेनच।
तस्माच्छक्तो न ते राम मोक्तुं प्राणहरं शरम्॥

आप ब्राह्मण हैं और महर्षि विश्वामित्रके साथ भी आपका सम्बन्ध है इसलिये आपके प्राणहरणकारी इस शरका त्याग मैं आप पर नहीं कर सकता। इस प्रकारसे परशुरामके द्वारा पीडित होने पर भी क्षत्रियको ब्राह्मण पर अस्त्र-प्रयोग नहीं करना चाहिये इस विचारसे परशुरामपर अस्त्रप्रयोग करनेमें कुण्ठित और अस्वीकृत होना श्रीरामचन्द्रके जीवनमें वर्णाश्रममर्यादापालन-का ही अपूर्व आदर्श स्थापित करता है। श्रीरामचन्द्रके वर्णाश्रममर्यादापालन के कारण ही उनके राज्यमें अकालमृत्यु नहीं होती थी इसका एक अपूर्व दृष्टान्त उनके राज्यकालमें संघटित हुआ था। किसी समय एक वृद्ध ब्राह्मण एक मृत पुत्रको लेकर श्रीरामचन्द्रके राजद्वार पर आया और कहने लगा, यथा—रामायणके उत्तरकाण्डके ७३ सर्गमें—

न स्मराम्यनृतं ह्युक्तं न च हिंसां स्मराम्यहम्।
सर्वेषां प्राणिनां पापं न स्मरामि कदाचन॥
केनाद्य दुष्कृतेनायं बाल एव ममात्मजः।

अकृत्वा पितृकार्याणि गतो वैवस्वतक्षयम् ॥
रामस्य दुष्कृतं किञ्चिन्महदस्ति न संशयः।
यथा हि विषयस्थानां बालानां मृत्युरागतः ॥
न ह्यन्यविषयस्थानां बालानां मृत्युतो भयम्।
स राजञ्जीवयस्वैनं बालं मृत्युवशं गतम् ॥
राजद्वारि मरिष्यामि पत्न्या सार्द्धमनाथवत्।
ब्रह्महत्यां ततो राम समुपेत्य सुखी भव ॥

हे महाराज रामचन्द्र! इस जन्ममें अथवा पूर्वजन्ममें मैंने किसी प्राणि की हिंसा नहीं की और न कभी मिथ्या भाषण ही किया; फिर मेरा पुत्र मेरे जीते कैसे अकालमृत्युके ग्रासमें चला गया। इससे निश्चय होता है कि रामचन्द्रमें कोई पाप है, जिस कारण उनके राज्यमें अकालमृत्यु हुई। यदि अन्य किसीके राज्यमें अकालमृत्यु होती तो कोई भय नहीं था; परन्तु रामराज्यमें अकालमृत्यु नहीं होनी चाहिये, इसलिये हे महाराज! मेरे मृतपुत्रको जीवित कर दो, नहीं तो ब्राह्मणीके साथ मैं तुम्हारे द्वारपर मर जाऊँगा और तुम्हें ब्रह्महत्याका पाप लगेगा। वृद्ध ब्राह्मणका करुण वाक्य सुनकर श्रीरामचन्द्रको बहुत खेद हुआ। तदनन्तर उन्होंने समस्त मन्त्रिगण तथा महर्षियोंकी सभा करके इस अकालमृत्युका कारण पूछा जिसपर देवर्षि नारदने कहा—

शृणु राजन् यथाकाले प्राप्तो बालस्य संक्षयः।
श्रुत्वा कर्त्तव्यतां राजन् कुरुष्व रघुनन्दन ॥
पुरा कृतयुगे राजन् ब्राह्मणा वै तपस्विनः।
अब्राह्मणस्तदा राजन् न तपस्वी कथंचन ॥
ततस्त्रेतायुगं नाम मानवानां वपुष्मताम्।
क्षत्रिया यत्र जायन्ते पूर्वेण तपसान्विताः ॥
त्रेतायुगे च वर्त्तन्ते ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्च ये।
तपोऽतप्यन्त ते सर्वे शुश्रूषामपरे जनाः ॥
अधर्मः परमो राजन् द्वापरे शूद्रजन्मनः।
स वै विषयपर्यन्ते तव राजन् महातपाः ॥

अद्य तप्यति दुर्बुद्धिस्तेन बालवधो ह्ययम्।
स त्वं पुरुषशार्दूल मार्गस्व विषयं स्वकम्॥
दुष्कृतं यत्र पश्येथास्तत्र यत्नं समाचर।
एवं चेद्धर्मवृद्धिश्च नृणां चायुर्विवर्धनम्॥
भविष्यति नरश्रेष्ठ बालस्यास्य च जीवितम्॥
(रा० उ० ७४ स०)

सुनो महाराज! किस कारणसे इस ब्राह्मण बालकको अकालमृत्यु प्राप्त हुई है और सुनकर यथाकर्त्तव्य करो। इससे पहले सत्ययुगमें केवल ब्राह्मणका ही तपस्यामें अधिकार था। अब्राह्मण कोई भी तपस्या नहीं करते थे। तदनन्तर त्रेतायुगमें ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों ही का तपस्यामें अधिकार हुआ। वैश्य और शूद्र उनके सेवक रहे। द्वापर युगमें वैश्यका भी तपस्यामें अधिकार होता है; परन्तु शूद्रका अधिकार इस युगमें भी तपस्या करनेका नहीं होता है। जब द्वापर युगमें ही शूद्रको तपस्याधिकार नहीं है तो त्रेतायुगमें किस तरहसे हो सकता है? इसलिये महान् अधर्म तुम्हारे राज्यमें आजकल यह होरहा है कि एक शूद्र महान् तपस्या कर रहा है। इसी कारण ब्राह्मण बालककी अकालमृत्यु हुई है। अतः हे नरशार्दूल रामचन्द्र! तुम इसकी खोज और उचित व्यवस्था करो। इससे तुम्हारे राज्यमें अधर्मनाश, धर्मवृद्धि और मनुष्योंकी आयुवृद्धि होगी और ब्राह्मणका बालक भी पुनः जी उठेगा। देवर्षि नारदके मुखसे इस वृत्तान्तको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने पुष्पक विमानको स्मरण किया और उस पर चढ़ करके चारों दिशाओंमें शूद्र तपस्वीकी खोज करने गये। अनेक खोज करके अन्तमें दक्षिणदिशामें जाकर देखा कि विन्ध्यपर्वतके निकट शैवाल नामक पहाड़की उत्तर दिशामें एक सरोवर है और उस सरोवरमें नीचे मुँह ऊपर पांव करके एक मनुष्य घोर तपस्या कर रहा है। इस प्रकार तपस्वीको देखकर श्रीरामचन्द्रने कौतुकके साथ पुछा कि "तुम कौन वर्णके हो और क्यों तपस्या कर रहे हो।" उस पर उस तपस्वीने जो उत्तर दिया था और उत्तरको सुनकर श्रीरामचन्द्रने जो कुछ किया था सो रामायणके उत्तरकाण्डके ७६ सर्गमें निम्नलिखित रूपसे वर्णन किया गया है। यथा—

तस्य तद्वचनं श्रुत्वा रामस्याक्लिष्टकर्मणः।
अवाक्शिरास्तथाभूतो वाक्यमेतदुवाच ह॥

शूद्रयोन्यां प्रजातोऽस्मि तप उग्रं समास्थितः ।
देवत्वं प्रार्थये राम सशरीरो महायशः ॥
न मिथ्याहं वदे राम देवलोकजिगीषया ।
शूद्रं मां विद्धि काकुत्स्थ शम्बूको नाम नामतः ॥
भाषतस्तस्य शूद्रस्य खड्गं सुरुचिरप्रभम् ।
निष्कृष्य कोशाद्विमलं शिरश्चिच्छेद राघवः ॥
तस्मिन् शूद्रे हते देवाः सेन्द्राः साग्निपुरोगमाः ।
साधु साध्विति काकुत्स्थं ते शशंसुर्मुहुर्मुहुः ॥
सुप्रीताश्चाब्रुवन् रामं देवाः सत्यपराक्रमम् ।
गृहाण च वरं सौम्य यं त्वमिच्छस्यरिंदम ॥
देवानां भाषितं श्रुत्वा रामः सत्यपराक्रमः ।
उवाच प्राञ्जलिर्वाक्यं सहस्राक्षं पुरन्दरम् ॥
यदि देवाः प्रसन्ना मे द्विजपुत्रः स जीवतु ।
दिशन्तु वरमेतन्मे ईप्सितं परमं मम ॥
राघवस्य तु तद्वाक्यं श्रुत्वा विबुधसत्तमाः ।
प्रत्यूचू राघवं प्रीता देवाः प्रीतिसमन्वितम् ॥
यस्मिन् मुहूर्ते काकुत्स्थ शूद्रोऽयं विनिपातितः ।
तस्मिन् मुहूर्ते बालोऽसौ जीवेन समयुज्यत ॥

श्रीरामचन्द्रके वचनको सुनकर उस तपस्वीने अधोमुख रह कर ही कहना शुरु किया । " मैं शूद्रयोनिमें उत्पन्न हुआ हूं । इसी शरीरसे देवत्व प्राप्तिके लिये इस प्रकारसे घोर तपस्या कर रहा हूं । मेरा नाम शम्बूक है । मैं देवपद प्राप्त करना चाहता हूं ।" इतना कहते कहते ही श्रीरामचन्द्रने कोशसे शाणित खड्ग निकाल कर शम्बूकका सिर काट दिया । शूद्रका प्राण विनाश होते ही इन्द्र अग्नि आदि देवतागण श्रीरामचन्द्रके प्रति साधुवाद करने लगे और अत्यन्त प्रसन्न होकर वरदानके लिये रामचन्द्रको कहा । श्रीरामचन्द्रने हाथ जोड़कर सहस्रलोचन इन्द्रसे प्रार्थना की " यदि आप प्रसन्न हुए हैं तो

यह वर दीजिये कि वह ब्राह्मणका बालक पुनः जीवित हो जाय।" रामचन्द्र की बात सुन कर देवताओंने प्रसन्न होकर कहा "जिस मुहूर्त्तमें शूद्रका प्राण-नाश हुआ है उसी मुहूर्त्तमें ब्राह्मणका बालक पुनर्जीवित हो जाय।" इस प्रकारसे श्रीरामचन्द्रके राज्यकालमें वर्णधर्ममें थोड़ीसी कमी होनेसे जो अकाल-मृत्यु आदि दोष होने लगे थे सो वर्णमर्यादाकी रक्षाद्वारा पूर्णरूपसे दूर होगये। यही सब श्रीभगवान् रामचन्द्रके जीवनमें मर्यादामूलक धर्मपालन के अपूर्व दृष्टान्त हैं।

श्रीभगवान् विष्णुका अवतार होने पर भी श्रीरामचन्द्रके जीवनमें प्राकृत जनोंकी तरह अनेक आचरण देखकर लोग संशययुक्त हो जाते हैं। दृष्टान्त रूपसे समझ सकते हैं कि लङ्कापुरीमें अग्निपरीक्षा द्वारा समस्त देवताओंके सम्मुख यह बात सिद्ध होने पर भी कि सीता पूर्ण पवित्रा है पुनः सामान्य प्रजाओंकी मिथ्या बातोंसे सामान्य कीर्त्तिके लिये निरपराधिनी माता सीताको अन्तःसत्त्वा (गर्भवती) की अवस्थामें उस प्रकार बनवास दुःखदेना बहुत ही मर्मभेदी घटना प्रतीत होती है। इससे यह अच्छा होता कि उन मिथ्या दोष देखनेवाली प्रजाओंको बुलाकर लङ्कापुरीकी घटना अच्छी तरहसे समझा देते। दूसरी बार कितने वर्षोंके बनवासके बाद जब महर्षि वाल्मीकि तपस्विनी माता सीताको लेकर रामचन्द्रके पास आये और कितनी कठिन शपथ करके सीताको पुनर्ग्रहण करनेके लिये रामचन्द्रजीको कहा, उसपर भी सन्तुष्ट न होकर समस्त संसारके सामने खड़ी होकर सीताको स्वयं शपथ करनेको कहना यह बात बहुत ही हृदयमें चोट देनेवाली जान पड़ती है। इसके सिवाय लक्ष्मण तथा सीताके लिये प्राकृतजनोंकी तरह रोते रहना और अपना स्वरूप सम्पूर्ण रूपसे भूल जाना और ब्रह्माजीसे अपने स्वरूपके विषयमें ज्ञान प्राप्त करनेकी इच्छा करना ये सभी बातें मनुष्योंके चित्तको संशययुक्त करती हैं। इसलिये किन पूर्व दैवकारणोंसे इस प्रकारकी घटनायें उत्पन्न हुई थीं सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। श्रीरामायणके उ० का० ५१ सर्गमें लिखा है कि किसी समय महर्षि दुर्वासाको महाराजा दशरथने अपने वंशके विषयमें जिज्ञासा की थी उसपर महर्षिजीने कहा था—

शृणु राजन् पुरा वृत्तं तदा देवासुरे युधि।
दैत्याः सुरैर्भर्त्स्यमाना भृगुपत्नीं समाश्रिताः॥
तया दत्ताभयास्तत्र न्यवसन्नभयास्तदा।

तया परिगृहीतांस्तान् दृष्ट्वा क्रुद्धः सुरेश्वरः ॥
चक्रेण शितधारेण भृगुपत्न्याः शिरोऽहरत् ।
ततस्तां निहतां दृष्ट्वा पत्नीं भृगुकुलोद्वहः ॥
शशाप सहसा क्रुद्धो विष्णुं रिपुकुलार्दनम् ।
यस्मादवध्यां मे पत्नीमवधीः क्रोधमूर्च्छितः ॥
तस्मात्त्वं मानुषे लोके जनिष्यसि जनार्दन ।
तत्र पत्नीवियोगं त्वं प्राप्स्यसे बहुवार्षिकम् ॥

पूर्वकालमें देवासुर संग्राममें असुरगण देवताओंके द्वारा परास्त हो कर भृगुपत्नीकी शरणमें आये और उनके द्वारा अभय प्राप्त होकर निःसंकोच वहां रहने लगे। परन्तु सुरपति विष्णुने भृगुपत्नीको असुरोंकी आश्रय देनेवाली जान कर तीक्ष्णधार चक्रसे भृगुपत्नीका सिर काट दिया। महर्षि भृगु अपनी स्त्रीको निहत देखकर क्रुद्ध होगये और विष्णुको अभिसम्पात किया—'चूँकि तुमने क्रुद्ध होकर मेरी निरपराधिनी पत्नीको मार दिया इसलिये मनुष्य लोकमें तुमको जन्म लेना पड़ेगा और वहां पर अनेक वर्षोंतक तुमको स्त्रीवियोगदुःख सहन करना पड़ेगा।" महर्षिके वाक्यको सत्य करनेके लिये श्रीभगवान् विष्णुको अभिसम्पात ग्रहण करना पड़ा था और रामावतारमें उसको उन्होंने सार्थक किया था। पद्मपुराणमें सीताके बनवास कालमें लक्ष्मणके प्रति रामकी यह उक्ति है—

आहूय लक्ष्मणं प्राह रामो राजीवलोचनः ।
शृणु मे वचनं गुह्यं सीतासंत्यागकारणम् ॥
वाल्मीकिनाथ भृगुणा शप्तोऽस्मि किल लक्ष्मण।
तस्मादेनां त्यजाम्यद्य जनो नैवात्र कारणम् ॥

लक्ष्मणको बुलाकर रामचन्द्रजीने कहा—"सीता परित्यागका गूढ़ कारण यह है कि पूर्वकालमें वाल्मीकि और भृगुके द्वारा मैं अभिशप्त हुआ हूँ कि मुझे स्त्रीवियोगदुःख सहना पड़ेगा। लोकापवाद इसका साक्षात् कारण नहीं है।" जालन्धरपत्नी वृन्दाने भी विष्णुको शाप दिया था। योगवाशिष्ठ वै० प्रक० १ म सर्ग—

"वृन्दया शापितो विष्णुश्छलनं यत् त्वया कृतम् ।

अतस्त्वं स्त्रीवियोगं तु वचनान्मम यास्यसि ॥"

जालन्धरकी पत्नी वृन्दाने विष्णुको अभिसम्पात किया थाः—"तुमने मेरे साथ छलना की है इसलिये तुम्हें स्त्रीवियोगदुःख देखना पड़ेगा। देवदत्तकी स्त्री नृसिंहवेशधारी विष्णुको देखकर डरसे मर गई थी इसलिये उन्होंने भी अभिसम्पात किया था। यथा—योगवाशिष्ठके उसी सर्गमें—

"तवापि भार्यया सार्द्धं वियोगो हि भविष्यति।"

हे विष्णु तुमने जिस प्रकार मुझे स्त्रीवियोगदुःख दिया इसी प्रकार तुम भी स्त्रीवियोगदुःख पाओगे। बालिवधके अनन्तर बालिपत्नी ताराने भी इस प्रकार अभिसम्पात किया था जो रामायणमें लिखा है। इस प्रकारसे अनेक पूर्व दैवसम्बन्धके कारण ही निरपराधिनी सीता देवीके साथ श्रीरामचंद्रका वियोग हुआ था। पूर्णावतार चरित्रके साथ अंशावतार चरित्रका एक भेद यह है कि, पूर्णावतार भावातीत हुआ करते हैं; परन्तु अंशावतार किसी एक भावको मुख्य रखकर कार्य करते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार रामावतारके समस्त कार्य मर्यादा भावकी मुख्यताको लेकर हुए थे। इसलिये पूर्वकथित दैवसम्बन्धको मूलकारण बनाकर और लोकमर्यादा तथा रघुकुलकी मर्यादाको निमित्त कारण बनाकर श्रीरामचन्द्रको सीताको वनवास देना पड़ा था। यही सीतात्यागका पूर्वापर प्रसङ्गके अनुसार गूढ़ तत्त्व है। द्वितीयतः लक्ष्मण और सीताके लिये प्राकृत जनोंकी तरह श्रीरामचन्द्रजीने जो कभी २ विलाप किया था, इसमें भी लोकमर्यादारक्षा निमित्तकारण और पूर्व दैवसम्बन्ध मूलकारण था। पतिव्रता सहधर्म्मिणीके प्रति प्रेम दिखाना और अत्यन्त अनुगत कनिष्ठ भ्राता लक्ष्मणके प्रति स्नेह दिखाना पूर्ण मानव चरित्रका आदर्श स्थापना करने वाले श्रीरामचन्द्रके लिये लौकिक व्यवहारके अनुकूल मर्यादारक्षाका ही दृष्टान्त था। इस कारण लौकिक कर्त्तव्यपालनके लिये श्रीरामचन्द्रको लक्ष्मण और सीताके दुःखमें दुःखित होकर विलाप करना पड़ा था। इस लौकिक निमित्त कारणके सिवाय जो पूर्वदैवसम्बन्धरूपी अलौकिक मूलकारण है सो नीचे बताया जाता है। योगवाशिष्ठमें वर्णन है ब्रह्मर्षि सनत्कुमारजीने श्रीभगवान् विष्णुको अभिसम्पात किया था। यथा—योगवाशिष्ठ वै० प्रक० १म सर्गमें—

तेनापि शापितो विष्णुः सर्वज्ञत्वं तवास्ति यत्।

कञ्चित् कालं हि तत् त्यक्त्वा त्वमज्ञानी भविष्यसि॥

हे विष्णो! आपके भीतर जो सर्वज्ञता है उसको कुछ कालके लिये त्याग करके आपको अज्ञानी बनना पड़ेगा। सनत्कुमारके दिये हुए इस अभिसम्पातके कारण ही श्रीरामचन्द्र अपने विष्णु स्वरूपको भूल गये थे। इसी कारण भ्राता या पत्नीके लिये विलापादि लौकिक धर्म्मोंने उनको आश्रय किया था। श्रीरामचन्द्रकी स्वरूपविस्मृतिके विषयमें रामायणके युद्ध काण्डमें सीताकी अग्निपरीक्षाके समय बहुत कुछ वर्णन किया गया है। जिस समय रामचन्द्र की आज्ञासे सीता अग्निमें प्रवेश कर गई उस समय इन्द्र, वरुण, यम, महादेव और ब्रह्मादि समस्त देवतागण श्रीरामचन्द्रके पास आगये और उनको कहने लगे। यथा रा० यु० का० ११७ सर्गमें—

कर्त्ता सर्वस्य लोकस्य श्रेष्ठो ज्ञानविदां विभुः।
उपेक्षसे कथं सीतां पतन्तीं हव्यवाहने॥
कथं देवगणश्रेष्ठमात्मानं नावबुध्यसे॥
ऋतधामा वसुः पूर्वं वसूनां च प्रजापतिः।
त्रयाणामपि लोकानामादिकर्त्ता स्वयं प्रभुः॥
रुद्राणामष्टमो रुद्रः साध्यानामपि पञ्चमः।
अश्विनौ चापि कर्णौ ते सूर्याचन्द्रमसौ दृशौ॥
अन्ते चादौ च मध्ये च दृश्यसे च परंतप।
उपेक्षसे च वैदेहीं मानुषः प्राकृतो यथा॥
इत्युक्तो लोकपालैस्तैः स्वामी लोकस्य राघवः।
अब्रवीत्त्रिदशश्रेष्ठान् रामो धर्मभृतां वरः॥
आत्मानं मानुषं मन्ये रामं दशरथात्मजं।
सोऽहं यश्च यतश्चाहं भगवांस्तद्ब्रवीतु मे॥
इति ब्रुवाणं काकुत्स्थं ब्रह्मा ब्रह्मविदां वरः।
अब्रवीच्छृणु मे वाक्यं सत्यं सत्यपराक्रम॥
भवान्नारायणो देवः श्रीमांश्चक्रायुधः प्रभुः।
एकशृङ्गो वराहस्त्वं भूतभव्यसपत्नजित्॥

अक्षरं ब्रह्म सत्यं च मध्ये चान्ते च राघवः ।
लोकानां त्वं परो धर्मो विष्वक्सेनश्चतुर्भुजः ॥
शार्ङ्गधन्वा हृषीकेशः पुरुषः पुरुषोत्तमः ।
अजितः खड्गधृग्विष्णुः कृष्णश्चैव बृहद्बलः ॥
दिक्षु सर्वासु गगने पर्वतेषु नदीषु च ।
सहस्रचरणः श्रीमाञ्शतशीर्षः सहस्रदृक् ॥
त्वं धारयसि भूतानि पृथिवीं सर्वपर्वतान् ।
अन्ते पृथिव्याः सलिले दृश्यसे त्वं महोरगः ॥
त्रींल्लोकान् धारयन् राम देवगन्धर्वदानवान् ।
अहं ते हृदयं राम जिह्वा देवी सरस्वती ॥
देवा रोमाणि गात्रेषु ब्रह्मणा निर्मिताः प्रभो ।
निमेषस्ते स्मृता रात्रिरुन्मेषो दिवसस्तथा ॥
संस्कारास्त्वभवन्वेदा नैतदस्ति त्वया विना ।
जगत् सर्वं शरीरं ते स्थैर्यं ते वसुधातलम् ॥
अग्निः कोपः प्रसादस्ते सोमः श्रीवत्सलक्षणः ।
त्वया लोकास्त्रयः क्रान्ताः पुरा स्वैर्विक्रमैस्त्रिभिः ॥
महेन्द्रश्च कृतो राजा बलिं बद्ध्वा सुदारुणम् ।
सीता लक्ष्मीर्भवान् विष्णुर्देवः कृष्णः प्रजापतिः ॥
वधार्थं रावणस्येह प्रविष्टो मानुषीं तनुम् ।
तदिदं नस्त्वया कार्यं कृतं धर्मभृतां वर ॥

आप समस्त संसारके कर्त्ता, ज्ञानियोंके गुरु और व्यापक परमात्मा हैं। तथापि अग्निप्रवेशकारिणी सीताके प्रति क्यों उपेक्षा दिखा रहे हैं। क्यों देवगणमें श्रेष्ठ अपने स्वरूपको नहीं समझ रहे हैं? सृष्टिके पूर्वमें ऋतधामा नामक वसु आप ही हैं, वसुओंमें प्रजापति आप ही हैं, त्रिभुवनके सृष्टिकर्ता आप ही हैं, रुद्रोंमें अष्टम रुद्र महादेव आप ही हैं, साध्योंमें पञ्चम साध्य वीर्यवान् आप ही हैं, दोनों अश्विनीकुमार आपके कर्ण हैं, सूर्य चन्द्र आपके नेत्र हैं, आदि अन्त

मध्य सर्वत्र आप ही विराजमान् हैं, फिर प्राकृत जनोंकी तरह सीताके प्रति क्यों उपेक्षा दिखा रहे हैं? लोकपालोंके इसप्रकार कहनेपर पृथिवीपालक रामचन्द्रजीने उनको कहा—"मैं अपनेको दशरथपुत्र मनुष्यरूप रामही समझता हूं। इसलिये मैं कौन हूं और कहांसे आया हूं मुझे बतावें।" रामचन्द्रके इस प्रकार कहने पर ब्रह्मज्ञाताओंमें श्रेष्ठ ब्रह्माजीने उनको कहना प्रारम्भ किया—"आप लक्ष्मीपति सुदर्शनचक्रधारी नारायण विष्णु हैं, एकशृङ्गधारी वराहावतारका रूप आपहीने धारण किया था, आप भूत भविष्यत्कालमें एकरूप नित्य आत्मा हैं, आप अक्षर ब्रह्म, सत्यस्वरूप और मध्य तथा अन्तमें बिराजमान हैं, यज्ञादि सकल धर्म आप ही हैं, आपके गणके नेतासमूह सर्वत्र हैं, आप चतुर्भुज हैं, कालरूप धनु आपके हाथमें है, इन्द्रियोंके नियन्ता आप हैं, हृदयके अधिष्ठाता पुरुष आप हैं, पुरुषोत्तम ब्रह्म आप हैं, खड्गधारी, व्यापक, कृष्णवर्ण, अनायास ही संसारके धारण करनेवाले अति बलवान आप हैं, दशदिशा, आकाश, पर्वत तथा नदियोंमें व्याप्त अनन्तचरण, अनन्तमस्तक, अनन्तनेत्र विराट्पुरुष आप हैं; त्रिलोक तथा देवदानव गन्धर्वोंके धारण करनेवाले आप हैं, मैं आपका हृदय हूँ, देवी सरस्वती आपकी जिह्वा हैं, देवतागण आपके शरीरके रोंये हैं, रात्रि आपका निमेष (आंखोंका बन्द होना) है, दिन आपका उन्मेष (आंखोंका खुलना) है, वेद आपका संस्कार है, आपके बिना कुछ भी नहीं है। समस्त जगत् आपका शरीर है। पृथिवीतल आपका स्थैर्य्य है, अग्नि आपका कोप है, सोम आपका प्रसाद है, पूर्वकालमें वामनावतार धारण करके आपहीने तीन पादके द्वारा त्रिलोक आक्रमण करके बलिको बन्धन और इन्द्रको देवराज्य प्रदान किया था, सीता आपकी लक्ष्मी है, आप मूर्त्तिमान् विष्णु हैं, रावणके वधके लिये ही आप मनुष्यशरीरमें प्रविष्ट हुए हैं, जिससे समस्त देवताओंका महान् कार्य आपने सिद्ध किया है।" इस प्रकारसे प्रजापति ब्रह्माने सनत्कुमारके शापसे आत्मविस्मृत श्रीभगवान रामचन्द्रको अपने स्वरूपका स्मरण दिलाकर स्तुति की थी। यही सब पूर्वापर घटनावली श्रीरामचन्द्रके जीवनमें अनेक लौकिक तथा अलौकिक दृश्य दिखानेकी कारण बन गई थीं। इस कारण श्रीरामचन्द्र कभी साक्षात् विष्णुरूपमें प्रतीत होते थे और कभी कभी प्राकृत जनोंकी तरह आचरण करनेवाले जान पड़ते थे।

जितेन्द्रियता और एकपत्नीव्रतकी पराकाष्ठा श्रीरामचन्द्रजीने अपने जीवनमें बताई थी जो प्रत्येक गृहस्थके लिये चिरदिन आदर्श स्वरूप विद्यमान

रहेगी । लोकापवादके भयसे सीतासतीको बनवास देकर श्रीरामचन्द्र वंशरक्षा, यज्ञादि साधन तथा अन्य वृत्तियोंके लिये दूसरा विवाह अनायास ही कर सकते थे और उसमें बाधा भी कुछ नहीं थी। परन्तु निरपराधिनी स्त्रीको लोकमर्यादाके लिये वनवास कष्ट देना पड़ा, इसलिये स्वयं भी राज्यमें ही बनवाससे भी अधिक मनःक्लेश सहन करते रहे और दूसरा विवाह करना योग्य नहीं समझा क्योंकि दूसरा विवाह करनेसे सीताके प्रति अमानुष निर्दय व्यवहार होता, जो राम जैसे आदर्श पुरुषके लिये कदापि कर्त्तव्य नहीं हो सकता था। यही उनके जीवनमें जितेन्द्रियता और एकपत्नीव्रतकी परा काष्ठा है। अन्तमें जब अश्वमेधादि अनेक यज्ञकार्य करनेके लिये सहधर्मिणीकी शास्त्रानुसार आवश्यकता हुई उस समय भी दूसरा विवाह न करके सोनेकी सीतामूर्ति बनवाकर अनुकल्प द्वारा यज्ञकार्य सुसम्पन्न किया। प्रत्येक गृहस्थ पुरुष इस अलौकिक धीरता, जितेन्द्रियता और कर्त्तव्यनिष्ठाका आदर्श ग्रहण करेंगे तो उनका जीवन धन्य होगा, आध्यात्मिक उन्नतिकी पूर्णता प्राप्त होगी और गृहस्थाश्रम अनन्त आनन्दका नन्दनकानन बन जायगा इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है।

सत्यव्रतपरायणता और कर्त्तव्यपरायणताका अपूर्व दृष्टान्त श्रीराम-चरित्रमें प्रकट होता है। यह सत्यव्रतपरायणताका ही गम्भीर दृष्टान्त था कि जब निर्दयहृदया कैकेयीने राजमुकुटके बदले जटा वल्कल धारणपूर्वक चतु-र्दशवर्ष पर्यन्त वनवासकी आज्ञा श्रीरामचन्द्रको दी थी तो इतनी कठिन आज्ञा सुननेपर भी श्रीरामचन्द्रके मुखपर दुःखकी रेखा तक नहीं देखनेमें आई थी और रामचन्द्रजीने कैकयीको कहा था, यथा—रामायणके अयोध्याकाण्डमें—

एवमस्तु गमिष्यामि वनं वस्तुमहं त्वितः ।
जटाचीरधरो राज्ञः प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥
हितेन गुरुणा पित्रा कृतज्ञेन नृपेण च ।
नियुज्यमानो विस्रब्धः किं न कुर्यामहं प्रियम् ॥
अहं हि सीतां राज्यञ्च प्राणानिष्टान् धनानि च ।
हृष्टो भ्रात्रे स्वयं दद्याम् भरताय प्रचोदितः ॥
किं पुनर्मनुजेन्द्रेण स्वयं पित्रा प्रचोदितः ।
तव च प्रियकामार्थं प्रतिज्ञामनुपालयन् ॥

यत् तत्रभवतः किञ्चित् शक्यं कर्तुं प्रियं मया ।
प्राणानपि परित्यज्य सर्वथा कृतमेव तत् ॥
नह्यतो धर्म्मचरणं किञ्चिदस्ति महत्तरम् ।
यथा पितरि शुश्रूषा तस्य वा वचनक्रिया ॥
अनुक्तोऽप्यत्रभवतो भवत्या वचनादहम् ।
वने वत्स्यामि विजने वर्षाणीह चतुर्दश ॥

माता, जैसा आपने कहा वैसा ही होगा। मैं पिताके प्रतिज्ञानुसार जटा वल्कल धारण करके वनवासको जाऊंगा। हितकारी गुरु, और आपके प्रति कृतज्ञ नरपति पिताके द्वारा आज्ञा प्राप्त होकर निःसङ्कोच चित्तसे उनकी प्रीतिके लिये मैं क्या नहीं कर सकता हूं ? मैं आपकी प्रेरणा मात्रसे ही सीता, राज्य, प्राण, इष्ट और धन सब कुछ आनन्दचित्तसे स्वयं भरतको दे सकता हूँ। फिर जब पिताकी प्रतिज्ञा पालन करनी है और आपका भी इसमें प्रीतिसाधन है तो मेरे लिये अदेय क्या हो सकता है। यदि प्राण परित्याग करके भी पूज्य पिताका कुछ प्रिय हो सके सो भी मैं करनेको तैयार हूँ। पिताकी सेवा और उनकी आज्ञा पालनसे महत्तर धर्म्मकार्य संसारमें और कुछ नहीं है। इसलिये यद्यपि पूज्य पिता सङ्कोचके कारण आज्ञा नहीं देते तथापि आपके ही कहनेसे मैं १४ वर्षतक वनमें वास करूंगा। जिस समय धर्मवीर रामचन्द्र वनगमनके पूर्व पिता दशरथसे अन्तिम मिलने आये थे और स्नेह-मुग्ध पिता अजस्र अश्रुवर्षण करते हुए पुनः पुनः मूर्छाप्राप्त होने लगे थे, उस समय भी श्रीरामचन्द्रने पूज्यपिताको ऐसा ही वाक्य कहा था। यथा—रामायणके अयोध्याकाण्डमें—

नैवाहं राज्यमिच्छामि न सुखं न च मेदिनीम् ।
नैव सर्वानिमान् कामान् न स्वर्गं न च जीवितुम् ॥
त्वामहं सत्यमिच्छामि नानृतं पुरुषर्षभ ।
प्रत्यक्षं तव सत्येन सुकृतेन च ते शपे ॥

मुझे राज्य, सुख, पृथिवी, समस्त कामना, स्वर्ग अथवा जीवनकी भी इच्छा नहीं है। मैं केवल आपको सत्ययुक्त देखना चाहता हूं। आपका वचन मिथ्या न हो यही मेरी इच्छा है। आपके सम्मुख सत्य और सुकृतको लेकर

मैं शपथ भी करता हूं । पुनः जिस समय रामवत्सल भरत बनमें रामकी खोजमें गये थे और हाथ जोड़ कर बार बार श्रीरामचन्द्रको अयोध्यामें लौट आनेके लिये प्रार्थना करते थे उस समय भी श्रीरामचन्द्रने इसी सत्यव्रतके कारण ही जाबालि, वशिष्ठ आदि महर्षियोंके अनेक समझाने पर भी अयोध्या लौटना स्वीकार नहीं किया था और कनिष्ठ भरतको कहा था—

लक्ष्मीश्चन्द्रादपेयाद्वा हिमवान् वा हिमं त्यजेत् ।
अतीयात् सागरो वेलां न प्रतिज्ञामहं पितुः ॥
भवानपि तथेत्येव पितरं सत्यवादिनम् ।
कर्तुमर्हसि राजेन्द्र क्षिप्रमेवाभिषिञ्चनात् ॥
ऋणान्मोचय राजानं मत्कृते भरत प्रभुम् ।
पितरं त्राहि धर्मज्ञ मातरं चाभिनन्दय ॥
(रा० अयो० का० ११२ सर्ग)

चन्द्रमा लक्ष्मीको परित्याग करें, हिमाचल हिमको परित्याग करें, समुद्र तीर भूमिको अतिक्रम करे, तथापि मैं पिताकी प्रतिज्ञाको अतिक्रम नहीं कर सकता। हे भरत ! तुम्हें भी इस प्रकारसे शीघ्र अयोध्याका राज्य ग्रहण करके पिताको सत्यप्रतिज्ञ बनाना चाहिये। मेरी प्रीतिके लिये तुम पिताको कैकेयीके ऋणसे मुक्त करो, पिताका त्राण करो और अपनी माताको आनन्द प्रदान करो। यही सब श्रीरामचन्द्रके जीवनमें सत्यव्रतपरायणता तथा कर्त्तव्यपरायणताका अपूर्व दृष्टान्त है। सत्यव्रत और कर्त्तव्यपरायणताका अलौकिक दृष्टान्त श्रीरामचन्द्रजीने प्रिय लक्ष्मणको त्याग करते समय दिखाया था। जो अनुज लक्ष्मण श्रीरामचन्द्रका प्राणसे भी प्रिय था, जिसके चरणमें कुशविद्ध होनेपर भी श्रीरामचन्द्रके हृदयमें शूल विंधनेकी तरह यन्त्रणा होती थी, दैवचक्रसे उसी प्राणप्रिय लक्ष्मणका श्रीरामचन्द्रको परित्याग करना पड़ा था। यह घटना किस प्रकारसे हुई थी सो नीचे बताया जाता है। श्रीरामचन्द्रके कई सहस्र वर्ष राज्यपालनके बाद किसी समय तापसके रूपमें उनसे मिलनेके लिये काल आये और कहा कि ब्रह्माके पाससे श्रीरामसे मिलनेके लिये वे आये हैं। परन्तु उनके मिलनेमें यह प्रतिज्ञा है कि यदि मिलते समय श्रीरामचन्द्रके सिवाय और कोई उनकी बात सुने या पास आजाय तो उसका बध करना होगा। तथास्तु कह कर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणको द्वारपर खड़ा कर दिया और

तापसरूपी कालसे बात करने लगे। तापसने कहा, यथा—रामायणके उत्तरकाण्डके १०४ सर्ग में—

श्रृणु राजन् महासत्त्व यदर्थमहमागतः ।
पितामहेन देवेन प्रेषितोऽस्मि महाबल ॥
तवाहं पूर्वके भावे पुत्रः परपुरंजय ।
मायासंभावितो वीर कालः सर्वसमाहरः ॥
पितामहश्च भगवानाह लोकपतिः प्रभुः ।
समयस्ते कृतः सौम्य लोकान् संपरिरक्षितुम् ॥
संक्षिप्य हि पुरा लोकान् मायया स्वयमेव हि ।
महार्णवे शयानोऽप्सु मां त्वं पूर्वमजीजनः ॥
पद्मे दिव्येऽर्कसंकाशे नाभ्यामुत्पाद्य मामपि ।
प्राजापत्यं त्वया कर्म मयि सर्वं निवेशितम् ॥
ततस्त्वमसि दुर्धर्षात्तस्माद्भावात्सनातनात् ।
रक्षां विधास्यन् भूतानां विष्णुत्वमुपजग्मिवान् ॥
स त्वमुज्जास्यमानासु प्रजासु जगतांवर ।
रावणस्य वधाकांक्षी मानुषेषु मनोऽदधाः ॥
दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च ।
कृत्वा वासस्य नियमं स्वयमेवात्मना पुरा ॥
स त्वं मनोमयः पुत्रः पूर्णायुर्मानुषेष्विह ।
कालो नरवरश्रेष्ठ समीपमुपवर्त्तितुम् ॥
यदि भूयो महाराज प्रजा इच्छस्युपासितुम् ।
वस वा वीर भद्रं ते एवमाह पितामहः ॥
अथवा विजिगीषा ते सुरलोकाय राघव ।
स नाथा विष्णुना देवा भवन्तु विगतज्वराः ॥

हे महाराज ! मैं पितामह ब्रह्माके द्वारा प्रेरित होकर किस लिये आपके पास आया हूं सो सुनिये। मैं आपकी हिरण्यगर्भ अवस्थामें आपहीके माया

सङ्कल्पसे उत्पन्न सर्वसंहारकारी काल हूं। पितामह भगवान्ने मुझसे कहला भेजा है कि "अब मनुष्यलोककी रक्षाके बाद ब्रह्मधाममें सिधारनेका आपका समय आया हुआ है। पूर्वकालमें समस्त सृष्टिको अपनेमें लय करके आप कारणसमुद्रमें सोये हुए थे। उस समय अपने नाभिकमलसे आपने ब्रह्माजीको उत्पन्न करके उन्हें सृष्टि करनेकी आज्ञा की थी और भूतोंकी रक्षाके लिये स्वयं विष्णु-पदग्रहण किया था। तदनन्तर रावणसे मनुष्यलोकको पीडित देखकर उसके वधकी इच्छा करके मनुष्यदेह धारण किया था और ग्यारह हजार वर्ष तक इस रूपमें मनुष्यलोकमें वासका संकल्प भी किया था। अब अपने सङ्कल्पसे ही मनुष्यदेहधारी आपका वह समय आनेवाला है। इसलिये यदि और भी कुछ समय तक संसारमें रहनेकी इच्छा हो तो रहिये। अन्यथा यदि देवलोकमें जाकर देवताओंके पालनकी इच्छा हो तो आप विष्णुलोकमें चलें, आपके आनेसे देवगण सनाथ हो जायेंगे।" कालके मुखसे इन सब सन्देशोंको सुनकर श्रीरामचन्द्र बहुत प्रसन्न हुए और कहा—

त्रयाणामपि लोकानां कार्य्यार्थं मम संभवः ।
भद्रं तेऽस्तु गमिष्यामि यत एवाहमागतः ॥

तीनों लोकोंके कार्य्यके लिये मैंने मनुष्यलोकमें जन्म ग्रहण किया था अब वह कार्य्य हो गया है इसलिये जहांसे आया हुआ था वहीं जाऊँगा। श्रीरामचन्द्र विष्णुरूप होने पर भी अनेक दिन मायाके आश्रयसे पंचभूतात्मक मनुष्यदेहमें थे। ब्रह्मर्षि सनत्कुमारके शापका भी प्रभाव था। इसलिये ब्रह्म लोकमें सिधारनेका समय उपस्थित होने पर भी मायाके सम्पर्कके कारण स्वरूपस्थितिमें यदि कदाचित् विलम्ब हो इसलिये उक्त सम्भावनाके दूर करनेके अर्थ उस समय सहसा एक दैवघटना उत्पन्न हुई जिससे श्रीरामचन्द्र-का ब्रह्मधाममें प्रस्थान सुनिश्चित हो गया। वह दैवघटना यह है। जिस समय भ्राता लक्ष्मणको द्वार पर रख कर तापसरूपी कालके साथ श्रीराम-चन्द्र बात कर रहे थे उस बीचमें महर्षि दुर्वासा द्वार पर आगये और श्रीराम चन्द्रजीसे मिलना चाहा। श्रीलक्ष्मणने रामचन्द्रके साथ कालकी प्रतिज्ञा की बात कही परन्तु उसपर भी दुर्वासा नहीं माने और क्रुद्ध होकर कहा यदि तुम रामको मेरे आनेका सम्वाद नहीं देते हो तो अभी तुम सबको अभि-सम्पातसे मार डालूँगा। दुर्वासाके इस कठोर बचनको सुनकर श्रीलक्ष्मण ने सोचा :—

एकस्य मरणमस्तु मा भूत् सर्वविनाशनम् ।
इति बुद्ध्या विनिश्चित्य राघवाय न्यवेदयत् ॥

सबके मरनेसे मेरे अकेलेका मरना अच्छा है ऐसा सोच कर लक्ष्मण जी रामचन्द्रजीके पास गये और दुर्वासाके आनेका सम्वाद दिया । श्रीरामचन्द्रजी कालतापसको विदा करके शीघ्र दुर्वासाके पास आये। दुर्वासाने भोजन करनेको मांगा और भोजन करके संतुष्ट होकर चल दिये। तदनन्तर कालके साथ प्रतिज्ञाको स्मरण करके श्रीरामचन्द्रको बहुत चिन्ता हुई। यथा—रामायणके उत्तरकाण्डके १०६ सर्गमें :—

अवाङ्मुखमथो दीनं दृष्ट्वा सोममिवाप्लुतम् ।
राघवं लक्ष्मणो वाक्यं हृष्टो मधुरमब्रवीत् ॥
न संतापं महाबाहो मदर्थे कर्तुमर्हसि ।
पूर्वनिर्माणबद्धा हि कालस्य गतिरीदृशी ॥
जहि मां सौम्य विस्रब्धं प्रतिज्ञां परिपालय ।
हीनप्रतिज्ञाः काकुत्स्थ प्रयान्ति नरकं नराः ॥
यदि प्रीतिर्महाराज यद्यनुग्राह्यता मयि ।
जहि मां निर्विशङ्कस्त्वं धर्म्मं वर्धय राघव ॥

श्रीरामचन्द्रको अधोमुख, दीन तथा राहुग्रस्त चन्द्रकी तरह मलिन देखकर पहले हीसे सब कुछ जाननेके कारण प्रसन्नचित्त लक्ष्मणने मधुर स्वरसे कहा,—"हे महाबाहो! मेरे लिये आपको संताप नहीं करना चाहिये। कालकी इस प्रकार गति पहलेसेही निश्चित थी। इसलिये आप मुझे परित्याग करके अपनी प्रतिज्ञाका पालन करें क्योंकि हीनप्रतिज्ञ मनुष्य नरकगामी होते हैं। इसलिये, हे महाराज! यदि मेरे ऊपर आपकी प्रीति और कृपा हो तो निःशङ्क चित्तसे मुझे त्याग करके धर्म्म लाभ करें।" लक्ष्मणका वाक्य सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने समस्त मन्त्री और महर्षि वशिष्ठजीको बुलाया और पूर्वापर सब घटना कही। महर्षि वशिष्ठकी भी सम्मति लक्ष्मण त्यागके लिये हुई। तदनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने सभाके बीचमें लक्ष्मणको कहाः—

विसर्जये त्वां सौमित्रे माभूद्धर्मविपर्ययः ।
त्यागो वधो वा विहितः साधूनां ह्युभयं समम् ॥

रामेण भाषिते वाक्ये बाष्पव्याकुलितेन्द्रियः।
लक्ष्मणस्त्वरितः प्रायात् स्वगृहं न विवेश ह ॥

हे लक्ष्मण मैं तुम्हे त्याग करता हूं जिसमें धर्म्महानि न हो। सत्पुरुषोंके लिये त्याग और वध एक ही बात है। रामचन्द्रके इस प्रकार कहने पर लक्ष्मण शीघ्र गतिसें चले गये। अपने गृहमें भी प्रवेश नहीं किया। सरयूके तीर पर जाकर समस्त इन्द्रियोंको निरुद्ध करके श्रीलक्ष्मण कुम्भकके द्वारा योगस्थ हो गये और तदनन्तर स्वर्गसे इन्द्रादि देवतागण आकर उनको सशरीर स्वर्गमें लेगये। इस प्रकार श्रीविष्णुके अंशको निजधाममें आते हुये देखकर देवतागण आनन्द करने लगे। हा रामचन्द्र! तुम मूर्तिमान्, त्याग और धर्म हो। सत्यव्रत और धर्म्मव्रतपालनके लिये संसारमें ऐसी कोई प्रिय वस्तु नहीं है जिसको तुम त्याग नहीं कर सकते हो। तुम्हारे अंशस्वरूप तुम्हारे भ्रातागण भी ऐसे ही त्याग और धर्म्मकी मूर्ति हैं। इसीलिये संसारमें रामराजत्वकी तुलना नहीं है; जिसको स्मरण करके आज भी भारतमाता आँसुओंकी धाराको बहाती हुई दीन चित्तसे तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। कब भारत माताको अपने रामराज्यका विमल आनन्द प्राप्त होगा!!

मनुष्य जीवनको मधुमय बनानेके लिये जितने सद्गुणोंकी परमावश्यकता होती है श्रीरामचन्द्रके जीवनमें वे सभी पूर्णरूपसे विद्यमान थे उनकी आस्तिकता, तितिक्षा (सहनशीलता) द्वन्द्वसहिष्णुता (सुखदुःखमें एकभाव) वैराग्यभाव, पितृभक्ति, मातृभक्ति, भ्रातृप्रेम, भक्तवत्सलता, शरणागतपरायणता, ज्ञानस्पृहा, सच्चरित्रता, भद्रता आदि सभी गुणावली संसारमें अनूठी और आदर्शजीवनके बनानेके लिये सर्वोत्तम हैं। जिस समय लक्ष्मणने श्रीरामचन्द्रके वनवासके विषयमें प्रतिवाद करके पिता दशरथका दोष बताया था उस समय जिस भावके साथ श्रीरामचन्द्रने दैवको ही सबका कारण बताया था उससे उनके हृदयकी परम आस्तिकताका परिचय मिलता है, यथा—रामायणके अयोध्याकाण्डके २२ सर्गमें—

सुखदुःखे भयक्रोधौ लाभालाभौ भवाभवौ।
यस्य किञ्चित्तथाभूतं ननु दैवस्य कर्म तत् ॥
ऋषयोऽप्युग्रतपसो दैवेनाभिप्रचोदिताः।
उत्सृज्य नियमांस्तीव्रान् भ्रश्यन्ते काममन्युभिः ॥

असंकल्पितमेवेह यदकस्मात् प्रवर्तते ।
निवर्त्यारब्धमारम्भैर्ननु दैवस्य कर्म तत् ॥
एतया तत्त्वया बुद्ध्या संस्तभ्यात्मानमात्मना ।
व्याहतेऽप्यभिषेके मे परितापो न विद्यते ॥

सुख, दुःख, भय, क्रोध, लाभ, अलाभ, बन्ध, मोक्ष—इनमेंसे प्रत्यक्ष कारण के विना भी जो कुछ घटना हो जाय उसमें दैवको ही कारण जानना चाहिये। तीव्र तपस्वी महर्षिगण भी तीव्र नियम त्याग करके केवल दैवके प्रकोपसे ही कामक्रोधादिके वशीभूत हो जाते हैं। किसी शुरू किये हुए कर्मको बलके साथ निवृत्त करके किसी संकल्प अथवा प्रत्यक्ष कारणके विना ही अचानक जो कुछ घटना हो पड़ती है उसमें दैवको ही मूल जानना चाहिये। इस प्रकारके विचारके द्वारा अन्तःकरणको मैंने समझाया है; इसलिये राज्याभिषेकमें बाधा होनेपर भी मुझे इसका कोई दुःख नहीं है। यही उनके चरित्रमें परम आस्तिकताका लक्षण है। उनके जीवनमें तितिक्षा और द्वन्द्वसहिष्णुताका असाधारण प्रमाण मिलता है। यह उनकी परम तितिक्षाका ही फल था कि सती निरपराधिनी सीता और परम प्रिय लक्ष्मणको त्याग करके श्रीरामचन्द्र जीवन धारण कर सके थे। जिस समय पापिनी कैकेयीने वनवासरूप कठिन वचन सुनाया उस समय श्रीरामचन्द्रकी चित्तवृत्तिके विषयमें रामायणके अयोध्याकाण्डमें लिखा है:—

इतीव तस्यां परुषं वदन्त्यां न चैव रामः प्रविवेश शोकम् ।
प्रविव्यथे चापि महानुभावो राजा च पुत्रव्यसनाभितप्तः ॥
सर्वोऽप्यभिजनः श्रीमान् श्रीमतः सत्यवादिनः ।
नालक्षयत रामस्य कंचिदाकारमानने ॥
उचितं च महाबाहुर्न जहौ हर्षमात्मवान् ।
शारदः समुदीर्णांशुश्चन्द्रस्तेज इवात्मजम् ॥

कैकेयीका कटु वचन सुननेपर भी श्रीरामचन्द्रके चित्तमें कोई भी शोक नहीं हुआ। राजा दशरथ केवल पुत्र-वियोग-दुःखसे अत्यन्त शोकार्त्त हो गये। रामाभिषेकके संवादसे श्रीयुक्त पुरवासी जनोंने श्रीरामचन्द्रके मुखपर दुःखजनित कोई भी विकार नहीं देखा। आत्मवान् श्रीरामचन्द्रने इतनी कठोर

आज्ञा सुननेपर भी शरत्-कालकी निर्मल चन्द्रकिरणोंकी तरह अपने सहज सत्त्वगुणमय हर्षको परित्याग नहीं किया। यही उनके चरित्रमें द्वन्द्व-सहिष्णुता-का लक्षण है। इसी प्रकार जिस समय तापसवेशी कालने आकर श्रीरामचन्द्र-को उनके अन्तकालकी बातें सुनाईं, उस समय भी श्रीरामचन्द्रके हृदयमें कोई भी शोक नहीं हुआ; बल्कि परम हर्षके साथ उन्होंने कालके संवादको स्वीकार किया। यथा रामायणके उत्तरकाण्डमें:—

श्रुत्वा पितामहेनोक्तं वाक्यं कालसमीरितम् ।
राघवः प्रहसन् वाक्यं सर्वसंहारमब्रवीत् ॥
श्रुत्वा मे देवदेवस्य वाक्यं परममद्भुतम् ।
प्रीतिर्हि महती जाता तवागमनसंभवा ॥

कालके द्वारा कहे हुए ब्रह्माजीके वाक्यको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने हँसकर कालसे कहाः—"पितामहके अद्भुत वचनको सुनकर मुझे परम संतोष प्राप्त हुआ और आपके आनेसे भी परमानन्द प्राप्त हुआ।" यह सब श्रीरामचन्द्र-के जीवनमें परम धीरता और तितिक्षाका अपूर्व दृष्टान्त है। ज्ञान और वैराग्यका भाव श्रीरामचन्द्रके जीवनमें कितना था, इसका दृष्टान्त पितृशोकसे कातर भरतको उपदेश देते समय रामायणके अयोध्याकाण्डके १०५वें सर्गमें वर्णन किया गया है। यथाः—

तमेव दुःखितं प्रेक्ष्य विलपन्तं यशस्विनम् ।
रामः कृतात्मा भरतं समाश्वासयदात्मवान् ॥
नात्मनः कामकारो हि पुरुषोऽयमनीश्वरः ।
इतश्चेतरतश्चैनं कृतान्तः परिकर्षति ॥
सर्वे क्षयान्ता निचयाः पतनान्ताः समुच्छ्रयाः ।
संयोगा विप्रयोगान्ता मरणान्तञ्च जीवितम् ॥
यथा काष्ठं च काष्ठं च समेयातां महार्णवे ।
समेत्य च व्यपेयातां कालमासाद्य कंचन ॥
एवं भार्याश्च पुत्राश्च ज्ञातयश्च वसूनि च ।
समेत्य व्यवधावन्ति ध्रुवो ह्येषां विनाभवः ॥

धर्मात्मा सुशुभैः कृत्स्नैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ।
न स शोच्यः पिता तात ! स्वर्गतः सत्कृतः सताम् ॥
स जीर्णमानुषं देहं परित्यज्य पिता हि नः ।
दैवीमृद्धिमनुप्राप्तो ब्रह्मलोकविहारिणीम् ॥

आत्मवान् श्रीरामचन्द्रजीने भरतको दुःखार्त और विलाप करते हुए देख कर निम्नलिखित शब्दोंसे आश्वासन प्रदान किया। जीव परतन्त्र होनेसे अपनी इच्छासे कुछ नहीं कर सकता है। काल ही जीवोंके कर्मानुसार इहलोक या परलोकमें जीवको आकर्षण करता है, समस्त वस्तुएँ परिणाममें क्षय प्राप्त होती हैं, समस्त उन्नति परिणाममें पतनको लाती है, समस्त संयोग वियोगको लाता है और समस्त जन्म मरणको लाता है। जिस प्रकार समुद्रमें दो काष्ठ कभी साथ मिलकर पुनः पृथक् पृथक् हो जाता है, उसी प्रकार स्त्री, पुत्र, ज्ञाति, धन आदि सभी कुछ साथ हो कर पुनः कर्मानुसार पृथक् हो जाते हैं; सभीका नाश अवश्यम्भावी है। परमधार्मिक हमारे पिता दक्षिणाके साथ यज्ञ करके स्वर्ग प्राप्त हुए हैं, इसलिये उनके अर्थ तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। इस जराजीर्ण मनुष्य-देहको परित्याग करके ब्रह्मलोककी दैवी सम्पत्तिको हमारे पिताजी प्राप्त हो गये हैं; इसलिये उनके विषयमें शोक मत करो। यह सब श्रीरामचन्द्रके जीवनमें ज्ञान, विचार तथा वैराग्यभावका लक्षण है। श्रीरामचन्द्रमें पिता-माताके प्रति भक्तिकी पराकाष्ठा थी। इसका परिचय श्रीरामायणमें अनेक बार मिलता है। जिस समय कूट-बुद्धि कैकेयीने श्रीरामचन्द्रकी पितृभक्तिके विषयमें सन्देह करके बात की थी उस समय श्रीरामचन्द्रजीने कैकेयीसे कहा था, यथा रामायणके अयोध्याकाण्डमेंः—

अहो धिङ् नार्हसे देवि ! वक्तुं मामीदृशं वचः ।
अहं हि वचनाद्राज्ञः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेयं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चार्णवे ।
नियुक्तो गुरुणा पित्रा नृपेण च हितेन च ॥
तद्ब्रूहि वचनं देवि राज्ञो यदभिकांक्षितम् ।
करिष्ये प्रतिजाने च रामो द्विर्नाभिभाषते ॥

हे देवि ! मुझे इस प्रकार कठोर वचन न कहें। मैं पिताके वाक्यसे

अग्निमें प्रवेश कर सकता हूँ, तीव्र विषपान कर सकता हूँ, समुद्रमें डूब सकता हूँ। इसलिये पिताजीकी क्या इच्छा है, शीघ्र कहिये; मैं प्रतिज्ञा करता हूँ उनका आज्ञापालन अवश्य ही करूँगा, राम कभी दो प्रकारका भाषण नहीं करेगा। इस प्रकारके कथनसे श्रीरामचन्द्रमें पितृभक्तिकी गभीरताका विशेष परिचय प्राप्त होता है। मातृभक्तिकी भी गम्भीरता वनमें जाते समय पिताके प्रति रामचन्द्रके अनुरोधसे प्रमाणित होती हैः—

मात्राविहीनां वरद प्रपन्नां शोकसागरम्।
अदृष्टपूर्वव्यसनां भूयः संमन्तुमर्हसि ॥
इमां महेन्द्रोपमजातगर्भिनीं तथा विधातुं जननीं ममार्हसि।
यथा वनस्थे मयि शोककर्षिता न जीवितं न्यस्य यमक्षयं व्रजेत् ॥

श्रीरामचन्द्रजीने पिता दशरथसे कहा—" यद्यपि प्रधाना महारानी होनेके कारण आप इनका सम्मान करते ही हैं, तथापि मेरे विरहमें माता कौशल्या भीषण शोकसमुद्रमें डूब जायँगी; इसलिये इनके प्रति और भी अधिक सम्मान प्रदर्शन करें—यही मेरी प्रार्थना है। मेरे दर्शनके लिये अत्यन्त अभिलाषिणी माता कौशल्या मेरे विरहसे प्राणत्याग न करें, ऐसा आप ध्यान रखेंगे—यही प्रार्थना है। यही सब श्रीरामचन्द्रके जीवनमें पितृमातृभक्तिका दृष्टान्त है। उनके जीवनमें भ्रातृप्रेमका मधुर दृष्टान्त लक्ष्मण और भरतके प्रति स्नेहभावमें स्पष्ट अनुभव होता है। जिस समय लङ्कापुरीमें दो बार इन्द्रजित् और रावण-के बाणसे लक्ष्मण मूर्छित हो गये थे उस समय जिस करुणारसके साथ श्री-रामचन्द्रजीने लक्ष्मणके लिये विलाप किया था, उसके अक्षर-अक्षरमें अनूठा भ्रातृस्नेह भरा हुआ है, यथा रामायणके युद्धकाण्डमेंः—

ततो दृष्ट्वा सरुधिरं निषण्णं गाढमर्पितम्।
भ्रातरं दीनवदनं पर्यदेवयदातुरः ॥
किं नु मे सीतया कार्यं लब्धया जीवितेन वा।
शयानं योऽद्य पश्यामि भ्रातरं युधि निर्जितम् ॥
शक्या सीतासमा नारी मर्त्यलोके विचिन्वता।
न लक्ष्मणसमो भ्राता सचिवः साम्परायिकः ॥
परित्यक्ष्याम्यहं प्राणान् वानराणां तु पश्यताम्।

यदि पञ्चत्वमापन्नः सुमित्रानन्दवर्धनः ॥
किं मे युद्धेन किं प्राणैर्युद्धकार्यं न विद्यते।
यत्रायं निहतः शेते रणमूर्द्धनि लक्ष्मणः॥
यथैव मां वनं यान्तमनुयाति महाद्युतिः।
अहमप्यनुयास्यामि तथैवैनं यमक्षयम्॥
देशे देशे कलत्राणि देशे देशे च बान्धवाः।
तं तु देशं न पश्यामि यत्र भ्राता सहोदरः॥

श्रीलक्ष्मणको रक्ताक्तदेह, कठिन पाशसे बद्ध और दीनमुख देखकर श्रीरामचन्द्रजीने दुःखार्त्त हो बहुत ही विलाप किया। "मुझे सीताके प्राप्त करनेसे या जीवित रहनेसे ही क्या फल है, जो मैं आज प्रिय भ्राताको रणमें मूर्च्छित देख रहा हूँ। संसारमें अन्वेषण करनेपर सीता जैसी स्त्री मिल सकती है; परन्तु लक्ष्मण जैसा भाई, जो मन्त्री और युद्धमें सहायक भी था, नहीं मिल सकता है। यदि लक्ष्मणका प्राण न रहा तो, मैं भी वानर-सैन्योंके सामने ही प्राण छोड़ दूँगा। मुझे युद्धसे कोई काम नहीं है और जीवित रहना भी निष्फल है; जब मेरा लक्ष्मण मूर्च्छित होकर रणक्षेत्रमें पड़ा हुआ है। जिस प्रकार मेरे वनवास-कालमें लक्ष्मण मेरे साथ आया था, उसी प्रकार मैं भी यदि इसकी मृत्यु हुई तो, इसके साथ यमलोकको जाऊँगा। देश देशमें स्त्रियाँ मिलती हैं और बन्धुजन भी मिलते हैं; परन्तु ऐसा देश नहीं देखता हूँ जहाँ प्राणप्रिय सहोदर भ्राता मिले।" यह बात अवश्य विचार करने योग्य है कि सीता सतीके प्रति अत्यन्त प्रेम और अनुराग होनेपर भी सीताको परित्याग करके और पाताल प्रवेश करते हुए भी सीताको देखकर श्रीरामचन्द्रने जीवन धारण किया था। परन्तु दैवकोपसे लक्ष्मणको जब परित्याग करना पड़ा तो, श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मणके विरहमें प्राण धारण नहीं कर सके और लक्ष्मण-त्यागके बाद ही महाप्रस्थानको चले गये। यही श्रीलक्ष्मणके प्रति श्रीराम-चन्द्रजीका सर्वोत्तम स्नेहपरायणताका अपूर्व दृष्टान्त है। श्रीभरतके साथ उनका कितना प्रेम था, सो सीताका उद्धार करके जब वे भरतसे मिले थे, उस समय प्रकट हुआ था। सीताका उद्धार और सीताकी अग्नि-परीक्षाके बाद जब विभी-षणने श्रीरामचन्द्रको स्नानादि करनेके लिये कहा तो भ्रातृवत्सल श्रीराम-चन्द्रजीने उत्तर दिया। यथा रामायणके युद्धकाण्डके १२१ वें सर्गमें:—

स तु ताम्यति धर्मात्मा मम हेतोः सुखोचितः ।
सुकुमारो महाबाहुर्भरतः सत्यसंश्रयः ॥
तं विना कैकेयीपुत्रं भरतं धर्मचारिणम् ।
न मे स्नानं बहुमतं वस्त्राण्याभरणानि च ॥
एतत्पश्य यथा क्षिप्रं प्रतिगच्छाम तां पुरीम् ।
अयोध्यां गच्छतो ह्येष पन्थाः परमदुर्गमः ॥

मेरे लिये मेरा परमधार्मिक परम प्रिय सुकुमार भ्राता भरत दुःख पा रहा है इसलिये उसके बिना मैं स्नान भी नहीं करूंगा और वस्त्रालङ्कार धारण भी नहीं करूंगा। इसलिये आप ऐसा उपाय करें जिससे अति शीघ्र मैं अयोध्या पहुँच कर प्रिय भ्राता भरतसे मिल सकूं। जिस समय शीघ्र जानेवाले पुष्पक विमानपर चढ़कर श्रीरामचन्द्रजी भरतसे मिले उस समय कैसी भ्रातृप्रेमकी गङ्गा बहने लगीं, उसका भी वर्णन रामायणमें मिलता है, यथाः--

आरोपितो विमानं तद् भरतः सत्यविक्रमः ।
राममासाद्य मुदितः पुनरेवाभ्यवादयत् ॥
तं समुत्थाय काकुत्स्थश्चिरस्याक्षिपथं गतम् ।
अङ्के भरतमारोप्य मुदितः परिषस्वजे ॥
पादुके ते तु रामस्य गृहीत्वा भरतः स्वयम् ।
चरणाभ्यां नरेन्द्रस्य योजयामास धर्मवित् ॥
ततः प्रहर्षाद् भरतमङ्कमारोप्य राघवः ।
ययौ तेन विमानेन ससैन्यो भरताश्रमम् ॥

श्रीभरतजीने पुष्पकविमानके पास आकर और उसमें चढ़कर श्रीरामचन्द्रजीको अभिवादन किया। बहुत दिनोंके बाद प्रिय अनुजको देखकर श्रीरामचन्द्रजीने भरतको गोदमें उठा लिया और अत्यन्त प्रेमके साथ आलिङ्गन किया। तदनन्तर श्रीभरतने ज्येष्ठ भ्राता रामचन्द्रके चरणकमलोंमें, पहले लाई हुई, पादुका धारण करा दी और रामचन्द्रजी प्रेमके साथ भरतको अङ्कमें धारण करके उनके आश्रमपर चले। इस प्रकारसे श्रीरामचन्द्रके जीवनमें भ्रातृप्रेमकी पराकाष्ठा पायी जाती है। भ्रातृवत्सलताकी तरह भक्तवत्सलता भी श्रीभगवान्

रामचन्द्रके जीवनमें पूर्णरूपमें थी; जिस कारण भक्तजनोंके कल्याणके लिये श्रीरामचन्द्र सदा ही तत्पर रहते थे। गुहक चाण्डाल होनेपर भी, यह भक्तवत्सलताका ही कारण था कि, श्रीरामचन्द्रजीने गुहकके गृहपर आतिथ्य ग्रहण किया था, यथा अयोध्याकाण्डके ५०वें सर्गमेंः—

गुहमेव ब्रुवाणं तु राघवः प्रत्युवाच ह।
भुजाभ्यां साधुवृत्ताभ्यां पीडयन् वाक्यमब्रवीत्॥
यत्त्विदं भवता किञ्चित्प्रीत्या समुपकल्पितम्।
सर्वं तदनुजानामि न हि वर्त्ते प्रतिग्रहे॥

भक्त गुहकके वाक्यको सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने दोनों हाथोंसे उसको आलिङ्गन करके मधुर शब्दसे कहाः—"दानग्रहण हम नहीं करते हैं, तथापि तुमने भक्तिसे जो कुछ दिया है वह मैं अवश्य स्वीकार करूंगा।" इसी प्रकार भक्त जटायुके प्रति भी अपूर्व प्रेम श्रीरामचन्द्रजीने बताया था, यथा रामायणमेंः—

निकृत्तपक्षं रुधिरावसिक्तं तं गृध्रराजं परिगृह्य राघवः।
क्व मैथिली प्राणसमा गतेति विमुच्य वाचं निपपात भूमौ॥

छिन्नपक्ष, रक्ताक्तदेह जटायुको गोदमें लेकर 'हा सीता कहां गई'—ऐसा कह कर श्रीरामचन्द्र भूमिपर गिर गये। तदनन्तर सीताहरणकी वार्ताको कहते कहते जब जटायुके प्राण छुट गये, उस समय श्रीरामचन्द्रजीने जटायुके लिये बहुत दुःख प्रकाश किया और उसका मरणसंस्कार अपने हाथसे सम्पन्न किया। यथा रामायणके अरण्यकाण्डके ६८ वें सर्गमेंः—

पश्य लक्ष्मण! गृध्रोऽयमुपकारी हतश्च मे।
मम हेतोरयं प्राणान्मुमोच पतगेश्वरः॥
सीताहरणजं दुःखं न मे सौम्य! तथागतम्।
यथा विनाशो गृध्रस्य मत्कृते च परन्तप॥
सौमित्रे! हर काष्ठानि निर्मथिष्यामि पावकम्।
गृध्रराजं दिधक्ष्यामि मत्कृते निधनं गतम्॥

या गतिर्यज्ञशीलानामाहिताग्नेश्च या गतिः ।
अपरावर्त्तिनां या च या च भूमिप्रदायिनाम् ॥
मया त्वं समनुज्ञातो गच्छ लोकाननुत्तमान् ।
गृध्रराज ! महासत्त्व ! संस्कृतश्च मया व्रज ॥
एवमुक्त्वा चितां दीप्तामारोप्य पतगेश्वरम् ।
ददाह रामो धर्मात्मा स्वबन्धुमिव दुःखितः ॥
शास्त्रदृष्टेन विधिना जलं गृध्राय राघवौ ।
स्नात्वा तौ गृध्रराजाय उदकं चक्रतुस्तदा ॥

लक्ष्मण ! देखो, उपकारी गृध्रराजने मेरे लिये प्राणप्रदान किया। मुझे इसके लिये सीताहरणसे भी अधिक दुःख हो रहा है। तुम काष्ठ संग्रह कर लाओ, मैं गृध्रराजका दाह-कार्य सम्पन्न करूंगा। यज्ञ करनेवाले, आहिताग्निमें हवन करनेवाले, युद्धसे न हटनेवाले और भूमिदानकारियोंको जो गति प्राप्त होती है—मेरी कृपासे मेरे हाथसे मरणसंस्कारको पाकर गृध्रराजको वही अत्युत्तम गति प्राप्त होगी। इस प्रकार कहकर श्रीरामचन्द्रने चिता प्रज्वलित की और किसी आत्मीय जनको दाह करते समय जैसा होता है वैसे ही दुःखितचित्तसे जटायुका दाहकार्य किया। तदनन्तर स्नान करके शास्त्रविधिके अनुसार दोनों भ्राताओंने गृध्रराजकी श्राद्धतर्पण-क्रिया भी की। यही सब श्रीरामचन्द्रके जीवनमें भक्तवत्सलताका दृष्टान्त है। अन्तमें महाप्रस्थानमें जाते समय भी भक्त विभीषण, हनुमान् और जाम्बवान्को भक्तवत्सलताके कारण चिरकाल तक संसारमें सुखके साथ रहनेके लिये वरप्रदान कर गये। शरणागतवत्सलताका क्या ही अपूर्व दृष्टान्त श्रीरामचन्द्रके जीवनमें मिलता है। राक्षसगण उनके परम शत्रु होने पर भी, जिस समय कोई भी राक्षस शरणागत होता था उस समय श्रीरामचन्द्र उसको अभयदान करके उसकी रक्षाके लिये सर्वथा तत्पर होते थे। जिस समय रावणके भ्राता विभीषण श्रीरामचन्द्रके पास आये और सुग्रीव, हनुमान्, लक्ष्मण, जाम्बवान् आदि सभीने एक-वाक्य होकर शत्रुके भ्राताको शरण न देकर मार डालनेको कहा, उस समय किसीका भी वाक्य न सुनकर श्रीरामचन्द्रजीने विभीषणको अभयदान दिया और कहा—यथा युद्धकाण्डके १८वें सर्गमें:—

बद्धाञ्जलिपुटं दीनं याचन्तं शरणागतम् ।
न हन्याद्दानृशंस्यार्थमपि शत्रुं परन्तप ॥
आर्त्तो वा यदि वा दृप्तः परेषां शरणं गतः ।
अरिः प्राणान् परित्यज्य रक्षितव्यः कृतात्मना ॥
स चेद् भयाद्वा मोहाद्वा कामाद्वापि न रक्षति ।
स्वया शक्त्या यथान्यायं तत्पापं लोकगर्हितम् ॥
एवं दोषो महानत्र प्रपन्नानामरक्षणे ।
अस्वर्ग्यं चायशस्यं च बलवीर्यविनाशनम् ॥
सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।
अभयं सर्वभूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम ॥
आनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया ।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावणः स्वयम् ॥

हाथ जोड़े हुए, दीन, प्रार्थनाकारी, शरणागत शत्रुको भी नहीं वध करना चाहिये। क्लेशयुक्त हो या न हो, शरणागत शत्रुको प्राण परित्याग करके भी रक्षा करना चाहिये। इस प्रकार शत्रुकी यदि भय, मोह अथवा किसी स्वार्थके कारण रक्षा नहीं की जाय तो उससे लोकमें निन्दित महापाप होता है। इस प्रकारसे शरणापन्न शत्रुकी रक्षा न करनेसे स्वर्ग यश और बलवीर्यनाशकारी महान् दोष प्राप्त होता है। एक बार भी जो शरणागत होता है और मैं तुम्हारा हूं ऐसा कहता है इस प्रकार समस्त जीवको मैं अभय देता हूं यही मेरा व्रत है। इसलिये सुग्रीव! विभीषणको मेरे पास लाओ, मैंने उनको अभय दिया है, शरणागत होने पर मैं रावणको भी अभय देनेको तैयार हूं। इस प्रकार उदार वाक्य श्रीरामचन्द्रके जीवनमें शरणागतवत्सलता, सच्चरित्रता और भद्रताका अपूर्व दृष्टान्त स्थापन करते हैं जो इस रागद्वेषमय अनुदार संसारमें अत्यन्त दुर्लभ है। इस प्रकारसे श्रीभगवान्ने रामावतारमें संसारकी शिक्षाके लिये मनुष्योंमें दुर्लभ पूर्ण आदर्श प्रकट किया था, जो प्रत्येक गृहस्थ, प्रत्येक मनुष्य, तथा प्रत्येक नरपतिके लिये सदाही अनुकरण करने योग्य है। श्रीरामचरित्र और रामराज्य संसारके बीचमें एक अपूर्व वस्तु है। जब तक चन्द्र सूर्य

संसारको आलोकित करेंगे तबतक इस अपूर्व चरित्रका अलौकिक गौरव भारत-माताकी मुखछबिको सुशोभित करता रहेगा इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। इस प्रकारसे एकादश सहस्र वर्षपर्यन्त पृथिवी पालन करके अवतार कार्य समाप्त हो जाने पर श्रीरामचन्द्रजीने भरत, शत्रुघ्न और समस्त वानर तथा प्रजाओंके साथ महा प्रस्थान यात्रा की थी। यथा-रामायण उत्तरकाण्ड १०६ सर्गमें—

ततः सर्वाः प्रकृतयो हृष्टपुष्टजनावृताः।
गच्छन्तमनुगच्छन्ति राघवं गुणरञ्जिताः॥
ऋक्षवानररक्षांसि जनाश्च पुरवासिनः।
आगच्छन् परया भक्त्या पृष्ठतः सुसमाहिताः॥

लक्ष्मणके स्वर्गारोहणके बाद जिस समय श्रीरामचन्द्र भरत और शत्रुघ्न के साथ महाप्रस्थानार्थ सरयू नदीमें जाने लगे तो समस्त प्रजा, वानरगण, और पशुपक्षी आदि तिर्यग्योनिके प्राणिगण पर्यन्त सब श्रीरामचन्द्रके पीछे पीछे जाने लगे। तदनन्तर सरयूके तट पर आकर श्रीरामचन्द्र सरयूके जलमें प्रवेश करने लगे उस समय दैववाणी हुई। यथा-रामायणके उत्तरकाण्ड ११० सर्गमें—

ततः पितामहो वाणीं त्वन्तरिक्षादभाषत।
आगच्छ विष्णो भद्रं ते दिष्ट्या प्राप्तोऽसि राघव॥
भ्रातृभिः सह देवाभैः प्रविशस्व स्विकां तनुम्।
यामिच्छसि महाबाहो तां तनुं प्रविश स्विकाम्॥
वैष्णवीं तां महातेजो यद्वाकाशं सनातनम्।
त्वं हि लोकगतिर्देव न त्वां केचित्प्रजानते॥
पितामहवचः श्रुत्वा विनिश्चित्य महामतिः।
विवेश वैष्णवं तेजः सशरीरः सहानुजः॥

पितामह ब्रह्माजीने श्रीरामचन्द्रको कहा—"हे विष्णो! अब मनुष्यरूप त्याग करके निजरूप धारण करनेका और निजलोकमें प्रवेश करनेका आपका समय आया है, इसलिये आप हीके स्वरूप तीनों भ्राताओंके साथ निज लोकमें प्रवेश करो। हे देव! आप लोकशरण ब्रह्म हो आपको कोई नहीं

जानता है। वैष्णवी शक्ति अथवा आकाशरूप ब्रह्मशक्तिमें प्रवेश करो।" पितामहका वाक्य सुन कर श्रीरामचन्द्रजीने भ्राताओंके साथ वैष्णव तेजमें प्रवेश किया। तदनन्तर उनके साथके सब प्रजागण और तिर्यग् योनिके जीवगण श्रीरामभक्तिके फलसे ब्रह्मलोकसे नीचे सन्तानक नामक लोकमें चले गये। वानरगण और रीछगण जिन जिन देवताओंसे आये थे वहाँ पर सब चले गये। यथा—रामायणके उत्तरकाण्डके ११० सर्ग में—

वानराश्च स्विकां योनिमृक्षाश्चैव तथा ययुः।
येभ्यो विनिःसृताः सर्वे सुरेभ्यः सुरसंभवाः॥
तेषु प्रविविशे चैव सुग्रीवः सूर्यमण्डलम्।
पश्यतां सर्वदेवानां स्वान् पितॄन् प्रतिपेदिरे॥

वानरगण और रीछगण सब जिन जिन देवताओंसे उत्पन्न हुए थे उनमें शरीर त्याग करके प्रवेश कर गये और सुग्रीव सूर्यमण्डलको प्रवेश कर गये। इस प्रकारसे रामावतार लीला समाप्त हो गई।

रामावतारमें वानरोंसे बहुत सहायता मिली थी इसलिये ये सब वानर कौन् थे और किस आकारके थे सो निर्णय करने योग्य है। रामायणके बालकाण्डके १७ सर्गमें इनके विषयमें बहुत कुछ लिखा है। यथा—

पुत्रत्वं तु गते विष्णौ राज्ञस्तस्य महात्मनः।
उवाच देवताः सर्वाः स्वयम्भूर्भगवानिदम्॥
सत्यसंधस्य वीरस्य सर्वेषां नो हितैषिणः।
विष्णोः सहायान् बलिनः सृजध्वं कामरूपिणः॥
अप्सरःसु च मुख्यासु गन्धर्वीणां तनूषु च।
यक्षपन्नगकन्यासु ऋक्षविद्याधरीषु च॥
किन्नरीणां च गात्रेषु वानराणां तनूषु च।
सृजध्वं हरिरूपेण पुत्रांस्तुल्यपराक्रमान्॥
पूर्वमेव मया सृष्टो जाम्बवानृक्षपुंगवः।
जृम्भमाणस्य सहसा मम वक्त्रादजायत॥
ते तथोक्ता भगवता तत्प्रतिश्रुत्य शासनम्।

जनयामासुरेवं ते पुत्रान् वानररूपिणः ॥
वानरेन्द्रं महेन्द्राभमिन्द्रो बालिनमात्मजम् ।
सुग्रीवं जनयामास तपनस्तपतां वरः ॥
धनदस्य सुतः श्रीमान् वानरो गन्धमादनः ।
विश्वकर्मा त्वजनयन्नलं नाम महाकपिम् ॥
मारुतस्यौरसः श्रीमान् हनूमान्नाम वानरः ।
वज्रसंहननोपेतो वैनतेयसमो जवे ॥
सर्ववानरमुख्येषु बुद्धिमान् बलवानपि ।
ते सृष्टा बहुसाहस्रा दशग्रीववधोद्यताः ॥
अप्रमेयबला वीरा विक्रान्ताः कामरूपिणः ।
ते गजाचलसंकाशा वपुष्मन्तो महाबलाः ॥

महाराजा दशरथके चार पुत्ररूपमें श्रीभगवान् विष्णुके उत्पन्न होनेके अनन्तर स्वयम्भू ब्रह्माजीने समस्त देवताओंको कहा—" हमारे हितके लिये श्रीविष्णुने मनुष्यशरीर धारण किया है इसलिये आप सब उनके सहायतार्थ कामरूपी जीवोंको उत्पन्न करो। मुख्य अप्सरायें, गन्धर्वीगण, यक्ष पन्नग कन्यागण, ऋक्ष विद्याधरीगण, किन्नरीगण और वानरीगण—इनके गर्भमें आप सब अपने तुल्य बलवान् वानर आदि पुत्रोंको उत्पन्न करो। मैंने पहले ही जाम्बवान् नामक रीछको उत्पन्न किया है। जिम्हाई लेते समय मेरे मुखसे वह उत्पन्न हुआ था। इस प्रकारसे ब्रह्माजीकी आज्ञा पाकर तदनुसार समस्त देवताओंने ऊपर कथित स्त्रियोंमें वानररूपी अपने अपने पुत्रोंको उत्पन्न किया। इन्द्रने वालिको उत्पन्न किया, सूर्यने सुग्रीवको उत्पन्न किया, कुबेरने गन्धमादन नामक वानरको और विश्वकर्माने नल नामक वानरको उत्पन्न किया। पवनदेवने महापराक्रमी वज्रतुल्य हनूमानको उत्पन्न किया, इत्यादि इत्यादि रूपसे रावणबधके लिये असीम बलशाली पर्वत तथा हस्तीकी तरह शरीरवाले इच्छानुसार भिन्न भिन्न रूप धारण करनेवाले अनेक सहस्र वानर उत्पन्न किये गये। चूँकि रावणको यह वर मिला हुआ था कि देवता आदिके हाथसे नहीं मरेगा इसलिये विष्णुसे लेकर अन्यान्य देवताओंको नर और वानरका आकार धारण करना पड़ा था। इन सब वानरोंके कामरूपी होनेके विषयमें रामायण

में अनेक प्रमाण मिलते हैं। जिस समय लङ्कापुरीसे लौट कर समस्त वानर अयोध्यापुरी पहुँचे और बड़े समारोहके साथ भरतसे मिलना हुआ उस समय वानरोंने क्या रूप धारण किया था सो लिखा है। यथा—रा० यु० का० १२७—१२८ सर्गमें—

ते कृत्वा मानुषं रूपं वानराः कामरूपिणः।
कुशलं पर्यपृच्छंस्ते प्रहृष्टा भरतं तदा॥
नवनागसहस्राणि ययुरास्थाय वानराः।
मानुषं विग्रहं कृत्वा सर्वाभरणभूषिताः॥

कामरूपी वानरोंने मनुष्यरूप धारण करके भरतसे कुशल जिज्ञासा की। अनेक भूषणोंसे भूषित वानरगण मनुष्यरूप धारण करके नौ हजार हाथीपर चढ़ कर चले। ये सब वानरोंके कामरूपी होनेके प्रमाण हैं। जिस समय हनूमान् सीताके अन्वेषणार्थ लङ्कापुरीमें रावणके अन्तःपुरमें प्रवेश करने लगे उस समय उनके रूपके विषयमें रामायणके सुन्दरकाण्डके २य सर्गमें लिखा है-

सूर्ये चास्तं गते रात्रौ देहं संक्षिप्य मारुतिः।
वृषदंशकमात्रोऽथ बभूवाद्भुतदर्शनः॥

सूर्यास्त होनेके अनन्तर हनूमान्ने अपने शरीरको छोटा बनाकर मार्जार (बिल्ली) का रूप धारण किया और उस अपूर्वरूपसे रावणके अन्तःपुरमें घुस गये। इस प्रकारसे समयानुसार कामरूपी होकर वानरगण युद्धमें श्रीरामचन्द्र की सहायता करते थे और जैसा कि पहले ही बताया गया है रामावतार-लीलाके समाप्त होनेपर श्रीरामचन्द्रके साथ महाप्रस्थानको जाकर वानरगण जो जिस देवतासे उत्पन्न हुए थे वे सब उन उन देवताओंमें लय होगये। यही रावणवधार्थ वानर सेनाओंका जन्म तथा लीलावृत्तान्त है।

निष्कलङ्क श्रीरामचन्द्रके चरित्रमें एक कलङ्क कभी कभी यह लगाया जाता है कि उन्होंने छिप करके वानरराज बालिको मार दिया था। अतः यह विषय समाधान करने योग्य है। जिस प्रकार जीवन बालिने ग्रहण किया था वह पितामह ब्रह्माजीके आज्ञानुसार नहीं था क्योंकि ब्रह्माजीने जब देवताओंको आज्ञा की थी कि सब अपने अपने अंशसे श्रीराम-चन्द्रजीके सहायतार्थ वानरयोनिमें पुत्र उत्पन्न करें, तब इन्द्रजीने बालिको

उत्पन्न किया था । इसलिये पितामहके आज्ञानुसार वालिको उचित था कि निज भ्राता सुग्रीवसे विरोध तथा उनकी स्त्रीका हरण न करके उनके तथा अन्यान्य वानरोंके साथ मैत्रीभावसे रहकर श्रीरामचन्द्रको अपनी अवतारलीलाके पूर्ण करनेके विषयमें सहायता प्रदान करता । परन्तु दुर्बुद्धि होनेसे उसने ऐसा नहीं किया और अपनी उत्पत्तिका कारण ही भूलकर कामोन्मत्त हो रहने लगा और सुग्रीवादिको कष्ट देने लगा । इसलिये इस प्रकार दैवी आज्ञाके विरोधीको संसारसे हटाना ही उस समयके देशकालके लिये कल्याणकर था । यही उनके वधमें अदृष्ट दैवकारण है । द्वितीयतः उसने जो मरते समय श्रीरामचन्द्रको कहा था कि "यदि मुझे तुम कहते तो मैं जीता ही रावणको पकड़ लाता और सीताको ला देता" यह परामर्श सर्वथा धर्मविरुद्ध तथा अवतारलीलाके विरुद्ध है । क्योंकि श्रीरामचन्द्रका अवतार केवल सीता उद्धारके लिये नहीं हुआ था परन्तु दुर्दान्त रावणवंशनाशके लिये हुआ था, सो बालिके कहनेके अनुसार नहीं हो सकता था । इसलिये इस प्रकार परामर्श अवतारलीलाविरुद्ध है । इसके सिवाय बालिके परामर्शमें धर्मविरुद्धता भी यह है कि जब बालिने स्वयं ही भाईकी स्त्री उमाको छीन लिया था तो ऐसे परस्त्रीहरणकारीके द्वारा स्त्रीका उद्धार कैसे हो सकता है और अपनी सती स्त्रीके उद्धारके लिये ऐसे सतीत्वभ्रष्टकारी वानरकी सहायता धर्ममर्यादाके प्रतिपालक श्रीरामचन्द्र कैसे ले सकते हैं । इन सब कारणोंसे बालिको मार देना ही उस देशकालके लिये अनुकूल कार्य था, इसमें कोई सन्देह नहीं है । यही बालिवधके विषयमें अधिदैव कारण है । इसका अधिभूत कारण श्रीरामचन्द्रजीने स्वयं ही बालिके मरते समय कह दिया था । यथा—रामायणके किष्किन्धा काण्डके १८ सर्ग में—

> इक्ष्वाकूणामियं भूमिः सशैलवनकानना ।
> मृगपक्षिमनुष्याणां निग्रहानुग्रहेष्वपि ॥
> तां पालयति धर्मात्मा भरतः सत्यवानृजुः ।
> धर्मकामार्थतत्त्वज्ञो निग्रहानुग्रहे रतः ॥
> तस्य धर्मकृतादेशा वयमन्ये च पार्थिवाः ।
> चरामो वसुधां कृत्स्नां धर्मसन्तानमिच्छवः ॥
> तदेतत्कारणं पश्य यदर्थं त्वं मया हतः ।

भ्रातुर्वर्तसि भार्यायां त्यक्त्वा धर्मं सनातनम् ॥
तद्व्यतीतस्य ते धर्मात् कामवृत्तस्य वानर ।
भ्रातृभार्याभिमर्शेऽस्मिन् दण्डोऽयं प्रतिपादितः ॥

वानरराज वालिने जिस समय रामचन्द्रजीको दोष देकर कहा कि तुमने मुझे विना अपराध क्यों मारा और छिप कर क्यों मारा उसके उत्तरमें श्रीरामचन्द्रजीने कहा—" जिस स्थान पर तुम रहते हो पर्वतवन-काननयुक्त यह समस्त भूमि इक्ष्वाकुवंशियोंके राज्याधिकारके अन्तर्गत है इस-लिये यहाँपर स्थित मनुष्य पशु आदि समस्त जीवोंपर कृपा या दण्डप्रदान करने का हमारा अधिकार है। आजकल धर्मात्मा भरत उस राज्यमें राजा हैं, हमलोग उनके आज्ञाकारी होकर धर्मवृद्धिकी इच्छासे समस्त पृथिवीमें भ्रमण कर रहे हैं। तुमको मैंने इसलिये मारा है कि तुम धर्मत्याग करके अपने भाईकी स्त्रीको लेकर रहते हो। तुम्हारे जैसे अधार्मिक कामुक भ्रातृजायापर बलात्कार करनेवाले वानरके लिये इस प्रकारसे प्राणदण्ड देना धर्मानुकूल है। इस लिये मैंने तुमको मार दिया है। 'मुझे छिपकर क्यों मारा।' इसके उत्तरमें श्रीरामचन्द्रने कहा—

वागुराभिश्च पाशैश्च कूटैश्च विविधैर्नराः ।
प्रतिच्छन्नाश्च दृश्याश्च गृह्णन्ति सुबहून् मृगान् ॥
प्रधावितान् वा वित्रस्तान् विस्रब्धान् अतिविष्ठितान् ।
प्रमत्तानप्रमत्तान् वा नरा मांसाशिनो भृशम् ॥
विध्यन्ति विमुखांश्चापि न च दोषोऽत्र विद्यते ।
यान्ति राजर्षयश्चात्र मृगयां धर्मकोविदाः ॥
तस्मात्त्वं निहतो युद्धे मया बाणेन वानर ।
अयुध्यन् प्रतियुध्यन् वा यस्माच्छाखामृगो ह्यसि ॥

जिस प्रकार नाना प्रकारके जाल, पाश अथवा छलके द्वारा छिपेहुए अथवा सामने होकर दौड़ते हुए और डरते हुए विश्वासी या विरोधमें खड़े हुए अनेक मृगोंको मनुष्य मारता है और मांसभोजी मनुष्य मत्त अथवा अप्रमत्त मृगोंको बाणसे मारता है और धर्मतत्त्वज्ञ राजार्षिगण भी मृगया करते हैं उसी प्रकार तुमको भी मैंने मारा है। इसमें सम्मुखयुद्धमें मारा या छिप कर

मारा ऐसा प्रश्न ही नहीं हो सकता क्योंकि तुम शाखामृग हो। इसलिये तुम्हारे साथ क्षत्रियधर्मपालनका प्रयोजन नहीं है। इसमें और एक अधिदैव कारण भी है। बालिको वरदान मिला हुआ था कि उसके सामने उसके साथ जो युद्ध करने आवेगा उसका आधा बल बालिको प्राप्त हो जायगा। इस लिये बालिके अपने बलके सिवाय जब शत्रुका भी आधा बल उसको प्राप्त हो गया तो संसारमें बालिको कोई भी नहीं परास्त कर सकेगा। इसी कारण श्रीरामचन्द्रको छिपकर बालि पर बाण प्रयोग करना पड़ा था क्योंकि उसके सामने आनेसे वरके अनुसार श्रीरामचन्द्रका आधा बल यदि बालिमें चला जाता तो उसको श्रीरामचन्द्रजी नहीं मार सकते। इसी दैवकारणको व्यर्थ करनेके लिये श्रीभगवान् रामचन्द्रको छिपकर मारनेकी युद्धनीतिका अवलम्बन करना पड़ा था। यह आवश्यकतानुसार केवल युद्धनीति होनेसे इसमें श्रीरामचन्द्रका कोई भी दोष नहीं हो सकता। यही श्रीभगवान् रामचन्द्रका सर्वथा निर्दोष अलौकिक अवतार चरित्र है।

(सीताचरित्र)

श्रीभगवान् विष्णुके अवतार श्रीरामचन्द्रजीने जिस प्रकार अपनी अवतारलीलामें आदर्शमानवका सर्वोत्तम दृष्टान्त दिखलाया है, उसी प्रकार प्रकृति की अंशस्वरूपिणी सती सीता देवीने भी अपने अवतारमें आदर्श नारीका सर्वोत्तम दृष्टान्त स्थापन किया है। अतः श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रकी चर्चाके साथ सीतामाताके अपूर्व चरित्रकी महिमाका वर्णन करना अवश्य कर्त्तव्य है। इस लिये अब नीचे श्रीरामायणसे उनके अपूर्व चरित्रका कुछ वर्णन किया जाता है। पातिव्रत्य ही स्त्रीजातिकी मुक्तिका एकमात्र उपाय होनेसे स्त्रीचरित्रकी पूर्णता पातिव्रत्यकी पूर्णता द्वारा होती है। माता सीताके समस्त जीवनमें पातिव्रत्यधर्मकी पराकाष्ठा हो गई थी, जिसकी तुलना संसारमें दुर्लभ है। वनवास जानेके पहिले जिस समय श्रीरामचन्द्रने उनको अयोध्यामें रहनेको कहा और वनवासकी बात उनको सुनाई, उस समय जिन शब्दोंसे सीता माताने अयोध्यामें न रहकर साथ बनको चलनेके लिये प्रार्थना की थी, उनसे उनमें पातिव्रत्य धर्मका पूर्णभाव झलकता है। यथा—वाल्मीकीयरामायण अयोध्याकाण्ड—

न पिता नात्मजो वात्मा न माता न सखीजनः ।
इह प्रेत्य च नारीणां पतिरेको गतिः सदा ॥
यदि त्वं प्रस्थितो दुर्गं वनमद्यैव राघव ! ।

अग्रतस्ते गमिष्यामि चिन्वन्ती कुशकण्टकान् ॥
प्रासादाग्रे विमानैर्वा वैहायसगतेन वा ।
सर्वावस्थागता भर्तुः पादच्छाया विशिष्यते ॥
अहं दुर्गं गमिष्यामि वनं पुरुषवर्जितम् ।
नानामृगगणाकीर्णं शार्दूलगणसेवितम् ॥
सुखं वने निवत्स्यामि यथैव भवने पितुः ।
अचिन्तयन्ती त्रींल्लोकांश्चिन्तयन्ती पतिव्रतम् ॥
शुश्रूषमाणा ते नित्यं नियता ब्रह्मचारिणी ।
सह रंस्ये त्वया वीर ! वनेषु मधुगन्धिषु ॥
फलमूलाशना नित्यं भविष्यामि न संशयः ।
न ते दुःखं करिष्यामि निवसन्ती त्वया सह ॥
एवं वर्षसहस्राणि शतं वापि त्वया सह ।
व्यतिक्रमं न वेत्स्यामि स्वर्गोऽपि हि न मे मतः ॥
स्वर्गेऽपि च विना वासो भविता यदि राघव !
त्वया विना नरव्याघ्र ! नाहं तदपि रोचये ॥

पिता, सन्तान, आत्मा, माता या सखीजन–कोई भी इस लोक अथवा परलोकमें स्त्रियोंके लिये शरण नहीं है, किन्तु एक पति ही स्त्रियोंकी इस लोक और परलोकमें भी गति है। हे प्रभो ! यदि आप आज ही दुर्गम वनमें जानेको तैयार हैं, तो मैं भी आपके आगे २ कुशों और कांटोंको चुनती हुई चलूँगी। प्रासाद, विमान या आकाशगतिसे हो, सब दशाओंमें पतिके चरणकी छाया बनकर स्त्रियोंका रहना श्रेष्ठ है। मैं नाना मृगगणसे घिरे हुए और भयङ्कर व्याघ्र आदिसे भरे हुए निर्जन गम्भीर वनमें चलूँगी। जिस प्रकार मैं पिताके घरमें आनन्दमें रहती हूँ उसी प्रकार तीन लोकोंको भूल कर केवल पातिव्रत्य धर्मको स्मरण करती हुई सुखसे वनमें रहूँगी। नियमपूर्वक ब्रह्मचारिणी रहकर आपकी सेवा करती हुई हे वीर ! सुन्दर गन्धसे युक्त वनमें आपके साथ रमण करूँगी। निस्सन्देह नित्य फल-मूल खा कर रहूँगी। आपके साथ रहती हुई आपको कष्ट न दूँगी। इस प्रकार आपके साथ हजारों वर्ष तक

रहती हुई भी दुःख न समझूँगी और स्वर्गसुखसे इसमें पार्थक्य न मानूँगी। हे पुरुषोत्तम रघुनाथ ! आपके विना स्वर्गमें भी रहना मुझे अच्छा नहीं लगता।

सीता देवीकी इस प्रकारकी प्रार्थना सुन कर श्रीरामचन्द्रजीने उनको वनवासके अनेक क्लेश बतलाये और उनको वनमें जानेसे मना किया। यथा— वा० रामायण, अयो० का०:—

सीते ! विमुच्यतामेषा वनवासकृता मतिः ।
बहुदोषं हि कान्तारं वनमित्यभिधीयते ॥
हितबुद्ध्या खलु वचो मयैतदभिधीयते ।
सदा सुखं न जानामि दुःखमेव सदा वनम् ॥
गिरिनिर्झरसम्भूता गिरिनिर्दरिवासिनाम् ।
सिंहानां निनदा दुःखाः श्रोतुं दुःखमतो वनम् ॥
क्रीडमानाश्च विस्रब्धा मत्ताः शून्ये तथा मृगाः ।
दृष्ट्वा समभिवर्त्तन्ते सीते ! दुःखमतो वनम् ॥
सग्राहाः सरितश्चैव पङ्कवत्यस्तु दुस्तराः ।
मत्तैरपि गजैर्नित्यमतो दुःखतरं वनम् ॥
लताकण्टकसंकीर्णाः कृकवाकूपनादिताः ।
निरपाश्च सुदुःखाश्च मार्गा दुःखमतो वनम् ॥
सुप्यते पर्णशय्यासु स्वयं भग्नासु भूतले !
रात्रिषु श्रमखिन्नेन तस्माद् दुःखमतो वनम् ॥
उपवासश्च कर्त्तव्यो यथा प्राणेन मैथिलि !
जटाभारश्च कर्त्तव्यो वल्कलाम्बरधारणम् ॥
अतीव वातास्तिमिरं बुभुक्षा चास्ति नित्यशः ।
भयानि च महान्त्यत्र अतो दुःखतरं वनम् ॥
सरीसृपाश्च बहवो बहुरूपाश्च भामिनि !
चरन्ति पथि ते दर्पात् अतो दुःखतरं वनम् ॥

नदीनिलयनाः सर्पा नदीकुटिलगामिनः ।
तिष्ठन्त्यावृत्य पन्थानमतो दुःखतरं वनम् ॥
पतङ्गा वृश्चिकाः कीटा दंशाश्च मशकैः सह ।
बाधन्ते नित्यमबले ! सर्वं दुःखमतो वनम् ॥
द्रुमाः कण्टकिनश्चैव कुशाः काशाश्च भामिनि !
वने व्याकुलशाखाग्रास्तेन दुःखमतो वनम् ॥

हे सीते ! वनमें रहनेका विचार छोड़ो, भयङ्कर वनमें अनेक दोष हैं । मैं इस बातको तुम्हारे हितके विचारसे कहता हूँ कि वनमें कभी सुख नहीं है, वहाँ सदा दुःख ही दुःख है । वहाँ पर्वतोंकी नदियोंके और पर्वतोंकी कन्दराओंमें रहने वाले सिंहोंके भयङ्कर-दुःखदायक शब्दोंको सुनना पड़ता है; इसलिये वनमें बहुत दुःख है । हे जनकनन्दिनि ! खेलते हुए निःशङ्क और मत्त सिंह, व्याघ्र आदि पशु एकान्तमें मनुष्योंको देख कर मारनेके लिये सामने आते हैं । वनकी नदियोंमें बड़े २ मगर रहते हैं और मतवाले हाथी जलको गदला कर देते हैं, जिससे पीने योग्य जल और स्नानका बहुत ही क्लेश होता है । वनके मार्ग, लता और कांटोंसे तथा वन-कुक्कुटोंसे घिरे होते हैं । जल भी वहाँ नहीं मिलता है; इसलिये वनमें बड़ा दुःख है । वहाँ रात्रिमें श्रान्त होने पर भी जमीन पर ही फटे हुए पत्तोंकी शय्या पर सोना पड़ता है । वल्कल पहनना, जटा धारण करना और भूखो रहना भी पड़ता है । वहाँ वायु जोरसे चलता है, अन्धकार भी अधिक है, भूख भी व्याकुल करती है और भय भी होता है । हे भामिनि ! अनेक रूपवाले हिंसक जन्तु मार्गमें इधर उधर बड़े अहङ्कारसे घूमते हैं । बिच्छू , कीड़े, मकोड़े, मच्छर आदि नित्य ही बाधा देते हैं । अबला होनेके कारण उनकी बाधाओंको तुम नहीं रोक सकती । कुश, काश और कटीले वृक्ष भी वनमें बहुत हैं । वानर भी चारों ओर दौड़ते रहते हैं; इस लिये हे भामिनि ! वनमें बड़ा ही भयङ्कर दुःख है ।

इस प्रकार प्रभु रामचन्द्रजीकी बातोंको सुन दुःखिता हो रोती हुई जगदम्बा पतिप्राणा सीतामाताने उत्तर दिया । यथा—वा० रा० अयो० का०—

ये त्वया कीर्त्तिता दोषा वने वस्तव्यतां प्रति ।
गुणानित्येव तान् विद्धि तव स्नेहपुरस्कृता ॥

त्वया च सह गन्तव्यं मया गुरुजनाज्ञया ।
त्वद्वियोगेन मे राम ! त्वक्तव्यमिह जीवितम् ॥
पतिहीना तु या नारी न सा शक्ष्यति जीवितुम् ।
काममेवंविधं राम ! त्वया मम निदर्शितम् ॥
द्युमत्सेनसुतं वीरं सत्यवन्तमनुव्रताम् ।
सावित्रीमिव मां विद्धि त्वमात्मवशवर्त्तिनीम् ॥
न त्वहं मनसा त्वन्यं द्रष्टाऽस्मि त्वदृतेऽनघ ।
त्वया राघव गच्छेयं यथान्या कुलपांसनी ॥
कुशकाशशरेषीका ये च कण्टकिनो द्रुमाः ।
तूलाजिनसमस्पर्शा मार्गे मम सह त्वया ॥
महावातसमुद्भूतं यन्मामवकरिष्यति ।
रजो रमण ! तन्मन्ये परार्घ्यमिव चन्दनम् ॥
शाद्वलेषु यदा शिश्ये वनान्तर्वनगोचरा ।
कुथास्तरणयुक्तेषु किं स्यात्सुखतरं ततः ॥
पत्रं मूलं फलं यत्तु अल्पं वा यदि वा बहु ।
दास्यसे स्वयमाहृत्य तन्मेऽमृतरसोपमम् ॥
यस्त्वया सह स स्वर्गो निरयो यस्त्वया विना ।
इति जानन् परां प्रीतिं गच्छ राम मया सह ॥
पश्चादपि हि दुःखेन मम नैवास्ति जीवितम् ।
उज्झितायास्त्वया नाथ ! तदैव मरणं वरम् ॥
इमं हि सहितुं शोकं मुहूर्त्तमपि नोत्सहे ।
किं पुनर्दश वर्षाणि त्रीणि चैकञ्च दुःखिता ॥
इति सा शोकसन्तप्ता विलप्य करुणं बहु ।
चुक्रोश पतिमायस्ता भृशमालिंग्य सस्वरम् ॥
तस्याः स्फटिकसंकाशं वारिसन्तापसम्भवम् ।

नेत्राभ्यां परिसुस्राव पङ्कजाभ्यामिवोदकम् ॥

हे प्राणनाथ ! वनके रहनेमें जिन दोषोंको आपने बतलाया है—आपके स्नेह-भाजन होनेके कारण मेरे लिये वे सब गुण ही हैं। गुरुजनोंकी आज्ञाके अनुसार मैं आपके साथ चलूँगी। प्रभो ! आपके वियोगमें मैं जीवित नहीं रह सकती। जो स्त्री पतिसे विहीन है वह जी नहीं सकती। इस प्रकार आपने अनेक बार जतलाया है। द्युमत्सेनके पुत्र वीर सत्यवान्के साथ चलनेवाली सावित्री जैसी मुझको अपने आधीन समझें। हे स्वामिन् ! जैसी कुलटा स्त्री अपने पतिसे भिन्न परपुरुषको कामभावसे देखती है, मैं उस प्रकार मनसे भी आपसे अन्य पुरुषको नहीं देखती हूँ। हे निष्पाप रामचन्द्र ! इसलिये मैं आपके साथ चलूँगी। मार्गमें कुश, काश, सीज और जो कटीले वृक्ष मिलेंगे—आपके साथ मेरे लिये रूई और मृगचर्म जैसा उनका स्पर्श सुखदायक होगा। हे रमण ! वायुवेगसे चालित धूलि जो मुझको आच्छन्न करेगी वह धूलि मेरे लिये अपूर्व चन्दनका काम करेगी। वनमें जब आपके साथ तृणोंकी शय्या पर सो जाऊँगी उस समय चित्र—विचित्रके सुकुमोल गलीचे पर सोनेका आनन्द प्राप्त होगा। पत्र, फल, मूल या जो कुछ थोड़ा बहुत आप लाकर देंगे वह मेरे लिये अमृतरसके तुल्य होगा। जो आपके साथ रहना है वही स्वर्ग और जो आपके बिना है वह नरक है। इस प्रकार मेरी प्रीतिको जानते हुए हे प्राणाधार ! आप मुझे साथ ले चलें। आपके पीछे भी मेरा जीवन नहीं रह सकता। हे नाथ ! आप जब मुझको छोड़कर चलेंगे तो मेरा मरना ही अच्छा है। इस वियोगदुःखको एक क्षण भी नहीं सह सकती हूँ तो, फिर १४ वर्ष किस प्रकार सह सकूँगी। शोकसे व्याकुल सीता देवी इस प्रकार बहुत विलाप करती हुई प्राणपति रामचन्द्रजीसे लिपट कर मन्द २ रोने लगीं। उनके नेत्रोंसे गर्म २ आंसुओंकी धारा, कमलसे जलबिन्दु जैसी, गिरने लगीं।

जिस समय उद्दण्ड पापी रावणने सीताको चुराकर अशोक वाटिकामें रख दिया था उस समय रामके वियोगसे व्याकुल सीताकी जो दीन दशा श्रीरामायणमें वर्णन की गई है, उससे भी सीता माताके पातिव्रत्य भावकी गम्भीरताका पूरा परिचय मिलता है। यथा—वा० रा० सु० का०—

उपवासकृशां दीनां निःश्वसन्तीं पुनः पुनः ।
ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥

पीडितां दुःखसन्तप्तां परिक्षीणां तपस्विनीम् ।
ग्रहेणाङ्गारकेणेव पीडितामिव रोहिणीम् ॥
अश्रुपूर्णमुखीं दीनां कृशामनशनेन च ।
शोकध्यानपरां दीनां नित्यं दुःखपरायणाम् ॥
दहन्तीमिव निःश्वासैर्वृक्षान् पल्लवधारिणः ।
संघातमिव शोकानां दुःखस्योर्मिमिवोत्थिताम् ॥
असंवृतायामासीनां धरण्यां संशितव्रताम् ।
छिन्नां प्रपतितां भूमौ शाखामिव वनस्पतेः ॥
मलमण्डनदिग्धाङ्गीं मण्डनार्हाममण्डनाम् ।
मृणाली पङ्कदिग्धेव विभाति न विभाति च ॥
समीपं राजसिंहस्य रामस्य विदितात्मनः ।
सङ्कल्पहयसंयुक्तैर्यान्तीमिव मनोरथैः ॥
शुष्यन्तीं रुदतीमेकां ध्यानशोकपरायणाम् ।
दुःखस्यान्तमपश्यन्तीं रामां राममनुव्रताम् ॥
चेष्टमानामथाविष्टां पन्नगेन्द्रवधूमिव ।
धूप्यमानां ग्रहेणेव रोहिणीं धूमकेतुना ॥
पतिशोकातुरां शुष्कां नदीं विस्रावितामिव ।
परया मृजया हीनां कृष्णपक्षे निशामिव ॥

उपवाससे कृश, दीन, बारंबार निःश्वास लेती हुई, शुक्लपक्षकी प्रथम तिथि- की चन्द्ररेखा जैसी दुर्बल—परन्तु कान्तिपूर्ण सीताको (हनुमान्‌जीने) देखा। क्रूरग्रह केतु आदिसे पीडित रोहिणीके तुल्य पीड़ित, दुःखसे सन्तप्त और अत्यन्त ही दुर्बल तपस्विनी जानकी माताको देखा। भोजनके परित्यागके कारण जो अत्यन्त दुर्बल हो गई हैं, जिनका मुख लगातार आंसुओंकी धारासे परिपूर्ण है, शोकसे पीडित और अत्यन्त दुःखिनी होनेपर भी जो बराबर पतिध्यानमें मग्न हैं, जो नये पत्तेवाले वृक्षोंको भी अपने तपे हुए निःश्वासोंसे सुखा रही हैं—विदित होता है कि सीता शोकोंका समूह या उठती हुई दुःखकी तरङ्गमाला जैसी हैं—और जो विना विस्तरेके पृथिवी पर बैठी हैं—रावणके वधके लिये

मानों तपस्या कर रही हैं--काटकर पृथिवीपर गिराई हुई वृक्षकी शाखा जैसी विदित होती हैं। शृंगारसे रहित और मलिनशरीर होनेके कारण जो पङ्कसे लिप्त मृणाली जैसी मालूम पड़ती हैं और शोभा विहीन हैं, राजसिंह, अपनेपर निर्भर करनेवाले रामचन्द्रजीके समीप जो अपने सङ्कल्परूपी घोड़ोंसे जुते हुए मनोरथरूपी रथसे निरन्तर पहुंचती हुई जैसी दीखती हैं, जो रघुनाथजीके महान् दुःख-समुद्र में निमग्न है, धूमकेतुग्रहसे पीडित रोहिणी और मन्त्रसे रोकी हुई सांपकी स्त्री जैसी व्याकुल हो रही हैं, निर्जल नदी और अन्धेरी कृष्णपक्षकी रात्रि जैसी पतिशोकसे व्याकुल सीता मलिन दीख पड़ती हैं। सच्ची पतिव्रता सतीको पतिके वियोगमें ऐसी ही दीनातिदीन दशा प्राप्त होती है।

उद्दण्ड रावणने जिस समय सीता माताको अनेक प्रलोभन देकर कहा था कि, तपस्वी भिखारी रामसे प्रेम हटाकर मुझमें प्रेम करो और मेरी राजस्त्री बनकर कोठेपर निवास करो, क्यों बन बनमें घूमकर अपने देवताओंको भी दुर्लभ जीवनको नष्ट कर रही हो, यथा--वा० रा० सु० का०—

पिब विहर रमस्व भुङ्क्ष्व भोगान्,
धननिचयं प्रदिशामि मेदिनीं च।
मयि लल ललने! यथासुखं त्वम्,
त्वयि च समेत्य ललन्तु बान्धवास्ते॥
कुसुमिततरुजालसन्ततानि,
भ्रमरयुतानि समुद्रतीरजानि।
कनकविमलहारभूषिताङ्गी,
विहर मया सह भीरु! काननानि॥

मदिरा पीओ, विहार करो, रमण करो, धनसमूह और समस्त पृथिवीका उपभोग करो। हे ललने! यथासुख तुम मेरे साथ विहार करो और तुमको पाकर बन्धुगण आनन्द करें। पुष्पित वृक्षसमूहोंसे घिरे हुए भ्रमरोंकी झङ्कारोंसे निनादित समुद्रके तटपरके शीतल, मन्द, सुगन्ध वायुसे सेवित बनोंमें, हे भीरु! सुन्दर सुवर्ण और मुक्तामणिके आभूषणोंको पहनकर मेरे साथ विहार करो; उस समय जो सीता माताने उस नराधम, पागल, पापी, पिशाच, रावण

को तिरस्कार भरी हुई बात कही थी, उससे भी माताके चित्तकी परम दृढ़ता, अपूर्व पतिका प्रेम और अलौकिक पातिव्रत्य का पूरा परिचय मिलता है। यथा—वा० रा० सु० का०—

तृणमन्तरतः कृत्वा प्रत्युवाच शुचिस्मिता ।
निवर्त्तय मनो मत्तः स्वजने प्रीयतां मनः ॥
न मां प्रार्थयितुं युक्तस्त्वं सिद्धिमिव पापकृत् ।
अकार्यं न मया कार्य्यमेकपत्न्या विगर्हितम् ॥
कुलं सम्प्राप्तया पुण्यं कुले महति जातया ।
एवमुक्त्वा तु वैदेही रावणं तं यशस्विनी ॥
रावणं पृष्ठतः कृत्वा भूयो वचनमब्रवीत् ।
नाममौपयिकी भार्य्या परभार्य्या सती तव ॥
साधु धर्म्ममवेक्षस्व साधु साधु व्रतं चर ।
यथा तव तथाऽन्येषां रक्ष्या दारा निशाचर ॥
अकृतात्मानमासाद्य राजानमनये रतम् ।
समृद्धानि विनश्यन्ति राष्ट्राणि नगराणि च ॥
तथैव त्वां समासाद्य लङ्का रत्नौघसंकुला ।
अपराधात्तवैकस्य न चिराद्विनशिष्यति ॥
शक्या लोभयितुं नाहमैश्वर्येण धनेन वा ।
अनन्या राघवेणाहं भास्करेण यथा प्रभा ॥
उपधाय भुजं तस्य लोकनाथस्य सत्कृतम् ।
कथं नामोपधास्यामि भुजमन्यस्य कस्यचित् ॥
अहमौपयिकी भार्या तस्यैव च धरापतेः ।
व्रतस्नातस्य विद्येव विप्रस्य विहितात्मनः ॥
विदितः सर्वधर्म्मज्ञः शरणागतवत्सलः ।
तेन मैत्री भवतु ते यदि जीवितुमिच्छसि ॥

प्रसादयस्व त्वं चैनं शरणागतवत्सलम् ।
मां चास्मै प्रयतो भूत्वा निर्यातयितुमर्हसि ॥
एवं हि ते भवेत् स्वस्ति सम्प्रदाय रघूत्तमे ।
अन्यथा त्वं हि कुर्वाणः परां प्राप्स्यसि चापदम् ॥
वर्जयेद्‌ वज्रमुत्सृष्टं वर्जयेदन्तकश्चिरम् ।
त्वद्विधं न तु संक्रुद्धो लोकनाथः स राघवः ॥
अपनेष्यति मां भर्त्ता त्वत्तः शीघ्रमरिन्दमः ।
असुरेभ्यः श्रियं दीप्तां विष्णुस्त्रिभिरिव क्रमैः ॥
न हि गन्धमुपाघ्राय रामलक्ष्मणयोस्त्वया ।
शक्यं संदर्शने स्थातुं शुना शार्दूलयोरिव ॥

परपुरुषोंसे बात करनेमें डरनेवाली सीता, दुरात्मा रावणकी दुराशाको समझकर मनमें उपहास करती हुई तृणसे ओट करके बोलीं—"हे रावण! मुझसे मन हटा, अपनी स्त्रियोंमें मन लगाकर प्रसन्न हो। जिस प्रकार मुक्तिके लिये पापियोंकी प्रार्थना व्यर्थ है उसी प्रकार मेरे लिये तेरी प्रार्थना भी अयुक्त है। मैं पतिव्रता निन्दित परपुरुषका स्पर्शरूप अकार्य्य नहीं कर सकती हूं, क्योंकि मैं उच्चकुलमें उत्पन्न होकर पवित्र रघुवंशीय कुलको प्राप्त हो चुकी हूं।" यशस्विनी जानकी इस प्रकार रावणको फटकार कर उसकी ओर पीठ करके फिर भी कहने लगीं। "मैं परनारी पतिव्रता तेरी उपभोग्या स्त्री नहीं बन सकती हूं। हे निशाचर रावण! धर्मको भलीभांति देखो और सज्जनोंका आचरण पालन करो। अपनी स्त्रीकी तरह परस्त्री भी रक्षा करने योग्य है। दुष्टात्मा अन्यायी राजाको पाकर समृद्ध राज्य तथा नगर भी नष्ट हो जाते हैं; उसी प्रकार पापी दुर्जन, तुझे पाकर यह स्वर्णमयी लङ्का एक तेरेही अपराधसे शीघ्र नष्ट होनेवाली है। जिस तरह प्रभा प्रभाकरसे कदापि पृथक् नहीं हो सकती उसी तरह मैं रामचन्द्रसे अलग कभी नहीं होसकती हूं इसलिये मुझको तू अपने ऐश्वर्य्य या धनसे लुभा नहीं सकता। त्रिलोकीनाथ रघुनाथजीकी सुन्दर सत्कारयुक्त भुजाओं पर सोकर परपुरुषकी कलङ्कित भुजा पर अब किस प्रकार शयन कर सकती हूँ। संयमी आत्मज्ञानी ब्राह्मणकी विद्या सदृश मैं उसी भूपति प्राणपति रघुपति

की उपभोग्या धर्मपत्नी हूँ। हे रावण ! राम सर्व धर्मों के जानने वाले और शरणागतवत्सल हैं। यदि तू जीना चाहता है तो उनसे मैत्री कर। उन शरणागतवत्सलको प्रसन्न कर और मुझे चुपचाप हाथ जोड़कर उनको दे दे। इस प्रकार करनेसे तेरा मंगल होगा और यदि अन्यथा करेगा तो तू बड़ी भारी आपत्ति को प्राप्त हो जायगा। छोड़े हुए वज्रसे बच सकता है, यम भी जीवको छोड़ सकता है, परन्तु क्रुद्ध हुए लोकनाथ रघुनाथ जी तेरे जैसे पापीको नहीं छोड़ सकते। जिस प्रकार भगवान् विष्णुदेवने अपने पैरोंको फैलाकर असुरोंसे सम्पूर्ण श्रियोंको छीन लिया था उसी प्रकार शत्रुओंको दमन करनेवाले मेरे प्राणपति रामचन्द्रजी मुझको शीघ्र तुझसे छुड़ा लेंगे। बाघको देखकर जिस तरह कुक्कुर भागता है उसी प्रकार तू रघुनाथजीके गन्धको ही सूँघकर सामने ठहर नहीं सकता है।

इस प्रकारकी सीतामाताकी बातको सुनकर रावण अत्यन्त ही क्रुद्ध हो गया, यहां तक कह दिया कि

द्वौ मासौ रक्षितव्यौ मे योऽवधिस्ते मया कृतः।
ततः शयनमारोह मम त्वं वरवर्णिनि ॥
द्वाभ्यामूर्द्ध्वं तु मासाभ्यां भर्तारं मामनिच्छतीम्।
मम त्वां प्रातराशार्थे सूदाश्छेत्स्यन्ति खण्डशः ॥

हे सुन्दरि! मैंने जो समयकी अवधि की थी उसके अब केवल दो मास रह गये हैं, इस लिये मेरी शय्यापर आरोहण करो। यदि निश्चित समय तक मुझको अपना पति न बनाएगी तो दो मासके बाद मेरे पाचक (रसोइया) तुझको प्रातःकालके जलपानके लिये खण्ड २ काट डालेंगे।

इस प्रकार रावणकी डरावनी कटु बात सुनकर भी जगदम्बा जानकी रघुनाथजीकी वीरताका अखर्व गर्व करती हुई रावणके हितकी बात कहने लगीं, यथा—

नूनं न ते जनः कश्चिदस्मिन्निःश्रेयसि स्थितः।
निवारयति यो न त्वां कर्मणोऽस्माद्विगर्हितात् ॥
मां हि धर्मात्मनः पत्नीं शचीमिव शचीपतेः।
त्वदन्यस्त्रिषु लोकेषु प्रार्थयेन्मनसापि कः ॥

राक्षसाधम ! रामस्य भार्य्यामिततेजसः ।
उक्तवानसि यत्पापं क्व गतस्तस्य मोक्ष्यसे ॥
यथा दृसश्च मातंगः शशश्च सहितौ वने ।
तथा द्विरदवद्रामस्त्वं नीच ! शशवत् स्मृतः ॥
स त्वमिक्ष्वाकुनाथं वै क्षिपन्निह न लज्जसे ।
चक्षुषो विषये तस्य न यावदुपगच्छसि ॥
इमे ते नयने क्रूरे विकृते कृष्णपिंगले ।
क्षितौ न पतिते कस्मान्मामनार्य्य ! निरीक्षतः ॥
तस्य धर्म्मात्मनः पत्नीं स्नुषां दशरथस्य च ।
कथं व्याहरतो मां ते न जिह्वा पाप ! शीर्यति ॥
असंदेशात्तु रामस्य तपसश्चानुपालनात् ।
न त्वां कुर्मि दशग्रीव ! भस्म भस्मार्हतेजसा ॥
नापहर्तुमहं शक्या तस्य रामस्य धीमतः ।
विधिस्तव वधार्थाय विहितो नात्र संशयः ॥
शूरेण धनदभ्रात्रा बलैः समुदितेन च ।
अपोह्य रामं कस्माच्चिद्दारचौर्य्यं त्वया कृतम् ॥

अवश्य विदित होता है कि तेरा कुशल चाहनेवाला एक भी मनुष्य इस नगरमें नहीं है जो तुझको इस निन्दित कार्य्यसे निवारण करे। तीनों लोकमें तुझसे अन्य और कौन मूर्ख होगा जो मनसे भी इन्द्रकी इन्द्राणी जैसी मुझ धर्मात्मा रामकी पत्नीसे उक्त प्रकारकी कुत्सित प्रार्थना करेगा। रे राक्षसाधम ! तूने बड़े तेजस्वी रामकी स्त्रीको जो पापकी बात कही है उनसे कहाँ जाकर बच सकता है। जिस प्रकार वनमें मतवाला हाथी और गीदड़ परस्पर युद्धके लिये एकत्रित हों उसी प्रकार रघुनाथजी मतवाले हाथी और रे नीच तू गीदड़के समान है। क्षुद्र तू जब तक रामचन्द्रजीके सामने नहीं हुआ है तब तक इक्ष्वाकुनाथ रामकी निन्दा करता लज्जित नहीं होता है ! अर्थात् उनके परोक्ष उनकी निन्दा करते हुए तुझे लज्जा नहीं आती। रे अनार्य्य ! कामुक, पागल, रावण ! पाप दृष्टिसे मुझको देखते हुए तेरे विकार

युक्त क्रूर काले पीले ये नेत्र क्यों नहीं पृथ्वी पर गिर जाते ! तू अन्धा क्यों नहीं होजाता । रे पापी ! मुझ धर्म्मात्मा रामकी पत्नी और राजा दशरथकी पुत्रवधूको पापकी बात कहते हुए तेरी जिह्वा क्यों नहीं फट जाती ? रे दशग्रीव रावण ! तपस्याका पालन और रघुनाथजीकी आज्ञा न होनेके कारण भस्म करने वाले अपने पातिव्रत्य तेजसे तुझको भस्म नहीं कर रही हूँ नहीं तो अभी तक तुझको भस्म कर देती । उस बुद्धिमान् रामकी मुझ स्त्रीको तू चुरा नहीं सकता था परन्तु विदित होता है यह कार्य्य भी तेरे वधके लिये ही दैवने किया है । यदि तू कुबेरका भाई और बड़ा वीर है तो मारीचकी मायासे रामको हटाकर उनके परोक्षमें स्त्रीको क्यों चुराया ? क्या यही वीर और महाधनीका काम है ? इससे तू अत्यन्त भीरु, दुर्बल और महा क्षुद्र प्रतीत होता है । कामान्ध रावण इस प्रकार सीतासे निन्दित और तिरस्कृत होकर भयङ्कर रूप दिखलाकर जानकीको वशमें लानेके लिये निशाचरियोंको आज्ञा देकरके वहांसे चला गया । उसके जाने पर विकट विकृत और भयङ्कर आदि नाना रूप वाली रावणकी अनुचरी राक्षसियां सीता माताको अपने भयङ्कर दांत मुँह और आंखोंको दिखला कर डरवाती हुई वाग्वज्रोंसे कोसने लगीं, यथा —

तां कृशां दीनवदनां मलिनाम्बरवासिनीम् ।
भर्त्सयांचक्रिरे भीमा राक्षस्यस्ताः समन्ततः ॥
रावणं भज भर्त्तारं भर्त्तारं सर्वरक्षसाम् ।
विक्रान्तमापतन्तश्च सुरेशमिव वासवम् ॥
एतदुक्तं च मे वाक्यं यदि त्वं न करिष्यसि ।
अस्मिन् मुहूर्त्ते सर्वास्त्वां भक्षयिष्यामहे वयम् ॥
अन्या तु विकटा नाम लम्बमानपयोधरा ।
अब्रवीत् कुपिता सीतां मुष्टिमुद्यम्य तर्जती ॥
न त्वां शक्तः परित्रातुमपि साक्षात् पुरन्दरः ।
कुरुष्व हितवादिन्या वचनं मम मैथिलि ! ॥
रावणं भज भर्त्तारं भर्त्तारं सर्वरक्षसाम् ।
उत्पाट्य वा ते हृदयं भक्षयिष्यामि मैथिलि ॥

मलिन वस्त्रको पहने हुई अत्यन्त दुर्बल और म्लानमुखी सीताको चारों ओरसे भयङ्कर रूपवाली राक्षसीगण डराने लगीं । हे सीते! देवराज इन्द्र जैसे पराक्रमी योद्धा और सब राक्षसोंके अधिपति रावणको अपना पति बना। यदि तू मेरी कही हुई इस बातको न करेगी तो इसी क्षण हम सब तुझको खाजायँगी । फिर उनमें लम्बेस्तनवाली विकटा नामकी राक्षसी, मुट्ठी उठा कर सीताको डरवाती हुई कुपित होकर बोली। हे मैथिलि ! यहां साक्षात् इन्द्र भी तेरी रक्षा नहीं कर सकते इसलिये तू हित चाहनेवालीकी बात मान। राक्षसाधिपति रावणको अपना पति बना, नहीं तो तेरे हृदयको निकालकर मैं खा जाऊंगी।

इन राक्षसियोंकी इस तरहकी कठोर और दारुण बातको सुनकर जगदम्बा जानकी रोने लगी । पुनः निर्भय होकर गद्गद कण्ठसे कहने लगीं, यथा—

न मानुषी राक्षसस्य भार्या भवितुमर्हति ।
कामं खादत मां सर्वा न करिष्यामि वो वचः ॥

मानुषी राक्षसकी स्त्री नहीं बन सकती इसलिये सब मिलकर चाहे मुझको खा जाओ परन्तु मैं तुम लोगोंकी बात नहीं कर सकती हूं । इस प्रकार कह कर बहुत व्याकुल होती हुई रोने लगीं । यथा—वा० रा० सु० का० स०२५-

सा राक्षसीमध्यगता सीता सुरसुतोपमा ।
न शर्म लेभे शोकार्त्ता रावणेनेव भर्त्सिता ॥
सा निःश्वसन्ती शोकार्त्ता कोपोपहतचेतना ।
आर्त्ता व्यसृजदश्रूणि मैथिली विललाप च ॥
हा रामेति च दुःखार्त्ता हा पुनर्लक्ष्मणेति च ।
हा श्वश्रूर्मम कौशल्ये हा सुमित्रेति भामिनी ॥
भर्त्तारं तमपश्यन्ती राक्षसीवशमागता ।
सीदामि खलु शोकेन कूलं तोयहतं यथा ॥
जीवितं त्यक्तुमिच्छामि शोकेन महतावृता ।
राक्षसीभिश्च रक्षन्त्या रामो नासाद्यते मया ॥

धिगस्तु खलु मानुष्यं धिगस्तु परवश्यताम् ।
न शक्यं यत् परित्यक्तुमात्मच्छन्देन जीवितम् ॥

देवकन्याके समान सीता राक्षसियोंके मध्यमें बैठी रावणसे कुढ़ाई हुई और शोकसे पीडित होकर सुख नहीं प्राप्त कर सकी। क्रोधसे भरी हुई शोकार्त जानकी निश्वास लेती हुई और नेत्रोंसे लगातार आंसु बहाती हुई विलाप करने लगी। हा राम ! हा लक्ष्मण ! हा सास कौशल्ये ! हा सुमित्रे ! पति रामचन्द्रके विना राक्षसियोंके वशमें आई हुई मैं जल वेगसे ताडित नदीके तटके सदृश क्लेश पा रही हूँ। ये राक्षसी मेरी रखवारी कर रही हैं। मैं रामको पा नहीं सकती हूँ। इसलिये मैं अपने प्राणोंको छोड़ना चाहती हूँ। मनुष्य जीवनको धिक्कार है और पराधीनताको भी धिक्कार है जिसमें अपनी इच्छासे प्राणको भी छोड़ नहीं सकती हूँ।

रोती और इस प्रकार विलाप करती हुई जगदम्बा जानकी नीचे मुँह करके और भी अधिक विलाप करने लगीं, यथा—वा० रा० सु० का० स०२६—

उन्मत्तेव प्रमत्तेव भ्रान्तचित्तेव शोचती ।
उपावृत्ता किशोरीव विचेष्टन्ती महीतले ॥
राघवस्य प्रमत्तस्य रक्षसा कामरूपिणा ।
रावणेन प्रमथ्याहमानीता क्रोशती बलात् ॥
राक्षसीवशमापन्ना भर्त्स्यमाना च दारुणम् ।
चिन्तयन्ती सुदुःखार्ता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥
न हि मे जीवितेनार्थो नैवार्थैर्न च भूषणैः ।
वसन्त्या राक्षसीमध्ये विना रामं महारथम् ॥
अश्मसारमिदं नूनमथवाप्यजरामरम् ।
हृदयं मम येनेदं न दुःखेन विशीर्य्यते ॥
धिङ्मामनार्य्यामसतीं याहं तेन विनाकृता ।
मुहूर्तमपि जीवामि जीवितं पापजीविका ॥
चरणेनापि सव्येन न स्पृशेयं निशाचरम् ।
रावणं किं पुनरहं कामयेयं निशाचरम् ॥

प्रत्याख्यानं न जानाति नात्मानं नात्मनः कुलम् ।
यो नृशंसस्वभावेन मां प्रार्थयितुमिच्छति ॥
छिन्ना भिन्ना प्रभिन्ना वा दीप्ता वाग्नौ प्रदीपिता ।
रावणं नोपतिष्ठेयं किं प्रलापेन वश्चिरम् ॥
ख्यातः प्राज्ञः कृतज्ञश्च सानुक्रोशश्च राघवः ।
सद्वृत्तो निरनुक्रोशः शङ्के मद्भाग्यसंक्षयात् ॥
राक्षसानां जनस्थाने सहस्राणि चतुर्दश ।
एकेनैव निरस्तानि स मां किं नाभिपद्यते ॥
कामं मध्ये समुद्रस्य लङ्केयं दुष्प्रधर्षणा ।
न तु राघवबाणानां गतिरोधो भविष्यति ॥
किं नु तत्कारणं येन रामो दृढपराक्रमः ।
राक्षसापहृतां भार्यामिष्टां यो नाभिपद्यते ॥
अथवा राक्षसेन्द्रेण रावणेन दुरात्मना ।
छद्मना घातितौ शूरौ भ्रातरौ रामलक्ष्मणौ ॥
साहमेवं विधे काले मर्तुमिच्छामि सर्वतः ।
न च मे विहितो मृत्युरस्मिन् दुःखेऽतिवर्तति ॥
धन्याः खलु महात्मानो मुनयः सत्यसम्मताः ।
जितात्मानो महाभागा येषां न स्तः प्रियाप्रिये ॥
प्रियान्न सम्भवेद्दुःखमप्रियादधिकं भवेत् ।
ताभ्यां हि ते वियुज्यन्ते नमस्तेषां महात्मनाम् ॥
साहं त्यक्ता प्रियेणैव रामेण विदितात्मना ।
प्राणांस्त्यक्ष्यामि पापस्य रावणस्य गता वशम् ॥

जिस प्रकार श्रम दूर करनेके लिये घोड़ी पृथ्वी पर लोटने लगती है उसी प्रकार सीता उन्मत्त प्रमत्त और मोहमूर्छित जैसी हो कर भूमिपर लोटती हुई शोक करने लगी। कामरूपी मारीचके द्वारा प्राणपति रामको

मेरे सर्म पसे हटा कर रावणने बहुत विलाप करने पर भी मुझको एकाएक उठा कर ले आया । राक्षसियोंके वशमें आई हुई मैं इस प्रकारकी निन्दा और चिन्तासे सुदुःखिता हो कर जीना नहीं चाहती हूँ। अवश्य यह मेरा हृदय पत्थरके सारभागसे बना हुआ है अथवा अजर अमर है जो ऐसे दुःखमें भी नहीं फटता है। मैं अनार्य्य और असती स्त्री हूं मुझ को धिक्कार है जो मैं रामके विना क्षण भर भी अपने पापमय जीवनको धारण कर रही हूं। मैं वाम चरणसे भी निशाचर रावणको स्पर्श नहीं कर सकती हूं उसके लिये इच्छा करना तो बहुत ही दूरकी बात है। जो रावण अपना आत्मा, अपना कुल और मेरे तिरस्कारका कुछ भी ख्याल नहीं करके अपने दुष्ट स्वभावसे राक्षसियोंके द्वारा मेरे लिये प्रार्थना कराता है काट कूट कर अग्निमें जलाने पर भी मैं रावणके समीप कामभावसे उपस्थित नहीं हो सकती हूं। तुम लोगोंको चिरकाल तक प्रलाप करना व्यर्थ है। मैं समझती हूं कि मेरे दौभार्ग्यसे ही प्रसिद्ध, धीर, कृतज्ञ और दयालु रामचन्द्र भी मुझमें दयाहीन होगये हैं। जिन रामचन्द्रजीने जनस्थानमें चौदह हज़ार राक्षसोंको अकेला मार भगाया था वे मुझको क्यों नहीं प्राप्त हो रहे हैं? यद्यपि यह लङ्का समुद्रके बीचमें होनेके कारण अन्य लोगोंके लिये अत्यन्त दुर्गम है किन्तु रघुनाथजीके बाणोंकी गति नहीं रुक सकती है। परन्तु क्या कारण है कि प्रबल पराक्रमी रामचन्द्र, अपनी प्राणप्रिया मुझको रावणसे चुराई हुई जानकर भी आ नहीं रहे हैं। अथवा हाय ! दुरात्मा रावणने छलसे दोनों भाई राम और लक्ष्मणको मरवा तो नहीं दिया। ऐसे समयमें मैं मरना चाहती हूं। क्या इस प्रकारके घोर दुःखमें मेरा मरना नहीं लिखा है ? ब्रह्मपदको प्राप्त जितेन्द्रिय महाभाग वे, महात्मा निस्सन्देह धन्य हैं जिनको संसारमें प्रिय या अप्रिय कुछ भी नहीं है। प्रियसे भी दुःख होना सम्भव है और अप्रियसे अधिक दुःख होता है इसलिये इन दोनोंसे जो अलग हैं उन महात्माओंको नमस्कार है अर्थात् वे सदा प्रणम्य, पूजनीय और आदरणीय हैं। पापी रावणके वशमें आई हुई मैं प्रिय रामके वियोगमें अपने प्राणोंको अवश्य छोड़ दूंगी। इस प्रकार हृदय दहलानेवाला विलाप यथार्थ सतीके हृदयसे ही निकल सकता है। जिनका प्राण पतिमय है, जिनका आत्मा पतिमें तन्मय है, जिनका हृदय पतिदेवताके चरणारविन्दमें पूजाकी फूल मालाकी तरह लगाया हुआ है ऐसी ही सर्वश्रेष्ठ सती इस प्रकार शुद्ध अन्तःकरणसे पतिके

वियोग दुःखको प्रकट कर सकती है। यही सती सीतामाताके चरित्रमें पातिव्रत्यकी परम उत्तमताका दुर्लभ दृष्टान्त है जो अनन्तकाल तक संसारकी समस्त स्त्रियोंके लिये अपूर्व शिक्षाका आदर्श हो सकेगा।

पातिव्रत्यकी अत्यन्त कठिन रोमाञ्च कर देनेवाली परीक्षा, लङ्कापुरीमें की हुई सीतामाताकी अग्निपरीक्षा है। जिस प्रकार सोनेको शुद्ध जाननेपर भी साधारण जनोंके विश्वासके लिये स्वर्णकार उसे अग्निमें जलाकर उसकी शुद्धताकी परीक्षा कर लेता है ठीक उसी प्रकार सीतासतीको पूर्ण निर्दोष जानने पर भी मर्यादाके रक्षक श्रीरामचन्द्रजीने संसारियोंके विश्वासके लिये लङ्कापुरीमें अग्नि-परीक्षाके द्वारा उनकी शुद्धताकी परम परीक्षा कर ली थी जो समस्त संसारके इतिहासमें एक अद्भुत घटना है। रावणवधके अनन्तर श्रीरामचन्द्रजीने सीताके देखनेकी इच्छा की और तदनुसार विभीषण सीताको रामके समीप ले आये। सीताको देखकर श्रीरामचन्द्रजीने रावणके मारनेसे लोकनिन्दासे बचना और वानरोंसे सहायता प्राप्ति आदि सब बातें कह कर अन्तमें कहा, यथा—रामायणके युद्धकाण्ड ११५ सर्गमेंः—

रक्षता तु मया वृत्तमपवादं च सर्वतः ।
प्रख्यातस्यात्मवंशस्य न्यङ्गं च परिमार्जता ॥
प्राप्तचारित्रसन्देहा मम प्रतिमुखे स्थिता ।
दीपो नेत्रातुरस्येव प्रतिकूलासि मे दृढा ॥
तद्गच्छ त्वानुजानेऽद्य यथेष्टं जनकात्मजे !
एता दश दिशो भद्रे ! कार्य्यमस्ति न मे त्वया ॥
कः पुमांस्तु कुले जातः स्त्रियं परगृहोषिताम् ।
तेजस्वी पुनरादद्यात्सुहृल्लोभेन चेतसा ॥
रावणाङ्कपरिक्लिष्टां दृष्टां दुष्टेन चक्षुषा ।
कथं त्वां पुनरादद्यां कुलं व्यपदिशन्महत् ॥
यदर्थं निर्जिता मे त्वं सोऽयमासादितो मया ।
नास्ति मे त्वय्यभिष्वङ्गो यथेष्टं गम्यतामिति ॥

अपनी स्त्री चुरानेवालेको रामचन्द्र मार नहीं सके, इस अपवादसे बचने और अपने प्रख्यात वंशका कलंक धोनेके लिये ही मैंने लड़ाईका कठिन परि- किया है, हे सीते ! तुम्हारे लिये नहीं। तुम्हारे चरित्रमें तो मुझको सन्देह है, जिस तरह नेत्ररोगीको दीप प्रतिकूल प्रतीत होता है उसी तरह तुम मेरे सामने प्रतिकूल जचती हो। इसलिये हे जनकनन्दिनि ! दश दिशाएँ पड़ी हैं जिधर चाहो उधर चली जाओ, आज यही मेरी आज्ञा है। तुमसे मेरा कुछ प्रयोजन नहीं। उच्चकुलमें उत्पन्न तेजस्वी कौन पुरुष होगा जो दूसरेके घरमें रही हुई स्त्रीको प्रेमके लोभसे ग्रहण करे। तुमको रावणने अपने अङ्कमें बिठाया और अपनी कामभरी, दृष्टिसे देखा इसलिये अपने वंशको उच्च समझता हुआ मैं तुमको कैसे ग्रहण करूँ। मेरे लिये तुम पराधीन हुई थी इसलिये मैं यहां तक आगया, अब तुमसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है, जिधर चाहे उधर चली जाओ। इस प्रकार रामचन्द्रका रोमांच करदेनेवाला और अत्यन्त कठोर वाक्य सुनकर सीता माता बहुत ही दुःखिनी और घोर लज्जिता होती हुई विपुल विलाप करने लगीं, तदनन्तर रामचन्द्रजीकी बातोंका इस प्रकार उत्तर दिया कि पातिव्रत्यकी दृढ़ताके विना कोई साधारण दुर्बल चित्तकी स्त्री इस प्रकार उत्तर देनेका साहस नहीं कर सकती है, जिससे और भी सीताके चित्तकी पूर्ण दृढ़ता और पातिव्रत्यकी अलौकिक महत्ता एवं अन्तःकरणकी अलौकिक पवित्रता झलकती है। यथा—

एवमुक्ता तु वैदेही परुषं रोमहर्षणम् ।
राघवेण सरोषेण श्रुत्वा प्रव्यथिताऽभवत् ॥
सा तदाश्रुतपूर्वं हि जने महति मैथिली ।
श्रुत्वा भर्तुर्वचो घोरं लज्जयावनताऽभवत् ॥
प्रविशन्तीव गात्राणि स्वानि सा जनकात्मजा ।
वाक्शरैस्तैः सशल्येव भृशमश्रूण्यवर्त्तयत् ॥
ततो वाष्पपरिक्लिन्नं प्रमार्जन्ती स्वमाननम् ।
शनैर्गद्गदया वाचा भर्तारमिदमब्रवीत् ॥
किं मामसदृशं वाक्यमीदृशं श्रोत्रदारुणम् ।
रूक्षं श्रावयसे वीर ! प्राकृतः प्राकृतामिव ॥

न तथास्मि महाबाहो ! यथा मामवगच्छसि ।
प्रत्ययं गच्छ मे स्वेन चारित्रेणैव ते शपे ॥
पृथक् स्त्रीणां प्रचारेण जातिं त्वं परिशङ्कसे ।
परित्यजैनां शङ्कां तु यदि तेऽहं परीक्षिता ॥
यदहं गात्रसंस्पर्शं गतास्मि विवशा प्रभो ! ।
कामकारो न मे तत्र दैवं तत्रापराध्यति ॥
मदधीनं तु यत्तन्मे हृदयं त्वयि वर्त्तते ।
पराधीनेषु गात्रेषु किं करिष्याम्यनीश्वरी ॥
सह संवृद्धभावेन संसर्गेण च मानद ।
यदि तेऽहं न विज्ञाता हता तेनास्मि शाश्वतम् ॥
प्रेषितस्ते महावीरो हनुमानवलोककः ।
लङ्कास्थाऽहं त्वया राजन् ! किं तदा न विसर्ज्जिता ॥
प्रत्यक्षं वानरस्यास्य तद्वाक्यसमनन्तरम् ।
त्वया संत्यक्तया वीर ! त्यक्तं स्याज्जीवितं मया ॥
न वृथा ते श्रमोऽयं स्यात्संशयेऽन्यस्य जीवितम् ।
सुहृज्जनपरिक्लेशो न चायं विफलस्तव ॥
त्वया तु नृपशार्दूल ! रोषमेवानुवर्त्तता ।
लघुनेव मनुष्येण स्त्रीत्वमेव पुरस्कृतम् ॥
अपदेशो मे जनकान्नोत्पत्तिर्वसुधातलात् ।
मम वृत्तं च वृत्तज्ञ बहु तेन पुरस्कृतम् ॥
न प्रमाणीकृतः पाणिर्बाल्ये मम निपीडितः ।
मम भक्तिश्च शीलं च सर्वं ते पृष्ठतः कृतम् ॥
इति ब्रुवन्ती रुदती बाष्पगद्गदभाषिणी ।
उवाच लक्ष्मणं सीता दीनं ध्यानपरायणम् ॥
चितां मे कुरु सौमित्रे ! व्यसनस्यास्य भेषजम् ।

मिथ्यापवादोपहता नाहं जीवितुमुत्सहे ॥
अप्रीतेन गुणैर्भर्त्रा त्यक्ताया जनसंसदि ।
या क्षमा मे गतिर्गन्तुं प्रवेक्ष्ये हव्यवाहनम् ॥
एवमुक्तस्तु वैदेह्या लक्ष्मणः परवीरहा ।
अमर्षवशमापन्नो राघवं समुदैक्षत ॥
स विज्ञाय मनश्छन्दं रामस्याकारसूचितम् ।
चितां चकार सौमित्रिर्मते रामस्य वीर्यवान् ॥
न हि रामं तदा कश्चित् कालान्तकयमोपमम् ।
अनुनेतुमथो वक्तुं द्रष्टुं वाप्यशकत् सुहृत् ॥
अधोमुखं स्थितं रामं ततः कृत्वा प्रदक्षिणम् ।
उपावर्तत वैदेही दीप्यमानं हुताशनम् ॥
प्रणम्य दैवतेभ्यश्च ब्राह्मणेभ्यश्च मैथिली ।
बद्धाञ्जलिपुटा चेदमुवाचाग्निसमीपतः ॥
यथा मे हृदयं नित्यं नापसर्पति राघवात् ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥
यथा मां शुद्धचारित्रां दुष्टां जानाति राघवः ।
तथा लोकस्य साक्षी मां सर्वतः पातु पावकः ॥
एव मुक्त्वा तु वैदेही परिक्रम्य हुताशनम् ।
विवेश ज्वलनं दीप्तं निःशङ्केनान्तरात्मना ॥
जनश्च सुमहांस्तत्र बालवृद्धसमाकुलः ।
ददर्श मैथिलीं दीप्तां प्रविशन्तीं हुताशनम् ॥
सा तप्तनवहेमाभा तप्तकाञ्चनभूषणा ।
पपात ज्वलनं दीप्तं सर्वलोकस्य सन्निधौ ॥
ददृशुस्तां महाभागां प्रविशन्तीं हुताशनम् ।
ऋषयो देवगन्धर्वा यज्ञे पूर्णाहुतीमिव ॥

तस्यामग्निं विशन्त्यां तु हाहेति विपुलः स्वनः।
रक्षसां वानराणां च संबभूवाद्भुतोपमः॥

क्रोधसे भरे रामकी ऊपर कही हुई बात सुनकर जानकी परम दुःखिनी और घोर लज्जिता होती हुई वाक्य रूपी शरसे पीड़िता होकर अपने अंगोंमें समाती हुई जैसी दीख पड़ीं और लगातार आसुओंका प्रवाह उनके नेत्रोंसे बहने लगा। अनन्तर अपने मुखके आसुओंको पोंछती हुई गद्गद वाणीसे अपने प्राण पति रामको कहने लगी। हे वीर! आप सामान्य पुरुष जिस तरह सामान्य स्त्रीको कहता है उस प्रकार अनुचित और रूखी बात क्यों सुनाते हैं। हे महाबाहो! आप मुझको जैसा समझते हैं मैं उस प्रकारकी नहीं हूँ, इस बातका विश्वास मैं अपने पातिव्रत्यरूपी चरित्रसे आपको कराऊँगी। पृथक् रहनेके कारण यदि स्त्री जातिके चरित्र पर आप शङ्का करते हैं तो इस शङ्काको आप परीक्षा करके दूर करें। हे प्रभो! जो विवश होकर मैंने पर पुरुषके गात्रका स्पर्श किया है उसमें मेरी इच्छा कारण नहीं है किन्तु उसमें दैवका ही दोष है। अपने वशमें जो मेरा हृदय है वह तो बराबर आपमें ही लगा है, परा-धीन शरीरके लिये मैं क्या कर सकती हूँ। हे मानद! मैं विशेष दुःखिता इस कारण हूँ कि आप सदा साथ रहनेसे बढ़े हुए मेरे अनुरागको भी एका-एक भूल गये। जिस समय मुझको देखनेके लिये हनुमान्को भेजा था उसी समय मुझे लङ्का हीमें क्यों नहीं त्याग कर दिया था। हे वीर!! यदि उस समय त्यागकी बात हनुमान्के द्वारा सुनी होती तो उनके सामने ही मैं अपने प्राणको छोड़ देती जिससे मुझे इतने दिनों तक वियोगका दुःख सहना नहीं पड़ता और अपने जीवनको सङ्कटमें डालकर जो आपने कठिन लड़ाईका परिश्रम उठाया है और आपके मित्रोंको भी जो घोर परिश्रम हुआ है इस व्यर्थ निष्फल कार्यको करना नहीं पड़ता। हे राजेन्द्र! क्रोधके वशमें होकर आपने तो क्षुद्र मनुष्य जैसा मुझको एक साधारण स्त्री समझ लिया है। माता पृथिवीसे मेरी उत्पत्ति हुई है, राजा जनकसे नहीं, मेरा नाम वैदेही है और मेरा चरित्र सर्वथा निर्दोष है, सर्वज्ञ होकर भी इन सब बातोंपर आपने कुछ भी विचार नहीं किया। धर्म्मपत्नीरूपसे जो आपने बाल्यावस्थामें मेरा पाणिग्रहण किया था उसकी भी उपेक्षा की और मेरी भक्ति, शील और सच्चरित्रता आदि सब गुणोंकी आपने अवहेलना की। इस प्रकार बोलती और रोती हुई सीता माताने कण्ठभरी गद्गद् वाणीसे चिन्तित और दुःखी लक्ष्मणको कहा।

हे लक्ष्मण ! मेरे इस दुःखकी औषधिरूप चिताको रचो, मैं इस प्रकार झूठे कलंकसे कलंकिता होकर जीना नहीं चाहती हूँ। जब मेरे भर्त्ताने मेरे गुणोंसे अप्रसन्न होकर लोगोंके सामने मेरा त्याग कर दिया है तो मेरे लिये जो योग्य गति है उस भगवान् अग्नि देवमें प्रवेश करूँगी। इस प्रकार सीता माताके कहने पर शत्रुसंहारकारी लक्ष्मण, दुःखित हृदयसे रामचन्द्रजी की ओर देखने लगे। पराक्रमी लक्ष्मणने आकारके द्वारा रामचन्द्रके मनकी बात समझकर उनकी आज्ञाके अनुरूप चिताको बनाया। उस समय कोई भी मित्र, क्रोधके कारण कालके समान रामको समझाने, कहने या देखनेमें समर्थ नहीं हुआ। अनन्तर नीचे मुख किये हुए रामकी प्रदक्षिणा- करके जानकी प्रज्वलित अग्निदेवके समीप पहुँचीं और देवता तथा ब्राह्मणोंको प्रणाम करके अग्निके समीप हाथ जोड़कर प्रार्थना करने लगीं—"यदि मेरा चित्त कभी भी रामसे विलग न हुआ तो लोकके साक्षीभूत अग्नि मेरी सब प्रकार रक्षा करें। मेरे शुद्ध चरित्रमें पतिदेवने दोष लगाया है यदि सर्वथा मेरा चरित्र शुद्ध हो तो सब लोगोंके साक्षीभूत अग्निदेव मेरी सब तरह रक्षा करें।" सीता देवी इस प्रकार प्रार्थना कर और अग्निदेवकी प्रदक्षिणा करके निर्भय चित्तसे ज्वलन्त अग्निमें प्रवेश कर गईं। आबाल वृद्ध सब लोगोंने अग्निमें प्रवेश करती हुई तेजोमयी जानकीको देखा। सब लोगोंके सामने सुवर्णकी तरह कान्तिको धारण की हुई सीता जलती आगमें कूद पड़ी। ऋषि देव गन्धर्व और मनुष्य सबोंने यज्ञमें पूर्णाहुति जैसी सीताको अग्निमें प्रवेश करती हुई देखा। अग्निमें प्रवेश करती हुई जानकीको देखकर राक्षस और वानरोंने अद्भुत और महान् हाहाकार मचाया।

उस समय रामचन्द्रजीके समीप ब्रह्मा, शिव और इन्द्र वरुण आदि समस्त देवगण सूर्य्य जैसे तेजोमय विमान पर चढ़कर आए और कहने लगे कि हे राम ! आप सम्पूर्ण लोकोंके कर्त्ता धर्त्ता ज्ञानी और सर्वश्रेष्ठ होकर इस प्रकार अग्निमें प्रवेश करती हुई सीताकी उपेक्षा क्यों करते हैं। क्या आपको अपना स्वरूप विदित नहीं है। अनन्तर रामचन्द्रने कहा कि मैं तो अपनेको दशरथजीका पुत्र समझता हूं। हे प्रजापति देव! मैं कौन हूं सो कृपाकर कहिये। इस प्रकारकी रामकी बातको सुनकर ब्रह्माजीने उनके पूर्ण विराट् स्वरूपका वर्णन करके बतलाया, कि आप समस्त लोकोंके कर्त्ता धर्त्ता स्वयं साक्षात् भगवान् हैं। इसका पूर्ण वृत्तान्त पहिले ही लिखा जा चुका है।

ब्रह्माजीकी बात समाप्त होने पर स्वयं अग्निदेवने सीता माताको अपने अङ्कमें रख प्रगट होकर रामको दिया और कहा। यथा—

एतच्छ्रुत्वा शुभं वाक्यं पितामहसमीरितम्।
अङ्केनादाय वैदेहीमुत्पपात विभावसुः॥
विधूयाथ चितां तां तु वैदेहीं हव्यवाहनः।
उत्तस्थौ मूर्तिमानाशु गृहीत्वा जनकात्मजाम्॥
तरुणादित्यसंकाशां तप्तकाञ्चनभूषणाम्।
रक्ताम्बरधरां बालां नीलकुञ्चितमूर्द्धजाम्॥
अक्लिष्टमाल्याभरणां तथारूपामनिन्दिताम्।
ददौ रामाय वैदेहीमङ्के कृत्वा विभावसुः॥
अब्रवीत्तु तदा रामं साक्षी लोकस्य पावकः।
एषा ते राम! वैदेही पापमस्यां न विद्यते॥
नैव वाचा न मनसा नैव बुद्धया न चक्षुषा।
सुवृत्ता वृत्तशौटीर्ये न त्वामत्यचरच्छुभा॥
रावणेनापनीतैषा वीर्य्योत्सिक्तेन रक्षसा।
त्वया विरहिता दीना विवशा निर्जने सती॥
रुद्धा चान्तःपुरे गुप्ता त्वच्चित्ता त्वत्परायणा।
रक्षिता राक्षसीभिश्च घोराभिर्घोरबुद्धिभिः॥
प्रलोभ्यमाना विविधं तर्ज्यमानाच मैथिली।
नाचिन्तयत तद्रक्षस्त्वद्गतेनान्तरात्मना॥
विशुद्धभावां निष्पापां प्रतिगृह्णीष्व मैथिलीम्।
न किञ्चिदभिधातव्या अहमाज्ञापयामि ते॥

ब्रह्माजीका शुभ वाक्य सुनकर अग्निदेव जानकीको अपने गोदमें बिठाकर शरीरधारी हो निकले। उस समय सीता माता तरुण सूर्य जैसे तेजको धारण कर रही थी, उनके आभूषण नये सुवर्ण जैसे थे, लाल वस्त्रको धारण की हुई थीं और उनके सिरपर कृष्ण और कुञ्चित केश सुशोभित थे।

अग्निप्रवेशके समय सीता माताकी जैसी माला आभरण या कान्ति थी उससे प्रगट होने पर भी ठीक उसी प्रकारकी रही, अग्निके द्वारा किसी प्रकारका उनमें विकार प्राप्त नहीं हुआ। उस प्रकारकी अनिन्दित वैदेहीको अङ्कमें करके सर्वलोकसाक्षी अग्निदेवने रामको दिया और कहा हे रामचन्द्र ! यह आपकी सहधर्मिणी सीता है इसमें किसी प्रकारके पापका गन्धतक नहीं है। सच्चरित्र सीताने, कभी भी मन वचन, बुद्धि या नेत्रसे किसी प्रकार भी आपकी उपेक्षा नहीं की है। अहंकारी राक्षस रावणके द्वारा लङ्कामें लाई गई हुई भी सती सीताने आपके वियोगमें दुःखिता दीना और परवशा होकर रावणके अन्तःपुरमें छिपाई गई हुई भी, आपमें ही अपने चित्तको लगाया और अनेक प्रकारके प्रलोभन देने और भयङ्कररूपवाली राक्षसियोंके द्वारा अनेक प्रकारके भय आदि दिखलाने पर भी आपको ही अपने अन्तरात्मासे निरन्तर सोचती रही और राक्षस रावणकी ओर ध्यान तक नहीं दिया। इसलिये जिसका भाव विशुद्ध है और पापका लेशमात्र नहीं है ऐसी जानकीको आप ग्रहण करें और किसी प्रकार इनको अनुचित वात न कहें यही मेरी आज्ञा है।

इस प्रकार अग्निदेवका वाक्य सुनकर रामचन्द्रजीने कहा मैं इस वातको भलीभांति जानता हूं परन्तु संसारकी मर्य्यादामें किसी प्रकारका व्याघात न हो, मुझमें तथा मेरे उच्च वंशमें किसी तरहका कलंक न लगे, संसारमें निन्दाकी दुर्गन्धि न फैले और वलवान् लोकापवादसे मुझे शिर नीचा न करना पड़े इसलिये मैंने कहा था। हे अग्निदेव। अव आपकी आज्ञाके अनुसार मैं इनको ग्रहण करता हूं ऐसा कह कर सीताको ग्रहण किया।

सीता माताके पृथिवीमें प्रवेश करनेके समय जो अलौकिक घटना हुई थी उससे उनकी और भी अपूर्व सच्चरित्रता और पातिव्रत्यमें दृढ़ रहनेका समुज्ज्वल दृष्टान्त मिलता है। रामसे परित्यक्त होकर सीताने अनेक काल तक महर्षि वाल्मीकिके आश्रमपर उनकी संरक्षकतामें निवास किया। वहाँ ही सीताके गर्भसे लव और कुश नामके दो धीर वीर सुपुत्र उत्पन्न हुए। उनके मधुर गानको सुनकर ऋषि देवता गन्धर्व और मनुष्य आदि सव ही मुग्ध हो जाते थे। श्रीरामचन्द्रजी महाराजने वहुत दिनों तक उनके सुमनोहर मधुर गान सुना और यह भी जाना कि ये दोनों बालक सीताके गर्भसे उत्पन्न हैं। अनन्तर रामजीने अपने दूतको महर्षि वाल्मीकिके समीप भेजकर निवेदन किया कि यदि सीता

अपनेको निष्पाप और निष्कलंक समझती है तो मुझको कलंकसे बचाने के लिये ऋषि मुनि देव गन्धर्व ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र आदि जन-समुदायसे भरी हुई सभामें कहकर अपनी शुद्धताका पूर्ण परिचय दे। पश्चात् श्रीरामचन्द्रकी आज्ञासे एक महती सभा की गई जिसमें वशिष्ठ, वामदेव, जावालि, कश्यप, विश्वामित्र और महातपस्वी दुर्वासा आदि महर्षिगण, नारद, पर्वत और गौतम आदि मुनिगण, देव गन्धर्व और मनुष्य आदि सब ही एकत्रित हुए। उनके सामने महामान्य महर्षि वाल्मीकिके साथ नीचे मुख की हुई जानकी आई और उनके विषयमें सबसे प्रथम वाल्मीकिजीने साक्षी देते हुए कहा, यथा—उत्तरकाण्डमें—

> बहुवर्षसहस्राणि तपश्चर्य्या मया कृता ।
> नोपाश्नीयां फलं तस्या दुष्टेयं यदि जानकी ॥
> मनसा कर्मणा वाचा भूतपूर्वं न किल्बिषम् ।
> तस्याहं फलमश्नामि अपापा मैथिली न चेत् ॥

यदि जानकीमें कलङ्क हो तो हजारों वर्ष तक की हुई तपस्याका फल मुझको न मिले। यदि जानकी पापरहित न हो तो मन कर्म्म या वचनसे कभी जो मैंने पाप नहीं किया है उसका फल मुझे भोगना पड़े। इस प्रकार वाल्मीकिजीकी बात सुनकर रामचन्द्रजीने सबके सामने हाथ जोड़कर वाल्मीकि ऋषिको कहा, हे पूज्य महर्षिदेव! आपकी बातोंसे मुझको विश्वास है कि सीतामें किसी तरहका दोष नहीं है, इसका विश्वास देवताओंके समीप इससे पहिले भी एक बार दिलाया जा चुका है परन्तु बलवान् लोकनिन्दाके भयसे मैंने सीताका त्याग किया है इसलिये आप क्षमा करें और सीता पुनः शपथ करके मुझको लोकनिन्दासे रक्षा करे। श्रीरामचन्द्रका अभिप्राय समझकर सीताके शपथ करनेके समय ब्रह्मा आदि देवगण और ऋषि मुनि आदि सबही उपस्थित हुए। सबको आये हुए देखकर सीता माता अपने मुख और नेत्र दोनों ही नीचे करके हाथ जोड़ कर बोलीं। यथा—

> यथाहं राघवादन्यं मनसापि न चिन्तये ।
> तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि ॥
> मनसा कर्मणा वाचा यथा रामं समर्चये ।

तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि ॥
यथैतत्सत्यमुक्तं मे वेद्मि रामात्परं न च ।
तथा मे माधवी देवी विवरं दातुमर्हसि ॥

यदि मैं मनसे भी रामके अतिरिक्त दूसरे किसीका स्मरण नहीं करती हूं यह सत्य हो, यदि मन कर्म्म और वचनसे रामकी पूजा करती हूं यह सत्य हो और यदि यह भी सत्य हो कि रामसे अन्य दूसरेको नहीं जानती हूं तो माता पृथिवी प्रवेश करनेके लिये मुझको मार्ग दें।

सीता माताके इस प्रकार शपथ करने पर दिव्यरत्नोंसे सुशोभित दिव्य देह धारण करनेवालोंसे उठाया हुआ दिव्य सिंहासन पृथिवीसे निकला, उसपर बैठकर जगदम्बा जानकी भूतलमें प्रवेश कर गईं। उस समय चारों ओरसे सीता माताकी जय जयकार ध्वनिसे दश दिशाएँ गूँज उठीं। उस समय किसीको विस्मय, किसीको हर्ष, किसीको विषाद-आदि नाना भावोंसे विह्वल हो कर जगत् विमोहित हो गया।

इस प्रकार सीता माताके पूज्य चरित्रोंपर विचार करनेसे विदित होता है कि सती सीता भगवान्की शक्ति महाविद्याके साक्षात् अंशसे उत्पन्न आर्य्य जातिमें आदर्श स्त्री और पतिव्रताओंमें शिरोमणि हुई हैं। रामावतारमें सीता माताका चरित्र एक अपूर्व महत्तासे भरी हुई अलौकिक घटना है जिससे रामचरित्रकी शोभा असंख्य गुण बढ़ जाती है। यही संसारमें अतुलनीय, समस्त नरनारियोंको शिक्षा देनेवाला आदर्शरूप रामसीताका चरित्र है जिसके श्रवण, पठन तथा अनुकरणसे जगत्के जीवोंको अनायास ही शिवत्वपद प्राप्त हो सकता है।

(कृष्ण-बलरामावतार)

दस अवतारोंमेंसे अष्टम अवतारका नाम बलराम और कृष्णावतार है। इनमेंसे बलराममें अंश कलाका विकाश और कृष्णमें पूर्ण कलाका विकाश हुआ था। यथा-श्रीमद्भागवतके दशम स्कंधके प्रथम अध्यायमें—

वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट् ।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया ॥

श्रीभगवान्के अंशरूप सहस्रमुख अनन्तदेव श्रीभगवान् कृष्णके प्रिय कार्य करनेके लिये बलरामरूपसे पहले ही उत्पन्न होंगे। श्रीकृष्णके विषयमें पहले ही कहा गया है—

"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्।"

और सब अंशावतार हैं, कृष्ण पूर्णावतार होनेसे साक्षात् ईश्वररूप हैं। कलाके विकाशके क्रमसे अंशावतार और पूर्णावतारके स्वरूप तथा कामोंमें भेद पाये जाते हैं। अंशावतारोंमें प्रयोजनके अनुसार भगवान्की शक्ति नौकलासे पन्द्रह कला तक विकाशको प्राप्त होती है और पूर्णावतारमें सोलह कलाका पूर्ण विकाश हो जाता है। अंशावतार और पूर्णावतार दोनोंहीका उदय समष्टिजीवोंके कल्याणके लिये होने पर भी अंशावतार द्वारा अंशरूपसे समयके अनुकूल कल्याण होता है और पूर्णावतारके द्वारा पूर्ण तथा सब समयोंमें उपकार करनेवाला कल्याण होता है। परन्तु पूर्णावतारमें भगवान्की आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक त्रिविध शक्तियोंकी पूर्णता रहने पर भी अंशावतारके कार्यसमूहकी उपकारिता उस देशकालके लिये अधिक आवश्यकीय और उपयोगी हुआ करती है इसी कारण अंशावतारोंकी महिमासे पुराण शास्त्र पूर्ण हैं। इसी कारण दस अवतार तथा चौबीस अवतारोंमें भगवान् कृष्णका नाम न होकर प्रायः बलरामका नाम ही पाया जाता है। अंशावतार परशुराम, बुद्धदेव आदिके द्वारा आंशिक, और उस समयके योग्य कल्याण हुआ था और पूर्णावतार श्रीकृष्णके द्वारा सब जीवोंका जो कल्याण हुआ है वह नित्य पूर्ण और सदा फल देनेवाला कल्याण है। अंशावतारके द्वारा केवल उस समयके अनुकूल कल्याण होनेसे उसमें कभी कभी यह भी हो सकता है कि एक देश और कालमें जो कल्याण करनेवाला हो वही अन्य देश और कालमें अमंगल करने वाला हो जाय और उसके सुधारके लिये दूसरे अवतारका प्रयोजन हो। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि अंशावतार परशुरामने संसारको क्षत्रियविहीन करके उस थोड़े समयके लिये भले ही हित किया था, किन्तु आगेके समयोंके लिये उस प्रकार क्षत्रियोंका नाशरूपी कार्य संसारके लिये अनिष्ट करनेवाला होगया था। इसलिये श्रीभगवान्को रामावतार धारण करके आगेके समयोंके लिये उस अमंगलका निवारण करना पड़ा था; उसी प्रकारसे अंशावतार बुद्धदेवजीने ईश्वर और वेदका खण्डन करके अहिंसाके प्रचारके द्वारा जो समष्टिजीवका कल्याण किया था वह केवल उसी समयके थोड़े देश और कालके लिये था। परन्तु आगेके समयोंमें वेद और ईश्वरका खण्डन अत्यन्त अमंगल करनेवाला होजाने पर फिर भी श्रीभगवान् शिवको शङ्कराचार्य रूपमें प्रगट होकर वेद और यज्ञका

मण्डन करना पड़ा और अमंगल करनेवाले बौद्धोंको भारतवर्षसे निकाल देना पड़ा। परन्तु श्रीभगवान्के पूर्णावतार कृष्णके द्वारा जो कल्याण किया गया था वह उस प्रकार उसी थोड़े समयके लिये कल्याण नहीं था। वह कल्याण सब देशमें, सब कालमें सभी जीवोंके लिये था। यही अंशावतारके साथ पूर्णावतारके कामोंमें भेद है। अंशावतारमें अंशकलाका विकाश रहनेसे उनके सभी काम किसी एक भावकी प्रधानताको लेकर होते हैं। परन्तु पूर्णावतार सब भावके परे होनेसे उनके कामोंमें किसी भी भावका अवलम्बन नहीं होता है। इसमें और भी विशेषता यह रहती है कि अंशावतारमें एक भावकी प्रधानता रहनेसे दूसरे भाव तथा कभी कभी ज्ञानविचार आदिकी गौणता हो जाती है। परन्तु पूर्णावतार भावके बाहर होनेसे उनमें आवश्यकताके अनुसार और प्रकृतिकी प्रेरणाके अनुसार सभी भाव आजाते हैं और ज्ञानविचारमें कोई भी कमी नहीं रहती है। दृष्टान्तरूपसे समझ सकते हैं कि श्रीरामचन्द्रमें अंश कलाका विकाश रहनेसे उनके सभी कार्य केवल मर्यादाके भावकी प्रधानताको लेकर होते थे और उस मर्यादाके भावकी रक्षाके लिये ज्ञानविकाश भी कभी कभी गौण होजाता था जैसाकि सीतादेवीको ठीक निर्दोष जानने पर भी उन्होंने केवल लोकमर्यादाकी रक्षाके लिये वनवास दिया था और ज्ञानविचारको गौण करके वाल्मीकि महर्षिके आग्रह करने पर भी लेनेको अस्वीकार किया था। उसी प्रकार अंशावतार बुद्धदेवने भी अहिंसा भावकी प्रतिष्ठाके लिये ज्ञानविचारको गौण करके आस्तिकताका भी त्याग कर दिया था। और योग्य अयोग्य स्त्री पुरुष सभीको गृहत्यागी संन्यासी बनाने लग गये थे। परन्तु पूर्णावतारके काममें इस प्रकार किसी एक भावका पक्षपात नहीं पाया जाता है। वे भावराज्यके बाहर होनेसे केवल संसारके कल्याण करनेकी बुद्धिसे प्रेरित होकर सभी भावके काम करनेमें लग जाते हैं। उनके जीवनमें लौकिक भाव या अभाव, धर्म या अधर्म, कार्य या अकार्य, पुण्य या पाप, सत्य या असत्य किसीका भी पक्षपात नहीं रहता है। वे सभी भावोंमें रमजाने पर भी किसी भावमें बाँधे नहीं जाते हैं। उनकी भावातीत पूर्णस्थितिमें लौकिक परस्पर विरोधी सभी भाव समुद्रमें नदियोंकी तरह लय होजाते हैं। और केवल संसारके कल्याणमूलक पूर्णज्ञानका विचार उनकी क्रियाओंमें रहता है। यही भावराज्यमें अंशावतारके कामोंके साथ पूर्णावतारके कार्य्यसमूहका भेद है। अंशावतारमें अंशकलाका विकाश होनेसे उनमें कभी कभी

किसी किसी भावका उन्माद भी हो सकता है। और उसी उन्मादके कारण दूसरे भावोंको वह अवतार तुच्छ दृष्टिसे भी देख सकता है। परन्तु पूर्णावतार भावके अतीत होनेसे उनमें सब भावोंकी समता और किसी भी भावका उन्माद नहीं रहता है। वे आवश्यकताके अनुसार सभी भावसे काम लेते हैं और किसी पर भी चित्तका अभिमान नहीं रखते हैं। श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्दरूप हैं। इसलिये पूर्णावतारमें इन तीनों सत्ताओंका पूर्ण विकाश होनेके कारण पूर्णावतारके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञान तीनोंकी लीला पूर्णरूपसे देखनेमें आती है। और उनमें इन तीनोंकी समता भी रहती है। परन्तु अंशावतारमें अंशकलाके विकाशके कारण कर्म्म उपासना और ज्ञानकी लीला पूर्णरूपसे विकाशको प्राप्त नहीं होती है। अंशावतारोंमेंसे किसीमें कर्मका प्राधान्य, किसीमें उपासनाका और किसीमें ज्ञानका प्राधान्य देखनेमें आता है। वामनावतारमें ज्ञानका प्राधान्य था, परन्तु परशुराम अवतारमें इतना नहीं था। यह ज्ञानके अप्राधान्यका ही कारण है कि परशुरामजी श्रीरामचन्द्रको देखकर भी पहचान न सके और उद्दण्डताके साथ उनसे लड़नेमें प्रवृत्त हो गये थे। ज्ञान, कर्म और उपासनामें सामञ्जस्य न रहनेके कारण ही श्रीरामचन्द्र आत्माको भूल कर साधारण जनोंकी तरह अनेक कार्य्य करते थे और बुद्धदेवने आस्तिकताके विरुद्ध अनेक कार्य किये। आत्मतत्त्व नामक प्रबन्धमें प्रमाणित किया जा चुका है कि ईश्वरमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों शक्तियोंका पूर्ण समावेश रहता है। इसलिये पूर्णावतारमें भी ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों शक्तियोंका पूर्णविकाश रहता है। परन्तु अंशावतारमें अंशकलाका विकाश रहनेसे इन दोनों शक्तियोंकी पूर्णता नहीं हो सकती है। यथा—रामावतारमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंका विशेष विकाश था परन्तु किसीका भी पूर्ण विकाश नहीं था। नृसिंह और वामनावतारमें ऐश्वर्यका विशेष विकाश था और माधुर्यका कम विकाश था। बुद्धावतारमें माधुर्यका विशेष विकाश था परन्तु ऐश्वर्यका कम विकाश था। परशुराममें ऐश्वर्यका विशेष विकाश था परन्तु माधुर्यका नाममात्रका विकाश था। पूर्णावतारमें स्वरूपका पूर्ण विकाश होनेके कारण उनमें प्रकृति छिप जाती है और छिपी प्रकृति तमोमयी होनेके कारण पूर्णावतार कृष्णवर्ण होते हैं। अंशावतारके साथ प्रकृतिका प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहनेके कारण उसी विकाशके क्रमके अनुसार अंशावतारमें अलग अलग वर्ण होते हैं और कोई भी कृष्णवर्ण नहीं होते हैं

प्राकृतिक समता ही सौन्दर्यका लक्षण है । जिस पुरुष या स्त्रीमें अङ्ग प्रत्यङ्गकी जितनी समता (Symmetry) होती है, वे उतने ही सुन्दर दिखते हैं । उसी प्रकार मानसिक विरुद्ध वृत्तियोंकी समता द्वारा मनकी सुन्दरता और आत्माके विविधभावोंकी समता द्वारा आत्माकी सुन्दरता प्रकाशित होती है । पूर्णावतारमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक त्रिविध पूर्णता होनेसे उनमें स्थूल शरीरके अङ्गप्रत्यङ्गोंकी पूर्ण समता, मानसिक वृत्तियोंकी पूर्णसमता, तथा आत्मसम्बन्धीय भावोंकी पूर्ण समता होना विज्ञानानुकूल और अवश्यम्भावी है । इसलिये पूर्णावतारका स्थूल शरीर पूर्णसुन्दर, मन पूर्ण सुन्दर और आत्मा पूर्ण सुन्दर होते हैं । अंशावतारमें कलाभेदानुसार इन त्रिविध सुन्दरताओंका तारतम्य होता है । अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव भगवान्के हैं । श्रीभगवान् इन तीनोंकी पूर्णतासे पूर्ण हैं । इस लिये उनके पूर्णावतारमें भी इन तीनोंका पूर्णविकाश होना स्वाभाविक है । आधिभौतिक पूर्णता होनेसे सौन्दर्य और ब्रह्मचर्यकी पूर्णता, आधिदैविक पूर्णता होनेसे शक्ति और ऐश्वर्यकी पूर्णता और आध्यात्मिक पूर्णता होनेसे ज्ञानकी पूर्णता होना पूर्णावतारमें स्वतःसिद्ध हैं । अंशावतारमें कलाविकाशके तारतम्यानुसार उक्त त्रिविध भावोंके विकाशमें भी तारतम्य रहेगा । यही कारण है कि पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्र अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत तीनों भावोंसे पूर्ण थे जैसा कि 'पुराण नामक प्रवन्धमें पहलेही बताया गया है और अन्यान्य अवतारोंमें इन भावोंके विकाशका तारतम्य था । यही सब पूर्णावतार और अंशावतारके स्वरूप तथा लीलामें विकाशप्राप्त हुए भेद हैं ।

अब पूर्णावतार श्रीकृष्णके प्रगट होनेका कारण बताया जाता है । अग्निपुराणमें लिखा है । यथा—

यदोः कुले यादवाश्च वासुदेवस्तदुत्तमः ।
भुवो भारावतारार्थं देवक्यां वसुदेवतः ॥

यदुवंशमें जो यादवगण उत्पन्न हुए थे उनमेंसे वासुदेव श्रीकृष्ण प्रधान थे । वसुदेव और देवकीके द्वारा उनका जन्म हुआ था । पृथिवीके भारहरणके लिये ही उनका अवतार हुआ था । अवतारकी उत्पत्तिके विज्ञानके प्रसङ्गमें यह बात पहले ही बताई गई है कि श्रीकृष्ण और बलरामके अवतारके पहले पृथिवी किस प्रकार असुरभारसे

पीड़ित होगई थी और गौका रूप धारण करके रोती रोती ब्रह्माजीकी शरण ली थी और ब्रह्मा आदि देवताओंने भी श्रीभगवान् विष्णुकी शरण ली थी। उस समय एक ओर तो कंस, जरासन्ध आदि प्रबल असुरोंके अत्याचारसे संसार अत्यन्त पीड़ित हो रहा था, संसारसे भगवान्का नाम लोप हो रहा था, धर्मकी धारा एक बार ही नष्ट हो चली थी और दूसरी ओर दुर्योधन आदि कौरव राजाओंके पापाचरणसे राजा और प्रजा दोनोंहीमें भयंकर रूपसे पापकी वृद्धि हो रही थी। यह बात पहले ही कही गई है कि सनकादि मुनियोंके शापवश जय और विजय नामके विष्णु भगवान्के दो द्वारपाल विष्णुलोकसे पतित हो गये थे और उनको यह वर मिला था कि यदि विष्णुके साथ शत्रुताका आचरण करेंगे तो तीन जन्ममें उनकी मुक्ति होगी। इसके अनुसार जय और विजयका प्रथम जन्म हिरण्याक्ष और हिरण्यकशिपुरूपमें हुआ था जिनको वाराहावतार और नृसिंहावतारमें श्रीभगवान्ने मार दिया था। उनका दूसरा जन्म रावण और कुम्भकर्णरूपमें हुआ था जिनको श्रीरामावतारमें भगवान्ने मार दिया था। उनका तृतीय जन्म शिशुपाल और दन्तवक्रके रूपमें हुआ था जिनको श्रीकृष्णावतारमें भगवान्ने मार दिया था। इसीलिये कृष्णावतारके पहले शिशुपाल और दन्तवक्र नामक असुरोंके अत्याचारसे भी पृथिवी उत्पीड़िता हो उठी थी। इसके सिवाय अघासुर, बकासुर, धेनुकासुर, गर्दभासुर, अरिष्ट, वृषभ, केशी, प्रलम्ब, चाणूर, तृणावर्त्त, मुष्टिक, नरकासुर, पञ्चजन, कालयवन, शम्बर, बाण आदि कितने ही असुर उस समय उत्पन्न होगये थे जिनके पापाचरण और अत्याचारसे पृथिवी बहुत ही दुःखिता होगई थी और संसारमें धर्मका एक बार ही लोप हो चला था। अतः इन सब असुरोंके पापके बड़े बोझसे पृथिवीको बचानेके लिये और पापको नाश करके समयके योग्य धर्मकी धाराको प्रवाहित करनेके लिये पूर्णकलामें श्रीकृष्णका और अंशकलामें बलरामका अवतार हुआ था। धर्मकी व्यवस्था कितनी गिर गई थी सो इसीसे समझ सकते हैं कि तुरन्त उत्पन्न बालकको मारनेमें, अपनी सहोदर बहिन और बहनोईको अन्यायरूपसे कैद करके लगातार उनकी सन्तानोंको जन्म लेते ही मार देनेमें और अपने पिता उग्रसेनको भी कैद करनेमें दुरात्मा कंसको कोई भी सङ्कोच नहीं था। आज हिन्दुसमाज इतना गिर गया है तौभी अपनी रजस्वला एकवस्त्रा भौजाईको भरी हुई सभाके बीचमें नग्न करनेकी पाप इच्छा कभी भाईके हृदयमें आज भी नहीं उत्पन्न हो

सकती है। परन्तु जहां पर रजस्वला द्रौपदी भरी सभाके बीचमें नग्न की जाय और भीष्म पितामह जैसे महात्मा उसको देखते रहें और एक शब्द उनसे न कहा जाय, वहांपर समाजकी दशा कितनी शोचनीय होगई थी इसको विचारवान् मनुष्य मात्र ही समझ सकते हैं। जहां पर बालब्रह्मचारी भीष्म पितामह-की बुद्धिपर भी अज्ञानका मेघ घिर जाय और द्रोण आदि सात रथी एकाकी अस्त्र शस्त्रसे रहित असहाय अभिमन्युको डरपोकको तरह मार कर भी अपनी बीरता समझें, वहां पर क्षत्रिय धर्म कितना नष्ट होगया था यह सभी अनुमान कर सकते हैं। पिताकी सम्पत्तिके आधा अंश प्राप्त करनेका अधिकार पाण्डवों को अवश्य था। और बड़े भाईके पुत्र होनेसे धर्मतः युधिष्ठिरको ही राज्यका अधिकार था। परन्तु राज्य देना तो दूर रहा जुआमें हरा करके कितने वर्षों तक पाण्डवोंको कौरवोंने जङ्गलमें घुमाया और संसारमें ऐसा कोई अन्यायका बर्ताव नहीं है जो उनके साथ नहीं किया गया और बारह वर्ष वनवास तथा एक वर्ष अज्ञातवासके अनन्तर जब पाण्डवोंने आधी सम्पत्ति मांगी तो दुष्ट दुर्योधनने अस्वीकार कर दिया। फिर भी पांच ग्राम जब श्रीकृष्णजीने उनके लिये मांगे तब भी अस्वीकार कर दिया और दुर्योधनने कहा—

सूच्यग्रेण सुतीक्ष्णेन भिद्यते या च मेदिनी।
तदर्द्धं नैव दास्यामि विना युद्धेन केशव ॥

एक सूईके आगे जितनी भूमि आती है उसका भी आधा भाग युद्ध किये विना नहीं मिलेगा और केवल इतना ही नहीं, घमण्डी दुर्योधनने, जिनके चरण-कमलोंके आश्रयसे जीव संसारके बन्धनसे मुक्त होता है, उसी श्रीकृष्णचन्द्रको बांधनेकी आज्ञा दी। इससे सभी लोग समझ सकते हैं कि कृष्णावतारके पहले संसारमें कितना पाप बढ़ गया था। इन्हीं पापियोंका नाश करके पृथ्वीका पापभार दूर करके धर्मकी धाराकी वृद्धिके लिये ही पूर्णकलामें श्रीभगवान्‌का अवतार हुआ था। गुरु सबके पूज्य होते हैं, शिष्य पर उनका ममत्व होता है, परन्तु जहाँ पर गुरु शिष्यका तथा शिष्यपुत्रका प्राण विनाश करें और गुरुपुत्र अश्वत्थामा नींदकी अवस्थामें शिष्यपुत्रोंका प्राणविनाश करनेमें संकोच न करें वहां पर कितना पाप बढ गया था इसको सभी लोग अनुभव कर सकते हैं। आर्यशास्त्रके सिद्धान्तके अनुसार बालककी हत्याके समान पाप नहीं है और निद्रित अवस्थामें मनुष्यकी बात ही क्या, वृक्षपर चोट लगाना भी पाप है, परन्तु द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाने निद्रित अवस्थामें ही द्रौपदीके पांच

बालकोंका प्राण विनाश कर दिया था और गर्भमें ही परीक्षितको मार डालने-के लिये उत्तराके गर्भमें ऐषीकास्त्रका प्रयोग किया था। ऐसे ऐसे भयङ्कर पाप द्वापर और कलिके सन्धिकालमें भारतवर्षमें फैल गये थे। और और अवतार जिस कालमें प्रकट हुए थे उस समय केवल कलावताररूपमें भगवान् उस समयके विघ्नोंको दूर करनेमें समर्थ हुए थे। परन्तु द्वापर युगका अन्त और कलि-युगका प्रारम्भ रूप सन्धिका समय इतना भयानक हो गया था कि उस समय श्रीबलराम अवतार कलारूपसे प्रकट होने पर भी पूरा कार्य न होते हुए देखकर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके रूपमें सोलह कलाओंसे युक्त पूर्णावतारके प्रकट होनेकी भी आवश्यकता हुई थी। सत्त्वगुणसे तमोगुणका प्रभाव जब बढ़ जाता है, धर्मका स्रोत घट कर अधर्मका प्रवाह जब अधिक रूपसे प्रवा-हित होता है, दैवीशक्तिसे आसुरीशक्तिकी जब प्रबलता देखनेमें आती है तभी भगवान्को अवताररूपसे प्रकट होनेकी आवश्यकता होती है। परन्तु यह साधारण नियम है। ऐसे साधारण नियमके अनुसार श्रीभगवान्के कलावतार अपने नौसे पन्द्रह तककी कलाओंको धारण करके तमके विनाश द्वारा सत्त्वका विकाश, धर्मके स्थापन द्वारा अधर्मका नाश और आसुरी शक्तिके पराजय द्वारा दैवीशक्तिकी स्थापना किया करते हैं। परन्तु यह द्वापर और कलियुगकी सन्धिका समय इतना विकट था कि जिस समयके सुधारने के लिये एक कलावतारके साथ पूर्णावतारके प्रगट होनेकी आवश्यकता हुई थी। इस कालके विकट होनेका साधारण लक्षण ऊपर कहा गया है। परन्तु सूक्ष्म विचार द्वारा और भी कहा जा सकता है। उस समय तमके द्वारा सत्त्व-गुण किस प्रकारसे ढक गया था और अधर्मके द्वारा धर्मकी मर्यादा किस प्रकारसे दबाई गई थी इसके उदाहरण ऊपर देही चुके हैं। अब संक्षेप रूपसे उस कालकी अत्यन्त ही अधिक भयंकरताके विषयमें इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि उस समय जो देवताओंके अवतार उत्पन्न हुए थे, यथा–वसुके अवतार भीष्मदेव, सूर्यके अवतार कर्ण इत्यादि वे भी कालकी करालताके कारण असुर अवतार दुर्योधन आदिके घोर पक्षपाती बन गये थे और इनकी असावधानता से तथा असुरावतारोंके अत्याचारसे कर्म, उपासना और ज्ञान काण्ड तीनोंमें ही हेरफेर उत्पन्न होगया था। यही सब अंशावतारके साथ श्रीभगवान्-के पूर्णकलामें प्रकट होनेका संक्षेप रहस्य है। इसीलिये कौरवोंके पिता अन्ध धृतराष्ट्रने अपने वंशके नाशके विषयमें सञ्जयको भविष्यद्वाणी सुनाई थी।

यथा—महाभारतमें—

यदाश्रौषं द्रौपदीमश्रुकण्ठीं सभां नीतां दुःखितामेकवस्त्राम् ।
रजस्वलां नाथवतीमनाथवत् तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥
यदाश्रौषं वाससां तत्र राशिं समाक्षिपत् कितवो मन्दबुद्धिः ।
दुःशासनो गतवानैव चान्तं तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥
यदाश्रौषं लोकहिताय कृष्णं शमार्थिनमुपयान्तं कुरूणाम् ।
शमं कुर्वाणमकृतार्थञ्च यातं तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥
यदाश्रौषं कर्णदुर्योधनाभ्यां बुद्धिं कृतां निग्रहे केशवस्य ।
तञ्चात्मानं बहुधा दर्शयानं तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥
यदाभिमन्युं परिवार्य बालं सर्वे हत्वा हृष्टरूपा बभूवुः ।
महारथाः पार्थमशक्नुवन्तस्तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥
यदाश्रौषं द्रोणपुत्रादिभिस्तैर्हतान् पाञ्चालान् द्रौपदेयांश्च सुप्तान् ।
कृतं बीभत्समयशस्यञ्च कर्म तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥
यदाश्रौषं भीमसेनानुयातेनाश्वत्थाम्ना परमास्त्रं प्रयुक्तम् ।
क्रुद्धेनैषीकमवधीद्येन गर्भं तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय ॥

धृतराष्ट्रने कहा—"हे सञ्जय! जब मैंने सुना कि अत्यन्त रोती हुई एकवस्त्रा, दुःखिता, रजस्वला, सनाथा द्रौपदी अनाथाकी तरह सभाके बीचमें बलात्कारके साथ खींच कर लाई गई है, उसी समय मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी। जिस समय मैंने सुना कि दुर्बुद्धि धूर्त्त महापापी दुःशासन सभाके बीचमें द्रौपदीके अङ्गसे वस्त्र खींच रहा है, परन्तु वस्त्र बढ़ता ही जाता है, समाप्त नहीं होता है और न दुशासन ही मरता है तभी मैंने विजय की आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना कि भगवान् श्रीकृष्ण लोककल्याणके लिये मेल करानेका प्रस्ताव करनेको दुर्योधनके पास आकर विफलमनोरथ होगये हैं और कर्ण तथा दुर्योधनके उनको बांधनेकी चेष्टा करने पर वे विश्वरूप को दिखलाकर सबको मूर्च्छित करके चले गये हैं तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना कि सप्तमहारथियोंने अर्जुनको मारनेमें असमर्थ होकर सुकुमार स्नेहके पात्र बालक अभिमन्युको निरस्त्र असहाय रूपसे निष्ठु-

रताके साथ मारकर पापहृदयमें सन्तोष प्राप्त किया है तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना कि अश्वत्थामा आदि कुछ पुरुषोंने इकट्ठे होकर रात्रिको निद्रित पाञ्चालगण तथा द्रौपदीके साथ सोये हुए उसके पांच पुत्रोंको मारकर अत्यन्त घृणित, निन्दनीय और बीभत्स कार्य किया है, तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी। जब मैंने सुना कि महापराक्रमी भीमने पुत्रोंकी मृत्युसे क्रुद्ध होकर द्रोणके पुत्र अश्वत्थामाका पीछा किया है और अश्वत्थामाने मन्त्रसे पवित्रित ऐषीक नामके अस्त्रको फेंककर अभिमन्युकी स्त्री उत्तराके गर्भको नाश करनेका प्रयत्न किया है, तभीमैंने विजय पानेकी आशा छोड़ दी थी।" इस प्रकारसे दूरदर्शी राजा धृतराष्ट्रने अपने वंशमें होनेवाले पुत्रोंके महापापके कारण कौरववंशनाशकी आशङ्का की थी और इन्हीं महापापोंके भारसे पीड़ित पृथिवीके उद्धारके लियेही श्रीभगवान्का पूर्णकलामें अवतार हुआ था। इस विषयको महाराज धृतराष्ट्र भी जानते थे और इसीलिये ऊपर लिखी भविष्यत् चिन्ताओंके साथ उन्होंने सञ्जयको यह भी कहा था। यथा–महाभारतमें—

यदाश्रौषं माधवं वासुदेवं सर्वात्मना पाण्डवार्थे निविष्टम्।
यस्येमां गां विक्रममेकमाहुस्तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय॥
यदाश्रौषं नरनारायणौ तौ कृष्णार्जुनौ वदतो नारदस्य।
अहं द्रष्टा ब्रह्मलोके च सम्यक् तदा नाशंसे विजयाय सञ्जय॥

"जब मैंने सुना कि वामनावतारके समय पृथिवीको जिन्होंने एक पदमें अधिकार किया था, वही वासुदेव भगवान् श्रीकृष्ण सब प्रकारसे पाण्डवोंका हितसाधन कर रहे हैं तभी मैंने विजयकी आशा छोड़ दी थी। जब मैंने नारदके मुखसे सुना कि कृष्ण और अर्जुन नारायण और नरके अवतार हैं और उनको देवर्षि नारदजीने ब्रह्मलोकमें देखा है तभी मैंने विजयकी आशा परित्याग कर दी थी।" यही सब श्रीभगवान्का पूर्णावतार और अनन्तदेवका बलरामरूपमें उनकी सहायताके लिये अवतार धारण करनेका गूढ़ रहस्य है।

श्रीकृष्ण और बलरामके जन्मके विषयमें श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें लिखा है—

सप्तमो वैष्णवं धाम यमनन्तं प्रचक्षते।
गर्भो बभूव देवक्या हर्षशोकविवर्द्धनः॥

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत्॥
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् सन्निकृष्य रोहिण्या उदरे सन्निवेशय॥
अथाऽहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्दपत्न्यां भविष्यसि॥

देवकीके गर्भसे उत्पन्न छः पुत्रोंको मार देनेके बाद सप्तम गर्भमें अनन्तावतार बलराम उत्पन्न हुए। परंतु कंसके द्वारा भय जानकर श्रीभगवान्ने महामायाको आज्ञा की—"देवि! तुम व्रजमें जाओ और देवकीके इस गर्भको खींच करके रोहिणीके गर्भमें स्थापन करो। यही बलरामरूपमें उत्पन्न होगा। मैं देवकीके आठवें गर्भमें उत्पन्न हूंगा और तुम यशोदाके गर्भसे उत्पन्न होगी।" इस नियमके अनुसार देवकीके सप्तम गर्भसे बलरामका जन्म व्रजमें रोहिणीके द्वारा हुआ था, अष्टम गर्भसे श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रका जन्म हुआ था और उसी समय महामाया स्त्रीरूपमें नन्दकी स्त्री यशोदाके गर्भमें उत्पन्न हुई थीं। श्रीकृष्णके जन्मके विषयमें श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें लिखा है:—

ततो जगन्मङ्गलमच्युतांशं
समाहितं शूरसुतेन देवी।
दधार सर्वात्मकमात्मभूतं
काष्ठा यथानन्दकरं मनस्तः॥
सा देवकी सर्वजगन्निवास-
निवासभूता नितरां न रेजे।
भोजेन्द्रगेहेऽग्निशिखेव रुद्धा
सरस्वती ज्ञानखले यथा सती॥

महामायाको यशोदाके गर्भमें उत्पन्न होनेको कहकर श्रीभगवान् देवकीके गर्भमें प्रविष्ट होगये। जिस प्रकार पूर्वदिशा पूर्णचन्द्रको धारण करके प्रसन्न होती है, उसी प्रकार मङ्गलमय, अशेष विभूतियोंसे युक्त सर्वजीवोंके

आत्मास्वरूप श्रीभगवान्‌को गर्भमें धारण करके माता देवकी सुशोभित होने लगी। इस प्रकारसे सर्वजगन्निवास परमपुरुषको गर्भमें धारण करनेपर भी कंसके कारागारमें बँधे रहनेके कारण माता देवकीकी शोभाको संसार नहीं देख सका। केवल माता देवकी ही उसको अनुभव करने लगी। भोजराजके कारागारमें मानों अग्निशिखा छिपी रही। धूर्त पण्डितके पेटमें मानों सरस्वती बँधी रही। तदनन्तर काल पूर्ण होनेपर—

देवक्यां देवरूपिण्यां विष्णुः सर्वगुहाशयः ।
आविरासीद्यथा प्राच्यां दिशीन्दुरिव पुष्कलः ॥

तमद्भुतं बालकमम्बुजेक्षणं
चतुर्भुजं शङ्खगदाद्युदायुधम् ।
श्रीवत्सलक्ष्मं गलशोभिकौस्तुभं
पीताम्बरं सान्द्रपयोदसौभगम् ॥
महार्हवैदूर्यकिरीटकुण्डल-
त्विषा परिष्वक्तसहस्रकुन्तलम् ।
उद्दामकाञ्च्यङ्गदकङ्कणादिभि-
र्विरोचमानं वसुदेव ऐक्षत ॥

भादोंमासके कृष्ण पक्षकी अष्टमी तिथीको आधीरातके समय जिनमें सब जीवोंका निवास है ऐसे श्रीविष्णु जिस प्रकार पूर्व दिशामें चन्द्रमाका उदय होता है उसी प्रकार देवीरूपिणी देवकीके गर्भसे प्रकट हो गये। कमललोचन, चतुर्भुज, शङ्ख चक्र गदा पद्मधारी, श्रीवत्सचिन्हसे युक्त, कण्ठमें कौस्तुभ भूषित, पीताम्बर, मेघवर्ण, वैदूर्यमणिसे सुशोभित, किरीट कुण्डलकी ज्योतिसे प्रकाशमान बहुत घुंघरूवाले केश धारण किये हुए, करधनी, बिजावट और वलय आदि गहनोंसे परम शोभायमान उस अद्भुत बालक भगवान्‌को वसुदेवजीने देखा और देखकर स्तोत्रपाठ किया। तदनन्तर माता देवकीने भी श्रीभगवान्‌की स्तुति की। वसुदेव देवकीके स्तुतिपाठके अनन्तर श्रीभगवान्‌ने उन दोनोंको पूर्वजन्मका वृत्तान्त स्मरण कराया कि किस प्रकारसे उन दोनोंने पूर्वजन्ममें घोर तप किया था और श्रीभगवान्‌के प्रसन्न हो जाने पर उन दोनोंने यही वर मांगा था कि श्रीभगवान् जैसे पुत्र उनको प्राप्त हो जाँय। उनके जैसे तो वे ही हैं

ऐसा सोच कर उन्होंने कृष्णावतारमें वसुदेव और देवकीके पुत्ररूपमें उत्पन्न होना स्वीकार किया था। उसी बातका इस समय उन्होंने वसुदेव देवकीको स्मरण दिलाया और पश्चात् कहा—

एतद्वां दर्शितं रूपं प्राग्जन्मस्मरणाय मे ।
नान्यथा मद्भवं ज्ञानं मर्त्यलिङ्गेन जायते ॥
युवां मां पुत्रभावेन ब्रह्मभावेन चासकृत् ।
चिन्तयन्तौ कृतस्नेहौ यास्येथे मद्गतिं पराम् ॥

पूर्वजन्मके स्मरणके लिये मैंने यह अपना स्वरूप बताया क्योंकि ऐसा किये विना लौकिक जीव मुझे पहचान नहीं सकता। आप दोनों मुझे पुत्र-भाव और ब्रह्मभाव दोनों भावोंसे स्मरण तथा मेरे पर प्रेम करके उत्तम ब्रह्मगतिको प्राप्त कर सकेंगे। इतना कह कर श्रीभगवान्‌ने निजरूपको छिपा कर लौकिक शिशुका रूप धारण कर लिया। तदनन्तर श्रीभगवान्‌के बतलाये हुए निर्देशके अनुसार वसुदेव उस शिशुको कोखमें लेकर नन्दगोपके गृहकी ओर चले और यमुना पार होकर नन्दके गृहमें जहाँ पर यशोदा सोई हुई थी वहाँ उस बालकको रख दिया और उसी समय यशोदाके गर्भसे उत्पन्न बालिकारूप महामायाको गोदमें उठा कर घर पर ले आये। प्रातःकाल होते ही पूर्व नियम-के अनुसार पापी कंसने उस लड़कीको देवकीके गोदसे छीन लिया और पत्थर पर पटक दिया। उस समय महामाया कंसके हाथसे निकल कर आकाशमें चली गई और कह गयी—

किं मया हतया मन्द जातः खलु तवान्तकृत् ।
यत्र क्व वा पूर्वशत्रुर्मा हिंसीः कृपणान् वृथा ॥

रे मन्दबुद्धि, मुझे मारनेसे क्या फल है? तेरा नाश करनेवाला उत्पन्न हो गया है। तूने वृथा ही अनेक बालकोंकी हत्या की है। इतना कह कर महामाया चली गई और अनेक स्थानोंमें अनेक रूपमें विराजमान होने लगी। इधर नन्दके गृहमें श्रीभगवान् कृष्ण और श्रीबलराम चन्द्रकलाकी तरह दिन दिन बढ़ने लगे। यही कृष्णबलरामावतारकी संक्षिप्त जन्मकथा है।

जिस प्रकार श्रीरामचन्द्रकी अवतारलीलाको पूर्ण करनेके लिये अनेक देवता आदि वानरादिके रूपमें उत्पन्न हुए थे और लक्ष्मी भी सीतारूपमें

उत्पन्न हुई थीं उसी प्रकार श्रीभगवान् कृष्णकी कर्मोपासनाज्ञानमयी पूर्ण अवतारकी लीलाको कर्म उपासना और ज्ञान इन तीनोंसे परिपूर्ण करनेके लिये कृष्णावतारके समय भी अनेक देवता, देवियाँ, श्रुतियाँ और ऋषि महर्षिगण भी विविध स्त्री पुरुषके रूपमें उत्पन्न हुए थे और स्वयं प्रकृतिमाता भी राधा रूपमें गोकुलमें उत्पन्न हो गई थीं। यथा-श्रीमद्भागवतमें दशमस्कन्धमें—

गिरं समाधौ गगने समीरितां
निशम्य वेधास्त्रिदशानुवाच ह।
गां पौरुषीं मे शृणुतामराः पुन-
र्विधीयतामाशु तथैव मा चिरम्॥
पुरैव पुंसावधृतो धराज्वरो
भवद्भिरंशैर्यदुषूपजन्यताम्।
स यावदुर्व्या भरमीश्वरेश्वरः
स्वकालशक्त्या क्षपयंश्चरेद्भुवि॥
वसुदेवगृहे साक्षाद् भगवान् पुरुषः परः।
जनिष्यते तत् प्रियार्थं सम्भवन्तु सुरस्त्रियः॥
वासुदेवकलानन्तः सहस्रवदनः स्वराट्।
अग्रतो भविता देवो हरेः प्रियचिकीर्षया॥
विष्णोर्माया भगवती यया संमोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥

आकाशवाणी सुनकर ब्रह्माजीने देवताओंको कहा—"हे देवतागण! मेरी बातको सुनो और शीघ्र उसी प्रकार आचरण करो। श्रीभगवान्ने पृथिवीकी पीड़ा जान ली है और पृथिवीका भार उतारनेके लिये अवतीर्ण होंगे। आप सब भी मनुष्यरूपसे पृथिवीमें उनकी सहायताके लिये उत्पन्न हो जाओ और जब तक वे पृथिवीमें रहें तबतक उनके अवतार कार्यमें सहायता करो। वसुदेवके गृहमें साक्षात् भगवान्का आविर्भाव होनेवाला है इसलिये उनके प्रिय कार्य्य करनेके लिए सुरपुरीकी देवियां उत्पन्न हो जायँ। वासुदेवके अंशसे उत्पन्न अनन्तदेव भी बलरामरूपसे उनके कार्यमें सहायता देनेके लिये पहलेही उत्पन्न

होंगे। महामाया भी उनकी आज्ञासे उनके ही कार्यके लिये संसारमें उत्पन्न होंगी। इस प्रकारसे कृष्णावतारके समय उनकी अवतारलीलाको पूर्ण करनेके लिये अनन्तदेव, अन्यान्य देवतागण, देवीगण और स्वयं महामायाका नर नारी रूपमें आविर्भाव हुआ था। येही सब अनेक गोप, गोपी, गोपबालकगण, यादवगण, बलराम और राधिका नामसे प्रसिद्ध हुए थे। महामायाकी उत्पत्तिके विषयमें पहलेही कहा गया है कि कृष्णजन्मके समय यशोदाके गर्भसे महामाया उत्पन्न हुई थी और कंसके हाथसे पृथक् होकर उसको कृष्णजन्मका वृत्तान्त सुनाकर चली गई थीं। इसके सिवाय श्रीराधामें भी महामायाका विशेष अंश था इसका प्रमाण शास्त्रमें मिलता है। यथा-पद्मपुराणके पाताल-खण्डमें—

द्योतमाना दिशः सर्वाः कुर्वती विद्युदुज्ज्वलाः।
प्रधानं या भगवती यया सर्वमिदं ततम्॥
सृष्टिस्थित्यन्तरूपा या विद्याविद्या त्रयी परा।
स्वरूपा शक्तिरूपा च मायारूपा च चिन्मयी॥
ब्रह्मविष्णुशिवादीनां देहकारणकारणम्।
चराचरं जगत् सर्वं यन्मायापरिरम्भितम्॥
वृन्दावनेश्वरी नाम्ना राधा धात्रानुकारणात्।
तामालिङ्गय वसन्तं तं मुदा वृन्दावनेश्वरम्॥
ध्यायेदेतद्विधं देवं स च सिद्धिमवाप्नुयात्॥

जिनके अपूर्व तेजसे बिजलीके प्रकाशकी तरह दश दिशा प्रकाशित होरही है, जो प्रधानरूपिणी भगवती सर्वत्र व्याप्त हैं, जो सृष्टिस्थिति और प्रलय करनेवाली और विद्या और अविद्यारूपिणी अपने रूपमें, शक्ति-रूपमें, मायारूपमें और चिन्मयभावमें सुशोभित होती हैं, जो ब्रह्मा, विष्णु, शिव आदि देवताओंके कारणकी भी कारण हैं, जिनकी मायासे चर और अचर समस्त संसार परिव्याप्त है वेही वृन्दावनकी ईश्वरी राधा हैं और परमात्मारूप वृन्दावनके ईश्वर श्रीकृष्ण आनन्दसे उनको आलिङ्गन कर रहे हैं। इस प्रकार राधासे आलिङ्गित कृष्णको जो भक्त ध्यान करता है उसको मुक्ति पद प्राप्त होता है। यही श्रीराधामें महामायाका अंश था इसका प्रमाण है।

गोपियोंके पूर्वजन्मके विषयमें शास्त्रमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। ऊपर कथित श्रीमद्भागवतके प्रमाणसे तो यह सिद्ध होता है कि बहुत गोपियां पूर्वजन्मकी देवियां थीं जिन्होंने ब्रह्माजीके कथनानुसार पूर्णावतारकी लीलामें सहायता करनेके लिये गोपीरूपमें जन्म ग्रहण किया था। इसके सिवाय और भी अनेक प्रमाण मिलते हैं जिससे सिद्ध होता है कि बहुत गोपियां पूर्वजन्मकी श्रुतियां थीं और बहुतोंका शरीर पूर्वजन्ममें ऋषि महर्षियोंका था। अनेक गोपियोंके पूर्वजन्ममें महर्षि होनेके विषयमें कृष्णोपनिषद्में लिखा है। यथा--

"श्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्दलक्षणं रामचन्द्रं दृष्ट्वा सर्वाङ्गसुन्दरं मुनयो वनवासिनो विस्मिता बभूवुः। तं ह्योचुर्नोऽवद्यमवतारान्वै गण्यन्ते आलिङ्गामो भवन्तमिति। भवान्तरे कृष्णावतारे यूयं गोपिका भूत्वा मामालिङ्गथ।"

सर्वाङ्गसुन्दर सच्चिदानन्दलक्षण रामचन्द्रको देखकर वनवासी मुनिगण विस्मित होगये और उन्होंने उनके साथ अङ्गसङ्ग करनेकी इच्छा प्रकट की। श्रीभगवान् रामचन्द्रजीने मुनियोंको कहा कि उनका रामावतार मर्यादामूलक है इसलिये इस अवतारमें अङ्गसङ्ग नहीं होसकता है। आगे जब वे कृष्णावतार धारणकर पृथिवीमें आवेंगे, उस समय मुनिगण गोपीरूपसे व्रजमें उत्पन्न होंगे और उसी समय श्रीभगवान्के साथ उनका अङ्गअङ्ग हो सकेगा। ये ही वनवासी अनेक मुनि ऋषि कृष्णावतारके समय गोपिका बनकर व्रजमें उत्पन्न हुए थे। गोपियोंके पूर्वजन्मके विषयमें पद्मपुराणके पातालखण्डमें अपूर्व वर्णन मिलता है। उसमें हरपार्वतीसंवादप्रसङ्गमें शिव पार्वतीको कह रहे हैं--

मानसे सरसि स्थित्वा तपस्तीव्रमुपेयुषाम्।
जपतां सिद्धिमन्त्रांश्च ध्यायतां हरिमीश्वरम्॥
मुनीनां काङ्क्षतां नित्यं तस्य एव पदाम्बुजम्।
एकसप्ततिसाहस्रसंख्यातानां महौजसाम्॥
तत्तेऽहं कथयाम्यद्य तद्रहस्यं परं शुभे॥

मानस सरोवरमें श्रीभगवान्की चरणारविन्दसेवाकी आकांक्षा करके इकहत्तर हजार मुनियोंने तीव्र तपस्या की थी। उन्होंने सिद्ध मंत्रका जप

और हरिका निरन्तर ध्यान किया था। उनमेंसे जिन मुनियोंने श्रीभगवान्‌को शरीर, मन, प्राण, आत्मा सभीके द्वारा सम्भोग करनेकी इच्छासे भगवान्‌का ध्यान किया था उनका जन्म गोपवंशमें गोपीरूपमें हुआ था क्योंकि विना स्त्रीशरीर प्राप्त किये इस प्रकार शरीर, मन, प्राण, आत्मा सभी प्रकारसे जीव श्रीभगवान्‌में उत्तमा रति नहीं कर सकता है। यही कारण है कि तपस्वी मुनियोंका गोपीरूपमें व्रजमें जन्म हुआ था। यथा—पद्मपुराणके पातालखण्डमें—

आसीदुग्रतपा नाम मुनिरेको दृढव्रतः ।
साग्निको ह्यग्निभक्षश्च चचारात्यद्भुतं तपः ॥
जजाप परमं जाप्यं मन्त्रं पञ्चदशाक्षरम् ।
काममन्त्रेण पुटितं कामं कामवरप्रदम् ॥
दध्यौ च श्यामलं कृष्णं रासोन्मत्तं वरोत्सुकम् ।
एवं ध्यानपरः कल्पशतान्ते देहमुत्सृजन् ॥
सुनन्दनामगोपस्य कन्याभूत् स महामुनिः ।
सुनन्देति समाख्याता या वीणां बिभ्रति करे ॥

उग्रतपा नामक एक मुनि थे जिन्होंने अग्निहोत्री और अग्निभक्ष होकर अद्भुत तपस्या की थी। उन्होंने काममन्त्रसे सम्पुटित, काम वर देनेवाले पन्द्रह अक्षरवाले परम मन्त्रका भी जप किया था और रासलीलामें रत, वर देनेको उत्सुक श्यामवर्ण कृष्णका ध्यान किया था। इस प्रकारसे सौ कल्प तक ध्यान करके उस मुनिने उसी सङ्कल्पके साथ शरीर त्याग कर दिया था और इसीलिये कृष्णावतारके समय सुनन्द नामक गोपकी कन्या सुनन्दा नामसे उस महामुनिका व्रजमें जन्म हुआ था जो हाथमें वीणा धारण करके श्रीभगवान्‌से रमण करती थी। इन श्लोकोंसे उग्रतपा मुनिकी चित्तवृत्तिका पूरा पता लगता है कि उन्होंने स्थूलशरीर, मन, प्राण, आत्मा सभीके साथ श्रीभगवान्‌में रति करनेकी इच्छासे ही तप किया था इसलिये—

"यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी"

इस सिद्धान्तके अनुसार स्त्री रूपमें उनका जन्म होना प्राक्तनानुकूल था। श्रीभगवान्‌ने भी गीतामें लिखा है कि—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥

जिस प्रकार सङ्कल्पको लेकर जीव शरीरको छोड़ता है उसी प्रकार आगेका जन्म जीवको प्राप्त होता है। जब मुनिने सौ कल्प तक श्रीकृष्णके साथ विहार करनेके संकल्पसे ही तप और ध्यान किया और उसी संकल्पको लेकर ही शरीरका त्याग किया तब स्त्रीरूप और कृष्णके साथ विहार करने वाली गोपी रूपमें उनका जन्म होना विज्ञानसे ठीक सिद्ध था इसमें कोई भी सन्देह नहीं है। इसी प्रकारसे पद्मपुराणके पातालखण्डके इकतालीसवें अध्यायमें गोपी बननेवाले अन्यान्य मुनियोंका भी वृत्तान्त दिया हुआ है। यथा-सत्यतपा नामक मुनिने इस प्रकार तप और ध्यान किया था जिसके फलसे दशकल्पके बाद वे सुभद्र नामक गोपकी कन्या भद्रा नामक गोपी बने। हरिधामा नामक एक मुनि थे जिन्होंने उग्र तपस्या और उसी प्रकार ध्यान जप किया था। वे तीन कल्पके अन्तमें सारङ्ग नामक गोपकी कन्या रङ्गवेनी नामक गोपी बने। जाबालि नामक एक मुनि थे। उन्होंने नौ कल्प तक तपस्या और ध्यान करके प्रचण्डनामक गोपकी कन्या चित्रगन्धा नामसे व्रजमें जन्मग्रहण किया था। इस प्रकारसे अनेक मुनियोंने पूर्वतपस्या और सङ्कल्पके अनुसार श्रीभगवान्के साथ सर्वथा रतिलाभके लिये व्रजमें गोपीरूपसे जन्मलाभ किया था जिनका विवरण पद्मपुराणमें मिलता है। इस प्रकार उक्त प्राक्तन संस्कार होनेके कारण ही गोपियां इस प्रकारसे गोविन्दमें अपने प्राणको लगाने वाली हो गई थीं और श्रीभगवान्की पूर्णावतार लीलामें उपासना भावके मधुर विकाशका अवकाश प्रदान किया था। मुनियोंके अतिरिक्त कुछ गोपियां श्रुतियां थीं ऐसा भी प्रमाण शास्त्रमें मिलता है। यथा—पद्मपुराण पातालखण्डमें—

अतः परं श्रुतिगणास्तासां काश्चिदिमाः शृणु ।
उद्गीतैषा सुगीतेयं कलगीता त्वियं प्रिया ॥
एषा कलसुराख्याता बालेयं कलकण्ठिका ।
विपञ्चीयं क्रमपदा ह्येषा बहुहुता मता ॥
एषा बहुप्रयोगेयं ख्याता बहुकलाबला ।
इयं कलावती ख्याता मता चैषा क्रियावती ॥

गोपीके रूप धारण करनेवाली श्रुतियोंके नाम यथा-उद्गीता, सुगीता, कलगीता, कलसुरा, कलकण्ठिका, विपञ्ची, क्रमपदा, बहुहुता, बहुप्रयोगा; बहुकला, कलावती और क्रियावती। ये सब स्त्रियां मुख्य हैं। और भी अनेक गोपीरूप धरनेवाली श्रुतिस्त्रियां गौणी हैं। बृहद्वामन पुराणके ब्रह्मभृगु संवाद प्रसङ्गमें इसका विशेष वर्णन मिलता है। यथा—किसी समय श्रुतियोंने श्रीभगवान्की आनन्दमयी मूर्त्ति देखनेकी इच्छा करके उनको कहा—

आनन्दमात्रमिति यद्वदन्तीह पुराविदः ।
तद्रूपं दर्शयास्माकं यदि देयो वरो हि नः ॥

हे देव! यदि वर देना चाहते हैं तो आपकी आनन्दमयी मूर्त्ति हमें दिखाइये। श्रुतियोंकी प्रार्थना सुनकर श्रीभगवान्ने उनको आनन्दमय निजधाम वृन्दावनका दर्शन कराया। यथा—

श्रुत्वैतद्दर्शयामास स्वं लोकं प्रकृतेः परम् ।
केवलानुभवानन्दमात्रमक्षरमध्यगम् ॥
यत्र वृन्दावनं नाम वनं कामदुघैर्द्रुमैः ।
मनोरमनिकुञ्जाढ्यं सर्वर्तुसुखसंयुतम् ॥

श्रुतियोंका वाक्य सुनकर श्रीभगवान्ने उनको प्रकृतिसे परे ओंकारके बीच रहनेवाला केवल आनन्दमय अपने लोकका दर्शन कराया। इस लोकका नाम वृन्दावन है, जहां पर इच्छाके अनुसार फलदेने वाले वृक्षसमूह सुशोभित हैं। और सकल ऋतुओंमें सुखदायी मनोहर कुञ्जबनसमूह भी विद्यमान हैं। आनन्द धामको देखकर श्रुतियोंने कहा—

कोटिकन्दर्पलावण्ये त्वयि दृष्टे मनांसि नः ।
कामिनीभावमासाद्य स्मरक्षुब्धान्यसंशयम् ॥
यथा त्वल्लोकवासिन्यः कामं तत्त्वेन गोपिकाः ।
भजन्ति रमणं मत्वा चिकीर्षाजनि नस्तथा ॥

हे भगवान्! करोड़ों काम जैसे सुन्दर आपके रूपको देख कर कामिनी भाव प्राप्त करके आपके साथ रमण करनेकी इच्छा होती है। जिस प्रकार नित्य वृन्दावनके रहनेवाली गोपियां सदाही आपके साथ रमण करती हैं

हमारे हृदयमें भी इस प्रकार इच्छा होती है। श्रुतियोंके वचनको सुनकर श्रीभगवान्ने कहा—

> दुर्लभो दुर्घटश्चैव युष्माकं सुमनोरथः ।
> मयानुमोदितः सम्यक् सत्यो भवितुमर्हति ॥
> आगामिनि विरिञ्चौ तु जाते सृष्ट्यर्थमुद्यते ।
> कल्पं सारस्वतं प्राप्य व्रजे गोप्यो भविष्यथ ॥
> पृथिव्या भारते क्षेत्रे माथुरे मम मण्डले ।
> वृन्दावने भविष्यामि प्रेयान् वो रासमण्डले ॥
> जारधर्मेण सुस्नेहं सुदृढं सर्वतोऽधिकम् ।
> मयि संप्राप्य सर्वेऽपि कृतकृत्या भविष्यथ ॥

तुम्हारा मनोरथ नितान्त दुर्लभ और दुर्घट है। तथापि मैंने उसका अनुमोदन किया। तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा। आगामी सृष्टिके समय सरस्वत कल्पमें तुम सब व्रजगोपी होकर भारतवर्षमें उत्पन्न होंगी और वृन्दावनके रासमण्डलमें मैं तुम्हारा मनोरथ पूर्ण करूँगा। उस समय मुझको पतिरूपमें प्राप्त करके कान्ताभावमें मेरे साथ रति करके तुम सब कृतकृत्य हो जाओगी।

> श्रुत्वैतच्चिन्तयन्त्यस्ता रूपं भगवतश्चिरम् ।
> उक्तं कालं समासाद्य गोप्यो भूत्वा हरिं गताः ॥

श्रीभगवान्का इस प्रकार वाक्य सुन कर ऊपर कही हुई श्रुतियाँ श्रीभगवान्के ध्यानमें मग्न हो गईं और उनके बतलाये हुए समयको पाकर गोपीरूपमें व्रजमें उत्पन्न हो गईं। इन्हीं गोपियोंको कान्तासक्ति द्वारा श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र प्राप्त हुए थे। इस प्रकारसे अनेक देवियाँ, अनेक श्रुतियाँ, अनेक मुनिगण मिलकर अपने अपने पूर्वजन्मके कर्मके अनुसार व्रजमें गोपीरूपमें उत्पन्न हो गई थीं और उन्होंने अनेकभावमें श्रीकृष्ण भगवान्के साथ रति करके अन्तमें अनन्तधामको प्राप्त किया था। अतः व्रजगोपियाँ साधारण गोपकन्या नहीं थीं, परन्तु उन्नतकोटिकी भगवान्की उपासना करने वाली थीं, जिन्होंने कृष्णावतारमें उपासनामयी लीलाको पूर्ण किया था, यह सिद्धान्त स्पष्ट होता है।

श्रीकृष्णावतारमें सहायताके लिये जितने दूसरे लोकके रहने वाले जीव उत्पन्न हुए थे उनमेंसे कृष्णचन्द्रके मित्र अर्जुनका सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ जान पड़ता है और उनके द्वारा कृष्णावतारकी कर्ममयी लीलामें विशेष सहायता प्राप्त हुई थी यह भी महाभारत आदिसे सिद्ध है। जिस शरीरमें कृष्णरूपमें श्रीभगवान्‌की सोलहकलाओंका विकाश हुआ था वह शरीर पूर्वजन्ममें कौन शरीर था और जिस शरीरमें विभूतिरूपसे अर्जुनका उदय हुआ था वह भी शरीर पूर्वजन्ममें कौन शरीर था इसके अनेक प्रमाण आर्यशास्त्रोंमें प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवतके ४ स्क० १ अध्यायमें—

मूर्त्तिः सर्वगुणोत्पत्तिर्नरनारायणावृषी ।
ययोर्जन्मन्यदो विश्वमभ्यनन्दत् सुनिर्वृतम् ॥
ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ ।
भारव्ययाय च भुवः कृष्णौ यदुकुरूद्वहौ ॥
"अर्जुने तु नरावेशः कृष्णो नारायणः स्वयम् ।" (तन्त्र)

सर्व गुणोंके आधार दक्षकन्या मूर्तिके गर्भमें नर और नारायण नामक दो ऋषि उत्पन्न हुए थे। पृथिवीके भार हरणके लिये ये ही दो ऋषि श्रीभगवान्‌का अंश लेकर यदुकुल और कुरुकुलमें कृष्णरूपमें उत्पन्न हुए थे। कुरुकुलके कृष्ण अर्जुन और यदुकुलके कृष्ण श्रीभगवान् वासुदेव थे। अर्जुनमें नर ऋषिका आवेश था, श्रीकृष्ण स्वयं नारायण थे। श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धके ८९ अध्यायमें और भी लिखा है—

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा
मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरां
हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्तिमे ॥
पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी ।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसंग्रहम् ॥

श्रीकृष्ण और अर्जुन जिस समय क्षीरसमुद्रशायी अनन्तपुरुषके पास गये थे तो उन्होंने कहा था—" तुम दोनोंके देखनेकी इच्छा करके ही मैं

ब्राह्मण कुमारको यहाँ लाया हूँ। संसारमें धर्मरक्षाके लिये ही भगवान्‌के अंशरूपमें तुम दोनोंकी उत्पत्ति हुई है। पृथ्वीके भाररूपी असुरोंका नाश करके तुम दोनों पुनः यहाँ आजाओ। हे नर नारायण! तुम दोनों ही पूर्णकाम हो। तथापि जगत्‌की स्थिति और लोकसंग्रहके लिये धर्माचरण करो। इस प्रकारसे श्रीमद्भागवतमें कृष्णार्जुन केन्द्रके पूर्व शरीरोंके विषयमें प्रमाण प्राप्त होता है। देवीभागवतमें नरनारायण ऋषिके अद्भुत तपके विषयमें बहुत कुछ वर्णन पाया जाता है। महाभारतमें भी कृष्णार्जुनको पूर्वजन्ममें नर नारायण ऋषि करके वर्णन किया गया है। यथा—आदिपर्वके २२४ अध्यायमें—

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो।
सम्प्राप्तौ मानुषे लोके कार्य्यार्थं हि दिवौकसाम्॥
अर्जुनं वासुदेवश्च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः॥

ब्रह्माजीने खाण्डव बनको दग्ध करनेवाले अग्निको कहा, नर नारायण रूपमें जो ऋषि पूर्वजन्ममें तपस्या कर रहे थे वेही देवताओंके कार्य्यके लिये मनुष्य लोकमें आये हैं। उन्हींके नाम अर्जुन और वासुदेव कृष्ण हैं। उन्हींके साथ खाण्डव वनके समीप आओ। और भी वनपर्वके १२ अध्यायमें श्रीकृष्णकी उक्ति है—

नरस्त्वमसि दुर्धर्ष हरिर्नारायणो ह्यहम्।
काले लोकमिमं प्राप्तौ नरनारायणावृषी॥
अनन्यः पार्थ मत्तस्त्वं त्वत्तश्चाहं तथैव च।
नावयोरन्तरं शक्यं वेदितुं भरतर्षभ॥

हे वीर अर्जुन! तुम पूर्वजन्ममें नर ऋषि थे और मैं नारायण ऋषि था और अब इस जन्ममें भगवान्‌का रूप होकर मेरा जन्म हुआ है और तुमने नररूप अर्जुन होकर जन्म लिया है। हे अर्जुन! तुम मुझसे भिन्न नहीं हो और मैं तुमसे भिन्न नहीं हूं। हम दोनोंमें कोई अन्तर नहीं है। इस प्रकारसे कृष्णार्जुनके पूर्वजन्मके शरीरके विषयमें प्रमाण मिलते हैं। वे ही दो शरीर आगामी जन्ममें कृष्णरूपमें श्रीभगवान्‌की पूर्णकला और अर्जुनरूपमें विभूति-कला धारण करनेके योग्य हो गये थे।

श्रीकृष्णचरित्रके विषयमें पुराणके अध्यायमें इससे पहिलेही बहुत कुछ वर्णन किया गया है। श्रीभगवान्का पूर्णावतार होनेसे श्रीकृष्णके द्वारा संसारमें अनन्त कार्य हुए थे जिनका वर्णन करना असम्भव है। तौभी संक्षेपसे उनकी अवतार लीलामें किये हुए कार्योंका वर्णन नीचे किया जाता है। अग्निपुराणमें श्रीभगवान् कृष्ण और बलरामकी बाललीला तथा आगेके अनेक कर्मोंका वर्णन मिलता है। यथा--

कंसोऽपि पूतनादींश्च प्रेषयद्बालनाशने।
यशोदापतिनन्दाय वसुदेवेन चार्पितौ॥
रक्षणाय च कंसादेर्भीतेनैव हि गोकुले।
रामकृष्णौ चेरतुस्तौ गोभिर्गोपालकैः सह॥
सर्वस्य जगतः पालौ गोपालौ तौ बभूवतुः।
कृष्णश्चोदूखले बद्धो दाम्ना व्यग्रयशोदया॥
यमलार्जुनमध्येऽगाद्भग्नौ च यमलार्जुनौ।
परिवृत्तश्च शकटः पादक्षेपात् स्तनार्थिना॥
पूतनास्तनपानेन सा हता हन्तमुद्यता।
वृंदागतः कृष्णः कालियं यमुनाह्रदात्॥
जित्वा निःसार्य चाब्धिस्थं चकार बलसंस्तुतः।
क्षेमं तालवनं चक्रे हत्वा धेनुकगर्दभम्॥
अरिष्टवृषभं हत्वा केशिनं हयरूपिणम्।
शक्रोत्सवं परित्यज्य कारितो गोत्रयज्ञकः॥
पर्वतं धारयित्वा च शक्राद् वृष्टिर्निवारिता।
रथस्थो मथुरामागात् कंसोक्ताक्रूरसंस्तुतः॥
मत्तं कुवलयापीडं द्वारि रङ्गं प्रविश्य च।
कंसादीनां पश्यताञ्च मञ्चस्थानां नियुद्धकम्॥
चक्रे चाणूरमल्लेन मुष्टिकेन बलोऽकरोत्।
चाणूरमुष्टिकौ ताभ्यां हतौ मल्लौ तथापरे॥

मथुराधिपतिं कंसं हत्वा तत्पितरं हरिः ।
चक्रे यादवराजानमस्तिप्राप्ती च कंसगे ॥
जरासन्धस्य ते पुत्र्यौ जरासन्धस्तदीरितः ।
चक्रे च मथुरारोधं यादवैर्युयुधे शरैः ॥
रामकृष्णौ च मथुरां त्यक्त्वा गोमन्तमागतौ ।
जरासन्धं विजित्याजौ पौण्ड्रकं वासुदेवकम् ॥
पुरीञ्च द्वारकां कृत्वा न्यवसद् यादवैर्वृतः ।
भौमन्तु नरकं हत्वा तेनानीताश्च कन्यकाः ॥
देवगन्धर्वयक्षाणां ता उवाच जनार्दनः ।
षोडश स्त्रीसहस्राणि रुक्मिण्याद्यास्तथाष्ट च ॥
सत्यभामासमायुक्तो गरुडे नरकार्दनः ।
मणिशैलं सरत्नञ्च इन्द्रं जित्वा हरिर्दिवि ॥
पारिजातं समानीय सत्यभामागृहेऽकरोत् ।
सान्दीपनेश्च शास्त्रास्त्रं ज्ञात्वा तद्बालकं ददौ ॥
जित्वा पञ्चजनं दैत्यं यमेन च सुपूजितः ।
अवधीत् कालयवनं मुचुकुन्देन पूजितः ॥
कृष्णपौत्रं द्वारकातो दुहिता बाणमन्त्रिणः ।
कुम्भाण्डस्यानिरुद्धोऽगाद्रराम ह्युषया सह ॥
बाणध्वजस्य सम्पातैः रक्षिभिः स निवेदितः ।
अनिरुद्धस्य बाणेन युद्धमासीत् सुदारुणम् ॥
श्रुत्वा तु नारदात् कृष्णः प्रद्युम्नबलभद्रवान् ।
गरुडस्थोऽथ जित्वाग्नीन् ज्वरम् माहेश्वरं तथा ॥
हरिशङ्करयोर्युद्धं बभूवाथ शराशरि ।
नन्दिविनायकस्कन्दमुखास्तार्क्ष्यादिभिर्जिताः ॥

जृम्भिते शङ्करे नष्टे जृम्भणास्त्रेण विष्णुना ।
छिन्नं सहस्रं बाहूनां रुद्रेणाभयमर्थितम् ॥
बलभद्रः प्रलम्बघ्नो यमुनाकर्षणोऽभवत् ।
द्विविदस्य कपेर्भेत्ता कौरवोन्मादनाशनः ॥
हरौ रेमेऽनेकपत्नी रुक्मिण्यादिभिरीश्वरः ।
पुत्रानुत्पादयामास त्वसंख्यातान् स यादवान् ॥

पूर्व वर्णनके अनुसार श्रीकृष्ण और बलरामके गोपराज नन्दके गृहमें वसुदेव तथा महामायाके द्वारा दिये जानेपर परम स्नेह करनेवाले नन्दजी दोनों बालकोंकी रक्षामें लग गये । यशोदा और नन्दके प्रेमसे भरे हुए पालनपोषणसे राम और कृष्ण दोनों भाई दिनों दिन बढ़ने लगे मथुराके राजा कंसराज भी उनके नाशके लिये बहुत यत्न करने लगे । समस्त संसारके प्रतिपालक संसारके उद्धारके लिये गोपालरूपमें गौओंको चराते हुए सानन्द नन्दरायके भवनमें विचरण करने लगे । श्रीकृष्णको मारनेके लिये कंसने पहले पहल पूतना नामकी राक्षसीको गोकुलमें भेज दिया । उसने छलसे श्रीकृष्णको विष मिले हुए अपने स्तनका दूध पिलानेकी चेष्टा की; परन्तु अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णने स्तन पानके छलसे पूतनाका प्राण ही पी लिया और उसको मार दिया । तदनन्तर किसी समय यशोदाके द्वारा ओखलीमें बद्ध होकर श्रीकृष्णने शापसे गिरे हुए यमल और अर्जुन नामक वृक्षयोनिमें प्राप्त दो देवोंका यमलार्जुन वृक्षको धक्केसे गिरा उद्धार कर दिया और पैरोंके धक्केसे कंसके भेजे हुए शकटासुरका भी वध कर दिया । किसी समय श्रीकृष्णने यमुनाह्रदनिवासी भीषण विषधर कालीय नागको दमन किया और उसे यमुनासे निकालकर समुद्रमें भेज दिया । तदनन्तर क्रमशः श्रीकृष्णजीने अरिष्ट, वृषभ और हयरूपी केशी दानवको मार दिया और धेनुक तथा गर्दभ नामक दो असुरोंको मार कर प्रसिद्ध तालवनको निरुपद्रव किया । तदनन्तर श्रीकृष्णजीने गोकुलमें इन्द्र देवका उत्सव नहीं होने दिया । उसपर इन्द्रने गोकुलमें मूषलधार जल वर्षण करना प्रारम्भ किया । श्रीकृष्णजीने गोवर्द्धन धारण करके इन्द्रके कोपसे व्रजवासियोंकी रक्षा की । गोपियोंके साथ उनकी परमगूढ़ और चमत्कार लीलाके विषयमें पहले ही बहुत कुछ वर्णन किया गया है । इस प्रकारसे व्रजमें रहनेके समय अपनी पूर्णावतारलीलाके अनेक अंश श्रीकृष्णजीने समाप्त

किये। बाद कंसके द्वारा निमन्त्रित होकर भक्त अक्रूरकी प्रार्थनासे कृष्ण और बलराम दोनों भ्राता मथुराको गये। वहां पर कंसने राम और कृष्णको मारनेके लिये बहुत कुछ तैयारी कर रक्खी थी। पहले ही कंसके राजद्वारपर कुवलयापीड नामका मतवाला हस्ती बँधा हुआ था। श्रीकृष्णजीने उस हाथीको मार दिया और बलरामके साथ रङ्गभूमिमें प्रवेश किया। वहां पर चाणूर और मुष्टिक नामक दोनों मल्ल असुरोंके साथ राम और कृष्णका मल्लयुद्ध हुआ और दोनोंही उनके हाथसे मारे गये। तदनन्तर श्रीकृष्णजीने मथुरापति कंसको मार दिया और उनके पिता उग्रसनेको मथुराके राजपद पर अभिषिक्त किया। तदनन्तर जरासन्धकी कन्या कंसकी स्त्री अस्ति और प्राप्तिकी उत्तेजनासे जरासन्ध नामक दैत्यने मथुरा पर आक्रमण किया। उस पर यादवोंके साथ जरासन्धका घोर संग्राम होने लगा और अनेक लड़ाइयोंके बाद जरासन्ध कृष्णके हाथसे हार गये। तदनन्तर कृष्ण और बलराम मथुरा त्याग कर गोमन्तकमें आये और पौण्ड्रक आदिको पराजित करके यादवोंके साथ द्वारकापुरीमें निवास करने लगे। कुछ कालतक द्वारकामें निवास करनेके बाद श्रीकृष्णजीने नरकासुरको मार दिया और उनके द्वारा इकट्ठी की हुई अनेक सहस्र देव, गन्धर्व और यक्ष कन्याओंके साथ विवाह किया। इस प्रकारसे उनकी सोलह हजार साधारण रानियां और रुक्मिणी आदि आठ पट्टरानियां हुईं। सत्यभामाके साथ गरुड़ पर चढ़ कर श्रीकृष्णजीने इन्द्रको पराजित किया और पारिजात लाकर सत्यभामाको दिया। पञ्चजन नामक दैत्यको हरा कर श्रीकृष्णजी यमराजसे पूजित हुए। सान्दीपनी मुनिके पास विद्या प्राप्त करके गुरुदक्षिणारूपसे उनके मृत पुत्रको पुनर्जीवित कर दिया। दुर्दान्त कालयवन श्रीकृष्णके हाथसे मारे गये। कृष्णके पौत्र अनिरुद्धके साथ बाणकन्या ऊषाका गुप्त विवाह हुआ था। इसको सुनकर दैत्यराज बाणने अनिरुद्ध पर आक्रमण किया। बाण प्रसिद्ध शिवभक्त थे इसलिये शिव भी बाणकी सहायताके लिये संग्राममें आये। अनिरुद्धकी विपत्ति सुनकर श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्नके साथ बाणपुरीमें आगये और अग्नि तथा माहेश्वरज्वरको पराजित करके शङ्करके साथ युद्धमें प्रवृत्त होगये। हरि और शंकरका भयानक युद्ध हुआ। नन्दी, स्कन्द आदि भी उस युद्धमें आये थे। अनेक युद्धके बाद श्रीकृष्णजीने जृम्भणास्त्रके द्वारा शङ्करकी सेनाओंको मुग्ध कर दिया और तीक्ष्ण बाणके प्रयोगसे बाणराजके सहस्रबाहु छिन्न कर दिये। तदनन्तर शंकर

की प्रार्थनासे श्रीकृष्णने बाणको अभयदान किया और द्वारकाको चले आये। बलरामके द्वारा भी प्रलम्ब, द्विविद आदि अनेक दैत्योंका निधन, कौरवोंका मदमर्दन और यमुनाका आकर्षण हुआ था। श्रीकृष्णके द्वारा उनकी अष्ट प्रधाना तथा अन्यान्य सोलह सहस्र स्त्रियोंसे अनेक सहस्र यादवोंकी उत्पत्ति हुई थी जिन्होंने उस समय संसारभार स्वरूप अगणित दैत्योंका नाश करके श्रीभगवान्की अवतारलीलामें विशेष सहायता की थी। उनके विषयमें श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भी लिखा है। यथा--

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे॥
तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप॥

देवासुर संग्राममें मारे हुए अनेक भीषण दैत्य मनुष्यलोकमें उत्पन्न होकर प्रजाओंको पीड़ा देने लग गये थे। इसलिये उनके निग्रहार्थ श्रीभगवान्की पूर्ववर्णित आज्ञाके अनुसार यदुकुलमें भी अनेक देवता मनुष्यरूपमें उत्पन्न होगये थे जिन्होंने उन दैत्योंके अत्याचारसे प्रजा तथा पृथ्वीकी रक्षा की थी। श्रीभगवान्की लीलाका द्वितीय अंश पाण्डवोंके साथ योगदान करके दुर्योधन आदि आसुरीप्रकृतिवाले अधार्मिक महापापी मनुष्योंको मारकर संसारका भार हरण करना है जिसका विस्तारित वर्णन महाभारतमें पाया जाता है। अग्निपुराणमें भी लिखा है—

"भूभारमहरद् विष्णुर्निमित्तीकृत्य पाण्डवान्।"

श्रीभगवान् विष्णुने पाण्डवोंको निमित्त बनाकर भूभारहरण किया था। गीतामें भी श्रीभगवान्ने कहा है—

"मयैवैते निहताः पूर्वमेव
निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।"

मैंने पहले ही पापकर्मके फलरूपसे सबको मार रक्खा है, हे अर्जुन! तुम केवल निमित्तमात्र बनो। पहले ही कहा गया है कि जय विजय नामक सनकादिकके शापसे भ्रष्ट विष्णुके दो द्वारपाल तृतीय जन्ममें शिशुपाल और दन्तवक्र नामक दैत्यरूपमें उत्पन्न हुए थे। इन दोनोंके अत्याचारसे संसार

जब बहुत भाराक्रान्त हो गया तब श्रीभगवान्‌ने कृष्णावतारमें इनको मारा था। शिशुपालवधके विषयमें श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धमें वर्णन है कि युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें समस्त महर्षियोंने मिलकर श्रीभगवान् कृष्णको प्रथम अर्घ्य देना निश्चय किया परन्तु शिशुपालको कृष्णके साथ शत्रुता होनेके कारण कृष्ण-सम्मान सहन नहीं हुआ और उसने सभाके बीचमें ही श्रीकृष्णको गाली देना प्रारम्भ कर दिया। इसपर पाण्डव पक्षके लोगोंके साथ शिशुपालकी लड़ाई होने लगी। यथा—भागवतके दसवें स्कन्धमें—

> तावदुत्थाय भगवान् स्वान् निवार्य स्वयं रुषा।
> शिरः क्षुरान्तचक्रेण जहार पततो रिपोः॥
> चैद्यदेहोत्थितं ज्योतिर्वासुदेवमुपाविशत्।
> पश्यतां सर्वभूतानामुल्केव भुवि खाच्च्युता॥
> जन्मत्रयानुगुणितवैरसंरब्धया धिया।
> ध्यायंस्तन्मयतां यातो भावो हि भवकारणम्॥

श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने लड़ाई करनेके लिये उद्यत हुए पाण्डवोंको निवारण करके स्वयं ही तीक्ष्णधार सुदर्शन चक्रके द्वारा शिशुपालका सिर काट दिया। सिर कटते ही शिशुपालके देहसे एक ज्योति निकली और सबके देखते देखते आकाशसे गिरी हुई उल्काकी तरह भगवान् श्रीकृष्णके देहमें प्रवेश कर गई। तीन जन्ममें लगातार द्वेष करते करते उसीमें तन्मय हो जानेके कारण द्वेष भावके द्वारा ही शिशुपालकी मुक्ति हो गई क्योंकि भाव ही संसार-का कारण है। जब शिशुपाल मारा गया तब उनके मित्र शाल्व और सौभ नामक दोनों असुरोंके साथ श्रीकृष्णका घोर संग्राम हुआ और दोनों ही उनके हाथसे मारे गये। अन्तमें इन सभोंका मित्र दन्तवक्र श्रीकृष्णके साथ गदा लेकर लड़ने आया। श्रीकृष्णके ऊपर बड़े भयानक वेगसे गदा मारनेपर धीर श्रीभगवान्‌ने उसको सहकर दन्तवक्रको गदाके प्रहारसे मार दिया। तदनन्तर भागवतमें लिखा है—

> ततः सूक्ष्मतरं ज्योतिः कृष्णमाविशदद्भुतम्।
> पश्यतां सर्वभूतानां यथा चैद्यवधे नृप॥

दन्तवक्रके शरीरसे भी सूक्ष्म ज्योति निकलकर सबके देखते हुए जैसा

कि शिशुपाल वधके समय हुआ था ऐसा ही श्रीभगवान्‌के शरीरमें प्रवेश कर गई। प्रबल द्वेषभावके द्वारा तन्मयता होनेपर दन्तवक्त्रकी भी मुक्ति इस प्रकारसे हो गई। इस प्रकारसे जय और विजयकी मुक्ति तीन जन्ममें द्वेषके द्वारा हो गई और वे विष्णु लोकको प्राप्त हो गये। इस रीतिसे नाना अंशमें अनेक भावके द्वारा विभक्त अपनी पूर्णावतार लीलाके द्वारा पाण्डव, बलराम आदिकी सहायतासे भूभार हरण, साधुओंकी रक्षा, पापियोंका नाश और युगानुकूल धर्मसंस्थापन करके श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र निजलोकको चले गये। यथा—अग्निपुराणमें—

एवं विष्णुर्भुवो भारमहरद्दानवादिकम्।
धर्मायाधर्मनाशाय निमित्तीकृत्य पाण्डवान् ॥
स विप्रशापव्याजेन मुषलेनाहरत् कुलम्।
यादवानां भारकरं वज्रं राज्येऽभ्यषेचयत् ॥
देवादेशात् प्रभासे स देहं त्यक्त्वा स्वयं हरिः।
बलभद्रोऽनन्तमूर्तिः पातालस्वर्गमीयिवान् ॥

इस प्रकार श्रीभगवान् विष्णुने दैत्योंसे पीडित पृथिवीका भार हरण, अधर्मका नाश और धर्म संस्थापन पाण्डव आदिको निमित्त बनाकर किया। तदनन्तर ब्रह्मशापके छलसे कुलनाशक मूषलद्वारा समस्त यदुवंशको ध्वंस कराया और प्रभास तीर्थमें जाकर स्वयं भी शरीर त्याग कर दिया। अनन्तावतार बलराम भी शरीर त्याग करके निज धामको चले गये। इस प्रकारसे कृष्णबलरामावतारकी लीला समाप्त हो गई।

वृन्दाबनकी समस्त लीला और महाभारतकी समस्त लीला एक ही श्रीकृष्णके द्वारा सम्पन्न हुई थी, इस विषयका प्रमाण पुराण नामक प्रबन्धमें पहलेही से दिया जा चुका है। अतः इस विषयमें सन्देह करनेका अवकाश नहीं है। महाभारतके अन्यान्य स्थानोंमें भी श्रीकृष्णलीला वर्णन प्रसङ्गमें वृन्दावनलीला और महाभारतीय लीला दोनोंका एक साथ एक ही कृष्णके सम्बन्धमें वर्णन मिलता है। यथा—द्रोणपर्वमें सञ्जयके प्रति धृतराष्ट्रकी उक्ति—

शृणु दिव्यानि कर्माणि वासुदेवस्य सञ्जय।
कृतवान् यानि गोविन्द यथा नान्यः पुमान् क्वचित् ॥

गोकुले वर्द्धमानेन बालेनैव महात्मना ।
विख्यापितं बलं बाह्वोस्त्रिषु लोकेषु सञ्जय ॥
उच्चैःश्रवस्तुल्यबलं वायुवेगसमं जवे ।
जघान हयराजं तं यमुनावनवासिनम् ॥
दानवं घोरकर्माणं गवां मृत्युमिवोत्थितम् ।
वृषरूपधरं बाल्ये भुजाभ्यां निजघान ह ॥
प्रलम्बं नरकं जम्भं पीठञ्चापि महासुरम् ।
मुरञ्चामरसङ्काशमवधीत् पुष्करेक्षणः ॥
तथा कंसो महातेजा जरासन्धेन पालितः ।
विक्रमेणैव कृष्णेन सगणः पातितो रणे ॥
सुनामा नरविक्रान्तः समग्राक्षौहिणीपतिः ।
भोजराजविमध्यस्थो भ्राता कंसस्य वीर्यवान् ॥
बलदेवद्वितीयेन कृष्णेनामित्रघातिना ।
तरस्वी समरे दग्धः ससैन्यः शूरसेनराट् ॥
चेदिराजञ्च विक्रान्तं राजसेनापतिं बली ।
अर्घ्ये विवदमानञ्च जघान पशुवत् तदा ॥
यच्च तन्महदाश्चर्यं सभायां मम सञ्जय ।
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः कस्तदन्य इहार्हति ॥
यमाहुः सर्वपितरं वासुदेवं द्विजातयः ।
अपि वा ह्येष पाण्डूनां योत्स्यतेऽर्थाय सञ्जय ॥
स यदा तात संनह्येत् पाण्डवार्थाय सञ्जय ।
न तदा प्रतिसंयोद्धा भविता तस्य कश्चन ॥
यदि स्म कुरवः सर्वे जयेयुर्नाम पाण्डवान् ।
वार्ष्णेयोऽर्थाय तेषां वै गृहीयाच्छस्त्रमुत्तमम् ॥
ततः सर्वान्नरव्याघ्रो हत्वा नरपतीन् रणे ।

कौरवांश्च महाबाहुः कुन्त्यै दद्यात् स मेदिनीम् ॥
यस्य यन्ता हृषीकेशो योद्धा यस्य धनञ्जयः ।
रथस्य तस्य कः संख्ये प्रत्यनीको भवेद्रथः ॥
मोहाद्दुर्योधनः कृष्णं यो न वेत्तीह केशवम् ।
मोहितो दैवयोगेन मृत्युपाशपुरस्कृतः ॥
न वेद कृष्णं दाशार्हमर्जुनञ्चैव पाण्डवम् ।
पूर्वदेवौ महात्मानौ नरनारायणावुभौ ॥

भगवान् वासुदेव श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंको सुनो, जिनके ऐसे कर्म कोई नहीं कर सकता है। लड़कपनमें जब श्रीकृष्ण गोकुलमें थे उस समय उनकी अलौकिक शक्ति व्रजगोपिकाओंमें तथा संसारमें प्रकट हुई थी। इन्होंने यमुना वनवासी अति वेगवान् शक्तिमान् हयासुरको मार दिया था। गौओंके शत्रु बैलके रूप धरनेवाले दानवको भी मार दिया था। प्रलम्ब, नरक जम्भ, पीठ और मुर नामक असुरोंको निहत किया था। महाबल कंसराजको अपने गणोंके साथ निहत किया था। अक्षौहिणी सेनाओंके अधिपति कंसभ्राता सुनामाको बलरामको साथ लेकर श्रीकृष्णजीने मार दिया था। उन्होंने चेदिराज शिशुपालको युधिष्ठिरके यज्ञमें अर्घ्यसम्बन्धीय विवादमें पशुकी तरह मार दिया था। मेरी ही सभामें उन्होंने जो आश्चर्यजनक कार्य किया था ऐसा कौन कर सकता है। जिनको द्विजगण परमपिता कहते हैं अब वे ही श्रीकृष्ण पाण्डवोंके पक्षमें होकर युद्ध करेंगे। उनके पाण्डवपक्षमें युद्ध करने पर कौन उनसे युद्ध कर सकता है। यदि कौरवगण पाण्डवोंको पराजित भी कर दें तौ भी श्रीकृष्ण जब अस्त्रग्रहण करेंगे तो सबको मारकर पाण्डवोंको पृथिवी का राज्य दिलावेंगे। जहां पर श्रीकृष्ण सारथि और अर्जुन योद्धा हैं वहां कौन उनके सामने युद्ध कर सकता है? दैवविमूढ़ दुर्योधन श्रीकृष्णके स्वरूपको जान न सका, उसका नाश सन्निकट है। वे दोनों नर नारायण ऋषि थे, अब अवतार ले आये हैं। अतः यह बात सिद्ध हुई कि वृन्दावनमें लीला करनेवाले तथा महाभारतकी लीला करने वाले श्रीकृष्ण एकही परम पुरुष थे। अब नीचे एक ही कृष्णके जीवनमें इस प्रकार विविध भावोंसे भरी हुई लीलाएँ कैसे संघटित हो सकती हैं सो क्रमशः बताया जाता है। यह बात विज्ञानसिद्ध है

कि कार्यब्रह्मके भीतर- अनेक विचित्र चेष्टाएँ उसमें उत्पन्न जीवोंके संस्कार-मूलक स्वरूपके अनुकूल ही होती हैं इसलिये जिस समय समष्टि संस्कारको आश्रय करके कोई अवतार इस कार्यब्रह्ममें प्रकट होंगे तो उस समय भी कार्यब्रह्ममें उत्पन्न प्राकृतिक चेष्टासमूह उस अवतारके स्वरूपानुकूल ही होंगे इसमें सन्देह नहीं हो सकता। और जब इन अवतारोंमें कोई पूर्णावतार प्रकट होंगे तो उनकी लीलाके समय समस्त चेष्टाएँ कार्यब्रह्ममें ठीक उसी प्रकारसे अवश्य संघटित होंगी जो उस पूर्णावतारके स्वरूपके अनुकूल हो। अवतार जब सच्चिदानंदमय श्रीभगवान्के सत्, चित्, आनन्दरूपी तीनों भावोंको लेकर होता है तो पूर्णावतारमें इन तीनों भावोंका पूर्ण विकाश रहेगा इसमें भी कोई सन्देह नहीं है। और इसी कारण यह भी निश्चय है कि पूर्णा-वतारके जीवनमें कार्यब्रह्मके भीतर सद्भावके अनुसार कर्मकी पूर्णलीला, चित् भावके अनुसार ज्ञानकी पूर्ण लीला और आनन्दभावके अनुसार उपासना तथा रसकी पूर्ण लीला प्रकट होंगी। यही कारण है कि पूर्णावतार श्रीकृष्णके लीलाकालमें कार्यब्रह्मके भीतर नाना प्रकारके अनन्त विचित्र कर्म संघटित हुए थे, उपासनाभावके अन्तर्गत मुख्यरस और गौणरस-रूपसे जो चतुर्दश प्रकारके रसोंका वर्णन पाया जाता है सभीके साधक भक्त उनके लीलाकालमें देखनेमें आये थे, और अनन्त ज्ञानसमुद्रके जितने तरङ्ग हो सकते हैं सभीके प्रवाह उनके विचार तथा कार्यसमूहमें प्रकट हुए थे, यही अनन्त विस्तारमयी कर्मोपासना और ज्ञानसम्बन्धी उनकी पूर्णावतार लीलाका रहस्य है। अतः श्रीकृष्णके विषयमें इस प्रकार प्रश्न करना व्यर्थ है कि उन्होंने इस प्रकारसे इतने कर्म क्यों किये, इस प्रकारसे रासलीला आदि क्यों की; क्योंकि पूर्णावतार होनेके कारण उनके जीवनमें कार्यब्रह्मके भीतर इस प्रकार जीवोंका उत्पन्न होना और इस प्रकारसे अनन्त कर्म, चतुर्दश रसोंका मधुर विलास, गूढ़ ज्ञानका अपूर्व विलास सभीका होना प्राकृतिक नियम तथा विज्ञानके अनुकूल ही था। बल्कि यदि इस प्रकारसे अनन्तकर्म, अनन्त रस और अनन्तज्ञानका विस्तार उस समय न होता तो उनकी पूर्णावतारकी लीला अधूरी रह जाती और वे पूर्णावतार नहीं कहला सकते। अतः शास्त्रज्ञ गम्भीर पुरुषोंको इस प्रकार सन्देहजालमें फंसना नहीं चाहिये। अब नीचे क्रमशः उनकी कर्मोपासनाज्ञानमयी लीलाओंका पृथक् पृथक् स्वरूप निर्णय किया जाता है।

अंशावतारके साथ पूर्णावतारके स्वरूपका भेद निर्णय करते समय पहले ही कहा गया है कि अंशावतारका समस्त कार्य किसी एक भावकी मुख्यता तथा किसी एक भावके लिये पक्षपातको लेकर होता है, परन्तु पूर्णावतारके कार्यमें किसी भी भावका पक्षपात नहीं रहता है। इस विचारको लेकर जीवका कर्म, अंशावतारका कर्म और पूर्णावतारका कर्म इन तीनोंमें परस्पर भेदनिर्णय हो सकता है। जीवभावका मूलकारण रागद्वेष होनेसे जीवका अन्तःकरण कदापि रागद्वेषसे शून्य नहीं हो सकता है। जीव साधनाके द्वारा रागद्वेषको जितना ही नष्ट करता जाता है उतना ही जीवभावसे मुक्त होकर शिवभावको प्राप्त होता जाता है। जब तक जीवत्व हो तब तक जीव सभी कार्य रागद्वेषके द्वारा ही करता है। आत्माके अनुकूल वस्तुमें रागके द्वारा आसक्त होकर जीव कर्म करता है और आत्माके प्रतिकूल वस्तुमें द्वेषके द्वारा प्रेरित होकर द्वेषमूलक कर्म जीव करता है। यही जीवका रागद्वेषमूलक कार्य्य है। अंशावतारमें इस प्रकार रागद्वेषमूलक कार्य नहीं होता है क्योंकि अवतार कोटि जीवकोटिसे ऊपर है। अंशावतारका कार्य समष्टिकर्मके अनुकूल होता है; अर्थात् जिस देश कालमें अंशावतारका आविर्भाव होता है उस देशकालमें उत्पन्न समष्टिजीवोंके प्रारब्धानुकूल कर्म धर्मके अभ्युदयके लिये अंशावतार करते हैं। इसलिये अंशावतारके कार्यमें स्वार्थमूलक रागद्वेषका सम्बन्ध न होकर जिसकी जड़में परार्थ है ऐसे जीवके कल्याण करनेवाले धर्मभावका सम्बन्ध रहता है। और इस प्रकार कार्यके द्वारा उस देशकलामें जगत्‌का कल्याण भी होता है। परन्तु अंशावतारमें अंशकलाका विकाश होनेसे प्रायः किसी भावके अभिनिवेशको लेकर अंशावतार कार्य करते हैं जैसा कि पहले ही रामादि अवतारोंके दृष्टान्त द्वारा समझाया जा चुका है। इसलिये अंशावतारका धर्मोन्नतिमूलक सभी कार्य भावप्रधान होते हैं। उस भावको चरितार्थ करनेके लिये ज्ञान, उपासना आदिका जितना सम्बन्ध रहना चाहिये अंशावतारके कार्यमें ज्ञान और उपासना आदिका उतना ही सम्बन्ध रहता है। उससे अधिक या कम नहीं रहता है। किन्तु पूर्णावतार इन दोनों भावोंसे ही अलग होते हैं। अवतार होनेके कारण जीवकोटिमें अनायास होने वाला रागद्वेष उनमें रह ही नहीं सकता है और पूर्णावतार होनेके कारण अंशावतारकी जो भावमुख्यता है वह भी उनके कार्यमें नहीं रहती है। उनके सभी कार्य भावातीत कोटिके होते हैं

और भावातीत कोटिके होनेसे ही उनके कार्यमें लौकिक धर्म अधर्म, पाप पुण्य, सत्य मिथ्या, न्याय अन्याय, कर्तव्य अकर्तव्य आदि कोई भी बन्धन या भाव नहीं रहता है। उनके भावातीत स्वरूपमें ये सभी लौकिक द्वंद्वमूलक भाव लय होजाते हैं। केवल समष्टिजगत्के चिरस्थायी कल्याणको लक्ष्य करके ही इनके सब कार्य अनुष्ठित होते हैं और समष्टि जगत्के कल्याणका विचार करके ही उनके कार्यमें धर्माधर्मका स्वरूप निर्णय होता है। जिस कार्यमें व्यक्तिगत धर्मका सम्बन्ध है परन्तु समष्टि जगत्कल्याणका सम्बन्ध नहीं है इस प्रकार कार्यको पूर्णावतार कदापि नहीं करते हैं। बल्कि व्यक्तिके विचारसे यदि अधर्म भी हो और उस व्यक्तिगत अधर्मके द्वारा समष्टिगत कल्याण या धर्म सिद्ध होता हो तो पूर्णावतार उस कार्यको अवश्य करेंगे और व्यक्तिगत धर्म्माधर्मके प्रति उपेक्षा करेंगे और इस प्रकार व्यक्तिगत अधर्म या धर्मका संस्कार पूर्णावतारके केन्द्रको कदापि स्पर्श नहीं करेगा। क्योंकि भावातीत स्वरूपमें लौकिक धर्माधर्म स्पर्श नहीं कर सकता है और उस प्रकार कर्मके साथ उनके अपने अभिमानका कोई भी सम्बन्ध न रहनेसे उस प्रकारके कार्योंका अच्छा बुरा कोई भी संस्कार उनके केन्द्रको स्पर्श नहीं करेगा। वे सब धर्म या अधर्मसे होनेवाले संस्कार समष्टि प्रकृतिका आश्रय करेंगे जिसके कल्याणके लिये अपने अभिमानसे शून्य होकर पूर्णावतारने कार्य किया था। यही सब भावातीत अलौकिक भाव पूर्णावतारके कर्ममें रहते हैं। और यही कारण है कि अंशावतारके कार्यसमूहके लौकिक जीवोंके जानने योग्य होनेपर भी पूर्णावतारके कार्यरहस्यको लौकिक जीव जान नहीं सकता है। क्योंकि अलौकिक चरित्ररहस्यको जानना लौकिक जीवोंकी बुद्धिकोटिके बाहरकी बात है। इसीलिये रामादि चरित्र पर सन्देह कम होता है और कृष्ण चरित्र पर इतनी शङ्का होती है। अब श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णके द्वारा किये हुए कुछ जटिल कर्मोंका तथा धर्मसङ्कटोंका वर्णन करके उल्लिखित अलौकिक कर्मके विज्ञानका रहस्य बतलाया जाता है। श्रीभगवान् कृष्णके कर्मजीवनमें ऐसे ऐसे अवसर कई बार आये हैं जिनमें उनके वैसे पूर्णावतारके सिवाय और कोई भी कर्तव्यका निश्चय नहीं कर सकता। महाभारतमें लिखा है कि जिस समय अनेक संग्रामके बाद भी द्रोणाचार्यकी मृत्यु न हुई और उनके भयानक अस्त्रप्रहारसे पाण्डव सैन्योंका बराबर क्षय होने लगा उस समय उनको मारनेके लिये यह उपाय देखा गया

कि उनके पुत्र अश्वत्थामाकी मृत्युका समाचार यदि वे सुनेंगे तो संग्राम करना छोड़ देंगे और उस दशामें द्रोणाचार्यका वध हो सकेगा । तदनुसार द्रोणको लोगोंने जाकर कहा कि अश्वत्थामा मर गये । अन्य पुरुषोंके मुखसे पुत्रकी मृत्युका समाचार सुननेपर भी द्रोणाचार्यको विश्वास नहीं हुआ और उन्होंने कहा कि जब तक धर्मराज युधिष्ठिर इस बातको अपने मुखसे नहीं कहेंगे तब तक उनको पूर्ण विश्वास नहीं होगा । तदनुसार श्रीकृष्णजीने जाकर युधिष्ठिरको कहा—"आप झूठ कह दीजिये कि अश्वत्थामाकी मृत्यु हुई है ।" धर्मराज युधिष्ठिर सत्यप्रतिज्ञ थे इसलिये उन्होंने असत्य कहना अस्वीकार किया । बहुत समझानेपर तब युधिष्ठिरजीने स्वीकार किया कि—

"अश्वत्थामा हतो नरो वा कुञ्जरो वा"

अश्वत्थामा मारे गये हैं मनुष्य या हस्ती ऐसा शब्द कहेंगे क्योंकि उस दिन अश्वत्थामा नामक एक हाथी मारा गया था, इसलिये 'कुञ्जर' शब्दके साथ अश्वत्थामाकी मृत्यु कहना युधिष्ठिरने स्वीकार किया जिससे उनके शब्दमें असत्य बात न होने पावे । परन्तु श्रीकृष्णचन्द्रजीने कहा था कि 'अश्वत्थामा हतः' इतना जोरसे कहना और 'नरो वा कुञ्जरो वा' हाथी या मनुष्य इस बातको धीरेसे कहना क्योंकि 'नरो वा कुञ्जरो वा' जोरसे कहेंगे तो द्रोणाचार्यजीको अश्वत्थामाकी मृत्युपर ठीक विश्वास न होगा और विश्वास न होनेसे युद्धसे न हटेंगे और उनकी मृत्यु भी न होगी । इस प्रकार कृष्ण भगवान्के उपदेशसे प्रेरित होकर युधिष्ठिरजीने वैसा ही किया, 'अश्वत्थामा हतः' इस पूर्वार्द्धको बहुत जोरसे और 'नरो वा कुञ्जरो वा, इसको बहुत धीरेसे कह दिया जिससे द्रोणाचार्य्यको अश्वत्थामाकी मृत्यु होनेमें कुछ भी सन्देह न रहा । इसलिये अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार युद्धसे विरत हुए और मृत्युको प्राप्त किया । महाभारतमें लिखा है कि आजन्म सत्यवादी होनेपर भी इसी मिथ्या भाषणके कारण युधिष्ठिरको नरक दर्शन करना पड़ा था । परन्तु श्रीकृष्णजी जिन्होंने असत्य भाषण युधिष्ठिरसे कराया था, उनको नरक देखना नहीं पड़ा और वे सीधे ही अपने धामको चले गये । अब इसमें विचार यह आता है कि जब लौकिक नीति शास्त्रके अनुसार भी पापके सिखानेवालेके लिये दण्डप्राप्तिकी आज्ञा लिखी है तो श्रीकृष्णजीको नरकदर्शन क्यों नहीं हुआ । पूर्णावतारके कार्य्य-विधिके विषयमें यही सिद्धान्त निश्चय किया गया कि पूर्णावतार किसी भावके

अधीन न होकर जगत्कल्याण बुद्धिसे काम करते हैं, इसलिये यहाँपर भी उसी बुद्धिके अनुसार श्रीकृष्णचन्द्रजीने सोचा था कि द्रोणाचार्य्य जब अधार्म्मिक दुर्योधनके पक्षमें हैं तो उनकी मृत्युके बिना धर्म्मकी जय और संसारका कल्याण होना असम्भव है इसलिये एक तरफ तो युधिष्ठिरकी सत्यप्रतिज्ञाकी रक्षा द्वारा व्यक्तिगत धर्म्मका पालन है और दूसरी ओर पापियोंके नाश और भूभार हरणके द्वारा समस्त संसारका कल्याण है। इसलिये समष्टि और व्यष्टिगत धर्म्मके विचारसे द्रोणाचार्य्यका मरण होना ही उस समय धर्म्म था और यदि उसके लिये किसीको असत्य भी बोलना पड़े तो असत्य भी धर्म्म था। पूर्णज्ञानी पूर्णावतार श्रीकृष्णके हृदयमें इस धर्म्मसंकटकी मीमांसा दृढ़मूल थी, इसलिये उनको इस संसारके कल्याणकी बुद्धिसे किसीसे असत्य कहलानेमें भी संकोच नहीं था, इसके सिवाय स्वाभिमान और स्वार्थशून्य होनेके कारण उनके भावातीत स्वरूपकेसाथ सत्यासत्य भाषणका, पुण्य पापका कोई सम्पर्क नहीं था, यही कारण है कि श्रीकृष्णजीपर मिथ्या भाषण करानेका कोई पाप न हुआ और वे सीधे अपने धामको चले गये। परन्तु युधिष्ठिरमें इस प्रकारकी ज्ञानमयी उदार बुद्धि नहीं थी। युधिष्ठिरको कभी नरक दर्शन नहीं करना पड़ता यदि स्वाभिमानको छोड़कर भगवान् श्रीकृष्णकी तरह ज्ञानमयी बुद्धिसे विचार करते कि व्यक्तिगत धर्म्मके साथ समष्टिगत धर्म्मकी तुलनाके तथा उस देश कालमें जगत् कल्याणके विचारसे झूठ बोलना ही उस समय धर्म्म है। दूसरी बात ज्ञानका इतना ऊंचा अधिकार न होनेपर भी भक्तिके पक्षका भी आश्रय लेकर महात्मा युधिष्ठिर इस प्रकार विचार करते कि श्रीकृष्णचन्द्र पूर्णब्रह्म नारायण और परमज्ञानी गुरु हैं संसारमें धर्म्मरक्षाके लिये इनका अवतार हुआ है। इसलिये अपना यह कर्त्तव्य है कि जैसी वे आज्ञा करें गुरुबुद्धिसे उसको मानते जायँ और फलाफल उन्हींमें अर्पण करते जायँ, इस प्रकार भक्तिमूलक समर्पण बुद्धि होने पर भी युधिष्ठिरको नरक देखना नहीं पड़ता। सो उनमें दोनों भावोंमें कोई भाव भी नहीं था अर्थात् न उनमें श्रीकृष्णकी तरह ज्ञानमयी उदारबुद्धि ही थी और न भक्तिके द्वारा समर्पण बुद्धिही थी उनमें केवल कार्पण्यदोष था जिसके कारण, ऐसा कहें कि न कहें, इस प्रकार उनके चित्तमें सन्देह था और अन्तमें कर्मचक्रके अनुसार श्रीकृष्णके प्रभावमें भी आ गये जिस कारण 'अश्वत्थामा हतः' इतना शब्द जोरसे और नरो वा कुञ्जरो वा इतना धीरेसे कहना स्वीकार

कर लिया। इसी कार्पण्यदोषके कारण मिथ्याभाससे युधिष्ठिरको नरक दर्शन करना पड़ा। यही पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें निष्काम कर्मयोगकी भावातीत गति है, जिसका आश्रय करके अपूर्व रूपसे संसारका कल्याण साधन कर दिया था और धर्म्माधर्म्म सत्यासत्य और पाप पुण्य आदि द्वन्द्वके सम्पर्कसे रहित होकर अनायास अनन्त धामको प्राप्त भी हो गये थे। ऐसे ऐसे अनेक धर्मसंकटोंकी मीमांसा इनके कर्मजीवनमें मिलती है, जिससे कर्मके साथ साथ ज्ञानका सामञ्जस्य उनके जीवनमें पाया जाता है।

श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णचरित्रमें उपासनाकी महिमा जिस प्रकार दिखाई गई है, महाभारतके अन्तर्गत गीतामें श्रीकृष्ण चरित्रमें कर्म्म और ज्ञानकी पूर्णताका सुन्दर चित्र उसी प्रकार दिखलाया गया है। समस्याकी मीमांसा, भविष्यत्के पूर्ण ज्ञानका वर्णन, अवश्यकर्तव्यके पालनमें निःसङ्कोच प्रवृत्ति, जगत् कल्याण बुद्धिकी पराकाष्ठा, नीति और ज्ञानको साथ साथ मिलाकर उदार बुद्धिसे काम करना ये सब ज्ञानयोग और कर्म्मयोगके उदार आदर्श श्रीकृष्णजीवनके हर एक पदमें मिलते हैं। महाभारतका संग्राम देवासुर-संग्रामकी तरह अवश्यंभावी है इसको कोई नहीं रोक सकता, इस प्रकार पूर्ण-ज्ञान रहनेपर भी अन्तिम दशातक श्रीकृष्णजीने सन्धिके प्रस्तावका ही समर्थन किया था, और केवल पांच ग्राम लेकर संग्रामाग्नि निवृत्त करनेकी यदि सम्भावना हो तो उसमें भी श्रीकृष्णजी तैयार थे।

"योगस्थः कुरु कर्म्माणि संगं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते॥"

हे अर्जुन! आसक्तिको त्यागकर युक्त होकर कर्म्म करो, सिद्धि और असिद्धि दोनोंमें समभाव रखो क्योंकि चित्तका समभाव रखना ही योग है। अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णका यह उपदेश उनके अपने जीवनमें कर्म्मयोगका मूलमंत्र था इसलिये केवल कर्त्तव्यके अनुरोधसे ही श्रीकृष्णजी कुरु पाण्डवोंको संग्रामसे निवृत्त होनेको भी कहते थे, और दैव बलवान् होनेके कारण लड़ाई अवश्य होगी ऐसा भी बतलाया करते थे। जिस समय कौरव और पाण्डवोंके संग्रामके पूर्व विराट् देशके राजाके गृहमें विचार सभा बैठी थी और राज्यप्राप्तिके निमित्त पाण्डवोंको क्या करना चाहिये यह विचार हो रहा था, उस समय श्रीकृष्णजीने जो बातें कही थीं उनसे उनमें नीति और ज्ञानका पूर्ण सामञ्जस्य प्रमाणित

होता है। श्रीकृष्णजीने उस समय पाण्डवोंको युद्ध करनेको भी नहीं कहा और क्षमाका भी समर्थन नहीं किया, केवल कौशलसे अद्वितीय राजनीतिज्ञकी तरह कर्तव्य विषयका निर्देश कर दिया। कुरु पाण्डवोंके बीचमें आपसके मनोमालिन्यके सब कारणोंको क्रमसे कहकर दोनों पक्षोंके दोषादोषको निरपेक्ष रूपसे आलोचना करके श्रीकृष्णजीने कहा कि "इस दशामें कौरव और पाण्डव दोनों पक्षोंके लिये जो कल्याणकर कार्य न्याय तथा धर्म्मके अनुकूल है सो आप लोग स्वयं ही चिन्ता करें। अधर्माचरण द्वारा यदि देवताओंका भी राज्य प्राप्त हो उसकी भी इच्छा युधिष्ठिर नहीं करेंगे। धर्मके अनुसार यदि एक ग्राम भी उनको प्राप्त हो तो उससे भी उनको सन्तोष रहेगा।" इस नीतिपूर्ण उपदेशमें श्रीकृष्णजीने संग्राममें प्रवृत होनेका उपदेश नहीं दिया परन्तु आवश्यकतानुसार धर्मयुद्धसे निवृत होनेको भी नहीं कहा। कौरवपक्षसे सञ्जय आकर जिस समय युधिष्ठिरको युद्धसे निवृत्त करनेके लिये उपदेश कर रहे थे, उस समय श्रीकृष्णचन्द्रने जो सञ्जयको उपदेश दिया था वह भी नीति और ज्ञानके सामञ्जस्यसे पूर्ण है। उन्होंने कहा था कि "मैं पाण्डव और कौरव दोनोंका ही कल्याण चाहता हूं और जिससे संग्रामकी इच्छासे निवृत्त होकर दोनों पक्ष शान्तिका अवलम्बन करें यही मेरे हृदयकी इच्छा है परन्तु राज्यके निमित्त शान्तिका होना दुष्कर है क्योंकि युधिष्ठिर क्षत्रिय हैं और राज्यरक्षा करना उनका धर्म्म है। धृतराष्ट्रके पुत्रगण इस धर्म्मरक्षाके विषयमें विरोधी हैं अतः इस दशामें उपेक्षा करना युधिष्ठिरके लिये धर्म्म होगा या तमोगुणमात्र होगा सो विचार करने योग्य है। संसारमें कर्म्महीन ज्ञान शब्दका आडम्बरमात्र है इसलिये सिद्धिके विषयमें कर्म्मसाधनका अवश्य प्रयोजन है। प्यासा जन जलपानसे ही शान्ति पा सकता है व्यर्थ शब्दके आडम्बरके द्वारा नहीं। दुर्योधनने बिना कारण पाण्डवोंका धर्म्मानुगत पैतृकराज्य अपहरण किया है परराज्यग्रहण की अपेक्षा अपने पैतृक राज्यका उद्धार करना धर्म्मानुकूल तथा श्रेष्ठ है इसमें सन्देह ही क्या है।" इन सब वचनोंके द्वारा नीति और ज्ञानका पूर्ण सामञ्जस्य श्रीकृष्णजीने दिखलाया है। युद्ध न होकर शान्ति स्थापना हो इसकी भी उन्होंने इच्छा प्रगट की है और आवश्यकतानुसार धर्म्मयुद्ध अनिवार्य है इसका भी इङ्गित करके कर्त्तव्यका निश्चय कर दिया है। यही श्रीभगवान् कृष्णके आदर्शजीवनमें कर्मयोग और ज्ञानयोगका अपर्व साम-

अस्य है। कर्मयोग और ज्ञानयोगका अपूर्व सामञ्जस्य तथा धर्मसङ्कटकी अपूर्व मीमांसाका दृष्टान्त महाभारतके कर्णपर्वमें श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके जीवनमें प्राप्त होता है, उसमें लिखा है कि महावीर कर्णके सेनापतित्वमें जब कौरव सैन्य लड़ता था तब कर्णके युद्धकौशलसे पाण्डवसैन्योंका निरन्तर नाश होने लगा और अर्जुनके विशेष परिश्रम करने पर भी कर्णका वध नहीं हो सका। इसलिये युधिष्ठिरने क्रुद्ध होकर अर्जुनको तिरस्कार किया और कहा—"तुम्हारा गाण्डीव धारण करना वृथा है, इसलिये और किसी समर्थ वीरपुरुषको गाण्डीव प्रदान करो।" अर्जुनकी यह प्रतिज्ञा थी कि यदि कोई उनके गाण्डीवकी निन्दा या उसे परित्याग करनेको कहेगा तो अर्जुन उसका प्राणनाश करेगा। इस प्रतिज्ञाके अनुसार उत्तेजित होकर अर्जुनने युधिष्ठिरके प्राणविनाशार्थ खड्ग उठाया। अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णको पता लग गया और उन्होंने वहां पहुंचकर अर्जुनको जो उपदेश किया उसमें श्रीकृष्णकी जगत्कल्याण करनेवाली उदार नीति, धर्माधर्मका देशकालानुकूल पूर्ण विवेचन तथा कर्मयोग और ज्ञानयोगका अपूर्व सामाञ्जस्य पूर्णरूपसे झलकता है। श्रीकृष्णचन्द्रजीने अपने भावातीत पूर्णस्वरूपके अनुसार यह विचार किया कि एक ओर तो अर्जुनका प्रतिज्ञापालनरूप व्यक्तिगत धर्म है और दूसरी ओर कौरववधरूप समष्टिगत धर्म है। क्योंकि यदि व्यक्तिगत धर्मरक्षाके लिये अर्जुन युधिष्ठिरको मार देगा तो ज्येष्ठभ्राताको वध करके अनुतापसे चार भाई स्वयं भी आत्महत्या कर लेगें और ऐसा होनेसे कौरवोंका विजय होगा, और अधर्मपक्षका विजय होने पर संसारमें पाप फैलेगा और पापभारसे संसार भाराक्रान्त होजायगा। इस तरहसे उनका अवतार लेने का उद्देश्य भी व्यर्थ होजायगा। इसलिये इस धर्मसङ्कटमें समष्टि व्यष्टि विचारसे अर्जुनकी सत्यप्रतिज्ञा तोड़ना ही धर्म्म है। ऐसा ज्ञानपूर्ण विचार करके श्रीकृष्णजीने अर्जुनको ललकारके कहा—"अर्जुन तुम ज्ञान और धर्मरक्षाका अभिमान करते हो, परन्तु कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विषयमें विमूढ होकर प्रत्यक्ष अधर्माचरण कर रहे हो। धर्मका क्या उदार लक्षण है इसको तुम जानते ही नहीं हो। उन्होंने कहा—

धारणाद्धर्ममित्याहुर्धर्म्मो धारयते प्रजाः ।
यत्स्याद्धारणसंयुक्तं स धर्म इति निश्चयः ॥

अहिंसार्थाय भूतानां धर्मप्रवचनं कृतम् ।
यत्स्यादहिंसासंयुक्तं स धर्म इति निश्चय ॥

जिस शक्तिके द्वारा सृष्टिकी धारणा अर्थात् रक्षा हो उसीको धर्म कहते हैं, इसलिये धर्म अहिंसामूलक है हिंसामूलक नहीं है। तुम जो व्यक्तिगत धर्मपालनके लिये भाईकी हिंसा तथा समष्टिगत अधर्मको स्थान दे रहे हो, उसमें धर्म्म नहीं होगा, अधर्म ही होगा और तुम्हें जो सत्यप्रतिज्ञा भङ्ग होनेका भय है उसमें वक्तव्य यह है—

प्राणिनामवधस्तात सर्वज्यायान् मतो मम ।
अनृतां वा वदेद्वाचं न तु हिंस्यात् कथञ्चन ॥
तत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यञ्चाप्यनृतं भवेत् ।
सत्यानृते विनिश्चित्य ततो भवति धर्मवित् ॥

प्राणियोंकी अहिंसा ही सर्वप्रधान धर्म है। उसके लिये यदि सत्य-प्रतिज्ञा भङ्ग हो अथवा मिथ्या बोलना पड़े सो भी करना ठीक है, किन्तु हिंसा करना ठीक नहीं है और केवल सत्य बोलना ही सत्य नहीं है। क्योंकि देशकाल भेदके अनुसार मिथ्या भी सत्य होता है और सत्य भी मिथ्याके तुल्य पापका उत्पन्न करने वाला होता है। इसलिये देशकालानुसार समष्टिलोककल्याण-का विचार रखते हुए सत्य मिथ्याका तत्त्व निश्चय करके तब मनुष्य धर्मानुष्ठान कर सकता है। इतना कह कर श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीने एक दृष्टान्त दिया। यथा—कौशिक नामक एक तपस्वी ब्राह्मण थे जिन्होंने सदा सत्य कहनेकी प्रतिज्ञा की थी; परन्तु शास्त्रविषयमें उनको विशेष ज्ञान नहीं था। एक दिन डाकूके भयसे भाग कर कुछ लोग उनके तपोवनमें आये और एक स्थानमें छिपे रहे। थोड़ी देरमें डाकू आये और कौशिक मुनिको वे लोग कहां गये ऐसा पूछने लगे। कौशिक मुनिको पता लगा कि वे सब भागे हुए मनुष्योंकी खोजमें हैं और मिलने पर उनको मार देंगे। इतना जानने पर भी व्यक्तिगत सत्यप्रतिज्ञाभङ्ग होनेके भयसे कौशिक मुनिने डाकूओंको कह दिया कि वे सब लतागुल्मसे घिरे समीपके वनमें प्रवेश किये हुए हैं। कौशिकका वचन सुनकर डाकूओंने पता लगा लिया और उन निरपराधी मनुष्योंका प्राणविनाश कर दिया। इस प्रकारसे व्यक्तिगत

धर्मरक्षाके लिये हिंसामूलक समष्टिगत अधर्म संग्रह करनेके कारण कौशिक मुनिको नरक हुआ था। इसलिये केवल सत्य बोलना ही धर्म नहीं है। देशकालानुसार कहीं मिथ्या बोलनेसे भी धर्म होता है और कहीं सत्य बोलनेसे भी अधर्म होता है। इसके अनन्तर श्रीकृष्णजीने अर्जुनको धर्मनीतिके अनेक उपदेश दिये। यथा—

भवेत् सत्यमवक्तव्यं वक्तव्यमनृतं भवेत्।
यत्रानृतं भवेत् सत्यं सत्यञ्चाप्यनृतं भवेत्॥
प्राणात्यये विवाहे च वक्तव्यमनृतं भवेत्।
सर्वस्वस्यापहारे च वक्तव्यमनृतं भवेत्॥
विवाहकाले रतिसंप्रयोगे प्राणात्यये सर्वधनापहारे।
विप्रस्य चार्थे ह्यनृतं वदेत पञ्चानृतान्याहुरपातकानि॥
सत्यस्य वचनं साधु न सत्याद्विद्यते परम्।
तत्त्वेनैव सुदुर्ज्ञेयं पश्य सत्यमनुष्ठितम्॥
अधर्मं नात्र पश्यन्ति धर्मतत्त्वार्थदर्शिनः।
यत् स्तेनैः सह सम्बन्धान्मुच्यते शपथैरपि॥
श्रेयस्तत्रानृतं वक्तुं तत् सत्यमविचारितम्।
न च तेभ्यो धनं देयं शक्ये सति कथञ्चन॥
पापेभ्यो हि धनं दत्तं दातारमपि पीडयेत्।
तस्माद्धर्मार्थमनृतमुक्त्वा नानृतवाग् भवेत्॥

अनेक अवसरोंपर सत्य भी बोलने लायक नहीं होता है और असत्य ही बोलने लायक होता है। प्राणनाशके समयपर तथा विवाह और सर्वनाशके समय असत्य भी बोलना होता है। विवाहकाल, रतिसंयोग, प्राणनाश, सर्वधन-हरण और ब्राह्मणोंके उपकारके समय झूठ बोलने पर भी पाप नहीं होता है। सत्य बड़ी ही अच्छी वस्तु है, इससे उत्तम और कुछ नहीं है परन्तु विचारके साथ सत्य बोलना कर्तव्य है। यदि चोरसे छुटकारा पानेके लिये असत्य शपथ भी करना पड़े तो धर्मतत्त्वके जाननेवाले उसको भी अधर्म नहीं समझते हैं। इस प्रकार मौका होने पर मिथ्या बोलना श्रेष्ठ है तथापि धन देना ठीक नहीं

है। पापीको धन देनेसे दाताको भी दुःख पहुँचता है, इसलिये धर्मके लिये असत्य बोलने पर भी झूठा नहीं कहलाता । इतना कह कर इस धर्मसङ्कटमें व्यक्तिगत-धर्मकी भी रक्षा हो और समष्टिगत धर्मकी भी रक्षा हो इस कारण दोनों ओरके सामञ्जस्य करनेके लिये श्रीकृष्णजीने कहा—

यदा मानं लभते माननार्हस्तदा स वै जीवति जीवलोके ।
यदावमानं लभते महान्तं तदा जीवन्मृत इत्युच्यते सः ॥
त्वमित्यत्रभवन्तं हि ब्रूहि पार्थ युधिष्ठिरम् ।
त्वमित्युक्तो हि निहतो गुरुर्भवति भारत ॥

सम्मान प्राप्त होना ही पूज्यपुरुषोंका जीवनधारण है, अपमानित होना उनके लिये मृत्युतुल्य है। इसलिये तुम पूज्य युधिष्ठिरको तू कह कर पुकारो तो इससे युधिष्ठिरका अपमान हो जायगा और अपमान होना ही उनके लिये मृत्युके बराबर हो जायगा। श्रीकृष्णके वचनानुसार अर्जुनने ऐसा ही किया जिससे युधिष्ठिरका प्राण बच गया, अर्जुनकी प्रतिज्ञाकी रक्षा भी हो गई और सब ओरका सामञ्जस्य विधान हो गया। इस प्रकारसे धर्म-संकटकी मीमांसा और समष्टिजगत्‌की कल्याणबुद्धिसे सब ओर देखकर,धर्मनीति बताना श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके जीवनमें कर्मयोग और ज्ञानयोगके अपूर्व सामञ्जस्यका दृष्टान्त है इसमें कोई सन्देह नहीं है। पूर्णज्ञानी पूर्णावतारके सिवाय इस प्रकार पूर्णकौशलयुक्त, पूर्णज्ञानमय धर्मनीतिका उपदेश और कोई भी नहीं कर सकता है। यदि किसी अंशावतारके जीवनमें इस प्रकार धर्मसंकट आ पड़ता तो उनसे सामञ्जस्यके साथ इस प्रकार उदार धर्मनीति नहीं कही जा सक्ती, वे जिस भावका प्राधान्य लेकर अवतरित हुए हैं उसी भावकी मुख्यताको रखकर, विचार कर देते और वह विचार इतना उदार कभी नहीं हो सकता। यही अंशावतार और पूर्णावतारमें उदारनीतिमूलक विचारपार्थक्य है। जगत्‌के कल्याणसाधन तथा पृथिवीके भारहरण द्वारा धर्मरक्षाके लिये अनुष्ठित इस प्रकार और भी अनेक अपूर्व नीतिके दृष्टान्त श्रीकृष्णके जीवनमें प्राप्त होते हैं। जिस समय रणविजयके लिये दुर्योधन परम धार्मिक युधि-ष्ठिरको पूछने आया था कि किस प्रकारसे उसका शरीर अविनाशी हो सकता है उस समय धर्मके तत्त्वज्ञाता युधिष्ठिरने निःसङ्कोच होकर कह दिया कि तुम्हारी माताके पास नग्न होकर जाओ और वह यदि अपनी आँखोंकी पट्टी

खोलकर सिरसे पांओं तक तुम्हें देख लेगी तो तुम्हारा सारा शरीर वज्र हो जायगा, फिर तुम्हें कोई नहीं मार सकेगा। यह बात शास्त्रसिद्ध है कि तपस्या द्वारा किसी इन्द्रिय या अङ्गप्रत्यङ्गका संयम करनेसे उसमें बहुत शक्ति बढ़ जाती है। योगदर्शनमें इसप्रकार तपोमूलक अनेक सिद्धियोंके वर्णन मिलते हैं। यथा—

"सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम्"

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

बहुत वर्षोंतक मन और वाणीके व्यवहारसे सत्यकी सदा रक्षा करनेसे ऐसे मनुष्य जो कहते हैं सो ही सत्य होता है। इस प्रकार मन, वचन शरीरके द्वारा हिंसा न करनेसे कुछ वर्षोंके बाद अहिंसाभावकी प्रतिष्ठा होजाती है, उस समय यह होजाता है कि कोई हिंसक जीव भी ऐसे मनुष्यके पास आवे तो वह भी अपनी हिंसाको भूल जाता है। शास्त्रमें जो शान्त ऋषि मुनियोंके आश्रम तथा उनके जीवनके विषयमें लिखा है कि उनके आश्रममें सिंह और मृग साथ रहते और खेलते हैं और ऋषियोंके सामने शेरके आनेपर भी उनपर चोट नहीं करके वह अपनी हिंसावृत्तिको भूल जाता है; इसी प्रकार शिवरूप शान्त शंकरका स्थान जो कैलास है उसके विषयमें भी जो वर्णन मिलता है कि कैलास आश्रममें सर्प नकुल, सिंह मृग, मयूर सर्प, आदि सभी जीव खाद्यखादक सम्बन्धको भूलकर साथ मिले रहते हैं, इसमें ऊपर कथित तपोविज्ञान ही कारण है; क्योंकि शंकरके हृदयमें तथा मुनियोंके हृदयमें अहिंसाकी प्रतिष्ठा होनेसे उनके स्थानमें भी उसी शान्तरसका प्रादुर्भाव रहता है, जिसके भीतर आतेही स्थानप्रभावसे हिंस्रजन्तुओंके भीतरसे भी हिंसाभाव नष्ट होजाता है। यही कारण है कि अहिंसाकी प्रतिष्ठासे हिंस्रजन्तुओंके पास आने पर भी उनके हृदयमें वैरभाव या हिंसाभावका उदय नहीं होता है अनादिसिद्ध सृष्टिनियमके भीतर क्रियामात्रकी तदनुरूप प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक है इसलिये मानसिक तप द्वारा मन संयम करनेवालेको विशेष मानसिक शक्ति प्राप्त होती है और मानसिक संयमहीन स्त्री पुरुषका मन दुर्बल होता है। वचनके संयम द्वारा वाक्शक्ति और वाग्मिता लाभ होती है, परन्तु अनर्गल वचन बोलनेसे वाक्शक्ति नष्ट होती है। वीर्य्यके संयमसे अमोघवीर्य तथा शक्तिमान्, प्राणवान्, ज्ञानवान् होते हैं और

वीर्यके असंयमसे हतवीर्य, शक्तिहीन, प्राणहीन और ज्ञानहीन होजाते हैं। धनके उपयुक्त पात्रमें सद्व्यय द्वारा मनुष्य अच्छी सम्पत्ति प्राप्त करते हैं, और धनका दुरुपयोग करने पर आगेके जन्ममें अथवा इसी जन्ममें धनहीन भिखारी होते हैं। यही सब प्राकृतिक सृष्टि नियमके भीतर क्रिया प्रतिक्रिया का यथार्थ रहस्य है जिससे कोई भी नहीं बच सकता। इसी नियमके अनुसार जब देखनेकी पूर्णशक्ति होने पर भी दुर्योधनकी पतिव्रता माता गान्धारीने अपने पति धृतराष्ट्र जन्मान्ध होनेके कारण देख नहीं सक्ता है इसलिये स्वयं भी देखना छोड़ दिया और अपनी आंखों पर पट्टी बांध ली, तो इस पातिव्रत्यमूलक कठिन तपस्याका अवश्य ही यह फल होगा कि दृष्टिके संयमसे उनकी आखोंमें ऐसी शक्ति उत्पन्न होगी कि वह जिस पर ताक देगी उसका समस्त शरीर बज्र होजायगा। धर्मके सूक्ष्म तत्त्ववेत्ता युधिष्ठिरको यह सिद्धान्त परिज्ञात था इसलिये दुर्योधनके पूछने पर उन्होंने उसको इस प्रकार उपदेश कर दिया। युधिष्ठिरकी बातको सुनकर दुर्योधन बहुत प्रसन्न होगये और माताको कह कर उनके पास नग्नशरीर हो जाने लगे। अन्तर्यामी भगवान् श्रीकृष्णजीने इस घटनाको जान लिया और देखा कि महान् अनर्थ होने वाला है; क्योंकि पापी दुर्योधनका यदि इस प्रकारसे देह वज्रके तुल्य बन जायगा तो पाण्डवपक्षका विजय नहीं हो सकेगा और ऐसा होनेसे संसारमें पापका नाश होकर धर्मका उद्धार नहीं हो सकेगा। इस प्रकार जगत्कल्याणमूलक धर्मनीतिका अवलम्बन करके श्रीकृष्ण शीघ्रही माताके पास जाते हुए दुर्योधनके पास पहुँचे और अपनी मोहिनी मायाके द्वारा उसकी बुद्धिको आच्छन्न कर कहा—"दुर्योधन! तुम नग्न होकर कहाँ जा रहे हो?" दुर्योधनने आद्योपान्त समस्त घटना कह दी जिसपर श्रीकृष्णजीने उसे तिरस्कार कर कहा—"तुम बड़े निर्लज्ज हो, ऐसे युवक पुत्र नग्न होकर माके पास कैसे जा रहे हो! यह ठीक नहीं है इसलिये कमसे कम गुह्य स्थानको किसी वस्तुसे ढाक करके तब जावो, यही युक्तिसंगत और मनुष्यत्व है।" दुर्योधन श्रीभगवान्‌की मायामें फंस गया और गुह्यदेशको ढाक करके माताके पास गया। माता गान्धारीने आखोंकी पट्टी खोलकर दुर्योधनको सिरसे पांवतक देखा, परन्तु उरू देश को ढाके हुए देखकर हताश हो कहा—"तुम निश्चय ही श्रीकृष्णके चक्रमें आये हो। उन्होंने तुम्हे इस प्रकार राय दी होगी। दैव बलवान् है इसलिये मेरे देखनेसे तुम्हारे

अन्य सब अंग वज्र तो हो जायेंगे, परन्तु उरूदेश वज्र नहीं हो सकेगा और उसी देशमें आहत होकर तुम्हारी मृत्यु होगी ।" सो ही हुआ, भीमसनने गदाघातसे दुर्योधनका उरू भग्न कर दिया था और इसीसे उसकी मृत्यु हुई थी। इस घटनामें यद्यपि दुर्योधनके साथ चातुरी करना रूप लौकिक अधर्म-भाव श्रीकृष्णमें पाया जाता है परन्तु पूर्वोक्त उदार जगत्कल्याणमूलक धर्म नीतिके सामने यह चातुरी भी देश कालानुसार धर्म ही है, और समष्टिगत कल्याणमूलक इस उदार धर्मनीतिका आश्रय करके ही श्रीभगवान् कृष्ण-चन्द्रजीने इस प्रकार चातुरी की थी, जो उनके भावातीत स्वरूपके विचारसे ठीक ही था। यही उनके उदारजीवनमें कर्मयोग और ज्ञानयोगका अपूर्व सामञ्जस्य है । इस प्रकारसे उनके जीवनके स्तर स्तरमें उदार धर्मनीति, पूर्णज्ञान, पूर्णकर्मयोग, भावातीत अलौकिक भाव तथा जगत् कल्याण करनेके बहुत बहुत दृष्टान्त मिलते हैं जो पूर्व वर्णित विज्ञानके अनुसार विचार करने पर सम्पूर्ण युक्तियुक्त सिद्ध होजाते हैं। प्रसंगोपात्त केवल दो चार दृष्टान्त यहां पर सन्निवेशित किये गये। अपनी अवतारलीलाके बीचमें श्रीकृष्णजीको कई सहस्र कन्याओंका पाणिग्रहण करना पड़ा था। परन्तु उन सभी विवाहोंका मूल खोजने पर यह पता लगेगा कि उन्होंने अपनी किसी लौकिक इच्छाको चरितार्थ करनेके अभिप्रायसे लौकिक जनोंकी तरह कोई भी विवाह नहीं किया था। उनके सभी विवाह पतिभावमें तपस्यापरायण स्त्रीपुरुषोंको तपः फल प्रदानके अर्थ ही हुए थे । जिस प्रकार 'श्रीभगवान् जैसे मेरे पुत्र हो,' इस कामनासे तपस्या करनेके कारण श्रीभगवान्को वसुदेव देवकीका पुत्र बनना पड़ा था, जिस प्रकार "श्रीभगवान्से शरीर मन प्राण द्वारा रमण प्राप्तहो' इस भावसे तपस्यापरायण मुनियोंको और श्रुतियोंको गोपीरूपसे जन्म-दान करके पतिभावमें उनसे प्रेम करना पड़ा था, ठीक उसी प्रकार रुक्मिणी आदि अनेक स्त्रियोंको जिन्होंने "श्रीभगवान् मेरे पति होजायं" इसी काम-नासे तपस्या की थीं, केवल उनका तपःफल देनेके लिये ही कृष्णावतारमें श्रीभगवान्को पत्नीरूपमें ग्रहण करना पड़ा था। उसमें अपने ओर की कामना कारण नहीं थी, क्योंकि आत्माराम, भावातीत भगवान्में कामना ही क्या हो सकती है, केवल भक्तोंकी ओरकी ही कामना इन सब विवाहमें कारण-स्वरूप थी और जब भगवान् धर्मार्थकाममोक्षरूपी चतुर्वर्ग फल प्रदानके लिये चतुर्हस्त हैं तो यदि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र इस प्रकारसे भक्तोंका

मनोरथ उनके अधिकार, तपस्या तथा साधनानुसार पूर्ण न करते तो उनके भगवत्स्वरूपमें असम्पूर्णता रह जाती। यही श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रका षोडश सहस्र (सोलह हज़ार) रानियां ग्रहण करनेका कारण था। केवल भक्तके मनोरथकी पूर्ति ही लक्ष्य होनेके कारण उन सब स्त्रियोंसे मायाके आश्रयद्वारा उत्पन्न लक्ष लक्ष यादवगणको अवतारलीलाके समाप्त होते समय देशद्रोही और प्रमादी जानकर उन्होंने ब्रह्मशापके छलसे स्वयं ही मरवा दिया था और स्वयं भी अपने धामको सिधार गये थे। यही सब उनके जीवनमें कर्म और ज्ञानका अपूर्व सामञ्जस्य है।

धर्म्मनामक अध्यायमें धर्मके अङ्गोपांगोंका जो कुछ वर्णन किया गया है वे सब यज्ञ नामसे अभिहित होते हैं और महायज्ञके विषयमें विस्तारित वर्णन किया ही गया है। मनुष्यके व्यक्तिगत धर्मको यज्ञ कहते हैं और मनुष्यके जातिगत समाजगत अथवा ब्रह्माण्डके कल्याणार्थ जो धर्म्म किया जाय उसको महायज्ञ कहते हैं। यद्यपि सब अवतारोंके कर्मोंका ही महायज्ञके साथ अधिक सम्बन्ध है परन्तु पूर्णावतारमें तो सिवाय महायज्ञके लक्ष्यके उनके कर्म्मोंमें और कोई लक्ष्य हो ही नहीं सकता है। महायज्ञकी पूर्णता पूर्णावतारमें ही हो सकती है। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीकी जीवनीमें छोटेसे छोटे कर्मसे लेकर बड़ेसे बड़े कर्म पर्य्यन्त जो कुछ कर्म संसाधित हुए हैं वे सब महायज्ञके पूर्णलक्ष्यको सामने रखकर हुए हैं। इसी कारण साधारण बुद्धिसे साधारण मनुष्यगण श्रीभगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके किये हुए कर्म्मोंमें नाना प्रकारकी शंकाएँ करते हैं और उनकी लीलाके बहुतसे कर्म्मोंको सदोष समझने लगते हैं। शास्त्रका यथार्थ रहस्य न समझनेसे लोगोंको इस प्रकार भ्रममें पतित होना पड़ता है। ऊपर कथित मीमांसासे यह प्रकट हो जायगा कि कोई कर्म्म जब केवल व्यक्तिगत यज्ञके लक्ष्यसे देखा जाय तो उसका स्वरूप कुछ और दिखाई देता है और जब समष्टिगत महायज्ञरूपसे उसकी पर्य्यालोचना की जाय तो उसका कुछ और ही स्वरूप प्रकट होता है। अतः ऊपर कथित मीमांसासे यह सिद्ध हुआ कि श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके किये हुए सब कर्म्म दोषशून्य थे और वे जगत्कल्याणकारी महायज्ञ होनेसे सर्व्वजीवहितकर तथा परमपुण्यजनक थे इसमें सन्देह नहीं। पूर्व्वकथित श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके और और कर्म्म जो अन्य लोगोंके साथ किये गये वे तो स्पष्ट ही हैं और यहांतक कि श्रीभगवान्ने अपने पारिवारिक कर्म्मोंमें भी महायज्ञके लक्ष्यका परित्याग

नहीं किया था । बहुविवाह पितृऋण आदि उद्धारके लक्ष्यसे अनावश्यक होनेसे यद्यपि धर्म्म वा यज्ञ वाचक नहीं हो सकता क्योंकि पितृऋणसे उद्धार होनेके लिये ही विवाह किया जाता है और पितृऋणके उद्धारार्थ यदि एक पुत्र भी हो जाय तो द्वितीय विवाहकी आवश्यकता शास्त्र नहीं सिद्ध करते हैं परन्तु यहां श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके चरित्रमें महायज्ञका लक्ष्य और ऐश कर्मका संसाधन होना ही उनके बहुविवाह करनेका कारण था । महायज्ञका लक्षण तो ऊपर स्पष्ट ही है और ऐश कर्मके विषयमें केवल इतना कहना ही यथेष्ट होगा कि कर्म्म तीन प्रकारका होता है-सहज, जैव और ऐश । प्रकृतिकी स्वाभाविक चेष्टासे जो कर्म्म होता है उसको सहज, कर्म्म कहते हैं । सहज कर्म्मके साथ व्यक्तिगत जीवका कोई सम्बन्ध नहीं रहता । जैवकर्म मनुष्योंके संगृहीत प्रारब्धसे उत्पन्न होता है, मनुष्य ही इसके लिये जिम्मेवार है और ऐश कर्म वह कहाता है कि जो जगन्नियन्ता श्रीभगवानके इङ्गितसे मुक्त पुरुषोंमें अथवा उनके अवतारोंमें होता है । सहज कर्म ब्रह्माण्डकी स्वाभाविक प्रकृतिसे साक्षात् सम्बन्ध रखता है, जैवकर्म मनुष्योंकी वासनासे साक्षात् सम्बन्ध रखता है और ऐश कर्म श्रीभगवान्की लोककल्याणकारी इच्छाका फल है । अनेक देवताओंकी मनुष्यरूपसे उत्पत्ति, मनुष्यसमाजका स्वास्थ्य विधान आदि पितरोंकी समष्टि इच्छाके पूर्ण करनेके लिये श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने बहुविवाह किया था । इसकारण वह कर्म महायज्ञ था । दूसरी ओर अनेक उन्नत जीवोंको शुभफल प्रदान करनेके अर्थ उनका बहु विवाह करना ऐश कर्म था । अपने पुत्रादिक पर स्नेहका प्रत्यक्ष परिचय न देकर सब जानते हुए भी उनको आपसमें लड़ाकर मरवा देना भी इन दोनों लक्ष्यसे रहित नहीं था । पुत्रोंकी सुरक्षा, पुत्र और अन्यान्य स्वजनोंको सुख पहुँचाना इत्यादि यद्यपि साधारण जैव कर्म्मके लक्ष्य और साधारण मनुष्यबुद्धिके अनुसार पुण्यकार्य्य हैं इसमें सन्देह नहीं, परन्तु ऐशकर्म्मके लक्ष्यसे और महा-यज्ञके नियमानुसार कृष्णभगवान्के इन कर्म्मोंका स्वरूप कुछ और ही बन गया है । उदाहरणसे इस विज्ञानको स्पष्ट करके श्रीभगवान्के इन कर्मोंकी मीमांसा की जाती है । अपने प्राणको विपत्तिमें डालकर अपने पुत्र और आत्मीयोंके प्राणकी रक्षा करना गृहस्थका परम धर्म्म और यज्ञकार्य्य है । परन्तु वही परमज्ञानी गृहस्थ यदि महायज्ञपरायण हो और उसके पुत्र और आत्मीयगण यदि स्वदेशद्रोही, स्वजातिद्रोही हों तो देश और जातिके मङ्गलार्थ

उनका नाश करके देश और जातिका कल्याण करना उस धार्मिक गृहस्थ पिताके लिये महायज्ञ होगा। दूसरी ओर विचारनेसे यही सिद्ध होगा कि पूर्व कथित मोहान्ध गृहस्थ जब अपने स्नेह तथा साधारण गृहस्थधर्म्मके वशीभूत होकर अपने जीवनको भयमें डालकर अपने पुत्र और आत्मीयोंकी रक्षा करता है उस समय यद्यपि वह जैव कर्म्मके अनुसार ठीक ही है परन्तु वही सद्गृहस्थ जब महात्मा और महायज्ञपरायण होगा तो उसके देशद्रोही पुत्र और आत्मीयोंका हनन करना ही उसके लिये परम धर्म्म होगा। इसी विज्ञानके अनुसार श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रका ऊपर लिखित पारिवारिक कर्म्म-समूह भी जगत्कल्याणकारी महायज्ञके पूर्णस्वरूपको प्राप्त है इसमें सन्देह नहीं।

कर्मके सदृश उपासनाका भी पूर्ण आदर्श श्रीभगवान्के पूर्णावतार कृष्णचन्द्रके जीवनमें पूर्णरूपसे प्रकट हुआ था। यह सिद्धान्त पहले ही निर्णय किया गया है कि श्रीभगवान् सत्, चित् और आनन्दरूप होनेसे पूर्णावतारमें इन तीनों भावोंका पूर्ण विकाश होना स्वतःसिद्ध है। इसी कारण श्रीकृष्णके जीवनमें जैसा कि पहले बताया गया है सत्भावसे कर्मका और चिद्भावसे ज्ञानका पूर्णविकाश हुआ था। आनन्दभाव सत् और चित्में व्यापक है, इसलिये उनके कर्म और ज्ञानमय जीवनके भीतर आनन्दभावका भी पूर्ण विकाश हुआ था। श्रीभगवान् रसरूप हैं, उनकी यह रसमय आनन्दसत्ता ही संसारमें स्नेह, प्रेम, भक्ति, काम, मोह, श्रद्धा, वात्सल्य, ममता आदि नाना भावसे मायाके द्वारा विकाशको प्राप्त होती है। भक्तिशास्त्रमें इन सब रसोंको चतुर्दश भागोंमें विभक्त किया गया है। यथा—वीर, करुण, हास्य, भयानक आदि सप्त गौणरस और दास्यासक्ति कान्तासक्ति, वात्सल्यासक्ति आदि सप्त मुख्यरस। अतः श्रीभगवान्में जब सब रस विद्यमान हैं, तो उनके पूर्णावतारमें इन सभोंकी लीला अवश्य ही प्रकट होगी इसमें अणुमात्र सन्देह नहीं है। यही कारण है कि पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें समस्त मुख्यरस और समस्त गौण रसकी लीला प्रकट हुई थी। उनकी लीलामें सात प्रकार मुख्यरसके द्वारा साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे और सात प्रकारके गौणरसके द्वारा भी साधन करनेवाले अनेक भक्त हुए थे। अतः रासलीला, विश्वरूप प्रदर्शन, वस्त्र-हरण, बाललीला आदियोंके द्वारा मधुर, अद्भुत, हास्य, वात्सल्य, कान्त, दास्य आदि चतुर्दश रसोंका विकाश होना पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें स्वतःसिद्ध था। इन रसोंका विस्तारित विवरण भक्ति और योग नामक प्रबन्धमें पहले

ही किया गया है। अब इनका विकाश पूर्णावतार श्रीकृष्णके जीवनमें कैसे हुआ था उसका दिग्दर्शन कराया जाता है। यथा—वीररसके लिये भीष्म पितामह, करुणरसके लिये सखीगण, वीभत्स रसके लिये अघासुर, रौद्ररसके लिये इन्द्रदेव, अद्भुतरसके लिये अर्जुन और यशोदा, हास्यरसके लिये गोपाल बालकगण और भयानकरसके लिये कंस, यह सातों उनके जीवनमें गौणरसके ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। इसी प्रकार वात्सल्यरसके लिये नन्दयशोदा, दास्यरसके लिये अक्रूर, सख्यरसके लिये अर्जुन और कान्तरस, गुणकीर्तनरस, आत्मनिवेदनरस तथा तन्मयरसके लिये व्रजगोपिकाओंका माहात्म्य जगत्प्रसिद्ध है। इस प्रकारसे सप्त गौणरस और सप्त मुख्यरसरूपसे सब रसोंका विकाश श्रीभगवान्की लीलासे प्रकट हुआ था। ईश्वरमें ऐश्वर्य और माधुर्य दोनोंकी पूर्णता है, इसलिये पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रमें भी ऐश्वर्य और माधुर्यकी पूर्णता प्रकट हुई थी। कर्मजीवनमें उनका ऐश्वर्य प्रकट हुआ था। उपासनाजीवनमें उनका माधुर्य प्रकट हुआ था। उसी माधुर्यकलाके विकाशके लिये ही श्रीकृष्णकी बांसुरी है जिसमेंसे समस्तरसोंके राग निकल कर समस्तरसोंके द्वारा उपासनापरायण भक्तजनोंका मनोमोदन करते थे। संसारमें जीवोंकी चित्तवृत्ति पूर्व कर्मानुसार हुआ करती है। इसी सिद्धान्तके अनुसार कृष्णावतारके समय जितने प्रकारके भक्त कृष्णलीलाक्षेत्ररूप भारतवर्षमें प्रकट हुए थे उनकी चित्तवृत्ति अनेक पूर्वकर्मोंके वैचित्रके कारण नानाप्रकारकी हुई थी। अर्जुनके साथ नरनारायणरूपमें पूर्वजन्मसे सख्यभावका ही सम्बन्ध था इसलिये अर्जुनने सख्यभावसे ही श्रीभगवान्के साथ प्रेम किया। गोपाल बालकोंके साथ देवराज्यमें पूर्व सम्बन्ध रहा था इसलिये उन्होंने हास्य, सख्य आदि रसोंके द्वारा ही श्रीभगवान्की भजना की। कंस, शिशुपाल आदिके साथ द्वेष भावका ही पूर्व सम्बन्ध रहा इसलिये उन्होंने द्वेषभावके द्वारा ही श्रीभगवान्में तन्मय होकर वैष्णवी मुक्ति प्राप्त कर ली। वसुदेवदेवकीके साथ वात्सल्य भावका ही पूर्वकर्मसम्बन्ध रहा इसलिये उन दोनोंने वात्सल्यभावके द्वारा ही श्रीभगवान्के साथ प्रेम करके परमा गति प्राप्त की। परम प्रेमवती व्रजगोपिकाओंके पूर्वकर्मोंके विषयमें पहले ही प्रमाणोंके साथ विस्तारित रूपसे वर्णन किया है कि गोपियां सामान्य गोपकन्या नहीं थी, उनमेंसे राधिका तो साक्षात् मायारूपिणी थी और अन्यान्य गोपियां कोई श्रुति थी, कोई मुनि थी, कोई देवी थी। उन सभोंने शरीर मन

प्राणके द्वारा श्रीभगवान्‌के साथ स्थूल रूपमें मिलनेके लिये ही पूर्व जन्ममें सहस्रों वर्षों तक घोर तपस्या की थी। अतः पूर्व तपस्याके अनुसार उनका कृष्णावतारके समय व्रजमें जन्म होना और स्थूल सूक्ष्म आदि समस्त शरीरोंके साथ प्रेम करनेका संस्कार रहनेके कारण स्त्रीशरीरमें जन्म होना उन सभोंके पूर्वकर्मानुकूल ही था। इसी कारण व्रजगोपिकाओंने श्रीभगवान् मन्मथ को भी मथन करने वाले कृष्णचन्द्रके साथ कांताभावसे प्रेम किया था। श्रीमद्‌भागवत, पद्मपुराण आदि ग्रन्थोंमें जो कहीं कहीं ऐसा वर्णन देखनेमें आता है कि व्रजगोपिकागण श्रीकृष्णके साथ स्थूल शरीरका सम्बन्ध करना चाहती हैं और उनमें कामका भी आवेश हुआ है सो उनके पूर्व संस्कारके अनुसार अवश्यम्भावी है। क्योंकि यह बात पहले ही कही गई है कि उन मुनियोंने तथा श्रुतियोंने स्थूलशरीरके द्वारा श्रीभगवान्‌के साथ रमण करनेकी वासनासे ही पूर्व पूर्वजन्मोंमें कठोर तपस्याकी थी। अतः श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र के अलौकिक, परम सुन्दर मनोरम स्थूल शरीरकी कान्तिके देखनेसे उनके हृदय-में अवश्य ही पूर्व जन्मका संस्कार जाग उठेगा और स्थूल शरीरसे उनको आलिङ्गन आदि करनेकी इच्छा उत्पन्न होगी, अनङ्गका भी आवेश हो जायगा इसमें कोई सन्देह नहीं है। अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार स्थूलभावसे प्रेमवती गोपियोंका उद्धार श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रजीने किस प्रकारसे किया था। श्रीभगवान्‌ने अपने ही मुखसे कहा है—

न मय्यावेशितधियां कामः कामाय कल्पते ।
भर्जितः क्वथितो धानः प्रायो वीजाय नेष्यते ॥

मुझमें मग्नचित्त होकर यदि जीवमें काम भी होजाय तथापि वह काम वृद्धिप्राप्त हो नहीं सकता है। जिस प्रकार भुने हुए वीजसे अङ्कुरकी उत्पत्ति नहीं होती है, उस प्रकार मुझमें अर्पित काम भी वासनाको उत्पन्न न करके शीघ्र ही शान्त हो जाता है। इसी वचनके अनुसार श्रीभगवान् चतुर्दश रसोंमेंसे चाहे किसी रसके द्वारा उनके प्रति प्रेम करनेवाला क्यों न हो, सभीका उद्धार भक्तोंकी प्रकृतिके अनुसार करते थे। जीवकी प्रकृति पर बलात्कारके द्वारा कार्य करना पूर्ण पुरुषके स्वरूपके अनुकूल नहीं हो सकता है। क्योंकि उसमें प्रकृतिके विरुद्ध होनेके कारण अनिष्ट और अवनतिकी आशङ्का रहती है। प्रकृतिको सरल करते हुए उसीके द्वारा ही उसीका नाश करना यथार्थ

धर्म और ज्ञानानुकूल कार्य है, इसलिये ज्ञानी गुरु श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रने इसी प्रकारसे पूर्व कर्मानुकूल प्रकृति तथा प्रवृत्तिको देखकर उसीके अनुसार समस्त भक्तोंका यथोचित उद्धार किया था। इन सब विषयोंका तत्त्वनिर्णय पुराणके अध्यायमें गोपीचरित्रवर्णनके प्रसङ्गमें पहले ही बहुत कुछ किया गया है। वहां पर श्रीमद्भागवतसे प्रमाण दिया गया है कि किसी भी भावके द्वारा श्रीभगवान् में आसक्त होने पर भी श्रीभगवान्‌के सर्वशक्तिमान् होनेसे भक्त उसी भावके द्वारा भगवान्‌में तन्मय हो सकता है और तत्मयता होने पर मनका लय हो जाता है, जिससे भक्तका भाव ही नष्ट होकर भावातीत भगवान् उनको प्राप्त हो जाते हैं। यथा—

कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव च।
नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते॥
न चैवं विस्मयः कार्यो भवता भगवत्यजे।
योगेश्वरेश्वरे कृष्णे यत एतद्विमुच्यते॥

काम, क्रोध, भय, स्नेह, ऐक्य, मैत्री आदि किसी भावके द्वारा श्रीभगवान् में आसक्त होनेपर उनकी सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे भक्त उनमें तन्मय हो जाता है। कामादि किसी मानसिक भावका अस्तित्व तब तक जीवमें रहता है जबतक उन भावोंके उत्पत्तिस्थान मनका अस्तित्व विद्यमान रहे। परन्तु जिस समय कामादि भावके द्वारा भगवान्‌में आसक्तचित्त भक्तको श्रीभगवान् अपनी शक्ति द्वारा आकर्षण करके अपनेमें तन्मय कर लेते हैं उस समय तन्मयता द्वारा मनोनाश होनेसे मनमें रहनेवाले कामादि भाव समूल नाशको प्राप्त हो जाते हैं और भक्त समस्त लौकिक वासनाओंसे रहित होकर लोकातीत भगवद्भावमें लवलीन हो मुक्ति पदवीको प्राप्त कर लेते हैं। यही भाव अनेक प्रकारके पूर्व कर्मोंके अनुसार अनेक प्रकारके भक्तोंके द्वारा श्रीकृष्ण भगवान्‌की उपासनामयी लीलामें प्रकट हुआ था और द्वेष, काम, वात्सल्य आदि सभी भावोंको इसी प्रकारसे श्रीकृष्णभगवान्‌ने अपनी सर्वशक्तिमत्ताके प्रभावसे तन्मयभाव द्वारा नाश करके भक्तोंको परमा वैष्णवी गति प्राप्त कराई थी। अचल गम्भीर समुद्रकी तरह उनके धीर पूर्ण स्वरूपमें सभी भाव चञ्चल नदियोंकी तरह लय प्राप्त हो जाया करते थे, और इसी प्रकारसे गोपिकादि भक्तगण पूर्व कर्मोंसे उत्पन्न समस्त लौकिक चांचल्योंसे रहित होकर परम पद प्राप्त हो गये

थे। यही श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्णचन्द्रके जीवनमें उपासनाकी पूर्णतामयी चतुर्दशरसमयी मधुर लीला है। गौण सप्त रसोंसे मुख्य सप्तरस अधिक मुक्तिप्रद हैं यह पहले अध्यायोंमें सिद्ध किया गया है। मुख्य सप्त रसोंमेंसे वात्सल्य, दास्य और सख्य इन तीनों रसोंकी अपेक्षा अन्य चार रस अधिक उदार हैं। क्योंकि वात्सल्यासक्ति आदि तीन रसोंका कान्तासक्तिमें समावेश सहल रीतिसे नहीं हो सकता है। और कान्तासक्तिको प्राप्त करके भक्त ऊपरके गुणकीर्तन, आत्मनिवेदन और तन्मय इन तीन आसक्तियोंको अपनेमें समावेश कर सकता है। इस कारण मधुमय कान्तासक्तिका अधिकार इतना उन्नत बतलाया गया है। कृष्णप्रेममें मतवाली व्रजगोपिकाओंके प्रेममें जिस प्रकार कान्तासक्तिका पूर्ण और मधुर विकाश हुआ था उसी प्रकार उनमें अन्य उन्नत तीन आसक्तियोंका भी पूर्ण विकाश समय समयपर देखनेमें आता था। कृष्ण प्रेममें उन्मत्त, स्तब्ध, आत्माराम दशाओंको प्राप्त हुई, कृष्णप्रेमरूप सागरमें डूबकर अपने जीवभावको विस्मृत हुई, कृष्णप्रेम मतवारी व्रजनारियोंकी भगवद्प्रेममय जीवनी इसी कारण भक्तोंके निकट आदर्शरूप है। और इसी कारण परमहंस संहितारूपी श्रीविष्णु-भागवत उनके वर्णनसे पूर्ण है। और इसी कारण जब श्रीभगवान् वेदव्यासको अखिल शास्त्रकी रचना करनेपर भी शान्ति न हुई तब उन्होंने व्रजगोपियोंकी अपार प्रेमकथामयी मधुर लीलासे पूर्ण श्रीविष्णु भागवतकी रचना द्वारा स्थायी शान्तिको प्राप्त किया था; अस्तु भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके लीलाजीवनमें जिस प्रकार महायज्ञरूपी सर्वलोकहितकर कर्मसमूह ही देखनेमें आते हैं, उसी प्रकार उनकी मानवी लीला उपासनाके सब अङ्गोंसे पूर्ण दिखाई देती है। कर्मकी पूर्णता जिस प्रकार महायज्ञके साधन और ऐश्वर्यकी पूर्णतासे हुआ करती है, उसी प्रकार उपासनाकी पूर्णता भक्तिके चतुर्दश रसोंके विकाश द्वारा हुआ करती है। श्रीभगवान् आनन्दकन्दकी बाललीला, कौमारलीला, यौवनलीला और प्रौढ़लीला सभी उक्त चतुर्दश रसोंसे पूर्ण हैं। मानों उन्होंने उक्त चतुदर्श रसोंको पूर्ण प्रकट करनेके लिये ही मनुष्य विग्रह धारण किया था। मानों उन्होंने अपनी मानवी लीलामें जैसा जिसका अधिकार है, उसको उसी रसके रूपमें दर्शन देकर उसको श्रीभगवान्के रससागरमें उन्मज्जन निमज्जन कराया था। मानों मनुष्यजगत्में भक्तिका पूर्ण स्रोत और उपासनाका सर्वाङ्ग सुन्दर रहस्य प्रचार करनेके लिये ही उन्होंने अवतार धारण किया था।

कर्मऔर उपासनाके आदर्शकी तरह ज्ञानका भी पूर्ण विकाश श्रीभगवान्

कृष्णचन्द्रकी अवतारलीलामें हुआ था इसमें सन्देह नहीं है। पूर्णज्ञानकी पराकाष्ठा संशयदोषयुक्त जडताग्रस्त अर्जुनको गीता और अनुगीताके उपदेशच्छलसे संसारकी शिक्षाके लिये उन्होंने जो प्रकट की थी उसकी तुलना संसारमें कहीं नहीं हो सकती है। अर्जुनका मोह दूर करनेके लिये उतने उपदेशोंकी आवश्यकता नहीं थी, जितना उन्होंने गीताके भीतर दिया है। वह उपदेश केवल समस्त संसारके कल्याण साधनके लिये ही था। जिस प्रकार भूभारहरणके लिये कुरुक्षेत्रके युद्धमें अर्जुन निमित्तमात्र थे, उसी प्रकार संसारके प्रति गीताके उपदेशके लिये भी अर्जुन निमित्त मात्र ही थे। गीताकी पूर्णताके विषयमें पहले ही पुराणके अध्यायमें बहुत कुछ कहा जा चुका है। गीता पूर्ण पुस्तक होनेसे उसके प्रत्येक श्लोकमें और समस्त रहस्योंमें अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत ये तीनों भाव भरे हुए हैं। श्रीगीताजीका अध्यात्मरूप नित्यस्थायी है। ब्रह्म और प्रकृतिके सम्बन्धसे जो कुछ ब्रह्माण्डकी उत्पत्ति हुई है, जो कुछ ऋषि देवता पितरादि और ग्रह नक्षत्रादि ब्रह्माण्डमें हैं वे ही इस पिण्डरूपी देहमें हैं। यथा संहिताओंमें कहा है कि ब्रह्म और प्रकृतिसे उत्पन्न होनेके कारण ब्रह्माण्ड और पिण्ड एक रूप और समष्टि व्यष्टि विचारसे एक सम्बन्धयुक्त हैं। जैसे ब्रह्माण्डमें प्रकृति और पुरुष, नित्य ऋषि देवता और पितृगण तथा ग्रह नक्षत्रादि विद्यमान हैं वैसे ही पिण्ड शरीरमें भी हैं। गुरूपदेशके द्वारा पिण्डका ज्ञान लाभ करके पश्चात् साधक ब्रह्माण्डका ज्ञान लाभ करता है। धर्मक्षेत्र यह शरीर है क्योंकि इस शरीररूपी धर्मक्षेत्रको साधनरीति द्वारा कर्षित करनेसे इसी देहकी सहायतासे धर्म अर्थ काम और मोक्षरूपी चारों फलोंकी प्राप्ति होती है। धर्मपरायण पांचों पाण्डव ही धर्ममें नियुक्त पाचों तत्त्व हैं जिनके रक्षक और इस देह रूपी क्षुद्र ब्रह्माण्ड के चालक आज्ञाचक्रस्थित कूटस्थ चैतन्य ही श्रीकृष्णमहाराज हैं। पांचों तत्त्वोंके मध्यस्थित मध्यशक्तिरूपी अग्नितत्व ही श्रीअर्जुनका स्वरूप है उसी शक्तिको यथाधर्म नियोजित करनेके लिये श्रीगीताजीका नित्य उपदेश आज्ञाचक्रमें नित्य विराजमान है। पाप करनेकी प्रवृत्ति होतेही जीवको चुपकेसे अन्तःकरणमें कौन कह देता है कि ऐसा मत करो। देहमें नित्य विराजमान कूटस्थ चैतन्यरूपी श्रीभगवान् ही इस प्रकारसे इस देहके साक्षी रहकर जीवको पापकर्मोंसे रोका करते हैं। इसी भगवान्के नित्य उपदेशका पूर्णरूप ही श्रीगीताजी हैं। दूसरी ओर सद्सद्विचाररहित अन्धा मन ही धृतराष्ट्र है। ज्ञाननेत्रविशिष्ट सर्व-

दर्शी बुद्धि ही सञ्जय है। अन्तःकरणकी सौ प्रवृत्ति देनेवाली और सौ निवृत्ति देनेवाली इस प्रकारसे दोसौ वृत्तियां योगियोंने कल्पित की हैं। उनमेंसे सौ पापजनक वृत्तियाँ मानी गई हैं अर्थात् सौ वृत्तियां प्रवृत्तिकी हैं सो मनकी वृत्तियां कहाती हैं। ये ही प्रवृत्ति देनेवाली पापजनक सौ वृत्तियां ही धृतराष्ट्रके दुर्योधनादि सौ पुत्र हैं। इसी पाप और पुण्य राज्यकी प्रवृत्ति और निवृत्ति जनक बड़ी दो सेनाओंके बीच कूटस्थ चैतन्यरूपी शस्त्रधारणरहित निःसङ्ग श्रीभगवान् श्रीकृष्णका नित्य उपदेश ही श्रीगीताजीका अध्यात्मस्वरूप है। यह अध्यात्म स्वरूप प्रत्येक ब्रह्माण्डमें तो क्या प्रत्येक पिण्डरूपी देहमें नित्य विराजमान है। इस नित्य स्वरूपका दर्शन और इस नित्य उपदेशकी प्राप्ति अन्तर्मुखी साधकको सदा हो सकती है।

श्रीगीताजीका अधिदैव स्वरूप कुछ और ही है। सृष्टिके प्रारम्भमें श्रीभगवान् ब्रह्माजीकी इच्छासे जो सनकसनन्दनादि चार महापुरुषोंकी प्रथम सृष्टि हुई वह सृष्टि पूर्ण निवृत्तिवाली हुई। उन चारों महात्माओंसे सृष्टिलीला का विस्तार नहीं होसका। उसके अनन्तर जो दूसरा सृष्टिक्रम हुआ तो श्रीभगवान् ब्रह्माजीकी इच्छासे मरीचि अङ्गिरादि सप्त ऋषियोंको सृष्टि हुई। ये सातों आदि पुरुष प्रवृत्तिके चालक हुये और उन्हींसे जगत्के सब जीवोंकी उत्पत्ति हुई। निवृत्तिका लक्ष्य एक मात्र परमात्मा है परन्तु प्रवृत्तिका लक्ष्य अनन्त विषयसमूह होनेके कारण प्रवृत्तिका विस्तार अनन्त होगया। यदि धर्मानुकूल प्रवृत्ति हो तो उससे निवृत्ति होकर परमपदकी प्राप्ति क्रमशः हो सकती है। श्रीभगवान् अङ्गिराजीने कहा हैः—

" प्रवृत्तिनिवृत्त्युपपत्तेः "

" उभयतास्त्रिविधशुद्धिसम्भवः प्रत्यूहतारतम्यादाद्या गौणी मुख्याऽपरा तु "

प्रवृत्ति और निवृत्ति यह दोनोंही मुक्तिके पथ हैं, दोनोंमेंही त्रिविध शुद्धिकी सम्भावना रहती है; विघ्नके तारतम्यानुसार प्रवृत्तिमार्ग गौण और निवृत्ति मार्ग मुख्य हैं। जिस प्रकार सारे संसारमें द्वन्द्व दिखाई देता है, यथाः— सत्त्व और तम, प्रकाश और अन्धकार, दिन और रात, सुख और दुःख इत्यादि, उसी प्रकार वृत्तिराज्यमें निवृत्ति और प्रवृत्तिका अनन्त विस्तार है। सत्त्वप्रधान

रजोगुणसे निवृत्ति और तमः प्रधान रजोगुणसे प्रवृत्तिका उदय मनुष्यमें हुआ करता है। कर्मजगत्के चालक देवताओंमें भी इसी प्रकारसे दो अधिकार पाये जाते हैं वेही देव और असुर कहाते हैं। वेदोंमें और शास्त्रोंमें जो बहुधा देवासुर संग्रामका वर्णन देखनेमें आता है सो इसी अपूर्व विज्ञानसे युक्त है। जब इस मनुष्यलोकमें तमःप्रधान पापका प्रवाह अधिकरूपसे प्रवाहित होता है तब ही उस पापस्रोतको पुण्यकी ओर फेरनेके लिये देवताओंका अवताररूपसे मनुष्यसमाजमें जन्म हुआ करता है। परन्तु जब धर्मकी ग्लानि अधिक बढ़ जाती है तब स्वयं भगवच्छक्तिकी अवतारणा हुआ करती है। क्योंकि साधारण कार्य देवताओंसे हो सकता है; परन्तु असाधारण कार्य्यके लिये साक्षात् भगवच्छक्तिकी आवश्यकता होती है। कला भेदसे अवतारके अनेक भेद हैं। सब प्रकारके जीवोंमें विभूतिपर्य्यन्त आठ कला मानी गई है; और नौ कलासे षोड़शकला पर्यन्त अवतारोंकी कला शास्त्रोंमें कही गई हैं। श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र षोडशकलासे पूर्ण अवतार थे। उनका मनुष्य विग्रह धारण करना केवल लोककल्याणार्थ था। द्वापरके अन्तमें घोर तमोगुणसे जगत् आच्छन्न हो जानेके कारण मनुष्यका हृदय अज्ञानमूलक घोर इन्द्रिय प्रवृत्तिसे अभिभूत हो जानेपर उसके दूर करनेके अर्थ प्रबल शक्तिकी आवश्यकता थी। उस समय राजाओंमें प्रायः असुरोंके अनेक अवतार उत्पन्न होकर वे स्वार्थपरता और अधर्मका अति विस्तार करने लगे थे। उसके साथ काल धर्मके फन्देमें फंसकर अनेक देवांशोंसे उत्पन्न ब्राह्मण और क्षत्रियगण भी अधर्मके पक्षपाती बन गये थे। जब घोर समय आता है तब देवांशसे उत्पन्न मनुष्यगण भी असुरभावके पक्षपाती बन जाते हैं। उस समय ऐसा ही हुआ था। भीष्मादिका कौरवोंका पक्ष लेना इसी कालधर्मका ही फल है। इसीसे अधर्मको दबाकर धर्मप्रवाहको ठीक करनेके लिये अनेक देवताओंको अवतार लेना पड़ा था और इसी अधिदैव कारणसे देवांश पाण्डवादिका जन्म हुआ था एवं उनको निमित्त बनाकर श्रीभगवान्के पूर्णावतार श्रीकृष्ण महाराजने महाभारतके युद्धमें दुर्योधनादि अनेक मदोन्मत्त अधर्मपक्षपाती आसुरी प्रजाका नाश करके धर्ममार्गका पुनः प्रचार किया था और इस घोर युद्धके प्रारम्भमें यथार्थ लक्ष्यको लक्षित करानेके अर्थ नरनारायणावतार श्रीकृष्णार्जुन संवादसे श्रीगीताजीका प्राकट्य हुआ था। उस समय महाभारतके युद्ध द्वारा आसुरी शक्तिका नाश हुआ था और गीता विज्ञानके प्रकाश द्वारा वेदका

विज्ञान प्रकाशित करके मनुष्योंको यथार्थ धर्ममार्ग दिखा दिया गया था। यही गीताजीका अधिदैवस्वरूप है।

श्रीगीताजीका अधिभूत स्वरूप स्थूल अक्षरमय है। कालधर्मके अनुसार ज्ञानका अविर्भाव और तिरोभाव हुआ करता है। काल सदा निर्लिप्त होनेपर भी तत्तत्कालके समष्टि जीवोंके समष्टि प्रारब्धके अनुसार तत्तत्कालका स्वरूप ऐसे ही दिखाई देने लगता है। कालके सदा निर्लिप्त और अविकारी होनेपर भी केवल समष्टि जीवोंके प्रारब्धानुकूल ही सत्य आदि युगोंकी उत्पत्ति हुआ करती है और कालधर्मके प्रवल होनेके कारण कालधर्मका प्रभाव तत् तत्कालमें उत्पन्न सब जीवोंको न्यूनाधिकरूपसे भोगना पड़ता है। इसी अपरिहार्य नियमके अनुसार विशेष २ कालमें उत्पन्न मनुष्योंकी प्रज्ञाका सङ्कोच और विकाश यथा योग्य रीतिसे होना अवश्यम्भावी है। सत्यादि युगोंमें मनुष्योंकी प्रज्ञाका विकाश विशेष रहनेके कारण ११८० शाखायुक्त वेदकी उतनी ही संहिता, उतने ही ब्राह्मण और उतने ही उपनिषदोंके तात्पर्य्य ग्रहण करनेकी शक्ति उस समयके मनुष्योंमें होती थी। क्रमशः तमःप्रधान कालके उदय होनेपर मनुष्योंकी प्रज्ञाका सङ्कोच हो गया था इस कारण एकाधारमें वेद-प्रतिपाद्य विज्ञानके रहस्य प्रकाशित करनेकी आवश्यकता हुई थी। वेदोंमें पुस्तकके पांच भेद किये हैं। ब्रह्माण्ड, पिण्ड, नाद, विन्दु और अक्षरमय पुस्तक। यथाः—

"ब्रह्माण्डपिण्डौ नादश्च विन्दुरक्षरमेव च।
पञ्चैव पुस्तकान्याहुर्योगशास्त्रविशारदाः॥

अक्षरमय पुस्तकके कालधर्मसे नष्ट हो जानेपर भी वेद अथवा वेद-सम्मत शास्त्रसमूह अन्य चार प्रकारकी पुस्तकोंके आकारमें रहते हैं। कल्पान्तरमें उक्त सब प्रकारकी पुस्तकोंमें हेर फेर हुआ करता है, और जिस कल्पमें जितना वेद आविर्भूत होता है वह उस कल्पके महर्षियोंके अन्तःकरणमें हुआ करता है। इसी प्रकार शास्त्रसमूह भी ऋषि मुनि और ऋषियोंके अंशसे उत्पन्न विद्वानोंके द्वारा समय २ पर प्रकाशित होकर जगत्का कल्याण किया करते हैं। द्वापरके अन्तमें मनुष्योंकी प्रज्ञाका सङ्कोच हो जानेसे नारायणरूपी श्रीभगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र और नररूपी अर्जुनजीके सम्बन्धसे श्रीभगवान् कृष्णद्वैपायन वेदव्यास-जीके द्वारा पञ्चम वेदरूपी महाभारतके अन्तर्गत अक्षरमयी श्रीगीताजीका प्रकाश हुआ है। यही श्रीगीताजीका आधिभौतिक स्वरूप है।

गीता पूर्ण ज्ञानकी गङ्गा है, गीता अमृतरसकी अजस्र धारा है। गीतामें कर्मोपासनाज्ञानकी त्रिधारा गङ्गा यमुना सरस्वतीकी त्रिधाराकी तरह परस्पर सम्मिलित होकर दिव्य प्रयागकी सृष्टि हुई है जिसमें भावुक भक्त अवगाहन स्नान करके अनन्तानन्दमय निःश्रेयस पदको अनायास ही प्राप्त कर सकते हैं। गीता दुस्तर संसार सागरसे पार उतरनेके लिये अमोघ तरणी है, गीता भावुक जनोंके लिये गम्भीर तरङ्गमय भावसमुद्र है। गीता कर्मयोग परायण महात्माको उत्तरायण गति द्वारा सत्य लोकमें लेजानेके लिये दिव्य विमानरूप है, गीता ज्ञानयोगनिष्ठ महात्माको जीवन्मुक्त बनानेके लिये अमृत समुद्र रूप है, गीता संसार मरु भूमिमें जले हुए दुःखित जीवनके लिये मधुर जलसे पूर्ण मरूद्यान (मरुस्थलका बगीचा) है, कितना कहा जाय संसारमें गीताकी अपूर्व माधुरीका वर्णन ही नहीं हो सकता है। संसारमें श्रीमद्भगवद्गीताके प्रकाश द्वारा श्रीभगवान्ने उपनिषदोंका सारतत्त्व प्रकट किया है। कर्म, उपासना, ज्ञान तीनोंका विज्ञानांश गीतामें प्रकट है। परन्तु ज्ञान-प्रकाश कार्यमें इतना ही करके वे निवृत नहीं हुए थे। उनकी मनुष्य लीलामय जीवनी ज्ञानके सब विभागोंकी पूर्णतासे पूर्ण थी। यद्यपि समष्टिरूपसे ज्ञानके सब विभागोंका सारांश और धर्मके सब विभागोंका विज्ञान और वेदके तीनों काण्डोंका रहस्य श्रीगीताजीमें प्रकट है, परन्तु श्रीभगवान्ने पृथक् पृथक् रूपसे ज्ञानके सब विभागोंका प्रकाश अपने आदर्श जीवन द्वारा करके दिखला दिया था। साधारण धर्मके गूढ़ रहस्योंका विज्ञान उन्होंने अर्जुन और महाराज युधिष्ठिरके सम्मुख प्रकट किया था। महाभारतमें उन प्रकरणोंके पाठ करनेसे विदित होता है, कि धर्मके पूर्ण रहस्यको उन्होंने इस प्रकारसे प्रकट किया है, मानों धर्म सम्बन्धमें वेदका विज्ञान जगत्के सम्मुख प्रकट करनेके लिये ही उनका अवतार हुआ था। नारीधर्मका जगत् पवित्रकर रहस्य और नारीधर्मसे अतीत लोकोत्तर प्रेमका विज्ञान श्रीभगवान् ने व्रजलीलाके प्रसङ्गसे गोपिकाओंको उपदेश दिया था जिसका विवरण श्रीविष्णु भागवतमें देखनेसे धर्मज्ञमात्र ही समझ सकेंगे कि नारीधर्म रूपी विशेष धर्मका विज्ञान इस प्रकारसे उन्होंने जगत् कल्याणार्थ प्रकाशित किया है मानों नारीधर्मकी मर्यादा रक्षाके अर्थ ही उनका अवतार हुआ था और मानों नारीधर्मको पवित्र रखकर प्रेमकी अपूर्व माधुरीसे जगत्को तृप्त करनेके अर्थ ही वे अवतीर्ण हुए थे। पुरुष धर्म विज्ञान, राजधर्म विज्ञान, समाजनीति

विज्ञान, साधारण धर्म्म विज्ञान, आपद्धर्म्म विज्ञान, धर्म्मयुद्ध नीति विज्ञान, वर्णाश्रमधर्म्म विज्ञान इत्यादि ज्ञानकाण्डके सब अंगोंका पूर्ण विकाश श्रीभगवान्‌के लीला विग्रहकी कथाओं और उनके उपदेश समूहके द्वारा महाभारत आदि ग्रन्थोंमें प्रकट है यही सब श्रीभगवान् कृष्णचन्द्रके ज्ञानमय जीवनका अपूर्व आदर्श रूप है। इस प्रकारसे श्रीभगवान्‌के पूर्णावतार होनेके कारण श्रीकृष्णके जीवनमें कर्म, उपासना और ज्ञानका अपूर्ण सामञ्जस्ययुक्त पूर्ण आदर्श प्रकट हुआ था। यही संक्षेपसे वर्णित अंशावतार श्रीबलराम तथा पूर्णावतार श्रीकृष्णकी अति गूढ़रहस्यमयी लीला है।

(बुद्धावतार)

दस अवतारोंमेंसे नवम अवतारका नाम बुद्धावतार है। इस अवतारके विषयमें बौद्धशास्त्रोंमें तथा श्रीमद्भागवत, विष्णुपुराण आदि पुराणोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

ततः कलौ सम्प्रवृत्ते सम्मोहाय सुरद्विषाम्।
बुद्धो नामाञ्जनसुतः कीकटेषु भविष्यति॥

और भी द्वितीय स्कन्धमें—

देवद्विषां निगमवर्त्मनि निष्ठितानां
पूर्भिर्मयेन विहिताभिरदृश्यतूर्भिः।
लोकान् घ्नतां मतिविमोहमतिप्रलोभं
वेषं विधाय बहु भाष्यत औपधर्म्यम्॥

बुद्धावतार कलियुगमें हुआ था। कीकट प्रदेशमें (वर्त्तमान गोरखपुर जिलेमें) शुद्धोदनके पुत्ररूपमें बुद्ध भगवान् उत्पन्न हुए थे। उनके प्रकट होनेके विषयमें दैवकारण यह था कि वेदबलसे बलवान् होकर असुरोंने देवताओंको परास्त कर दिया था, जिस कारण मायाद्वारा वेदमार्ग रहित उपदेश करके उन असुरोंको पथभ्रष्ट कर देना और इस प्रकारसे उन्हें हीनबल करके देवताओंका विजय कराना उस समयके लिये समष्टि प्रकृतिके अनुकूल कार्य था। इसी कार्यके साधनार्थ अंशावताररूपसे श्रीभगवान्‌का बुद्धावतार हुआ और उन्होंने औपधर्मके उपदेश द्वारा असुरोंको वेदमार्गच्युत करके देवताओंका विजय साधन कराया। यही बुद्धावतारके प्रकट होनेके विषयमें दैवकारण है। इस कारण अग्निपुराणमें बुद्धावतारको मायामोहावतार भी कहा गया है। यथा—

पुरा देवासुरे युद्धे दैत्यैर्देवाः पराजिताः ।
रक्ष रक्षेति शरणं वदन्तो जग्मुरीश्वरम् ॥
मायामोहस्वरूपोऽसौ शुद्धोदनसुतोऽभवत् ।
मोहयामास दैत्यांस्तांस्त्याजितान् वेदधर्मकम् ॥
ते च बौद्धा बभूवुर्हि तेभ्योऽन्ये वेदवर्जिताः ।
एवं पाखण्डिनो जाता वेदधर्मादिवर्जिताः ॥

पूर्वकालमें देवताओंके साथ असुरोंका युद्ध हुआ था जिसमें, देवतागण पराजित होकर प्राणरक्षार्थ श्रीभगवान्‌की शरणमें आये थे। तदनन्तर देवताओंकी रक्षाके लिये मायामोहस्वरूपमें श्रीभगवान् शुद्धोदन राजाके पुत्र बुद्धरूपमें प्रकट हुए थे। बुद्धदेवने अवतार धारण करके असुरोंको मायामुग्ध कर दिया था और वेद तथा आस्तिकताविहीन बौद्धधर्मका उपदेश किया था। उनके उपदेशसे असुरोंने जब वेदका परित्याग किया तो वेदबलविहीन असुरोंको परास्त करना देवताओंके लिये सहज होगया और देवताओंने इस प्रकारसे दैवराज्यका उद्धार किया था। विष्णुपुराणमें बुद्धावतारके विषयमें इस प्रकार दैवकारणका विशेषरूपसे वर्णन देखनेमें आता है। यथा—

देवासुरमभूद् युद्धं दिव्यमब्दं पुरा द्विज ।
तस्मिन् पराजिता देवा दैत्यैर्ह्रादपुरोगमैः ॥
क्षीरोदस्योत्तरं कूलं गत्वातप्यन्त वै तपः ।
विष्णोराराधनार्थाय जगुश्चेमं स्तवं तथा ॥
तमूचुः सकला देवाः प्रणिपातपुरःसराः ।
प्रसीद देव दैत्येभ्यस्त्राहीति शरणार्थिनः ॥
त्रैलोक्यं यज्ञभागाश्च दैत्यैर्ह्रादपुरोगमैः ।
हृतं नो ब्रह्मणोऽप्याज्ञामुल्लंघ्य परमेश्वर ॥
स्ववर्णधर्माभिरता वेदमार्गानुसारिणः ।
न शक्यास्तेऽरयो हन्तुमस्माभिस्तपसान्विताः ॥
तमुपायमशेषात्मन्नस्माकं दातुमर्हसि ।
येन तानसुरान् हन्तुं भवेम भगवन् क्षमाः ॥

पूर्वकालमें किसी समय दिव्य एक वर्ष तक देवासुर संग्राम हुआ था जिसमें ह्राद आदि दैत्योंने देवताओंको पराजित कर दिया था। तदनन्तर पराजित देवताओंने क्षीरसमुद्रके उत्तर तट पर जाकर श्रीभगवान् विष्णुका स्तव और तपस्या करना प्रारम्भ कर दिया। स्तवसे सन्तुष्ट विष्णुदेवके देवताओंको दर्शन देने पर देवताओंने प्रणामानन्तर श्रीभगवान्को कहा—"हे देव! प्रसन्न होजाओ और शरणागत देवताओंको दैत्यभयसे त्राण करो। ह्राद आदि दैत्योंने ब्रह्माका भी आदेश उल्लङ्घन करके हमारा त्रिलोक और यज्ञभाग छीन लिया है। स्ववर्णनिष्ठ, वेदमार्गगामी और तपोबलयुक्त होने से हम उनको निहत नहीं कर सके हैं। इसलिये ऐसा कोई उपाय बतावें जिससे हम उनका बध करके अपना पद प्राप्त कर सकें।" तदनन्तर क्या हुआ सो विष्णुपुराणमें लिखा है। यथा—

इत्युक्तो भगवांस्तेभ्यो मायामोहं शरीरतः।
समुत्पाद्य ददौ विष्णुः प्राह चेदं सुरोत्तमान्॥
मायामोहोऽयमखिलान् दैत्यांस्तान्मोहयिष्यति।
ततो बध्या भविष्यन्ति वेदमार्गबहिष्कृताः॥

देवताओंके द्वारा इस प्रकारसे प्रार्थित होनेपर श्रीभगवान्ने अपने शरीरसे मायामोहको उत्पन्न किया और देवताओंको कहा यह मायामोह शरीरी होकर दैत्योंको मुग्ध करके वेदमार्गसे बहिष्कृत कर देगा जिससे तुम उनका बध कर सकोगे। यही मायामोह बुद्धरूपमें प्रकट हुए थे जिसके लिये श्रीमद्भागवत और अग्निपुराणका प्रमाण पहलेही दिया गया है। बुद्धदेवरूपी मायामोहने देवताओंके रक्षणार्थ क्या किया सो विष्णुपुराणमें निम्नलिखितरूपसे बताया गया है। यथा—

तपस्यभिरतान् सोऽथ मायामोहो महासुरान्।
मैत्रेय ददृशे गत्वा नर्मदातीरसंश्रयान्॥
ततो दिगम्बरो मुण्डो बर्हिपत्रधरो द्विज।
मायामोहोऽसुरान् श्लक्ष्णमिदं वचनमब्रवीत्॥
भो दैत्यपतयो ब्रूत यदर्थं तप्यते तपः।
ऐहिकं वाथ पारक्यं तपसः फलमिच्छथ॥

कुरुध्वं मम वाक्यानि यदि मुक्तिमभीप्सथ ।
अर्हध्वं धर्ममेतञ्च मुक्तिद्वारमसंवृतम् ॥
धर्मो विमुक्तेरर्होऽयं नैतदस्मात् परः परः ।
अत्रैवावस्थिताः स्वर्गं विमुक्तिं वा गमिष्यथ ॥
एवं प्रकारैर्बहुभिर्युक्तिदर्शनवर्द्धितैः ।
मायामोहेन दैत्यास्ते वेदमार्गादपाकृताः ॥
पुनश्च रक्ताम्बरधृङ्मायामोहोऽजितेक्षणः ।
अन्यानाहासुरान् गत्वा मृद्वल्पमधुराक्षरम् ॥
स्वर्गार्थं यदि वो वाञ्छा निर्वाणार्थमथासुराः ।
तदलं पशुघातादिदुष्टधर्मैर्निबोधत ॥
विज्ञानमयमेवैतदशेषमवगच्छथ ।
बुध्यध्वं मे वचः सम्यग् बुधैरेवमुदीरितम् ॥
जगदेतदनाधारं भ्रान्तिज्ञानार्थतत्परम् ।
रागादिदुष्टमत्यर्थं भ्राम्यते भवसङ्कटे ॥
एवं बुध्यत बुध्यध्वं बुध्यतैवमितीरयन् ।
मायामोहः स दैतेयान् धर्ममत्याजयन्निजम् ॥
केचिद्विनिन्दां वेदानां देवानामपरे द्विज ।
यज्ञकर्मकलापस्य तथान्ये च द्विजन्मनाम् ॥
मायामोहेन ते दैत्याः प्रकारैर्बहुभिस्तथा ।
व्युत्थापिता यथा नैषां त्रयीं कश्चिदरोचयत् ॥
इत्थमुन्मार्गजातेषु तेषु दैत्येषु तेऽमराः ।
उद्योगं परमं कृत्वा युद्धाय समुपस्थिताः ॥
ततो देवासुरं युद्धं पुनरेवाभवद्द्विज ।
हताश्च तेऽसुरा देवैः सन्मार्गपरिपन्थिनः ॥

मायामोहरूपी बुद्धदेवने नर्मदातीरपर जाकर देखा कि असुरगण तपस्या

कर रहे हैं। तदनन्तर दिगम्बर, मुण्डितमस्तक, बर्हिपत्रधारी मायामोहने असुरोंको सम्बोधन करके कहा—" हे दैत्यगण! आप सब क्यों तपस्या कर रहे हैं। इससे ऐहिक या पारत्रिक क्या फल चाहते हैं ? यदि सबको मुक्तिकी इच्छा हो तो मेरे कथनके अनुसार धर्म्माचरण कीजिये, इससे सभी-को मुक्ति मिलेगी। मुक्तिके लिये इससे श्रेष्ठतर धर्म और कुछ भी नहीं है। इसके आश्रयसे स्वर्ग या मुक्ति सभी कुछ प्राप्त हो सकती है।" इस प्रकारसे अनेक युक्तिपूर्ण वाक्यों द्वारा बुद्धदेवने दैत्योंको वेदमार्गसे च्युत करा दिया। तदनन्तर रक्तवस्त्र धारण और आँखोंमें अञ्जन लगाकरके पुनः असुरोंके पास जाकर मायामोहने कहा—" हे असुरगण! यदि निर्वाणमुक्ति अथवा स्वर्ग तुम्हारा इष्ट हो तो पशुहिंसा आदि दुष्ट धर्मोंके द्वारा तुम्हें कोई भी फल नहीं प्राप्त होगा। यह जगत् विज्ञानमय और अनाधार है। अर्थात् इसके मूलमें ईश्वरादि कुछ भी नहीं है। यह केवल भ्रममात्र और भ्रमका देनेवाला है। इसमें रागादिके द्वारा मुग्ध होकर जीव संसार संकटमें भ्रमण करता है।" इस प्रकारसे " ऐसा समझो, ऐसा जान रक्खो " इत्यादि वाक्यों द्वारा प्रमुग्ध करके मायामोहने सकल दैत्योंको निज धर्मसे च्युत करा दिया। तदनन्तर दैत्योंमें कोई कोई वेदकी निन्दा करने लगे, कोई कोई देवताओंकी निन्दा करने लगे और कोई कोई यज्ञादि क्रियाको दुष्ट कहने लगे, तथा अन्य कोई ब्राह्मणों-की निन्दा करने लगे। मायामोहके चक्रमें पड़कर समस्त दैत्योंकी बुद्धि इस प्रकार भ्रष्ट हुई कि उनमेंसे किसीकी भी रुचि वेद पर नहीं रही। तदनन्तर दैत्योंको इस प्रकार वेदमार्गभ्रष्ट देखकर देवताओंने उनके साथ युद्धका उद्योग किया। इस युद्धमें अच्छे मार्गसे पतित होनेके कारण असुरोंका पराजय हुआ, वे सब देवताओंके हाथ मारे गये और देवताओंने अपने राज्योंका पुनरुद्धार कर लिया। यही नवम अवताररूपी बुद्धावतारके प्रकट होनेमें दैवकारण है। ऊपर लिखित पौराणिक वर्णनोंके साथ श्रीभगवान् बुद्धदेवकी लौकिक जीवनीका मेल नहीं पाया जाता है इसको देखकर यदि शंका हो, इस कारण समाधान करना आवश्यक है। इसका समाधान अति सुगम ही है। प्रथम तो पुराणके भाषात्रयका वर्णन जो पुराणशास्त्र नामक अध्यायमें आया है उसके अनुसार यह लौकिक भाषा है। इस कारण उस ढङ्गपर इसका अर्थ समझना होगा। दूसरा समाधान इसका यह है कि यह सब वर्णन अधिदैव वर्णन है अर्थात् यह सब इतिहास दैव जगत्से सम्बन्ध रखता है लौकिक जगत्से नहीं।

अब उनके प्रकट होनेमें अध्यात्म कारण बताया जाता है। बुद्धावतारके प्रकट होनेके पूर्वसमयमें समष्टिजगत्में विशेष हलचल उत्पन्न होगया था। उपासना और ज्ञानहीन कर्मकाण्डका प्रचार तथा दुष्ट उपयोग इतना बढ़ गया था कि मनुष्य वैदिक यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे लक्ष लक्ष पशु बलि तथा नरबलि तक प्रदान करने लग गये थे। इस प्रकारसे जीवहत्या अत्यन्त बढ़ जाने पर समष्टिजगत्की धर्मधारामें बाधा उत्पन्न होगई थी जो उस समयके देशकालके लिये बहुतही हानिकर तथा आसुरभावकी वृद्धि करनेवाली थी। इसीलिये श्रीभगवान्को बुद्धावतार धारण करके पशुहत्यासे उत्पन्न अधर्मकी धाराको रोकना पड़ा था और असुरभावको नष्ट करके दैवभावको पुष्ट करना पड़ा था। बुद्धदेवने श्रीभगवान्के अवतार होने पर भी जो वेद और ईश्वर सत्ताके विरोधी धर्मका प्रचार किया था, इसके भी मूलमें वैज्ञानिक तत्त्व है। यह बात पहलेही कही गई है कि अंशावतारके समस्त कार्य प्रायः थोड़े देशकालके अनुकूल होते हैं। और इस प्रकारसे एकदेशी धर्मका स्थापन उनके द्वारा होनेसे कारण परवर्त्ती कालमें जाकर अनेक समय उनका किया हुआ धर्म समष्टिजीवोंके लिये कल्याणकर नहीं रहता और यह भी प्रयोजन होजाता है कि अन्य कोई अवतार प्रकट होकर उनके चलाये हुए धर्मको तोड़ दे तथा वर्त्तमान देशकालके अनुकूल धर्ममर्यादा संस्थापित करें; बुद्धावतारके समय ठीक ऐसी ही घटना हुई थी। उस समय वैदिक यज्ञ तथा ईश्वरके नामसे अनेक हत्या होनेके कारण उस समय समष्टि जगत्में धर्मधाराकी रक्षाके लिये बुद्धदेवको वेद तथा ईश्वरका निषेध करना पड़ा था। क्योंकि जब वेद और ईश्वरके नामसे ही इस प्रकार अत्याचार होने लगा था और उसमें अन्य प्रकारसे प्रतीकार होना असम्भव हो उठा था तो उस विषमय देशकालमें वेद और ईश्वरके उड़ानेके सिवाय और कोई उपाय नहीं था। जिस प्रकार विषके प्राणघातक होनेपर भी कठिन विकारमय रोगके समय विष भी औषधिका काम करके प्राणरक्षाका कारण बन जाता है, ठीक बुद्धदेवके अवतार कालमें जीवहत्यारूपी अतिकठिन जातीय रोग उत्पन्न होनेके कारण नास्तिकता रूपी विषप्रयोग बुद्धभगवान्को उस कठिनतम रोगके नाशके लिये करना पड़ा था। उन्होंने इस प्रकार विषप्रयोग द्वारा उस समयके लिये धर्मकी रक्षा कर दी थी और अहिंसा तथा ज्ञान मूलक बौद्धधर्मका उपदेश करके जीवोंको हत्यारूपी पापसे हटा लिया था। परन्तु जिस प्रकार विकारके रोगमें विष

औषधिका काम करने पर भी विष तो विष ही है, इसलिये नीरोग अवस्थामें खानेपर प्राणघातक होता है, ठीक उसी प्रकार बुद्धदेवके द्वारा चलाये हुए वेद तथा ईश्वरके विरोधी बौद्धधर्मने उस समयके लिये धर्मकी रक्षा कर दी परन्तु परवर्त्ती कालमें वेदविहीन नास्तिक प्रजाओंमें अवैदिकता तथा आस्तिकताके अभावके कारण बहुत ही पाप बढ़ने लगा। इसलिये पूर्वकथनानुसार उस समय और एक ऐसे अवतारकी आवश्यकता प्रकृतिराज्यमें हुई कि जिनके द्वारा वेदमर्यादा, सत्ययज्ञमर्यादा तथा ईश्वरभावकी महिमाका प्रचार संसारमें हो। इसलिये श्रीभगवान् शंकरकी कलासे भगवान् शंकराचार्यका अवतार हुआ जिन्होंने अपने शांकरी प्रचण्ड प्रतापके प्रभावसे बौद्धोंको भारतवर्षसे निकाल दिया और शांकरी ज्ञानके प्रभावसे वैदिकधर्म, वैदिकयज्ञ तथा ईश्वरभावकी पुनः प्रतिष्ठा कर दी। यही बुद्धावतार तथा शंकरावतारके प्रकट होनेके मूलमें आध्यात्मिक कारण है।

अब बुद्धावतारकी जीवनीके विषयमें बौद्धग्रन्थोंमें वर्णित कुछ इतिहास कहे जाते हैं। ललितविस्तरसूत्र, लङ्कावतारसूत्र, अवदानकल्पलता आदि संस्कृत ग्रन्थोंमें, महावंस, महानिर्वाणसूत्र, जातक आदि पालिग्रन्थोंमें और अनेक चीनीय, तिब्बतीय तथा जापानीय ग्रन्थोंमें बुद्धदेवके इतिहास प्राप्त होते हैं। उन ग्रन्थोंमें बुद्धदेवके अनेक पूर्वजन्मोंके भी वृत्तान्त मिलते हैं। यथा सर्वभद्रकल्पमें गौतमबुद्ध धन्यदेशीय सम्राट्के पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए थे, सारमन्दकल्पमें गौतमबुद्ध पुष्पवती नगरीमें राजा सुनन्दके पुत्ररूपमें प्रकट हुए थे, वरकल्पमें गौतमबुद्ध यत्तसिंह और सन्यासीरूपमें प्रकट हुए थे, मन्दकल्पमें उन्होंने राजचक्रवर्त्तित्व लाभ किया था। तदनन्दर अनेक कल्पोंके बाद अनेक योनियोंमें भ्रमण करके पश्चात् मायादेवीके गर्भमें कपिलावस्तु नामक वर्त्तमान गोरखपुरके निकटवर्त्ती स्थानमें उनका जन्म हुआ था। उनके जन्म होते ही उनके पिता शुद्धोदनको सर्वसिद्धि प्राप्त हुई थी, इसलिये उनका नाम उन्होंने सिद्धार्थ रक्खा था। इसी सिद्धार्थके शरीरमें ही श्रीभगवान्की अंश कला बुद्धावताररूपसे प्रकट हुई थी। भगवदंश होनेके कारण बाल्यकालमें ही सिद्धार्थमें असाधारण प्रतिभाका उदय हुआ था जिससे उन्होंने वेद, वेदान्त, योग, सांख्य, छन्द, ज्योतिष, गणित, व्याकरण आदि समस्त शास्त्रोंमें ज्ञान प्राप्त कर लिया था। तदनन्तर यौवनकालमें उनके पिता शुद्धोदनने दण्डपाणिकन्या गोपाके साथ सिद्धार्थका विवाह कराया था। विवाह होनेके

कुछ दिनोंके बाद ही सिद्धार्थके अन्तःकरणमें भावान्तर होने लगा। उसी समय दैवचक्रसे सिद्धार्थने भ्रमणके समय पथके ऊपर जरापीडित, व्याधिग्रस्त और मृत मनुष्योंको देखा जिससे उनके अन्तःकरणमें तीव्र वैराग्यका उदय हुआ और तदनन्तर सानन्दचित्त एक भिक्षुको देखकर वह वैराग्यभाव पुष्ट हो गया। सिद्धार्थके पिता शुद्धोदनने पुत्रका तीव्र वैराग्यभाव देखकर उन्हें संसारमें आसक्त करनेके लिये बहुत उपाय किया। परन्तु किसीसे कुछ भी फल न निकला। अनन्तर सुबीता पाकर सिद्धार्थ घरसे निकल गये और रैवत मुनिका आश्रम, वैशाली महानगरी, राजगृह आदि नाना स्थानमें पर्यटन करके अन्तमें गयाप्रदेशान्तर्गत नैरञ्जना नदीके तीर पर बोधिवृक्षके मूलमें कठोर तपस्या और योगसाधनमें प्रवृत्त हो गये। एकाग्रता, धारणा, ध्यान और कठिन तपस्याके फलसे सिद्धार्थको परम ज्ञान प्राप्त हुआ और इसी बुद्धत्वके कारण उन्होंने बोधिसत्व या बुद्ध नाम प्राप्त किया। पूर्णज्ञान प्राप्त करके देशकालानुसार धर्मोद्धार करनेके लिये बुद्धदेवने भारतवर्षमें पर्यटन करना प्रारम्भ कर दिया। वाराणसी, मगध, पाटलिपुत्र, नालन्दा, बिल्वग्राम, वैशालीनगरी, जम्बुग्राम, भोगनगर, कुशीनगर आदि भारतके अनेक स्थानोंमें उन्होंने धर्मप्रचार किया था और अनेक राजा महाराजा, साधारण प्रजा, तथा अनेक स्त्रियोंको भी बौद्धधर्ममें दीक्षित किया था। उनकी तजोमयी मूर्त्ति, गम्भीर ज्ञान, त्याग की पराकाष्ठा और अलौकिक शक्तिके प्रभावसे समग्र भारतमें बौद्ध धर्म छा गया था। इस प्रकारसे अनेक वर्ष पर्यन्त अपना अवतार-कार्य सम्पन्न करके अन्तमें कुशीनगरमें योगद्वारा बुद्धदेवने अपना शरीर त्याग करके महानिर्वाण पदवीको प्राप्त किया था। उनके सम्प्रदायके सहस्र सहस्र शिष्य हो गये थे जिनमेंसे आनन्द और सुभद्र ही प्रधान शिष्य थे। इन दोनोंने बुद्धदेवके स्थूल शरीरकी अन्तिम क्रिया की थी और पश्चात् अनेक वर्षतक संसारमें बौद्धधर्मका प्रचार किया था। श्रीभगवान्‌के इस लीलाविग्रहके द्वारा यद्यपि सार्वभौम मतयुक्त सर्वशक्तिसम्पन्न सब धर्मोंके पितारूपी सनातनधर्मके महत्त्वकी रक्षा नहीं हो सकी थी, यद्यपि दयाके वश हो उन्होंने वर्णाश्रमकी उपेक्षा कर डाली थी, यद्यपि जटिलताके भयसे उन्होंने अधिदैव रहस्यों पर निरादर दिखाया था, परन्तु उनका उस समयोपयोगी उपदेश जगत् हितकर था इसमें सन्देह नहीं। अब भी पृथिवीके एक तृतीयांश मनुष्य बौद्धधर्मको मानते हैं। अब भी बौद्धधर्मके प्रभावसे ही आलोकित होकर पृथिवीके अन्य उपधर्म चल रहे हैं। यही संक्षेपसे वर्णित बुद्धावतारचरित्र है।

(कल्कि अवतार)

दस अवतारोंमेंसे अन्तिम अवतारका नाम कल्कि अवतार है। इस अवतारका आविर्भाव अभीतक नहीं हुआ है। अभी कलियुगके पांच हजारसे ऊपर वर्ष बीत चुके हैं और पूर्ण कलियुग चार लक्ष बत्तीस हजार वर्षका है। इसलिये अभी कल्कि अवतारके प्रकट होनेमें बहुत विलम्ब है। अभीतक देश काल उनके प्रकट होने लायक नहीं हुआ है। अभीतक सामयिक धर्म स्थापन तथा पापनाशके लिये अनेक भगवद्विभूति, आवेशावतार, ऋषि तथा देवताओं-के अवतार आदि द्वारा ही कार्य चल सकेगा। इसलिये अभीतक कल्कि भगवान्‌के आनेका समय तथा प्रयोजन उपस्थित नहीं हुआ है। वह समय कब आवेगा और उस समयका देशकाल कैसा कैसा होगा सो श्रीमद्भागवतके द्वादश स्कन्धमें स्पष्ट रूपसे लिखा है। यथा—

ततश्चानुदिनं धर्मः सत्यं शौचं क्षमा दया।
कालेन बलिना राजन् नङ्क्ष्यत्यायुर्बलं स्मृतिः॥
वित्तमेव कलौ नृणां जन्माचारगुणोदयः।
धर्म्मन्यायव्यवस्थायां कारणं बलमेव हि॥
दाम्पत्येऽभिरुचिर्हेतुर्मायैव व्यावहारिके।
स्त्रीत्वे पुंस्त्वे च हि रतिर्विप्रत्वे सूत्रमेव हि॥
लिंगमेवाश्रमख्यातावन्योन्यापत्तिकारणम्।
अवृत्त्या न्यायदौर्बल्यं पाण्डित्ये चापलं वचः॥
अनाढ्यतैवासाधुत्वे साधुत्वे दम्भ एव तु।
स्वीकार एव चोद्वाहे स्नानमेव प्रसाधनम्॥
दूरे वार्य्ययनं तीर्थं लावण्यं केशधारणम्।
उदरम्भरता स्वार्थः सत्यत्वे धार्ष्ट्यमेव हि॥
दाक्ष्यं कुटुम्बभरणं यशोऽर्थे धर्म्मसेवनम्।
एवं प्रजाभिर्दुष्टाभिराकीर्णे क्षितिमण्डले॥
ब्रह्मविट्क्षत्रशूद्राणां यो बली भविता नृपः।
प्रजा हि लुब्धराजन्यैर्निर्घृणैर्दस्युधर्म्मभिः॥

आच्छिन्नदारद्रविणा यास्यन्ति गिरिकाननम् ।
शाकमूलामिषक्षौद्रफलपुष्पाष्टिभोजनाः ॥
अनावृष्ट्या विनङ्क्ष्यन्ति दुर्भिक्षकरपीड़िताः ।
शीतवातातपप्रावृड्हिमैरन्योन्यतः प्रजाः ॥
क्षुत्तृड्भ्यां व्याधिभिश्चैव सन्तप्स्यन्ते च चिन्तया ।
त्रिंशद्विंशतिवर्षाणि परमायुः कलौ नृणां ॥
क्षीयमाणेषु देहेषु देहिनां कलिदोषतः ।
वर्णाश्रमवतां धर्म्मे नष्टे वेदपथे नृणाम् ॥
पाषण्डप्रचुरे धर्म्मे दस्युप्रायेषु राजसु ।
चौर्य्यानृतवृथाहिंसानानावृत्तिषु वै नृषु ॥
शूद्रप्रायेषु वर्णेषु छागप्राया सु धेनुषु ।
गृहप्रायेष्वाश्रमेषु यौनप्रायेषु बन्धुषु ॥
अणुप्रायास्वोषधीषु शमीप्रायेषु स्थास्नुषु ।
विद्युत्प्रायेषु मेघेषु शून्यप्रायेषु सद्मसु ॥
इत्थं कलौ गतप्राये जनेषु खरधर्म्मिषु ।
धर्म्मत्राणाय सत्त्वेन भगवानवतरिष्यति ॥
चराचरगुरोर्विष्णोरीश्वरस्याखिलात्मनः ।
धर्म्मत्राणाय साधूनां जन्मकर्म्मापनुत्तये ॥
शम्भलग्राममुख्यस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः ।
भवने विष्णुयशसः कल्किः प्रादुर्भविष्यति ॥
अश्वमाशुगमारुह्य देवदत्तं जगत्पतिः ।
असिना साधुदमनमष्टैश्वर्य्यगुणान्वितः ॥
विचरन्नाशुना क्षौण्यां हयेनाप्रतिमद्युतिः ।
नृपलिंगच्छदो दस्यून् कोटिशो निहनिष्यति ॥
अथ तेषां भविष्यंति मनांसि विशदानि वै ।

वासुदेवांगरागातिपुण्यगंधानिलस्पृशाम् ॥
पौरजानपदानां वै हतेष्वखिलदस्युषु ॥
तेषां प्रजाविसर्गश्च स्थविष्ठः सम्भविष्यति ।
वासुदेवे भगवति सत्त्वमूर्तौ हृदि स्थिते ॥
यदावतीर्णो भगवान् कल्किर्धर्मपतिर्हरिः ।
कृतं भविष्यति तदा प्रजासूतिश्च सात्त्विकी ॥
यदा चन्द्रश्च सूर्य्यश्च तथा तिष्यबृहस्पती ।
एकराशौ समेष्यन्ति भविष्यति तदा कृतम् ॥
विष्णोर्भगवतो भानुः कृष्णाख्योऽसौ दिवं गतः ।
तदाविशत् कलिर्लोकं पापे यद्रमते जनः ॥
यावत् स पादपद्माभ्यां स्पृशन्नास्ते रमापतिः ।
तावत् कलिर्वै पृथिवीं पराक्रन्तुं न चाशकत् ॥
यदा देवर्षयः सप्त मघासु विचरन्ति हि ।
तदा प्रवृत्तस्तु कलिर्द्वादशाब्दशतात्मकः ॥
यदा मघाभ्यो यास्यन्ति पूर्वाषाढां महर्षयः ।
तदा नन्दात् प्रभृत्येष कलिर्वृद्धिं गमिष्यति ॥
यस्मिन् कृष्णो दिवं यातस्तस्मिन्नेव तदाहनि ।
प्रतिपन्नं कलियुगमिति प्राहुः पुराविदः ॥
दिव्याब्दानां सहस्रान्ते चतुर्थे तु पुनः कृतम् ।
भविष्यति तदा नृणाम् मन आत्मप्रकाशकम् ॥
देवापिः शान्तनोर्भ्राता मरुश्चेक्ष्वाकुवंशजः ।
कलापग्राम आसाते महायोगबलान्वितौ ॥
ताविहेत्य कलेरन्ते वासुदेवानुशिक्षितौ ।
वर्णाश्रमयुतं धर्म्मं पूर्ववत् प्रथयिष्यतः ॥
कृतं त्रेता द्वापरं च कलिश्चेति चतुर्युगम् ।

अनेन क्रमयोगेन स्तुति प्राणिषु वर्त्तते ॥

बलवान् कालके प्रभावसे दिनोदिन धर्म, सत्य, शौच, क्षमा, दया, आयु, बल, स्मृति ये सब नष्ट होते जायँगे। कलियुगमें जिन मनुष्योंके पास धन होगा वही उत्तम जन्मवाले, शुद्धाचारी और सद्गुणयुक्त कहलावेंगे, धर्म-न्यायकी व्यवस्थामें बल ही कारण होगा। स्त्रीपुरुषोंके विवाहसम्बन्धमें पर-स्परकी रुचि ही कारण होजायगी, कुल गोत्र आदिसे कुछ प्रयोजन नहीं रहेगा, क्रयविक्रय आदि व्यवहारमें कपटही प्रधान रहेगा, स्त्रीपने और पुरुषपनेमें केवल रतिकी पटुता ही कारण होगी और ब्राह्मणपनेमें केवल यज्ञोपवीतका ही पहिरना रह जायगा और कर्म नहीं। आश्रमकी पहिचानमें दण्डा-दिक चिह्नमात्र ही कारण होगा और चिह्न बदलना ही आश्रम बदलनेका कारण होगा, आश्रमानुकूल आचारादि नहीं। धनहीनता मुकद्दमे हारनेका कारण होगी अपराधकी सत्यता नहीं। बातोंकी चपलता ही पाण्डित्यमें प्रधान कारण होगी, शास्त्राध्ययन नहीं। निर्धनता ही असज्जनपनमें कारण होगी; असदाचार नहीं। दम्भ करनाही साधुतामें कारण होगा, सदाचार नहीं। स्वीकार कर लेना मात्र ही विवाहमें कारण होगा, विधि नहीं। स्नान करना मात्र ही प्रसाधन समझा जायगा। दूर जो जल हो वही तीर्थ समझा जायगा, यथार्थ तीर्थ नहीं, केशधारण ही सौन्दर्यका हेतु होगा, पेट भरना ही स्वार्थ कहलावेगा, धृष्टताही सत्यतामें गिनी जायगी। कुटुम्बका पालन करना ही चतुराई होगी, यशके लियेही धर्म किया जावेगा। इस प्रकारकी दुष्ट प्रजा-ओंसे जब पृथिवी भर जायगी तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र इनमें जो बली होगा वही राजा होजायगा और चोरोंके सदृश धर्मवाले निर्दय लोभी राजा लोग अपनी प्रजाके स्त्री धनादिक सब छीन लेंगे और इसी भयसे प्रजागण पर्वत, बन आदिमें जा बसेंगे और शाक, मूल, आमिष, मधु, फल, फूल, बीज आदिसे अपने भोजनका निर्वाह करेंगे। वृष्टि न होनेसे दुर्भिक्ष और करसे पीड़ित होकर तथा शीत, गर्मी, वात, हिम आदि द्वारा पीड़ित होकर प्रजा नष्ट होने लग जायगी। क्षुधा, तृष्णा, व्याधि, सन्ताप और चिन्तासे अनेक लोग नष्ट होजायँगे। तीसवर्ष, बीसवर्ष पर्यन्त आयुही बड़ी आयु कहला-वेगी। इस प्रकार जब कलियुगके दोषोंसे देहधारियोंके देह क्षीण होने लगेंगे और वर्णाश्रम धर्मका नाश तथा वेदमार्गका नाश होजायगा, धर्म जब पाखण्डसे पूर्ण होगा, राजागण चोरप्राय होजायँगे और चोरी, मिथ्या, वृथा

हिंसा आदि व्यसनोंमें मनुष्योंकी वृत्ति हो जायगी; जब सब वर्ण शूद्रप्राय, गौएं छागप्राय, आश्रम गृहप्राय और योनिसम्बन्धी मात्र ही बन्धु होजायँगे; ओषधि सब अणुप्राय, वृक्ष सब शमीप्राय, वर्षा केवल विद्युन्मात्र और गृहस्थों के गृह शून्यप्राय और मनुष्य सब गर्दभप्राय होजायेंगे; उस समय चराचर-गुरु भगवान् श्रीविष्णुका अवतार कल्किरूपमें साधु और धर्मके त्राण करनेके लिये होगा। शम्भलग्राममें विष्णुयशा नामक परमधार्मिक ब्राह्मणके गृहमें श्रीभगवान् कल्कि प्रकट होंगे। देवताओंके दिये हुए शीघ्रगामी घोड़े पर बैठकर अष्टैश्वर्यशाली श्रीकल्कि भगवान् अपने तीक्ष्ण खड्गसे करोड़ों राज-वेषधारी दस्युओंका नाश कर देंगे। तदनन्तर श्रीभगवान्का अङ्गस्पर्श होनेसे समस्त देश और वायु पवित्र होजायगा जिससे प्रजाओंका मन भी निर्मल हो जायगा। ऐसा होने पर प्रत्येकके हृदयमें श्रीभगवान् विराजमान होजायँगे जिससे पुनः सत्ययुगका उदय होजायगा और समस्त प्रजा सत्ययुगकी तरह सात्त्विकभावापन्न हो जायगी। जब चन्द्र, सूर्य और वृहस्पतिका पुष्य नक्षत्रके साथ योग होगा तभी सत्ययुगका उदय होगा। जिस समय श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र निजधामको चले गये उसी समयसे संसारमें कलियुगका प्रवेश हुआ क्योंकि उसी समयसे मनुष्योंका चित्त पापमें रमने लगा। जब तक श्रीभगवान्का चरणकमल संसारमें विचरता रहा तब तक कलिका प्रवेश नहीं हो सका। जिस समयसे सातों देवर्षि मघा नक्षत्र पर विचरण करते हैं तबहीसे १२०० वर्ष देवायुव्यापी कलियुग प्रवृत्त होता है। जब ये सप्तर्षि मघासे पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र पर जायँगे तब नन्दोंके अभिषेक समयसे कलिकी वृद्धि होगी। पण्डितगण यही कहते हैं कि जिस दिन श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र पृथिवी लोकसे चले गये उसी दिनसे कलियुगका आगमन हुआ। कलियुगकी आयु बीत जाने पर पुनः सत्ययुगका उदय होगा और मनुष्योंका अन्तःकरण धर्ममें सन्निविष्ट होगा। शान्तनु महाराजके भ्राता चन्द्रवंशीय राजा देवापि और इक्ष्वाकुवंशीय राजा मरु ये दोनों महायोगयुक्त होकर कलापग्राममें निवास कर रहे हैं। ये दोनों वासुदेवके द्वारा शिक्षाप्राप्त होकर कलियुगके अन्तमें कल्किभगवान्की सहायतासे वर्णाश्रमधर्मकी शास्त्रानुकूल प्रतिष्ठा करेंगे। इसी प्रकारसे सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि ये चार युग क्रमानुसार प्रवर्त्तित होते हैं। यही आर्यशास्त्रकथित कल्कि अवतारके उदय होनेका वृत्तान्त है।

श्रीभगवान्के असंख्य अवतारोंमेंसे मुख्य दस अवतारोंका इतिहास संक्षेपसे कहा गया। अब वेदादि शास्त्रोंमें इन अवतारोंके विषयमें कैसे कैसे प्रमाण मिलते हैं सो बताया जाता है। कराल कलिकालके प्रतापसे आर्यजाति पर अनेक दुर्भाग्यके उदय होनेके कारण ११३१ शाखामय वेदोंमें अब दस बीस शाखाएँ भी नहीं मिलती हैं। इस वर्तमान समयमें यह आशा करना दुराशामात्र है कि पुराणोंमें वर्णित समस्त अवतारोंके विषयका प्रमाण वर्तमान कालमें प्राप्त वेदसंहिता ब्राह्मण तथा उपनिषदोंमें प्राप्त होगा क्योंकि समस्त पुराणोंमें वर्णित अवतार सम्बन्धीय विषय समस्त वेदोंमें ही प्राप्त हो सकते हैं, स्वल्पसंख्यक वेदोंमें नहीं प्राप्त होसकते हैं। तथापि जहां तक वेदमें तथा अन्यान्य प्रामाणिक ग्रन्थोंमें अवतार सम्बन्धी प्रमाण प्राप्त होते हैं सो नीचे क्रमशः बताया जाता है। शतपथ ब्राह्मण का० १ अ० ८ ब्रा० १ कण्डिका १-६ में मत्स्यावतारका विशेष वर्णन मिलता है। यथा—

मनवे ह वै प्रातः अवनेग्यमुदकमाजहुर्यथेदं पाणिभ्यामवनेजनायाहरन्त्येवं तस्यावने निजानस्य मत्स्यः पाणी आपेदे। स हास्मै वाचमुवाद बिभृहि मा पारयिष्यामि त्वेति कस्मान् मा पारयिष्यसीत्यौघ इमाः सर्वाः प्रजा निर्वोढाः ततस्त्वा पारयितास्मीति कथं ते भृतिरिति।......शश्वद्ध झष आस। तमेवं भृत्वा समुद्रमभ्यवजहार। स यतिथीं तत्समां परिदिदेश ततिथीं समां नावमुपकल्प्योपासांचक्रे स औघ उत्थिते नावमापेदे तं स मत्स्य उपन्यापुप्लुवेतस्य श्रृङ्गे नावःपाशं प्रतिमुमोच तेनैतमुत्तरं गिरिमतिदुद्राव। स होवाच। अपीपरं वैत्वावृक्षे नावं प्रति वध्नीष्व तं तु त्वा मा गिरौ सन्तमुदकमन्तश्छैत्सीद् यावदुदकं समवायात्तावत्तावदन्ववसर्पासीति सह तावत्तावदेवान् ववससर्प तदप्येतदुत्तरस्य गिरेर्मनोरवसर्पणमित्यौघो ह ताः सर्वाः प्रजा निरुवाहाथेह मनुरेवैकः परिशिशिषे॥

स्वायम्भुव मनुजीके प्रातः कृत्यके लिये जल लाने पर उसमें एक मत्स्य देखनेमें आया। मत्स्यने मनुजीको कहा—"तुम मेरी रक्षा करो, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" कारण पूछने पर मत्स्यने कहा—"थोड़े ही दिनोंमें प्रलयका

जल आनेवाला है जिसमें सब लोग बह जायँगे, उस समय मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।'' मनुजीने तदनन्तर रक्षाका उपाय पूछा। मत्स्यने कहा—''मैं जब तक छोटा हूँ मुझे घड़ेमें रक्खो। बड़ा होने पर अन्य जलाशयोंमें रखना।'' इसी आज्ञाके अनुसार मनुजी मत्स्यको जलसे जलान्तरमें रखते गये और अन्तमें अति बृहत्काय मत्स्यको समुद्रमें निक्षेप किया। तदनन्तर मनुजीने मत्स्य भगवान् की स्तुति की, जिससे सन्तुष्ट होकर भगवान्ने कहा—''शीघ्रही जलप्लावन होगा। उस समय एक नाव आवेगी, उसको मेरे शृङ्गके साथ बांध देना और तुम उस नावमें चढ़ जाना।'' ऐसा ही हुआ। नाव आने पर मत्स्य भगवान्के शृङ्गके साथ मनुजीने उसे बांध दिया और नाव पर चढ़ गये। मत्स्य भगवान् उस नावको हिमालयकी ओर ले गये। तदनन्तर भगवान्ने मनुजीको कहा—''मैंने तुम्हारी रक्षा की। अब इस नावको वृक्षमें बांध दो। जितना जल बढ़ता जायगा उतना ही ऊँचे पहाड़ पर चढ़ते जाना। इस प्रकार से जलप्लावनमें मनुजीकी रक्षा हुई और सब जीव मर गये। यही वेदवर्णित मत्स्यावतारकी कथा है जिसका विस्तृत वर्णन पहले ही किया गया है। कूर्माव-तारके विषयमें वाल्मीकिरामायणमें प्रमाण मिलता है। यथा—बालकाण्डमें—

पूर्वं कृतयुगे राम दितेः पुत्रा महाबलाः।
अदितेश्च महाभागा वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः॥
ततस्तेषां नरव्याघ्र बुद्धिरासीन्महात्मनाम्।
अजरा विजराश्चैव कथं स्यामो निरामयाः॥
तेषां चिन्तयतां तत्र बुद्धिरासीद्विपश्चिताम्।
क्षीरोदमथनं कृत्वा रसं प्राप्स्याम तत्र वै॥
ततो देवासुराः सर्वे ममन्थू रघुनन्दन।
प्रविवेशाथ पातालं मन्थानः पर्वतोत्तमः॥
ततो देवाः सगन्धर्वास्तुष्टुवुर्मधुसूदनम्।
त्वं गतिः सर्वभूतानां विशेषेण दिवौकसाम्॥
पालयास्मान् महाबाहो गिरिमुद्धर्तुमर्हसि।
इति श्रुत्वा हृषीकेशः कामठं रूपमास्थितः॥

पर्वतं पृष्ठतः कृत्वा शिश्ये तत्रोदधौ हरिः ।
पर्वताग्रं तु लोकात्मा हस्तेनाक्रम्य केशवः ॥

सत्ययुगमें दितिपुत्र महाबल दैत्यगण और अदितिपुत्र परमधार्मिक देवतागणने अजर अमर और नीरोग होनेके लिये चिन्ता करके अन्तमें निश्चय किया कि क्षीर समुद्रके मन्थन द्वारा अमृत प्राप्त करेंगे और अमृतपान द्वारा अजर अमर होंगे। ऐसा निश्चय करके मन्दर पर्वतको मथनदण्ड बनाकर मन्थन कार्यमें प्रवृत्त होने पर मन्दर पर्वत पातालकी ओर चलने लगा। ऐसा देखकर देवता और गन्धर्वगण श्रीभगवान्‌की स्तुति करने लगे–"हे भगवन्! आप समस्त जीवोंकी, विशेषतः देवताओंकी एकमात्र शरण हो, इसलिये कृपया मन्दर पर्वतको धारण करके हमारी रक्षा करो।" देवताओंकी करुण प्रार्थनाको सुनकर श्रीभगवान्‌ने कूर्मरूप धारण किया और समुद्रके नीचे आकर पर्वतको निजपृष्ठमें धारण किया। पर्वतके अग्रभागको उन्होंने हाथसे धारण किया। यही रामायणमें वर्णित कूर्मावतारकी कथा है, जिसका विस्तृत विवरण पहले ही कहा गया है। वराहावतारके विषयमें भी संहिता तथा ब्राह्मणोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—शतपथ ब्राह्मण १४-१-२-११ में—

"इयती ह वा इयमग्रे पृथिव्यास प्रादेशमात्री तामेमूष इति वराह उज्जघानसोस्यापतिः प्रजापतिरिति"

पहले प्रादेशमात्र भूमि प्रकट हुई जिसका वराह भगवान्‌ने उद्धार किया। इसके पति प्रजापति हैं। यजुर्वेद संहितामें मन्त्र है—

"उद्धृतासि वराहेण कृष्णेन शतबाहुना"

(अ० प्र० १ अनु० १ मं० ३)

हे पृथिवी, तुम अनेकबाहु कृष्णवराहके द्वारा उद्धृता हो। अथर्ववेदमें भी लिखा है—

"वराहेण पृथिवी संविदाना शूकराय विजिहीते मृगाय।"

(का० १२ अनु० १)

वराहरूपी भगवान इस पृथ्वीका उद्धार किया है।

नृसिंहावतारके विषयमें तैत्तिरीयारण्यकमें वर्णन मिलता है। यथा—

"वज्रनखाय विद्महे तीक्ष्णदंष्ट्राय धीमहि तन्नो नारसिंहः प्रचोदयात्" (१-१-३१)

वज्रनख नृसिंहभगवान्‌को जानते हैं, तीक्ष्णदन्त नृसिंहदेवका ध्यान करते हैं, हमारी बुद्धिको वह भगवान् प्रेरित करें। ऋग्वेदसंहिता म० १, अ० २१, सू० १५४ में वर्णन है—

"प्रतद्विष्णुः स्तवते वीर्येण मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः ।
यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ॥"

नृसिंहरूपधारी भयानक भगवान् निजतेजसे स्तुतिको प्राप्त करते हैं, जो वराहरूपमें पृथिवी तथा पर्वतमें विचरण करते हैं और त्रिपाद द्वारा समस्त विश्वको कम्पित करते हैं। नृसिंहतापिन्युपनिषद्‌में लिखा है—

"क्षीरोदार्णवशायिनं नृकेसरिविग्रहं योगिध्येयं परं पदं यो जानीते सोऽमृतत्वं गच्छति ।"

क्षीरोदशायी नरसिंहरूपी योगियोंके ध्यानयोग्य श्रीभगवान्‌के परमपदको जो जानता है उसको अमृतत्वप्राप्ति होती है। और भी उसी उपनिषद्‌में—

"अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति यस्मात् सर्वेषां भूतानां वा वीर्य-तमः श्रेष्ठतमश्च सिंहो वीर्यतमः श्रेष्ठतमश्च तस्मान्नृसिंह आसी-त्परमेश्वरो जगद्धितं वा एतद्रूपं यदक्षरं भवति प्रतद्विष्णुस्तवते वीर्याय मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणे-ष्वधिक्षयन्ति भुवनानि विश्वा तस्मादुच्यते नृसिंहमिति ।"

श्रीभगवान्‌को नृसिंह इसलिये कहा जाता है कि वीर्यवान् और श्रेष्ठतम नर और सिंहरूप एकाधारमें मिलाकर संसारके उद्धारके लिये श्रीभगवान् प्रकट हुए थे, जिनका रूप अतीव भयङ्कर था और त्रिपादक्षेपसे त्रिसंसार कम्पित होता था। वामनावतारके विषयमें संहिता, ब्राह्मण तथा अन्यान्य प्रामाणिक ग्रन्थोंमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—सामवेद संहिताके ३-१-३-६ और १८-२-८-२-५-१-२ में—

"इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधा निदधे पदम् । समूढमस्य पाँसुले ॥"

"त्रीणि पदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।
अतो धर्माणि धारयन् ।"

वामनावतारधारी विष्णु भगवान् तीन पाद प्रसारित करते हैं जिससे

त्रिलोक अधिकृत होता है। समस्त विश्व उनके चरणरजमें स्थित है । संसारके रक्षक, अमोघ शक्तिधारी विष्णु भगवान् धर्मकी रक्षाके लिये त्रिपाद द्वारा त्रिलोक आवृत करते हैं। शतपथ ब्राह्मणके १-२-२-५ में लिखा है—

"वामनो ह विष्णुरास"

वामन साक्षात् विष्णुभगवान् थे। तैत्तिरीय ब्राह्मणमें वर्णन है—

"त्रेधा विष्णुरुरुगायो विचक्रमे"

अलौकिक पदप्रसारणकारी विष्णु भगवान्‌में तीन पाद प्रसारित किये। रामायणमें लिखा है—

अथ विष्णुर्महातेजा अदित्यां समजायत ।
वामनं रूपमास्थाय वैरोचनिमुपागमत् ॥
त्रीन् पदानथ भिक्षित्वा प्रतिगृह्य च मेदिनीम् ।
आक्रम्य लोकांल्लोकार्थी सर्वलोकहिते रतः ॥
महेन्द्राय पुनः प्रादान्नियम्य बलिमोजसा ।
त्रैलोक्यं स महातेजाश्चक्रे शक्रवशं पुनः ॥

अदितिके पुत्ररूपसे महातेजा विष्णु भगवान् वामनरूप धारण करके अवतीर्ण हुए और विरोचननन्दन राजा बलिके पास जाकर तीन पाद भूमिकी भिक्षा मांगी। भिक्षा प्रदत्त होने पर तीन पादसे पृथिवी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको अधिकार करके जगत्‌कल्याणके लिये देवराज इन्द्रको उन्होंने त्रिलोक प्रदान किया और अपने तेजसे दैत्यराज बलिका दमन किया। परशुराम अवतारके विषयमें ऐतरेय ब्राह्मणमें प्रमाण मिलता है। यथा—

"प्रोवाच रामो भार्गवेयो विश्वान्तराय" (३-५-३४)

भृगुकुलतिलक परशुराममें विश्वान्तरको कहा। श्रीरामावतारके विषयमें सामवेद संहिताके उत्तरार्चिकमें प्रमाण मिलता है। यथा—

"भद्रो भद्रया सचमान आगात् स्वसारञ्जारो अभ्येति पश्चात् ।
सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्रुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात् ॥"

(१५-२-१-३)

'भगवान् रामचन्द्र सीताके साथ वनमें गये थे, जार रावण रामचन्द्रके

परोक्षमें सीताको हरण करनेके लिये आया था और रावणवधानन्तर सीताकी अग्निपरीक्षा होनेपर दीप्तिमान् अग्निदेव सीताको अङ्कमें धारण करके श्रीरामचन्द्रके समीप आये थे। रामतापिन्युपनिषद्में लिखा है—

चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ।
रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः॥
स राम इति लोकेषु विद्वद्भिः प्रकटीकृतः।
राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा॥

चिन्मय महाविष्णु रघुकुलमें राजा दशरथके पुत्ररूपमें उत्पन्न हुए थे। संसारमें उनका नाम रामचन्द्र हुआ था और उनके अवतार द्वारा अनेक राक्षसोंका निधन हुआ था। महाभारतके वनपर्वके ९९ अध्यायमें रामावतारके विषयमें अनेक वर्णन हैं। यथा—

जातो दशरथस्यासीत् पुत्रो रामो महात्मनः।
विष्णुः स्वेन शरीरेण रावणस्य वधाय वै॥

साक्षात् विष्णु भगवान् रावणवधार्थ दशरथपुत्र रामरूपसे अवतीर्ण हुए थे। उन्होंने भार्गव परशुरामको अपना विश्वरूप बताया था इसका भी वर्णन इसी अध्यायमें मिलता है। यथा—

पश्य मां स्वेन रूपेण चक्षुस्ते वितराम्यहम्।
ततो रामशरीरे वै रामः पश्यति भार्गवः॥
आदित्यान् सवसून् रुद्रान् साध्यांश्च समरुद्गणान्।
पितरो हुताशनश्चैव नक्षत्राणि ग्रहास्तथा॥
गन्धर्वा राक्षसा यक्षा नद्यस्तीर्थानि यानि च।
ऋषयो वालखिल्याश्च ब्रह्मभूताः सनातनाः॥
देवर्षयश्च कार्त्स्न्येन समुद्राः पर्वतास्तथा।
वेदाश्च सोपनिषदो वषट्कारैः सहाध्वरैः॥
चेतोमन्ति च सामानि धनुर्वेदश्च भारत।
मेघवृन्दानि वर्षाणि विद्युतश्च युधिष्ठिर॥

श्रीरामचन्द्रजीने परशुरामको कहा—"मेरा विराट्रूप देखो, तुम्हें दिव्यनेत्र प्रदान करता हूं।" तदनन्तर दिव्यदृष्टिसम्पन्न परशुरामने राम शरीरमें आदित्यगण, वसुगण, रुद्रगण, साध्य और मरुद्गण, पितर, हुताशन, नक्षत्र और ग्रहसमूहको देखा। उनके विराट् शरीरमें गन्धर्व, राक्षस, यक्ष, नदीसमूह, तीर्थसमूह, बालखिल्यादि ब्रह्मीभूत ऋषिसमूह विद्यमान थे, देवर्षिगण, समुद्र और पर्वतसमूह, वेद, उपनिषद्, वषट्कार, अध्वर, साम, धनुर्वेद, मेघमाला, वर्षा तथा विद्युत् सब कुछ विद्यमान थे। इस प्रकारसे रामावतारके लिये अनेक प्रमाण मिलते हैं। कृष्णावतारके विषयमें भी श्रुतिमें अनेक प्रमाण मिलते हैं। यथा—ऋग्वेदमें मं० ४, सू० ७, अ० १, मं ६ में—

"कृष्णं त एमरुशतः पुरोभाश्चरिष्णवर्चिर्वपुषामिदेकम्।
यदप्रवीता दधते ह गर्भं सद्यश्चिज्जातो भवसीदुदूतः॥"

हे भूमन्! आपका जो ज्ञानमय आनन्दमय रूप है और त्रिलोक नाशकारी रुद्ररूप है वह मुझे प्राप्त हो जाय, आपका जो रूप सर्वत्र व्याप्त है और जिसको देवकीमाताने कारागारमें गर्भमें धारण किया था और जिस रूपमें मातासे पृथक् होकर आपने उनको विरह दुःख प्रदान किया था वह रूप मुझे प्राप्त होवे। तैत्तिरीय आरण्यकमें लिखा है—

"नारायणाय विद्महे वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णुः प्रचोदयात्"
(प्र० १०, अनु० १-६)

वसुदेवपुत्र नारायण मेरे ध्यान करने और जाननेकी वस्तु है, वे हमारी बुद्धिको प्रेरित करें। छान्दोग्योपनिषद्में प्र० ३ खण्ड १७ में लिखा है—

"एतद्घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचेति"

घोर आङ्गिरसने यह वचन देवकीपुत्र कृष्णसे कहकर मुझे कहा। महाभारतके कई एक पर्व्वोंमें श्रीकृष्णके ईश्वरत्वके विषयमें वर्णन मिलता है। भीष्मपर्वके ६६ अध्यायमें लिखा है—

यत्तत् परं भविष्यञ्च भवितव्यञ्च यत् परम्।
भूतात्मा च प्रभुश्चैव ब्रह्म यच्च परं पदम्॥
तेनास्मि कृतसंवादः प्रसन्नेन सुरर्षभाः।
जगतोऽनुग्रहार्थाय याचितो मे जगत्पतिः॥

मानुषं लोकमातिष्ठ वासुदेव इति श्रुतः ।
असुराणां वधार्थाय सम्भवस्व महीतले ॥
संग्रामे निहता ये ते दैत्यदानवराक्षसाः ।
त इमे नृषु सम्भूता घोररूपा महाबलाः ॥
तेषां वधार्थं भगवान्नरेण सहितो वशी ।
मानुषीं योनिमास्थाय चरिष्यति महीतले ॥
तथा मनुष्योऽयमिति कदाचित् सुरसत्तमाः ।
नावज्ञेयो महावीर्यः शङ्खचक्रगदाधरः ॥
तस्मात् सुरासुरैः सर्वैः सेन्द्रैश्चामितविक्रमः ।
नावज्ञेयो वासुदेवो मानुषोऽयमिति प्रभुः ॥

पितामह ब्रह्माने देवताओंको कहा कि नित्य व्यापक परात्पर परमात्माके साथ उनकी बात बातचीत हुई और उन्होंने श्रीभगवान्‌को जगत् कल्याण के लिये मनुष्यरूपमें वसुदेव नामसे संसारमें अवतीर्ण होनेके लिये प्रार्थनापूर्वक कहा। युद्धमें निहत अनेक दैत्यदानवराक्षस मनुष्ययोनिमें उत्पन्न होंगे। उनके वधार्थ नर अर्जुनके साथ श्रीभगवान् मनुष्यरूपमें संसारमें भ्रमण करेंगे। इसलिये मनुष्यरूपमें अवतीर्ण शङ्खचक्रगदाधर भगवान् मनुष्यदेहधारी होनेके कारण अवज्ञा करने योग्य नहीं हैं। असीमशक्तियुक्त वासुदेव श्रीकृष्ण भगवान्‌को मनुष्यदेहधारी देखकर सुरासुर इन्द्रादि किसीको भी अवज्ञा नहीं करनी चाहिये। इत्यादि इत्यादि अनेक वर्णन कृष्णावतारके विषयमें महाभारतमें मिलते हैं। इस प्रकारसे बुद्ध और कल्कि अवतारके विषयमें भी अनेक प्रमाण मिलते हैं। जिसका वर्णन पहले ही किया गया है। यही युगानुसार धर्मकी धाराको निरापद तथा साधुओंका परित्राण और असाधुओंका निधन करनेके लिये युग युगमें अवतीर्ण श्रीभगवान्‌के अंशावतार और पूर्णावतार चरित्र हैं।

(विशेष अविशेष-नित्यावतार)

अंशावतार और पूर्णावतारके अतिरिक्त और भी तीन प्रकारके अवतार होते हैं जैसा कि पहिले दैवीमीमांसाके सूत्र द्वारा बताया गया है—

"निमित्ताद्विशेषाविशेषौ ।"

"अन्तराविर्भूतानां नित्यत्वम् ।"

किसी निमित्तसे विशेषावतार और अविशेषावतार होते हैं। अन्तःकरणमें श्रीभगवान्का नित्यावतार होता है। विशेषावतारको आवेशावतार भी कहते हैं। इसके लिये पद्मपुराणमें प्रमाण मिलता है। यथा—

"आविष्टोऽभूत् कुमारेषु नारदे च हरिर्विभुः"

"आविवेश पृथुं देवः शंखी चक्री चतुर्भुजः"

भगवान् हरि सनत्कुमारादि मुनिगण तथा नारदमें आविष्ट हुए थे। और पृथुमें भी आविष्ट हुए थे। अतः सनकादि, नारद और पृथु आवेशावतार हुए। वे ही पुरुष आवेशावतार कहलाते हैं जिनमें कभी कभी भगवद् भावका आवेश हो जाता है। अन्य समय वे प्राकृतजनोंकी तरह रहते हैं। परन्तु आवेश होने पर अनेक अलौकिक भगवत् कार्य कर सकते हैं। वङ्गदेशके अन्तर्गत नवद्वीपमें उत्पन्न चैतन्य देव भी इस प्रकार आवेशावतार थे, जो सकल समय भगवद् भक्तिमें मग्न रहने पर भी कभी कभी भगवत् भावके आवेशद्वारा आविष्ट होकर अवतारकी तरह अलौकिक जगत्कल्याणकारी अनेक कार्य कर दिया करते थे। यही शास्त्रकथित विशेषावतार या आवेशावतारका रहस्य है। श्रीभगवान्का अविशेषावतार श्रीगुरुमें दीक्षा देते समय प्रकट होताहै। "गुरु और दीक्षा" नामक प्रबन्धमें पहले ही प्रतिपादित किया गया है कि यथार्थमें गुरु श्रीभगवान् ही हैं। परन्तु भगवान् निराकार होनेसे एकाएक मनुष्य उनसे साक्षात् रूपसे सम्बन्ध नहीं कर सकता है। इसलिये जिस मनुष्यरूपी केन्द्र द्वारा श्रीभगवान् अपनी ज्ञान-शक्तिको प्रकट करके शिष्यको अपनी ओर आकर्षण करते हैं वही केन्द्र लौकिक जगत्में गुरु कहलाता है। इससे यह सिद्धान्त अनायास ही निश्चय होता है कि जिस समय श्रीभगवान्की ज्ञानशक्ति किसी मनुष्यरूपी केन्द्रद्वारा दीक्षा रूपमें शिष्यके कल्याणके लिये प्रकट होगी उस समय उस केन्द्रमें भगवत् भावका अवश्य ही विकाश होगा। यही जो गुरुरूपी केन्द्रमें दीक्षा देते समय भगवद् भावका विकाश है उसीको अविशेषावतार कहते हैं। इस प्रकारसे विशेष और अविशेष दोनों प्रकारके अवतार द्वारा संसारमें अधर्मका नाश और धर्मका उन्नतिसाधन होता है। इसके सिवाय अन्तःकरणमें श्रीभगवान्का नित्यावतार

होता है। सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान्, ज्ञानमय, आनन्दमय परमात्मा संसार-के सर्वत्र विराजमान होनेके कारण प्रत्येक जीवके हृदयासनमें उनका स्थान है। उसी हृदयासनमें विराजमान होकर श्रीभगवान् सदा ही जीवको पापकर्मसे रोकते हैं, पुण्यकी ओर चित्तवृत्तिको प्रेरित करते हैं, पाप करने पर भी अनुतापकी अग्निमें पापसंस्कारको भस्म कर देते हैं और जीवको सदा ही अधोगतिसे सावधान बना रखते हैं। यही अन्तःकरणमें उनका नित्यावतार है जिसके कारण पापसे सदा ही जीवको सङ्कोच रहता है। घट घटमें विराजमान परमात्माके नित्यावतार द्वारा समष्टिरूपसे इस प्रकार समस्त जगत्‌में धर्मकी वृद्धि होती रहती है जिससे समष्टि प्रकृतिकी सदा ही ऊर्द्ध्वगति बनी रहती है। जिस प्रकार अंशावतार और पूर्णावतार कलाभेदसे इस अध्यायमें विस्तारित रूपसे कहे गये हैं और अवतारोंके जीवन चरित्रोंके द्वारा कलाओंके विकाशका विस्तारित स्वरूप दिखाया गया है, उसी शैलीके अनुसार कलाकी क्रमाभिव्यक्ति और षोड़शकलाका पूर्ण विकाश इन ऊपर कथित अवतारोंमें भी हुआ करता है। आवेशावतार यद्यपि आविष्ट होकर उस समयके लिये अपनी आवेशाव-स्थामें विशेष विशेष भगवत् कार्यके करनेमें समर्थ होता है परन्तु आविष्ट केन्द्रकी छुटाई बड़ाईके अनुसार श्रीभगवान्‌के कला विकाशका भी तारतम्य हुआ करता है। उदाहरण रूपसे समझ सकते हैं कि चैतन्य महाप्रभुमें आवेशकी कलाके साथ देवर्षि नारदकी आवेशकलाका अवश्य ही अन्तर होगा इसमें सन्देह ही क्या? देवर्षि नारदमें श्रीभगवान् जिस समय आवेशरूपमें प्रकट होंगे उस समय षोड़शकलामें भी प्रकट हो सकते हैं। अविशेषावतार श्रीगुरूदेवमें भी यह विज्ञान समझा जा सकता है। यद्यपि शिष्यके लिये उसके गुरु जब अपनी अन्तर्मुख वृत्तिको धारण करके उपदेश देंगे तो उस समयके लिये प्रत्येक गुरुमें ही भगवत्कलाका विकाश होना सम्भव है परन्तु यदि शिष्यकी श्रद्धा और अधिकार सर्वोत्तम हो और जिस महापुरुषमें गुरुपदका अधिकार प्रकट हुआ है, उस महापुरुषका अन्तःकरण योगयुक्त हो तो ऐसे गुरुदेवके अन्तःकरणमें भी श्रीभगवान्‌की पूर्ण कलाका आविर्भाव होना निश्चित ही है। नित्यावतारमें भी यही सिद्धान्त समझा जाय। प्रत्येक मनुष्यमें सत्कर्ममें प्रवृत्ति और असत्कर्मकी ओरसे अप्रवृत्तिरूपी रुकावटकी जो चेष्टा है वह मनुष्यान्तःकरणमें भगवान्‌का नित्यावतार है। सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक भगवान् प्रत्येक जीवकेन्द्रमें विद्याशक्तिकी सहायतासे अवतीर्ण होकर उसको

सबसे प्रथम पापसे बचाकर पुण्यमार्ग दिखाया करते हैं। उस समय यदि वह जीव भगवदिङ्गितको न माने तो अवश्य ही पापमें फंसा करता है। यद्यपि इस प्रकारसे भगवान्का नित्यावतार होना स्वाभाविक है परन्तु यदि वह जीव कि जिसके अन्तःकरणमें इस प्रकारसे नित्यावतारका प्राकट्य होगा उन्नत हो तो नित्यावतारकी कला भी अधिक प्रकट होगी। उदाहरण रूपसे समझा जा सकता है कि साधारण जीवसे शकुनज्ञ मनुष्यमें अधिक कला प्रकट होगी, उससे भक्तमें अधिक कला प्रकट होगी और पूर्णज्ञानी जीवन्मुक्तमें भगवान्की पूर्ण कलाका आविर्भाव समय विशेषपर हो सकेगा। यही षोड़शकलासम्पूर्ण सर्वशक्तिमान् श्रीभगवान्के कलाभेदानुसार पञ्चप्रकारके अवतारोंका तत्त्व है।

(ऋषि-देवावतार)

श्रीभगवान्के अवतारोंकी तरह ऋषि और देवताओंके भी अवतार होते है। दैवीमीमांसादर्शनमें लिखा है—

"ऋषिदेवानामवतरणमपि तद्वत्"

अर्थात् संसारमें धर्मके अभ्युदयके लिये जिस प्रकार श्रीभगवान्का अवतार होता है उसी प्रकार नित्य ऋषि और नित्य देवताओंके भी अवतार हुआ करते हैं। ऋषि, देवता और पितरोंके स्वरूपके विषयमें सम्पूर्ण वर्णन पहले ही ऋषिदेवपितृतत्त्व नामक अध्यायमें किया गया है। ब्रह्माण्ड प्रकृतिमें वैदिक तथा वेदानुकूल ज्ञानका विस्तार करना ऋषियोंका कार्य है। इसलिये यदि किसी समय आसुरी शक्तिके प्रभावसे किसी देश कालमें आवश्यकीय ज्ञान पर आवरण आजाय तो उस आवरणको हटाकर यथार्थ ज्ञानज्योतिको पुनः प्रकाशित करनेके लिये नित्य ऋषियोंके अवतार होते हैं। ये सब अवतार श्रीभगवान्के अवतारकी तरह अंशकला, पूर्णकला, आवेश आदि रूपसे होते हैं। अङ्गिरा, वशिष्ठ, वेदव्यास आदि अनेक महर्षियोंके ऐसे अनेक अवतार हो चुके हैं और भविष्यत्में भी होंगे। श्रीभगवान् वेदव्यास महर्षिके अनेक अवतारोंके विषयमें देवीभागवतमें निम्नलिखित वर्णन मिलता है। यथा—

द्वापरे द्वापरे विष्णुर्व्यासरूपेण सर्वदा ।
वेदमेकं स बहुधा कुरुते हितकाम्यया ॥
अल्पायुषोऽल्पबुद्धींश्च विप्रान् ज्ञात्वा कलावथ ।
पुराणसंहितां पुण्यां कुरुतेऽसौ युगे युगे ॥

स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां न वेदश्रवणं मतम् ।
तेषामेव हितार्थाय पुराणानि कृतानि च ॥
मन्वन्तरे सप्तमेऽत्र शुभे वैवस्वताभिधे ।
अष्टाविंशतिमे प्राप्ते द्वापरे मुनिसत्तमाः ॥
व्यासः सत्यवतीसूनुर्गुरुर्मे धर्मवित्तमः ।
एकोनत्रिंशत् सम्प्राप्ते द्रौणिर्व्यासो भविष्यति॥

प्रत्येक द्वापर युगमें व्यासदेव अवतार लेकर संसारकी हितकामनासे एक वेदको अनेक रूपसे विभक्त करते हैं। कलियुगमें जीवोंको अल्पायु तथा अल्पबुद्धि जानकर प्रत्येक कलियुगमें वेदव्यास अवतार लेकर पुराणसंहिता का निर्माण करते हैं। स्त्री, शूद्र, और हीन द्विजोंका वेदमें अधिकार नहीं है, इसलिये उनके हितार्थ व्यासदेव पुराण रचना करते हैं। वैवस्वत नामक इस सप्तम मन्वन्तरमें अठाईसवें व्यास द्वापरयुगमें सत्यवतीके पुत्ररूपसे उत्पन्न होंगे। (यह भी व्यास उत्पन्न हो चुके हैं) अब उन्तीसवें व्यासावतार द्रोणपुत्र अश्वत्थामा प्रकट होनेवाले हैं। अब नीचे देवीभागवतमें कथित वेदव्यासके अठाईस अवतारोंका वर्णन किया जाता है—

द्वापरे प्रथमे व्यस्ताः स्वयं वेदाः स्वयम्भुवा ।
प्रजापतिर्द्वितीये तु द्वापरे व्यासकार्यकृत् ॥
तृतीये चोशना व्यासश्चतुर्थे तु बृहस्पतिः ।
पञ्चमे सविता व्यासः षष्ठे मृत्युस्तदापरे ॥
मघवा सप्तमे प्राप्ते वशिष्ठस्त्वष्टमे स्मृतः ।
सारस्वतस्तु नवमे त्रिधामा दशमे तथा ॥
एकादशेऽथ त्रिवृषो भरद्वाजस्ततः परम् ।
त्रयोदशे चान्तरिक्षो धर्मश्चापि चतुर्दशे ॥
त्र्यारुणिः पञ्चदशे षोडशे तु धनञ्जयः ।
मेधातिथिः सप्तदशे व्रती ह्यष्टादशे तथा ॥
अत्रिरेकोनविंशेऽथ गौतमस्तु ततः परम् ।
उत्तमश्चैकविंशेऽथ हर्य्यात्मा परिकीर्त्तितः ॥

वेनो वाजश्रवाश्चैव सोमोऽमुष्यायणस्तथा ।
तृणविन्दुस्तथा व्यासो भार्गवस्तु ततः परम् ॥
ततः शक्तिर्जातुकर्ण्यः कृष्णद्वैपायनस्ततः ।
अष्टाविंशतिसंख्येयं कथिता या मया श्रुता ॥

वेदव्यासके प्रथम अवतार स्वयंभू हुए और द्वितीय अवतार प्रजापति, तृतीय उशना, चतुर्थ वृहस्पति, पञ्चम सविता, षष्ट मृत्यु, सप्तम मघवा, अष्टम वशिष्ठ, नवम सारस्वत, दशम त्रिधामा, एकादश त्रिवृष, द्वादश भरद्वाज, त्रयोदश अन्तरिक्ष, चतुर्दश धर्म, पञ्चदश त्रय्यारुणि, षोडश धनञ्जय, सप्तदश मेधातिथि, अष्टादश वृती, ऊनविंश अत्रि, विंश गौतम, एकविंश उत्तम, बाइसवें वेन, तेइसवें वाजस्रवा, चौवीसवें सोम, पच्चीसवें तृणविन्दु, छव्वीसवें भार्गव, सत्ताइसवें जातुकर्ण्य तथा अट्ठाइसवें कृष्णद्वैपायन अवतार हुए। अब उनतीसवें अवतार द्रोणपुत्र अश्वत्थामा होनेवाले हैं। यही महर्षियोंका अंश तथा पूर्णकलामें अवतार होनेका दृष्टान्त है। इसके सिवाय ब्राह्मणसे नीचेके वर्णोंमें भी जो अनेक मन्त्रद्रष्टाऋषि उत्पन्न होगये हैं तथा अनेक स्त्रियां भी मन्त्रद्रष्ट्री होगई हैं यह सब महर्षियोंके आवेशावतारकी कोटिमें गिनने योग्य हैं जैसा कि पहले प्रवन्धमें वर्णन किया गया है ।

ब्रह्माण्डप्रकृतिमें दैवीसम्पत्तिकी सुरक्षा और दैवजगत्के परिचालन करनेका भार देवताओं पर है। इसलिये आसुरी शक्तिके अत्याचारसे यदि किसी समय किसी देशकालमें दैवीसम्पत्तिका ह्रास होता हो और इसी कारण दैवक्रियाके परिचालनमें वाधा उपस्थित हो तो नित्य देवताओंको अवतार धारण करके आसुरी शक्तियोंको दवाना और दैवी क्रियाको पुनः शृङ्खलावद्ध करना पड़ता है। परन्तु यहां पर यह भी कहना उचित है कि असुरगण भी एक प्रकारके देवता हैं, यदि असुरगणकी प्रतिद्वन्द्विता न हो तो देवतागणभी अपनी अपनी मर्य्यादासे भ्रष्ट होजायं। इस कारण ऊर्द्ध्वलोकवासी देवताओंके अवतारोंके सदृश अधोलोकवासी असुरोंके अवतारभी संसारमें प्रकट हुआ करते हैं। और जिस प्रकार सूक्ष्मजगत्में देवासुर संग्राम द्वारा दैवीशक्तिका समन्वय सुरक्षित होता है, उसी प्रकार पृथिवीलोकमें आसुरी प्रजाको दवाकर धर्मकी सुरक्षा करनेके लिये दैवीशक्तिसम्पन्न अवतारोंकी आवश्यकता होती है। यही संसारमें देवावतारका कारण है। श्रीरामावतार

और श्रीकृष्णअवतारके साथ साथ ऐसे अनेक देवताओंके अवतार हुए थे, जैसा कि पहलेही वर्णन किया गया है। देवताओंके भी श्रीभगवान्‌की तरह अंशकला, पूर्णकला तथा आवेशादि रूपमें अवतार होते हैं जैसा कि पूर्व वर्णनसे स्पष्ट होगा। ऋषि देवताओंकी तरह पितरोंके ऊपर ब्रह्माण्ड प्रकृतिके स्वास्थ और वीर्य रक्षणका भार दिया हुआ है। परन्तु इसके लिये पितरोंके अवतार धारणकी आवश्यकता नहीं होती है क्योंकि संसारमें पिताही नित्य पितरोंके अवताररूप हैं। उन्हींमें संसारके भीतर स्वास्थ्य और वीर्यशाली सन्तति उत्पादनके लिये पितरोंकी शक्ति अवतीर्ण होती रहती है जिससे पृथिवी माता सुपुत्रोंको अपने हृदयमें धारण कर परम प्रसन्नता लाभ करती है।

अब भगवदवतार, ऋषि अवतार और देवताओंके अवतारके विषयमें, कई एक रहस्य विषयोंके प्रकट करनेकी आवश्यकता है, जिससे अवतार तत्त्वके समझनेमें और भी सुगमता होगी। ऋषिदेवतापितृतत्त्व नामक अध्यायमें उनका पृथक् पृथक् स्वरूप कहा गया है और यह भी कहा गया है कि प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा विष्णु महेश ही उस ब्रह्माण्डके प्रकारान्तरसे सगुण ब्रह्म हैं। सगुण ब्रह्मका सम्बन्ध वहीं है जहां सृष्टि है। इस कारण अनन्तकोटि ब्रह्माण्डमें समान रूपसे परिव्याप्त सगुण ब्रह्म ईश्वर हैं। वे ही गुणत्रय विभागके अनुसार ब्रह्मा, विष्णु, शिवरूपसे प्रत्येक ब्रह्माण्डमें गुणत्रयका कार्य किया करते हैं या कराया करते हैं ऐसा भी कह सकते हैं। जगदीश्वर सगुण ब्रह्म कारणरूप हैं परन्तु कार्य करते समय वे ब्रह्मा, विष्णु और महेश इन तीनोंमेंसे किसीके रूपमें कार्य किया करते हैं। उसी प्रकार वे ही सगुण ब्रह्म पुनः अपने अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूत भावत्रयानुसार ऋषि, देवता और पितृ रूपमें कार्य किया करते हैं। जिस प्रकार प्रत्येक ब्रह्माण्डमें उस ब्रह्माण्डके ब्रह्मा, विष्णु और महेश मिलकर उनका स्वरूप प्रकट होता है ठीक उसी प्रकार सब नित्य ऋषि, सब नित्य देवता और सब नित्य पितर् मिलकर उनका स्वरूप प्रकट होता है। इस कारण यह सब शक्तियाँ परस्परसे सम्बन्धयुक्त हैं। पूर्णावतारमें ब्रह्मा, विष्णु, महेशकी त्रिविध शक्ति और ऋषि देवता पितरोंकी त्रिविध शक्ति यथावश्यक पूर्णरूपसे विद्यमान रहती है। इसी कारण श्रीभगवान् कृष्णचन्द्र जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति और लय तीनों कार्योंमें ही पूर्णदक्षता दिखा गये थे। उनके जीवनमें असाधारण प्रजासृष्टिकी योग्यता, पालनमें देवासुर शक्तियोंके समन्वय करनेकी योग्यता और संहारमें

महाभारतका घोर युद्ध जगत् प्रसिद्ध है। ठीक उसी प्रकार उनकी जीवनीसे प्रतीत होगा कि ऋषि शक्तिके पूर्ण आविर्भाव होनेका उनके जीवनमें श्रीमद्भागवद्गीता ही यथेष्ट प्रमाण है। दैवी शक्ति तो उनके द्वारा किये हुए अनेक दैव कार्योंसे सुसिद्ध ही होती है। संसारका स्वास्थ्य विधान और अगणित प्रजोत्पत्तिके द्वारा उनमें पितृशक्ति सुसिद्ध होती है। अंशावतारोंमें इन शक्तियोंका समन्वय रहनेपर भी पूर्णता नहीं रहती है। इसी कारण किसी अंशावतारमें इन छः प्रकारकी शक्तियोंमेंसे कोई शक्ति कम प्रकाशित होती है और कोई शक्ति अधिक प्रकाशित होती है। यहां तक कि किसी किसी अंशावतारमें इन शक्तियोंमेंसे कोई कोई शक्ति नाममात्र रहती है। परन्तु यह तो निश्चय ही है कि सगुण ब्रह्मकी ओरसे साक्षात् रूपसे जो भगवदवतारका आविर्भाव होता है उनमें इन छओं शक्तियोंका कुछ न कुछ सम्बन्ध रहना अवश्यम्भावी है, और यह तो निश्चित ही है कि भगवदवतारमें वैष्णवी शक्तिका यथेष्ट आविर्भाव अवश्य होगा क्योंकि रक्षा ही अवतारका प्रधान कार्य है, और यह भी निश्चय है कि भगवदवतारमें अधिदैव शक्तिरूपी देवताओंकी अलौकिक शक्ति तो अवश्य ही यथावश्यक रूपसे प्रकट होगी। उदाहरण रूपमें समझ सकते हैं कि मत्स्य, कूर्म आदि तिर्य्यक् योनिके शरीरधारी भगवदवतारोंमें ऊपर लिखित छः शक्तियोंमेंसे यद्यपि और और शक्तियोंका गौण रूपसे नाम मात्रका विकाश रहा हो, परन्तु वैष्णवी शक्ति और अलौकिक दैवी शक्तिका पूर्ण विकाश उनमें था इसमें सन्देह ही नहीं।

पितरोंके अवतार नहीं होते हैं। न उनके स्वतन्त्र अवतार होनेकी आवश्यकता है परन्तु जगत् कल्याणके लिये नित्य ऋषि और नित्य देवताओंके अवतार होनेकी आवश्यकता संसारमें प्रायः रहती है। यह विषय पहले ही कहा गया है कि भगवदवतार प्रकट होनेका स्थान पूर्ण प्रकृति युक्त कर्मभूमि एकमात्र भारतवर्ष ही है। उसी प्रकार अन्तर्दृष्टि सम्पन्न योगियोंकी यह सम्मति है कि यद्यपि ऋषियोंके कृपापात्र उन्नत ज्ञानी मनुष्य पृथिवीके अन्य खण्डोंमें भी जन्मग्रहण करते रहते हैं, परन्तु ऋषियोंके प्रत्यक्ष अवतारोंका जन्म इसी ज्ञानजननी पुण्यभूमि भारतभूमिमें ही हो सकता है। परन्तु देवताओंके शक्तिशाली अवतार जिस प्रकार भारतखण्डमें हो सकते हैं, उसी प्रकार पृथिवीके अन्य खण्डोंमें भी हो सकते हैं। ऋषियोंके अवतारके लिये या भगवान्के अवतारके लिये पृथिवीके अन्य खण्डोंमें जो बाधाएँ हैं

देवताओंके अवतार प्रकट होनेके लिये पृथिवीके अन्य खण्डोंमें ऐसी बाधायें नहीं हो सकती हैं। भगवदवतार और ऋषियोंके शक्तिशाली अवतारोंके प्रकट होनेके लिये भूमिकी शुद्धि और मातापिताके शरीरकी शुद्धिरूपी आधि-भौतिक शुद्धिकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। जिस प्रकार त्रिविध शुद्धि-युक्त सच्चा ब्राह्मण उत्पन्न होनेके लिये मातापिताके वंशक्रमपरम्परासे प्राप्त रजोवीर्यकी शुद्धिकी आवश्यकता है, ठीक उसी प्रकार भगवान्के शक्तिशाली अवतार और ऋषियोंके शक्तिशाली अवतारके प्रकट होनेके लिये कर्मभूमिकी शुद्धि और मातापिताके शरीर सम्बन्धीय आर्यजनोचित शुद्धिरूपी आधिभौतिक शुद्धि होनेकी सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह वैज्ञानिक सिद्धान्त इतना अटल और अकाट्य है कि दार्शनिक बुद्धिसम्पन्न पुरुष मात्र ही इसको थोड़ा मनन करने पर भी समझ सकते हैं।

अवतार बहु प्रकारसे होते हैं। कोई अवतार ऐसे होते हैं, जिनमें केवल अलौकिक अधिदैव शक्तिका विकाश होता है। वे उन्नत मनुष्य जिनमें इस प्रकारकी दैवीशक्तिका प्रकाश होता है वे केवल उसी देवताके अवतार समझे जाते हैं, जिस देवताकी कला उनमें विद्यमान है। अवतार इस प्रकारके भी होते हैं कि एक ही उन्नत महापुरुषमें कई देवताओंकी कलाएं विद्यमान रहती हैं। अवतार ऐसे भी होते हैं कि जिनमें केवल एक नित्य ऋषि अथवा कई नित्य ऋषियोंकी कलाएं विद्यामान रहती हैं। वेसब ऋषियोंके अवतार कहलाते हैं। अवतार ऐसे भी होते हैं कि एक ही महापुरुषमें दैवीकला या कलाओं और ऋषियोंकी कला या कलाओंका समान रूपसे आविर्भाव होता है। ऐसे महापुरुषोंमें ज्ञानशक्ति और लोकोत्तर क्रियाशक्तिका एकसङ्ग आविर्भाव दिखाई पड़ता है। इन दोनों शक्तियोंके एक साथ विकाशके लिये श्रीभगवान् शंकराचार्यकी जीवनी जगत् प्रसिद्ध है। ऐसे ही द्विविध शक्ति और जिन जिन महापुरुषोंमें पायी जाती है वे सब इसी श्रेणीके अवतार समझे जायँगे। अस्तु अवतार अनन्त हैं और उनकी नाना भावमयीलीला भी अन्त-रहित है। यही आर्यशास्त्रमें वर्णित नाना अवतारोंका अपूर्ण रहस्यपूर्ण तत्त्व है।

पञ्चम समुल्लासका षष्ठ अध्याय समाप्त हुआ।
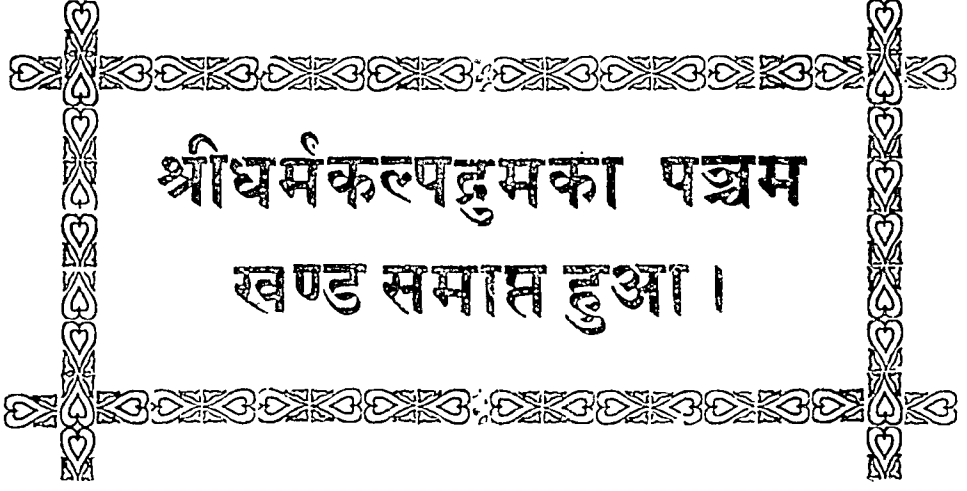
श्रीधर्मकल्पद्रुमका पञ्चम
खण्ड समाप्त हुआ।

विज्ञापन ।

पाँच गीताएँ ।

पञ्चोपासनाके अनुसार पांच गीताएं—श्रीविष्णुगीता, श्रीसूर्य्यगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीधीशगीता और श्रीशम्भुगीता—भाषानुवाद-सहित छपनेको तैयार हैं। इनमेंसे सूर्यगीता छप चुकी है और विष्णुगीता छप रही है। श्रीभारत-धर्ममहामण्डल इन पांच गीताओंका प्रकाशन निम्न लिखित उद्देश्योंसे कर रहा है:-१म, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको धर्मके नामसे ही अधर्म्म सञ्चित करनेकी अवस्थामें पहुंचा दिया है, जिस साम्प्रदायिक विरोधने उपासकोंको अहङ्कार-त्यागी होनेके स्थानमें घोर साम्प्रदायिक अहङ्कारसम्पन्न बना दिया है, भारतकी वर्तमान दुर्दशा जिस साम्प्रदायिक विरोधका प्रत्यक्ष फल है और जिस साम्प्रदायिक विरोधने साकार-उपासकोंमें घोर द्वेषदावानल प्रज्वलित कर दिया है उस साम्प्रदायिक विरोधका समूल उन्मूलन करना और २य, उपासनाके नामसे जो अनेक इन्द्रियासक्तिकी चरितार्थताके घोर अनर्थकारी कार्य होते हैं उनका समाजमें अस्तित्व न रहने देना तथा ३य, समाजमें यथार्थ भगवद्भक्तिके प्रचार द्वारा इहलौकिक और पारलौकिक अभ्युदय तथा निःश्रेयस-प्राप्तिमें अनेक सुविधाओंका प्रचार करना। इन पांचों गीताओंमें अनेक दार्शनिक तत्त्व, अनेक उपासनाकाण्डके रहस्य और प्रत्येक उपास्य देवकी उपासनासे सम्बन्ध रखनेवाले विषय सुचारुरूपसे प्रतिपादित किये गये हैं। ये पांचों गीताएं उपनिषद्-रूप हैं। प्रत्येक उपासक अपने उपास्य देवकी गीतासे तो लाभ उठावे-हीगा; किन्तु, अन्य चार गीताओंके पाठ करनेसे भी वह अनेक उपासनातत्त्वोंको तथा अनेक वैज्ञानिक रहस्योंको अवगत हो सकेगा और उसके अन्तःकरणमें प्रचलित साम्प्रदायिक ग्रन्थोंसे जैसा विरोध उदय होता है वैसा नहीं होगा एवं वह परम शान्तिका अधिकारी हो सकेगा। पाठक सूर्यगीताको मंगाकर देख सकते हैं। यह छप चुकी है और इसका मूल्य ॥) है। इसमें एक तीनरंगा सूर्य्यदेवका चित्र भी दिया गया है। अन्य गीताओंमें भी इसी प्रकारके चित्र रहेंगे और शीघ्र ही वे सब प्रकाशित होंगी। मैनेजर, निगमागम बुकडीपो,

महामण्डल-भवन, जगत्गंज, बनारस।

शास्त्रप्रकाश ।
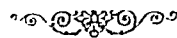
संसारके इस छोरसे उस छोरतक चाहे जिस किसी चिन्ताशील पुरुषसे प्रश्न कीजिये, उत्तर यही मिलेगा कि धर्मभावके प्रचारसे ही हिन्दू-जातिकी

यथार्थ उन्नति हो सकती है। क्योंकि धर्मने ही संसारको धारण कर रक्खा है। 'भारतवर्ष किसी समय संसारका गुरु था, आज वह अधःपतित और दीन-हीन दशामें क्यों पच रहा है?' इसका भी उत्तर यही होगा कि 'वह धर्मभावको खो बैठा है।' यदि हम भारतसे ही पूछें कि 'तू अपनी उन्नतिके लिये हमसे क्या चाहता है?' तो, वह यही उत्तर देगा कि 'मेरे प्यारे पुत्रो! धर्मभावकी वृद्धि करो।' भारत अधार्मिक नहीं है—हिन्दुजाति धर्मप्राण जाति है। उसके रोम-रोममें धर्मसंस्कार ओतप्रोत हैं। केवल वह अपने रूपको--धर्मभावको--भूल रही है। उसे अपने स्वरूपकी पहचान करा देना--धर्मभावको स्थिर रखना--ही श्रीभारतधर्ममहामण्डलका एक पवित्र और प्रधान उद्देश्य है। यह कार्य मण्डल कर रहा है। उसका विश्वास है कि, इसी उपायसे देशका सच्चा उपकार होगा और अन्तमें भारत पुनः अपने गुरुत्वको प्राप्त कर सकेगा।

इस उद्देश्यके साधनके लिये सुलभ दो ही मार्ग हैं। १ म--उपदेशकों द्वारा धर्मप्रचार कराना और २ य--धर्मरहस्य-सम्बन्धी मौलिक पुस्तकोंका उद्धार और प्रकाशन करना। महामण्डलने प्रथम मार्गका अवलम्बन आरम्भसे ही किया है और अब तो उपदेशक-महाविद्यालय स्थापित कर महामण्डलने वह मार्ग स्थिर और परिष्कृत कर लिया है। दूसरे मार्गके सम्बन्धमें भी यथा-योग्य उद्योग आरम्भसे ही किया जा रहा है। विविध ग्रन्थोंका संग्रह और निर्माण करना, मासिक पत्रिकाओंका सञ्चालन करना, शास्त्रीय ग्रन्थोंका आविष्कार करना;--इस प्रकारके उद्योग महामण्डलने किये हैं और उनमें सफलता भी प्राप्त की है। महामण्डलने इस विभागको उन्नत करनेका विचार किया है। उपदेशकों द्वारा जो धर्मप्रचार होता है उसका प्रभाव चिरस्थायी होनेके लिये उसी विषयकी पुस्तकोंका प्रचार होना परम आवश्यक है; क्योंकि, वक्ता एक-दो वार जो कुछ सुना देगा, उसका मनन विना पुस्तकोंका सहारा लिये नहीं हो सकता। इसके सिवा सब प्रकारके अधिकारियोंके लिये एक वक्ता कार्यकारी नहीं हो सकता। पुस्तकप्रचारके द्वारा यह काम सरल हो जाता है। जिसे जितना अधिकार होगा, वह उतने ही अधिकार की पुस्तकें पढ़ेगा और महामण्डल भी सब प्रकारके अधिकारियोंके योग्य पुस्तकें निर्माण करेगा। महामण्डलकी सर्वसाधारणसे प्रार्थना है कि, वे ऐसे सत्कार्यमें इसका हाथ बटावें एवम् इसकी सहायता कर अपनी ही उन्नति कर लेनेके लिये केवल प्रस्तुत हो जायँ।

श्रीभारतधर्ममहामण्डलके व्यवस्थापक पूज्यपाद श्री १०८ स्वामी ज्ञानानन्दजी महाराजकी सहायतासे काशीके प्रसिद्ध विद्वानोंके द्वारा सम्पादित होकर प्रामाणिक, सुबोध और सुदृश्यरूपसे यह ग्रन्थमाला निकलेगी।

स्थिर ग्राहकोंके नियम।

(१) इस समय हमारी ग्रन्थमालामें निम्नलिखित ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं:—

मंत्रयोगसंहिता (भाषाटीका-सहित)	१)
भक्तिदर्शन (भाषाभाष्य-सहित)...	१)
योगदर्शन (भाषाभाष्य-सहित)	२)
नवीन दृष्टिमें प्रवीण भारत	१)
दैवीमीमांसादर्शन (भाषाभाष्य-सहित)	१॥)
कल्किपुराण (भाषाटीका-सहित)	१)
उपदेश-पारिजात (संस्कृत)	॥)
निगमागमचन्द्रिका, प्रथम भाग	१)
निगमागमचन्द्रिका, द्वितीय भाग...	१)
गीतावली	॥)
भारतधर्ममहामण्डल-रहस्य	१)
सन्न्यासगीता (भाषाटीका-सहित)	॥।)
गुरुगीता (भाषाटीका-सहित)	=)
धर्मकल्पद्रुम, प्रथम खण्ड	२)
,, द्वितीय खण्ड	१॥)
,, तृतीय खण्ड	२)
,, चतुर्थ खण्ड...	३)
,, पञ्चम खण्ड...	२)
सूर्यगीता (भाषाटीका-सहित)	॥)
श्रीमद्भगवद्गीता, प्रथम खण्ड (भाषाभाष्य-सहित)	१)

(२) इनमेंसे जो कमसे कम ४) मूल्यकी पुस्तकें खरीदेंगे अथवा स्थिर ग्राहक होनेका चन्दा १) भेज देंगे उन्हें शेष और आगे प्रकाशित होने-वाली सब पुस्कें ¾ मूल्यमें दी जायँगी।

(३) स्थिर ग्राहकोंको मालामें ग्रथित होनेवाली हर एक पुस्तक खरीदनी होगी। जो पुस्तक इस विभागके द्वारा छापी जायगी वह एक, विद्वानोंकी, कमेटीके द्वारा पसन्द करा ली जायगी।

(४) हर एक ग्राहक अपना नम्बर लिखकर या दिखाकर हमारे कार्या-लयसे अथवा जहां वह रहता हो, वहां हमारी शाखा हो तो, वहां से, स्वल्प मूल्य पर पुस्तकें खरीद सकेगा।

(५) जो धर्मसभा इस धर्मकार्य्यमें सहायता करना चाहे और जो सज्जन इस ग्रन्थमालाके स्थायी ग्राहक होना चाहें वे मेरे नाम पत्र भेजने की कृपा करें।

गोविन्द शास्त्री दुगवेकर, अध्यक्ष, शास्त्रप्रकाशक विभाग,
श्रीभारतधर्म-महामण्डल, प्रधान कार्य्यालय, जगत्‌गंज, बनारस।

निर्णय बहुत अच्छा किया गया है। घोर-अनर्थकारी साम्प्रदायिक विरोधके दूर करनेके लिये यह एकमात्र ग्रन्थ है। इसमें नास्तिकोंके मूर्तिपूजा, मन्त्र-सिद्धि आदि विषयमें जो प्रश्न होते हैं उनका अच्छा समाधान है।

मूल्य १) एक रुपया मात्र।

तत्त्वबोध—भाषानुवाद और वैज्ञानिक टिप्पणीके सहित। यह मूल ग्रन्थ श्रीशङ्कराचार्य्य-कृत है। इसका बंगानुवाद भी प्रकाशित हो चुका है।

मूल्य =) दो आने।

संन्यासगीता—इस सन्यासगीतामें सब सम्प्रदायोंके साधुओं और सन्यासियोंके लिये सब जानने योग्य विषय सन्निविष्ट हैं। सन्यासिगण इसका पाठ करनेसे विशेष ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे और अपना कर्त्तव्य जान सकेंगे। गृहस्थोंके लिये भी यह ग्रन्थ धर्म्मज्ञानका भाण्डार है।

मूल्य ॥।) बारह आने।

दैवीमीमांसा-दर्शन, प्रथम भाग— वेदके तीन काण्ड हैं। यथाः—कर्म्मकाण्ड, उपासनाकाण्ड और ज्ञानकाण्ड। ज्ञानकाण्डका वेदान्त-दर्शन, कर्म्मकाण्डका जैमिनि-दर्शन और भरद्वाज दर्शन तथा उपासनाकाण्डका यह अङ्गिरा-दर्शन है। इसका नाम दैवीमीमांसा-दर्शन भी है। यह ग्रन्थ आजतक प्रकाशित नहीं हुआ था। इसके चार पाद हैं। १म - रसपाद। इस पादमें भक्तिका विस्तृत विज्ञान वर्णित है। दूसरा सृष्टि-पाद, तीसरा स्थिति-पाद और चौथा लय-पाद। इन तीनों पादोंमें दैवी माया, देवताओंके भेद, उपासनाका विस्तृत वर्णन और उपासनासे मुक्तिकी प्राप्तिका सब कुछ विज्ञान वर्णित है। इस प्रथम भागमें इस दर्शन-शास्त्रके प्रथम दो पाद हिन्दी-अनुवाद और हिन्दी-भाष्य-सहित प्रकाशित हुए हैं। मूल्य १॥) डेढ़ रुपया।

श्रीमद्भगवद्गीता, प्रथमखण्ड—श्रीगीताजीका अपूर्व्व यह हिन्दी-भाष्य प्रकाशित हो रहा है, इसका प्रथम खण्ड, जिसमें प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्यायका कुछ हिस्सा है प्रकाशित हुआ है। आजतक श्रीगीताजी-पर अनेक संस्कृत और हिन्दी-भाष्य प्रकाशित हुए हैं; परन्तु इस प्रकारका भाष्य आजतक किसी भाषामें प्रकाशित नहीं हुआ है। गीताका अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतरूपी त्रिविध स्वरूप, प्रत्येक श्लोकका त्रिविध अर्थ और सब प्रकारके अधिकारियोंके समझने योग्य गीताविज्ञानका विस्तृत विवरण इस भाष्यमें मौजूद है। मू० १) एक रुपया।

सूर्य्यगीता, भाषानुवादसहित—यह ग्रन्थ उपनिषदोंका सार और तत्त्व-जिज्ञासुओंके लिये आत्मतत्त्वका प्रकाशित करनेवाला है। यह आजतक अप्रकाशित था। इसमें एक तीनरंगा सूर्य्यका चित्र भी दिया है। मू० ॥)

शीघ्र छपने योग्य ग्रन्थ। हिन्दी-साहित्यकी पुष्टिके अभिप्रायसे तथा धर्म्मप्रचारकी शुभवासनासे निम्नलिखित ग्रन्थ क्रमशः हिन्दी–अनुवाद सहित छपनेको तैयार हैंः—भाषानुवाद-सहित श्रीविष्णुगीता, श्रीधीशगीता, श्रीशक्तिगीता, श्रीशम्भुगीता और हठयोग-संहिता, योगदर्शनके भाषाभाष्य

का नवीन संस्करण, भरद्वाजकृत कर्म्ममीमांसादर्शनके भाषाभाष्यका प्रथम खण्ड और सांख्यदर्शनका भाषाभाष्य।

मैनेजर, निगमागम बुकडीपो,
महामण्डलभवन, जगत्‌गंज, बनारस।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डलके

सभ्यगण और मुखपत्र।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल. प्रधान कार्य्यालय, काशी से एक हिन्दीभाषा का और दूसरा अंग्रेजी-भाषाका, इस प्रकार दो मासिक पत्र प्रकाशित होते हैं एवं श्रीमहामण्डलके, अन्यान्य भाषाओंके, मुखपत्र श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय कार्य्यालयोंसे प्रकाशित होते हैं। यथाः—कलकत्तेके कार्य्यालयसे बङ्गलाभाषाका मुखपत्र, फीरोज़पुर (पञ्जाब) के कार्य्यालयसे उर्दू-भाषाका मुखपत्र, मेरठके कार्य्यालयसे हिन्दीभाषाका मुखपत्र और दिल्लीके कार्य्यालयसे हिन्दीभाषाका मुखपत्र इत्यादि।

श्रीमहामण्डलके पांच श्रेणीके सभ्य होते हैं। यथाः—स्वाधीन नरपति और प्रधान-प्रधान धर्म्माचार्य्यगण संरक्षक होते हैं। भारतवर्षके सब प्रान्तोंके बड़े बड़े ज़मींदार, सेठ, साहुकार आदि सामाजिक नेतागण उस उस प्रान्तके चुनावके द्वारा प्रतिनिधि-सभ्य चुने जाते हैं। प्रत्येक प्रान्तके अध्यापक ब्राह्मणगणमेंसे उस उस प्रान्तीय मण्डलके द्वारा चुने जाकर धर्म्मव्यवस्थापक सभ्य बनाये जाते हैं। भारतवर्षके सब प्रांतोंसे पांच प्रकारके सहायक सभ्य लिये जाते हैं; विद्यासम्बन्धी कार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, धर्म्मकार्य्य करनेवाले सहायक सभ्य, महामण्डल, प्रान्तीय मण्डल और शाखा-सभाओं को धनदान करनेवाले सहायक सभ्य, विद्यादान करनेवाले विद्वान् ब्राह्मण सहायक सभ्य और धर्मप्रचार करनेवाले साधु-संन्यासी सहायक सभ्य। पांचवीं श्रेणीके सभ्य साधारण सभ्य होते हैं—जो हिन्दूमात्र हो सकते हैं। हिन्दू-कुलकामिनीगण केवल प्रथम तीन श्रेणीकी सहायक-सभ्या और साधारण-सभ्या हो सकती हैं। इन सब प्रकारके सभ्यों और श्रीमहामण्डलके प्रान्तीय मण्डल, शाखासभा और संयुक्त-सभाओंको श्रीमहामण्डलका हिन्दी अथवा अंग्रेज़ी मासिक पत्र विना मूल्य दिया जाता है। नियमित-रूपसे नियत वार्षिक चन्दा २) दो रुपये देनेपर हिन्दू-नरनारी साधारण सभ्य हो सकते हैं। साधारण सभ्योंको विना मूल्य मासिक पत्रिकाके अतिरिक्त उनके उत्तराधिकारियोंको समाज-हितकारी कोषके द्वारा विशेष आर्थिक सहायता मिलती है।

प्रधानाध्यक्ष,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधानकार्य्यालय,
जगत्‌गंज, बनारस।

श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभाण्डार ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधान कार्य्यालय काशी,में दीन-दुःखियोंके क्लेश-निवारणार्थ यह सभा स्थापित की गई है । इस सभाके द्वारा अतिविस्तृत रीति पर शास्त्रप्रकाशनका कार्य्य प्रारम्भ किया गया है । इस सभाके द्वारा धर्म्मपुस्तिकापुस्तकादिका यथासम्भव विना मूल्य वितरण करने का भी विचार रक्खा गया है । दानभाण्डारके द्वारा महामण्डल द्वारा प्रकाशित तत्त्वबोध, साधुओं का कर्त्तव्य, धर्म्म और धर्म्माङ्ग, दानधर्म्म, नारीधर्म्म, महामण्डल की आवश्यकता आदि कई एक हिन्दीभाषाके धर्म्मग्रन्थ और अङ्गरेज़ीभाषाके कई एक ट्रैक्ट विना मूल्य योग्य पात्रोंको बांटे जाते हैं । पत्राचार करने पर विदित हो सकेगा । शास्त्रप्रकाशनकी आमदनी इसी दानभाण्डारमें दीन-दुःखियों के दुःखमोचनार्थ व्यय की जाती है । इस सभामें जो दान करना चाहें या किसी प्रकार का पत्राचार करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें ।

सेक्रेटरी, श्रीविश्वनाथ-अन्नपूर्णा-दानभाण्डार,
श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधान कार्य्यालय,
जगत्‌गंज, बनारस (छावनी) ।

श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालय ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल, प्रधानकार्यालय, काशी,में साधु और गृहस्थ धर्म्मवक्ता प्रस्तुत करनेके अर्थ श्रीमहामण्डल-उपदेशक-महाविद्यालय नामक विद्यालय स्थापित हुआ है । जो साधुगण दार्शनिक और धर्म्मसम्बन्धी ज्ञान लाभ करके अपने साधु-जीवनको कृतकृत्य करना चाहें और जो विद्वान् गृहस्थ धार्मिक शिक्षा लाभ करके धर्म्मप्रचार द्वारा देशकी सेवा करते हुए अपना जीवन निर्व्वाह करना चाहें वे निम्नलिखित पते पर पत्र भेजें ।

प्रधानाध्यक्ष, श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल प्रधान कार्य्यालय,
जगत्‌गंज, बनारस (छावनी)

श्रीअन्नपूर्णा-स्त्री-शिक्षालय ।

श्रीभारतधर्म्ममहामण्डल तथा आर्य्य-महिलाहितकारिणी महापरिषद्‌की पृष्ठपोषकतामें यह शिक्षालय स्थापित हुआ है । इसमें ब्राह्मणी स्त्रियोंको धर्म-शिक्षा और धर्मवक्तृता देनेकी उपयोगिनी शिक्षा दी जाती है । योग्य पात्रियोंको इस संस्थासे नियमित मासिक वृत्ति भी दी जाती है । उनके रहनेका स्थान स्वतन्त्र है । श्रीमहामण्डलस्थ उपदेशक-महाविद्यालयके योग्य अध्यापकोंके द्वारा उनको शिक्षा दिलायी जाती है । पत्र-व्यवहारका पताः—

अध्यक्ष, श्रीअन्नपूर्णा-स्त्री-शिक्षालय,
मार्फत श्रीमहामण्डल कार्यालय जगतगञ्ज, बनारस ।